–उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

जैन नीतिशास्त्र : एक परिशीलन

सर्वाधिकार सुरक्षित
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

लेखक
उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'
डॉ० बृजमोहन जैन

प्रथम प्रवेश
२० जुलाई १९८८

अर्थ सहयोगी
धर्मानुरागिनी सुश्राविका भुवनेश्वरी भंडारी की प्रेरणा से
(धर्मपत्नी स्व० श्री गजेन्द्रसिंहजी भंडारी)
जसवीर सिंह भंडारी
जम्बूकुमार भंडारी
संतोषकुमार भंडारी

मुद्रक
[illegible] के निरीक्षण में
दिवाकर प्रकाशन के लिए
208/2, एम० जी० रोड, A-7, अयागढ़ हाउस,
आगरा-२८२ ००२

प्रकाशक
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर-३१३ ००१

भंडारी परिवार, इन्दौर की ओर से सादर भेंट

UPACHARYA SHRI DEVENDRA MUNI

JAINA ETHICS

All Rights Reserved to the Publishers
Shri Tarak Guru Jain Granthalaya, Udaipur

Author
Upacharya Shri Devendra Muni

Editors
Shrichand Surana 'Saras'
Dr. Brij Mohan Jain

First Edition
July 1988
Vikram Samvat 2045, Ashadha

Donators

By the instigation of Sushravika Bhuvaneshwari Bhandari
(wife of Late Shri Gagendra Singhji Bhandari)
Shri Jasvir Singhji Bhandari
Shri Jambu Kumarji Bhandari
Shri Satish Kumarji Bhandari

Printers
Under the guidance of Shri Sanjay Surana
for
Diwakar Prakashan
208/2 M. G. Road, A-7 Awagarh House,
AGRA-282 002

Publishers
Shri Tarak Guru Jian Granthalaya
Shastri Circle, Udaipur-313 001
(Raj. India)

A cordial Presentation from Bhandari family

आभार-दर्शन

हमारे प्रबल पुण्योदय से इस वर्ष महामहिम राष्ट्रसन्त आचार्य सम्राट १००८ श्री आनन्द ऋषि जी म० ने असीम कृपाकर इन्दौर संघ की प्रार्थना को सम्मान देकर परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म०, उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म०, आदि ठाणा ६ का यशस्वी वर्षावास माता अहिल्या की नगरी इन्दौर में हुआ। महाराज श्री के ओजस्वी, तेजस्वी प्रवचनों से प्रभावित होकर जो धर्म-ध्यान और तपस्या की बहार आई, युवकों में जागृति आई, श्रमण संघ की महिमा और गरिमा में वृद्धि हुई, यह ऐतिहासिक वर्षावास संघ के लिए वरदान रूप रहा।

श्रद्धेय उपाचार्य श्री जी के साहित्य को मैं सदा पढ़ती रही और मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यह साहित्य मौलिक और चिन्तन प्रधान है। ऐसे उत्कृष्ट मौलिक साहित्य का अधिक से अधिक प्रचार हो, तो जैन-धर्म की प्रबल प्रभावना होगी और इन्दौर के ऐतिहासिक वर्षावास की पावन स्मृति भी सतत बनी रहेगी। इस दृष्टि से मैंने उपाचार्य श्री से नम्र प्रार्थना की कि आपका अभिनव ग्रन्थ जो प्रकाशित हो रहा है, उसका लाभ मुझे प्राप्त होना चाहिए।

'जैन नीतिशास्त्र: एक परिशीलन' ग्रन्थ के फर्मों को देखकर ही मेरा मन इस ग्रन्थ रत्न को प्रकाशित करने के लिए ललक उठा, क्योंकि नीतिशास्त्र पर यह प्रथम ग्रन्थ है जिसमें जैन नीतिशास्त्र का सांगोपांग विवेचन है। मैंने अपने हृदय की बात अपने सुपुत्र श्री जसवीरसिंह, श्री जम्बूकुमार एवं श्री सतीशकुमार से कही। उन्होंने मेरी बात को सहर्ष स्वीकार किया, फलस्वरूप भंडारी परिवार की ओर से प्रस्तुत ग्रन्थ की ५०० प्रतियाँ सहर्ष समर्पित की जा रही हैं।

मैं चाहूँगी कि इस ग्रन्थ-रत्न का घर-घर में प्रचार हो। श्रद्धेय उपाध्याय श्री और उपाचार्य श्री जी की हमारे ऊपर सदा सर्वदा कृपा बनी रहे जिससे कि हम सतत आध्यात्मिक समुत्कर्ष पर अपने जीवन को धन्य-धन्य बनाते रहें।

—भुवनेश्वरी गजेन्द्रसिंहजी भण्डारी

भैया साहब श्री गजेन्द्रसिंह जी सा. भण्डारी

(एक परिचय)

भारत के तत्वदर्शी मनीषियों ने जीव-जगत, आत्मा-परमात्मा, कर्म-पुद्गल, लोक-अलोक जैसे गुरु गम्भीर प्रश्नों पर गहराई से चिन्तन किया, वहाँ वे जीवन के सम्बन्ध में भी चिन्तन करने में कभी पीछे नहीं रहे। उन्होंने कहा कि जीवन गुलाब के फूल की तरह खिला हुआ हो जो कांटों के बीच में रहकर भी महकता रहे, अपनी मधुर सौरभ से जन-जन के मन को आकर्षित करता रहे। उन्हीं व्यक्तियों का जीवन धन्य है जिन्होंने अपना जीवन परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए समर्पित किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से ओसवाल वंश की उत्पत्ति राजस्थान की ओसिया महा-नगरी में हुई है। जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि ने एक धर्म क्रांति की। उन्होंने कहा कि 'मनुष्य जाति एक है', भेदभाव की संकीर्ण दीवारें खड़ी करना मानवता का अपमान है। ओसिया महानगरी में जितने भी मानव रहते थे, वे सभी आचार्य के दिव्य प्रभाव से एक बन गए। ओसवाल जाति के निर्माण में अनेक वर्णों का योगदान रहा। इस जाति के रक्त में क्षत्रियों का तेज है, ब्राह्मण की प्रतिभा है, वैश्य की चतुरता है और शूद्र की सेवा भावना है। जब भीषण दुष्काल में ओसिया नगरी को छोड़कर ओसवाल भारत के विभिन्न अंचलों में जा बसे, तब भंडारी परिवार भी ओसिया से नाडौल में जाकर बस गया।

एक किवदन्ती यह भी है कि, भंडारियों की उत्पत्ति नाडौल के चौहानों से हुई, और उसका आधार यह माना जाता है कि नाडौल में आसापुरीजी जो कुलदेवी है, वह भंडारी परिवार की और चौहानों की कुलदेवी है। जहाँ पर बालकों के झडुला उतारे जाते हैं। समराजी भंडारियों के आद्य पुरुष थे। उन्होंने जोधपुर के संस्थापक जोधाजी की प्राणपण से सहायता की। कर्त्तव्यपालन, साहस, प्रामाणिकता और पराक्रम के कारण भंडारी परिवार ने राजवंश में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। राज-परिवार के वे सम्माननीय व्यक्ति के रूप में जाने-पहचाने लगे। अनेक ऐसे तेजस्वी, ओजस्वी व्यक्ति इस परिवार में हुए जिनकी गौरव गाथाएँ आज भी इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों में चमक रही हैं।

भंडारी परिवार भारत के विभिन्न स्थानों में जाकर बस गया। कहा जाता है कि, १३५ वर्ष पूर्व सेठ पन्नालाल जी भंडारी रामपुरा से इन्दौर आकर बसे। वे प्रबल प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने मां अहिल्या की नगरी में अफीम और कपड़े का व्यवसाय प्रारम्भ किया। प्रबल पुण्यवानी के कारण दिन प्रतिदिन व्यवसाय बढ़ता चला गया। आपके सुपुत्र का नाम नन्दलाल जी था, जो तेजस्वी, ओजस्वी व्यक्तित्व के धनी थे। जिसके कारण उन्होंने सम्पूर्ण भारत के ओसवाल वंश में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के रूप में कीर्ति प्राप्त की और नगरपालिका के पार्षद और आनरेरी मजिस्ट्रेट के रूप में भी कार्य कर जन-जन के हृदयहार बन गए।

नन्दलाल जी के तीन पुत्र हुए — कन्हैयालाल जी, मोतीलाल जी एवं सुगनमल जी। तीनों पुत्र त्रिरत्न की तरह समाज के कार्यों में सदा संलग्न रहे।

श्रीमान् कन्हैयालाल जी प्रखर प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। उनमें अपार-व्यापार कुशलता थी। आपके प्रबल पुरुषार्थ से ही इन्दौर में भंडारी मिल संस्थापित हुई तथा अपने पूज्य पिता श्री के नाम को अमर बनाने हेतु नन्दलाल भंडारी मिल्स लि० नाम की मिल खोली। आपने स्टेट मिल्स लि० ठेके पर लिया जिसकी आशातीत प्रगति हुई। आपकी ओर से बड़े पैमाने पर एक पीतल का कारखाना भी स्थापित हुआ।

आप सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में भी अग्रणी रहे। छात्रों के लिए नन्दलाल भण्डारी हाईस्कूल, श्रमिकों के लिए दवाखाना, कुआँ, प्रसूतिगृह, और भोजन हाल बनवाया। रामपुरा में श्री नन्दलाल भंडारी बोर्डिंग हाऊस, म० तु० हास्पिटल में नन्दलाल भण्डारी फेमिली वार्ड, रामपुरा में श्मशान विश्रान्ति गृह, और व्यायाम शाला, बनवाई। कई छात्रवृत्तियाँ दीं। आप ओसवाल समाज के सभापति, इन्दौर म्युनिसिपल कमेटी में पार्षद, इन्दौर म्युनिसिपल इम्प्रूव्हमेन्ट ट्रस्ट बोर्ड के ट्रस्टी, द्वितीय श्रेणी के आनरेरी मजिस्ट्रेट, इनके अतिरिक्त आप कई संस्थाओं के अध्यक्ष बने और अनेक संस्थाओं को प्रेरणा देते रहे। वे जीवन पर्यन्त एक सच्चे कर्मयोगी की तरह संलग्न रहे और सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी चेतना जागृत की। आपका सेवा क्षेत्र समाज, नगर, प्रदेश, और पूरे देश के लिए विस्तृत होता गया, जो सदैव स्मरणीय रहेगा।

समाजसेवी श्रीमान् मोतीलालजी सा. भण्डारी

आप समाज रत्न सेठ श्री नन्दलालजी सा. भण्डारी के द्वितीय पुत्र थे। आप हृदय से बहुत ही करुणाशील धर्मप्रेमी, व्यवहार कुशल थे। समाज सेवा के लिए आपके मन में अत्यधिक तड़प थी। व्यापारिक कुशलता भी आपकी सर्वत्र विख्यात थी।

आपके पाँच पुत्र रत्न हैं—

(१) श्री भंवरसिंहजी सा. भण्डारी
(२) श्री नरेन्द्रसिंहजी सा. भण्डारी
(३) श्री वीरेन्द्रसिंहजी सा. भण्डारी
(४) श्री सुरेन्द्रसिंहजी सा. भण्डारी
(५) (स्व.) श्री महेन्द्रसिंहजी सा. भण्डारी

जैनरत्न सेठ श्री सुगनमलजी सा. भंडारी

श्रीमान् सुगनमल जी सा० भंडारी आपके लघु भ्राता थे। आप भी प्रबल प्रतिभा के धनी महान पुरुषार्थी, चिन्तनमना, साधु पुरुष थे। आप में जहाँ बुद्धि की प्रखरता थी, वहाँ हृदय में सहज सरलता भी थी। धार्मिक साधना, आराधना के प्रति गहन निष्ठा भी थी। धार्मिक, सामाजिक, प्रत्येक कार्य में आप सदा अगुवा रहते थे। मधुर स्वभाव के धनी होने के कारण आप जन-जन के प्रिय थे। स्नेह, सद्भावना और सौहार्द ऐसे सद्गुण आपके जीवन में थे जिससे चुम्बक की तरह जन-मानस आपकी ओर सहज आकर्षित हो जाता था। आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता की तरह व्यवसाय के क्षेत्र में भी एक कीर्ति अर्जित की थी। चाहे सामाजिक क्षेत्र हो, चाहे धार्मिक क्षेत्र हो, चाहे राष्ट्रीय क्षेत्र हो, सभी क्षेत्रों में आपकी अगाध पैठ थी। आपका हृदय बहुत ही उदार था। आप जीवनोत्थान के प्रत्येक कार्य में तन, मन और धन से सहयोग प्रदान करते थे।

जैन आगम साहित्य में श्रावक और श्राविकाओं के लिए एक विशेषण प्रयुक्त होता है और वह विशेषण है—**अम्मापियरो** अर्थात् श्रावक और श्राविकाएँ माता और पिता के तुल्य होते हैं। प्रस्तुत विशेषण आप के जीवन में मूर्त रूप से दृष्टिगोचर होता था। आपने धर्म को व्यावहारिक जीवन में ढालकर एक ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया था। व्यापारिक-जगत में आपकी ईमानदारी को देखकर प्रत्येक व्यक्ति प्रभावित हुए बगैर नहीं रहता।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती चम्पाबाई का जीवन भी चम्पा के फूल की तरह सुगन्धित था। वह धर्मानुरागिणी थी। चारों ओर वैभव में पली पुसी होने पर भी मानवता के प्रति सहज सम्मान था। वे सभी के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करती थीं।

श्री सुगनमल जी सा० के दो पुत्र रत्न हुए—श्री गजेन्द्र सिंह जी सा० और श्री राजेन्द्र सिंह जी सा०। ये दोनों भाई राम और लक्ष्मण की तरह तेजस्वी, ओजस्वी, और वर्चस्वी थे। तथा तीन सुपुत्रियाँ हुईं—चन्द्रशशिबाई, शकुन्तला बाई, और वसुमती बाई। तीनों का पाणिग्रहण क्रमशः श्रीमान शान्ति लाल जी धाकड़, इन्दौर, श्रीमान शान्तिलाल जी सिंधवी उत्तरान, तथा श्रीमान् प्रफुल्ल चन्दजी उत्तरान के साथ सम्पन्न हुआ।

श्रीमान् सुगनमल जी सा. की लोकप्रियता और उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का ही यह प्रबल प्रमाण है कि समाज ने उन्हें समाज भूषण, जैन रत्न, प्रभृति विविध उपाधियों से अलंकृत किए।

आपके ज्येष्ठ पुत्र श्रीमान गजेन्द्रसिंह जी एक ऊर्जस्वल व्यक्तित्व के धनी थे। त्याग, बलिदान, सेवा, सहयोग, आदि ऐसे विरल गुण उनके जीवन में थे जिससे वे एक अतिजात पुत्र के रूप में ख्याति अर्जित कर सके। अभिजात पुत्र वह होता है जो अपने पूज्य पिता से भी सद्गुणों में चार कदम आगे बढ़ता है। उनका लुभावना व्यक्तित्व इन्द्रधनुष के विविध रंगों की तरह मनमोहक था। वे जन-जन के प्रिय होने के कारण स्नेह से लोग उन्हें भैया सा. कहकर पुकारते थे।

कितने ही व्यक्तियों में प्रतिभा सहज जन्मजात होती है, तो कितने ही व्यक्तियों में प्रतिभा थोपी जाती है तो कितने ही व्यक्ति प्रबल पुरुषार्थ से प्रतिभा प्राप्त करते हैं। गजेन्द्र सिंह जी में जन्मजात प्रतिभा थी। उनका लालन-पालन ऐसे संस्कारी धर्म-निष्ठ परिवार में हुआ था, जिसके कारण उनकी प्रतिभा में चार चांद लग गये। वे कर्त्तव्य के साकार रूप थे। उनमें ऐसी तीक्ष्ण मेधा थी, कि प्रत्येक कार्य का सहज शीघ्र निर्णय ले सकते थे। उनकी स्नेहशीलता के कारण पराये व्यक्ति भी अपने बन जाते थे। नाम के अनुरूप भी आप में धैर्य और गम्भीरता थी। आपका बाल्यकाल परिवार के लिए अपार प्रमोद का कारण था। आपकी प्रबल पुण्यवानी से परिवार में सुख-समृद्धि, वैभव का अम्बार लग रहा था। आपकी प्रबल पुण्यवानी को निहार कर ज्योतिषाचार्य श्री कस्तूरचन्द जी म. के हृत्तंत्री के सुकुमार तार झनझना उठे थे कि 'प्रस्तुत बालक भंडारी परिवार के लिए चिन्तामणि रत्न के समान होगा।' उनकी वह भविष्यवाणी आगे चलकर पूर्ण सत्य सिद्ध हुई। वस्तुतः वे चिन्तामणि रत्न ही थे।

गजेन्द्रसिंह जी की प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर के प्रसिद्ध विद्यालय डेवी कालेज में सम्पन्न हुई। उसके पश्चात् होल्कर साइन्स कालेज में शिक्षा ग्रहण कर आप केमीकल इंजीनियरिंग के उच्च अध्ययन हेतु केम्ब्रिज युनिवर्सिटी इंग्लैंड में पहुँचे और ४ वर्ष तक वहाँ रहकर उच्चतम अध्ययन कर पुनः स्वदेश लौटे। सन १९५१ में आपका पाणिग्रहण अजमेर के सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ श्री अभयकरण जी सा. मेहता की सुपुत्री भुवनेश्वरी देवी के साथ सम्पन्न हुआ। भुवनेश्वरी देवी बाल्यकाल से ही प्रतिभा की धनी थी और सदा अध्ययन के क्षेत्र में अग्रणी रही। अंग्रेजी, हिन्दी भाषाओं के साथ अन्य कई भाषाओं का अध्ययन किया। भाषण-प्रतियोगिता में सदा भाग लेती रहीं और प्रतिभा की तेजस्विता से सदा विजय प्राप्त करती रहीं। लक्ष्मी और सरस्वती पुत्री बनकर जब वह मेहता परिवार से भंडारी परिवार की सदस्या बनी, तब विनय, विवेक के कारण भंडारी परिवार में सहज लोकप्रियता प्राप्त हुई। मेधावी पति की

सहयोगिनी बनकर सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय कार्यों में हाथ बटाने लगी। जिसने भी इस अद्‌भुत जोड़ी को देखा, उसके हृदय से यह बात सहज रूप से झंकृत होने लगी कि यह जोड़ी तो राम और सीता की तरह आदर्श जोड़ी है। आपका सुखी जीवन सरिता की सरस धारा की तरह निरंतर स्नेह, सद्‌भावना के सलिल से सिंचन करता हुआ आगे बढ़ रहा था।

आपके तीन सुपुत्र हुए—श्री जसवीरसिंह जी सा., श्री जम्बूकुमार जी सा., एवं श्री सतीशकुमार जी सा.। ये तीनों भाई तीन रत्न की तरह परिवार, समाज और संघ के लिए वरदान रूप हैं। तीनों भाइयों में पिता की तेजस्वी प्रतिभा, और माता की अपूर्व मेधा सहनशक्ति का ऐसा मणि-कांचन संयोग हुआ है जो देखते बनता है।

श्रीमान् गजेन्द्रसिंह जी में अपने पूजनीय माता-पिता के प्रति अगाध श्रद्धा थी और ऐसी अपूर्व क्षमता थी कि पारिवारिक जनों में स्नेह सद्‌भावना की अभिवृद्धि सहज रूप से दिन दूनी-रात चौगुनी बढ़ती जा रही थी। वे अपने स्वार्थ को नहीं, किन्तु परमार्थ को महत्त्व देते थे। यही कारण है कि, धर्मानुरागिणी श्रीमती भुवनेश्वरी देवी की हार्दिक इच्छा थी कि वे पति के साथ विदेश यात्रा में साथ रहें, किन्तु पू. पिताश्री की आज्ञा को शिरोधार्य कर राम की तरह पितृ आज्ञा का एक ज्वलन्त आदर्श प्रस्तुत किया। ऐसा आदर्श आज के युग में सहज रूप से नहीं देखा जा सकता।

माता और पिता का यह परम कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तान में संस्कारों के बीज वपन करें। सुसंस्कारों की नींव पर ही जिन बालक और बालिकाओं का जीवन निर्मित होता है, वे समाज, धर्म और राष्ट्र के लिए सच्चे पथ प्रदर्शक बन सकते हैं। कच्चे माता-पिता के हाथ के खिलौने हैं, वे जैसा चाहें, वैसा संस्कारित उन्हें बना सकते हैं। श्री गजेन्द्रसिंह जी ने मन में एक कल्पना संजो रखी थी कि वे तीनों बालकों को तीन विषय में विशेषज्ञ बनावेंगे। प्रथम श्री जसवीरसिंह जी को उन्होंने फूड टेक्नालाजी के उच्च अध्ययन हेतु अमेरिका की कन्सास युनिवर्सिटी में अनेक बाधाओं के होते हुए भी प्रवेश दिलवाया। द्वितीय पुत्र श्री जम्बूकुमार जी को बम्बई के सिद्धार्थ आर्ट एन्ड कामर्स कालेज में अग्रिम अध्ययन हेतु प्रवेश लेने अकेले ही बम्बई भेज दिया, जहाँ उन्होंने विशेष प्रयत्नों से प्रवेश लिया और सफलता हस्तगत की। तृतीय पुत्र श्री सतीशकुमार जी को विद्यार्जन हेतु देहरादून भेजा गया, पश्चात् वे भी अपने बड़े भाइयों की तरह अध्ययन हेतु विदेश गये और कुशलता प्राप्त की।

श्रीमान गजेन्द्रसिंह जी सा० का कार्य क्षेत्र विस्तृत होता ही गया। वे निम्न व्यावसायिक, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं के संचालक एवं पदाधिकारी थे—(१)

फ्लोअर एन्ड फूड मि. के संस्थापक एवं चेयरमेन (२) नन्दलाल भण्डारी मिल्स लि. के डायरेक्टर (३) काउ एन्ड गेट (इंडिया) लि. के संस्थापक एवं मैनेजिंग डायरेक्टर (४) इन्डस्ट्रीयल ट्रेडर्स के प्रबन्ध संचालक (५) नन्दलाल भण्डारी मिल्स लि. प्राविडेण्ट फण्ड ट्रस्ट के ट्रस्टी (६) नन्दलाल भण्डारी विद्यालय के प्रमुख सलाहकार (७) नन्दलाल भण्डारी एन्ड संस के डायरेक्टर (८) रा. रायबहादुर कन्हैयालाल नन्दलाल भण्डारी पारमार्थिक ट्रस्ट के ट्रस्टी (९) देवास फ्लोअर आइल एन्ड डीआइल्ड केक फैक्ट्री के तत्कालीन डायरेक्टर (१०) सेन्ट्रल होटल के संस्थापक एवं डायरेक्टर (११) रणधीरसिंह गजेन्द्रसिंह आइल मिल के डायरेक्टर (१२) इन्डस्ट्रीयल फाउन्डेशन मध्य प्रदेश के संस्थापक (१३) आल इंडिया रोलर फ्लोअर मिलर्स फेडरेशन के मैनेजिंग कमेटी के सदस्य (१४) मध्य प्रदेश रोलर फ्लोअर मिलर्स एसोसिएशन के उपाध्यक्ष (१५) बैंक आफ इंडिया के तत्कालीन डायरेक्टर (१६) महाराणा भूपाल इलेक्ट्रीकल्स लि. उदयपुर के डायरेक्टर (१७) आल इंडिया मेन्यूफेक्चरिंग आर्गेनाइजेशन मध्य प्रदेश के संस्थापक एवं अध्यक्ष (१८) भण्डारी क्रास फील्ड्स प्रा. लि. के डायरेक्टर (१९) रोटेरी क्लब के १९५६ से आजीवन सदस्य (२०) भारतीय ग्रामीण महिला बेकरी यूनिट के प्रेरणा स्रोत (२१) पुष्प कुंज अस्पताल के प्रेरक (२२) यशवन्त क्लब के सक्रिय सलाहकार (२३) म. प्र. क्रिकेट एसो. के मैनेजिंग कमेटी के सदस्य।

भैया सा. ने सन् १९४६ से १९७० के मध्य इंगलैण्ड, जापान, यूरोपीय देश, चेकोस्लोवाकिया, पोलेण्ड, अमेरिका एवं विश्व के अन्य देशों में यात्रा की। वहाँ आपने नई-नई तकनीकी एवं औद्योगिक विकास की जानकारी लेकर यहाँ कई उद्योगों की स्थापना की। इनमें प्रमुख व्यावसायिक प्रतिष्ठान हैं—(१) इण्डस्ट्रियल ट्रेडर्स (२) विस्को यानमार (३) देवास फ्लोअर आईल एन्ड डी आइल केक फेक्टरी (सालवेण्ट एक्सट्रेक्शन प्लाण्ट) (४) काउ एन्ड गेट (इंडिया) लि. (५) भण्डारी क्रास फिल्ड्स लि. (६) सुप्रसिद्ध होटल का निर्माण (सेन्ट्रल होटल) (७) फ्लोअर एन्ड फूड मि०।

भैया सा. ने आजीवन कर्म को ही महत्त्व दिया। उन्होंने गीता के सिद्धान्त—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' को अपने जीवन में पूर्ण रूपेण आत्म सात कर दिया था। वे अहर्निश कार्य में संलग्न रहते थे। प्रतिदिन १४-१४ घंटों तक कार्य कर व्यवसाय से ही सम्बन्धित लगभग ४००-४५० फाइलें देखते और तत्काल निर्णय देते। समस्याओं का तत्काल निराकरण उनका स्वभाव-सा बन गया था और ऐसी ही अपेक्षाएँ वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों एवं अधिकारियों से रखते थे। जहाँ वे काम के प्रति सख्त थे वहाँ वे किसी से गलती हो जाने पर उसे क्षमा करने की उदारता प्रदर्शित करते थे। व्यावसायिक कार्यों के साथ उन्हें देश-विदेश की पत्रिकाएँ पढ़ने का भी बहुत चाव था। इसीलिए उनकी बुद्धि बहुत ही पैनी और तीक्ष्ण हो गई थी।

धन, वैभव से मण्डित एक प्रतिभावान लक्ष्मीपुत्र होते हुए भी अहं उन्हें स्पर्श नहीं कर सका। राजनीति के छलछिद्रों से उन्होंने अपने आपको बचाए रखा और अधिकांश समय बौद्धिक एवं रचनात्मक कार्यों में ही लगाया। मितव्ययता के भी वे पक्षधर थे। एक तरफा लिखे हुए कागजों को वे फेंक नहीं दिया करते, उन्हें संभालकर रखते और सामान्य कामों में उनका उपयोग करते। यह उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है।

विविध गुणों के भण्डार और अपार वैभव से परिपूर्ण जनजन के दुलारे भैंयासा केवल ४२ वर्ष की आयु में ही २४ सित. १९७१ को अपने प्रिय लोगों परिजनों, हितैषियों से विमुख होकर दिव्य ज्योति में लीन हो गए। उन्हें करीब एक सप्ताह पूर्व मामूली सा हृदयाघात हुआ था, प्रमुख चिकित्सकों से उपचार करवाया गया, लेकिन उन्होंने अपने स्वास्थ्य की विशेष कभी चिन्ता नहीं की। अवसान के एक दिन पूर्व तक वे बराबर काम काज करते रहे और भरसक प्रयत्नों के बावजूद भी इस महान विभूति की आत्मा परलोक पहुँच गई।

वैसे तो इस जगत में जो आता है, उसका जाना भी अवश्यम्भावी है। जो फूल खिलता है वह मुरझाता है, जो सूर्य उदय होता है वह अस्त होता है, जो जन्मता है वह मरता है लेकिन उसकी यहाँ स्मृति शेष रह जाती है जो दूसरों के हितार्थ जीता है। भैंया सा. का जीवन भी जन-जन के लिए समर्पित था, इसलिए उनकी शव-यात्रा में अपार जन-समूह एकत्रित हो गया। सभी की आँखों से अविरल अश्रुओं की धारा प्रवाहित थी। विधि की विचित्र विडम्बना यह थी कि एक वृद्ध पिता अपने युवा पुत्र की अर्थी को कन्धा दे रहा था। शव-यात्रा गन्तव्य स्थान पर पहुँची, तब उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री जसवीरसिंह जी ने उनकी चिता को अग्नि देकर प्रज्वलित किया। धों-धों करते हुए चिता सुलग पड़ी और उनका पार्थिव शरीर अग्नि की गोद में सदा के लिए समा गया। लेकिन हमें यह प्रेरणा दे गया कि इस जीवन का कोई विश्वास नहीं। शुभ कार्य ही जीवन है, शुभ कार्य ही शाश्वत है।

स्व. भैंया सा. की केवल स्मृतियाँ ही शेष हैं, लेकिन उनको स्थायित्व प्रदान करने हेतु उनके परिवार के सभी सदस्य उनकी तपस्विनी एवं धर्मानुरागिनी धर्म-पत्नी एवं तीनों पुत्ररत्न उनके द्वारा प्रदर्शित पथ का ही अनुकरण कर उनके नाम को अधिकाधिक आलोकित कर कीर्ति पताका फहरा रहे हैं।

समाज प्रभाविका श्रीमती भुवनेश्वरी देवी ने भी अपने पतिश्री की कर्मनिष्ठा को सर्वाधिक महत्व देकर अपने जीवन का लक्ष्य समाज सेवा और मानव सेवा को ही बनाया। परिवार का सारा कारोबार अपने तीनों योग्य पुत्रों को सम्भालकर स्वयं सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में अपनी शक्ति लगा रही हैं। आप प्रारम्भ से ही

रूढ़ियों के विरोध में रहीं। सन् १९६२ में ही आप पर्दा प्रथा के विरुद्ध प्रचार करने के लिए घर से बाहर निकल पड़ीं। बहिनों को एक जगह एकत्रित करने के लिए एक मिलन लेडीज क्लब की स्थापना की। आपने अनेक रचनात्मक कार्य किये और कर रही हैं और इसीलिए अनेक जैन और अजैन संस्थाओं में आप अध्यक्ष, चेयरमेन, ट्रस्टी एवं उच्च पदों पर आसीन हैं, जैसे श्रीजैन दिवाकर विद्यानिकेतन ट्रस्ट, महावीर स्वाम्थ्य केन्द्र, चन्दनबाला महिला संघ, गीता भवन ट्रस्ट, अ० भा० मजेन्द्र जैन स्वाध्याय-ध्यान पीठ, इनर व्हील क्लब, म० प्र० जैन स्वाध्याय संघ, स्वाध्याय मंडल, जैन सेवा सदन, सत्य साईं संगठन, संजीवनी सेवा संगठन, श्री अ. भा. श्वे. स्था. जैन कान्फ्रेंस, नई दिल्ली, जैन सेवा संघ आदि। अ० भा० गजेन्द्र ध्यान स्वाध्याय ध्यान पीठ की आप संस्थापिका है। इसके अन्तर्गत धार्मिक ज्ञान के साथ-साथ ध्यान सम्बन्धी विस्तृत जानकारी दी जाती है। वीरवाल भाई-बहनों के प्रति सेवा करने की आपकी भावना बहुत ही प्रबल है। उनके लिए आपने पिछले वर्ष ५ पाठशालाएँ खुलवाई हैं तथा ५ पाठशालाएँ और खोलने के आदेश दिये हैं। इसी संस्था के पदाधिकारियों द्वारा आचार्य प्रवर १००८ श्री हस्तीमल जी म० सा० के सान्निध्य में इन्दौर में एक बहन की दीक्षा के प्रसंग पर आपको समाज-प्रभाविका की उपाधि से सम्मानित किया गया।

इन संस्थाओं के माध्यम से आप सतत् जन-सेवा कर ही रही हैं, साथ ही साहित्य के प्रति भी आपकी विशिष्ट रुचि परिलक्षित होती है। साहित्य प्रकाशन में आप उदार मन से आर्थिक सहयोग देकर सत् साहित्य को आगे लाने का प्रयास कर रही हैं। आपके द्वारा गजेन्द्र व्याख्यान माला और अन्तर्दृष्टि इन दो पुस्तकों का पूर्व प्रकाशन हुआ है। ये दोनों पुस्तकें अत्यधिक लोकप्रिय हुई।

सत्-साहित्य के प्रति आप में सहज रुचि है, स्वयं सत्-साहित्य का स्वाध्याय करती रहती हैं। सत् साहित्य जीवन ज्योति को प्रज्वलित करने के लिए तेल के समान है। सत् साहित्य के पठन-पाठन से हजारों व्यक्तियों के जीवन में परिवर्तन आया है। इस वर्ष महामहिम राष्ट्र सन्त आचार्य सम्राट के आदेश को शिरोधार्य कर तथा इन्दौर संघ की भाव भीनी प्रार्थना को सन्मान देकर परमादरणीय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. व उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. प्रभृति सन्तों का ऐतिहासिक वर्षावास इन्दौर महानगरी में हुआ। उपाचार्य श्री जी के साहित्य को श्रीमती भुवनेश्वरी देवी निरन्तर पढ़ती रहीं और इस साहित्य के प्रति मन में गहरी सद्भावनाएँ

रहीं। अतः अपने से 'जैन नीति शास्त्र : एक परिशीलन' ग्रन्थ की ५०० प्रतियाँ अपनी ओर से छपवाकर वितरण करने का भाव प्रदर्शित किया। फलस्वरूप इन्दौर वर्षावास की स्मृति को सदा-सर्वदा जागृत रखने के लिए यह अपूर्व भेंट वे प्रदान कर रही हैं, एतदर्थ हम उन्हें हार्दिक साधुवाद प्रदान करते हैं और साथ ही उनकी साहित्यिक रुचि का अभिवादन करते हैं भविष्य में भी उनका सतत सहयोग प्राप्त होता रहेगा जिससे कि हम अभिनव साहित्य प्रबुद्ध पाठकों के कर कमलों में थमाते रहेंगे।

—चुन्नीलाल धर्मावत (कोषाध्यक्ष)
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

□□

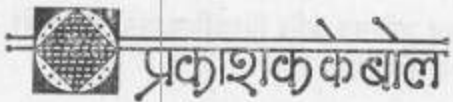
समर्पण-सुमन

जिनका जीवन
तप और त्याग का
क्षमा और विराग का
ज्ञान और विज्ञान का
न्याय और नीति का
जाज्वल्यमान प्रतीक है

जो श्रमणसंघ के अनुशास्ता हैं
जिनके कुशल नेतृत्व में
श्रमणसंघ फल फूल रहा है

उन्हीं आचार्यसम्राट महामहिम
राष्ट्रसन्त श्री आनन्द ऋषि जी महाराज
के
पवित्र कर कमलों में
सादर-सभक्ति समर्पित

—देवेन्द्र मुनि
(उपाचार्य)



प्रकाशक के बोल

प्राचीन भारतीय साहित्य उपवन में जैन साहित्य की अपनी एक खास छटा है, सुषमा है, समृद्धि है। दर्शन, न्याय, तर्क, भक्ति, चरित्र, पुराण, कथा, काव्य, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि साहित्य की कोई भी विधा ऐसी नहीं है जिस पर मनीषी जैनाचार्यों की बहु प्रसविनी लेखनी ने चमत्कार नहीं दिखाया हो। प्राचीन जैन वाङ्मय को देखने से पता चलता है कि विद्वान् आचार्यों ने जिस विषय का भी स्पर्श किया है उसको सर्वाङ्गीण आलोड़न व गम्भीर पर्यालोचन के साथ प्रस्तुत किया है। फिर भी एक शिकायत काफी समय से थी कि जैन आचार्यों ने धर्म व आचार ग्रन्थों पर तो बहुत ही सुन्दर लिखा है किन्तु नीति (ईथिक्स—Ethics) जैसे विषय पर कम लिखा है। सिर्फ दो या तीन ग्रंथों के ही नाम प्रसिद्ध हैं, अतः इस विषय पर कोई प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध होना चाहिए जो जैन नीतिशास्त्र को भी समुचित रूप से प्रस्तुत कर सके।

प्राचीन समय में नीतिशास्त्र—धर्म व आचार ग्रन्थों में सम्मिलित था, इस कारण नीति कोई स्वतन्त्र विषय नहीं रहा, किन्तु जब से पाश्चात्य नीतिशास्त्र व मनोविज्ञान का अध्ययन होने लगा है, नीतिशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय बन गया है और इसका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है।

गुरुदेव पूज्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी के विद्वान शिष्य, सैकड़ों पुस्तकों के लेखक उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी से कई बार अनेक विद्वानों ने अनुरोध किया कि आप जैन नीतिशास्त्र पर कोई सर्वांग तुलनात्मक पुस्तक दीजिए। अनेक विश्वविद्यालयों आदि के पाठ्यक्रम में इस प्रकार की पुस्तक का नितान्त अभाव है। आप जैसा समर्थ विद्वान् ही इसकी पूर्ति कर सकता है।

हमें प्रसन्नता है कि उपाचार्य श्रीजी ने लगभग १२ वर्ष तक प्रस्तुत विषय का अनुशीलन करके बहुत ही प्रामाणिक सामग्री से युक्त सर्वथा मौलिक पुस्तक तैयार कर एक अभाव की शानदार पूर्ति की है।

उपाचार्य श्रीजी के इस महनीय लेखनकार्य में समाज के प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीचन्दजी सुराना तथा श्री वृजमोहनजी जैन ने पूर्ण समर्पित भाव से सहयोग किया है, हम उनके इस सहकार्य के प्रति आभारी हैं।

आशा है यह अभिनव कृति विश्वविद्यालयों के छात्रों व अध्यापकों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

मन्त्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
उदयपुर

स्वकीय

मानव का एक विशिष्ट लक्षण है—मननशीलता। अरस्तु ने इसी को लक्ष्य में रखकर कहा—Man is a thinking animal—मानव चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तन-मनन कर किसी भी विषय के तलछट तक पहुँचकर निर्णय करना उनका स्वभाव है।

जब से आदिमानव अन्य मानवों के सम्पर्क में आया, उनके साथ उसका व्यवहार प्रारम्भ हुआ, वन सभ्यता से नगर सभ्यता की ओर बढ़ा, तभी से मानव के व्यक्तिगत चिन्तन ने सामाजिकता की ओर मोड़ लिया। वह इस बात के लिए प्रयत्नशील हो गया कि अन्य लोगों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए, जिससे उनसे सहयोग की प्राप्ति हो तथा साथ ही उन्नति-प्रगति का मार्ग भी प्रशस्त हो और सबसे बड़ी बात कि वह व्यवहार सभी को प्रिय, मान्य तथा उचित भी लगे।

यह 'उचित', 'चाहिए' और 'सर्वसमाजमान्य' ही नीतिशास्त्र के आधारबिन्दु हैं। इन्हीं पर नीति का सम्पूर्ण भव्य भवन आधृत है। इन्हीं तीन बिन्दुओं ने विकसित होकर नीतिशास्त्र का विशाल रूप ग्रहण किया है।

इस 'उचित' का आधार नैतिक मान्यताएँ तो हैं ही, साथ ही मनुष्य की अन्तर्दृष्टि भी इसमें निर्णायक भूमिका अदा करती है।

जहाँ तक नैतिक मान्यताओं का प्रश्न है, ये विभिन्न समाजों में सदा से भिन्न-भिन्न रही हैं और आज भी भिन्न हैं तथा आगे भी इनमें भिन्नता रहेगी।

फिर युग परिवर्तन के साथ भी नैतिक मान्यताओं में परिवर्तन—परिवर्द्धन भी होते हैं। ये परिवर्तन विश्वास और मनःस्थितियों में भी परिलक्षित होते हैं। धर्म और कला से भी प्रभावित होते हैं। यहां तक कि

सत्य के विषय में विभिन्न युग के मनीषी चिन्तकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार प्रस्तुत किये हैं और उसे अपनी अपनी मान्यता/अनुभूति के आलोक में भिन्न-भिन्न प्रकारों में जनता के समक्ष उपस्थित किया है।

नीति का सम्बन्ध भी जीवन के सत्य से है। जीवन अर्थात् व्यक्ति का व्यक्तिगत, पारिवारिक, जातीय, राष्ट्रीय, सामाजिक—सभी प्रकार के सम्बन्धों के व्यवहारों के ताने-बाने से बुना हुआ एक सम्पूर्ण वस्त्र है।

सामाजिक जीवन में 'सामान्य उचित' को नैतिक आधार पर उचित होना अनिवार्य है। नैतिक आधार पर उचित वह होता है जिसे सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। यह 'समाज द्वारा अनुमोदित उचित' ही 'नैतिक उचित' है। यही स्थिति 'नैतिक चाहिए' के विषय में है, वह भी समाज द्वारा मान्य होना चाहिए।

कभी-कभी समाज की मान्यताएँ व्यक्ति की इच्छाओं की प्रतिरोधक भी हो सकती हैं। इसी तथ्य को रूसो ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

मानव स्वतन्त्र जन्म लेता है किन्तु सर्वत्र बंधनों में रहता है।

यद्यपि यह बंधन मानव को अखरते हैं; फिर भी वह सामाजिक प्राणी (social animal) है, अतः वह सामाजिक बंधनों/मान्यताओं के साथ समझौता करता है और फिर यह मान्यताएँ उसके जीवन का अंग बन जाती हैं, सहज हो जाती हैं। इन्हीं मान्यताओं में वह 'नैतिक उचित' की निष्पत्ति अनुभव करने लगता है।

और नैतिक बन्धन विवशता नहीं, आवश्यकता बन जाते हैं।

नीति का यह एक रूप है, जो समाज-सापेक्ष है। यह बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूलन और समायोजन स्थापित करता है। इसका महत्व इस तथ्य में है कि व्यक्ति समाज से अलग-थलग नहीं होता, समाज के साथ चलता रहता है और समाज की उन्नति के साथ-साथ वह भी प्रगति के सोपान चढ़ता रहता है, शनैः-शनैः स्वयं को उन्नत बना लेता है, सभ्य सुसंस्कृत (civilized, cultured and polished) व्यक्ति बन जाता है।

यह नीति का एक पहलू है, व्यावहारिक पक्ष है। इसे व्यावहारिक नीति (morality in behaviour) भी कहा जाता है।

नीति का एक दूसरा पक्ष भी है। वह शाश्वत है, वह बदलती हुई परिस्थितियों के साथ नहीं बदलता।

उदाहरणार्थ; हिंसा सदैव ही अनैतिक है, वह कभी भी नैतिक और ग्राह्य नहीं हो सकती। इसी प्रकार झूठ, चोरी, व्यभिचार, परस्त्री-गमन, वेश्यागमन आदि भी अनैतिक हैं। इन्हें किसी भी तर्क, युक्ति से नैतिक सिद्ध नहीं किया जा सकता; परिस्थितियों के मत्थे मढ़कर स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास तो खम्भा पकड़कर आजादी के लिए चिल्लाने जैसा होता है।

नीति के इन दोनों रूपों का अपना-अपना महत्व है। शाश्वत नीति रथ-चक्र की धुरा (axis) के समान है। इसी के आधार पर नीति-रथ का चक्र गति करता है, घूमता है।

रथ-चक्र और धुरा दोनों ही रथ की सरल-सहज और निर्बाध गति के लिए अनिवार्य हैं। चक्र के बिना धुरा एक सामान्य दण्ड के समान निरर्थक है तो धुरा के अभाव में चक्र भी गतिहीन/निष्प्राण सा पड़ा रह जाता है।

इसी प्रकार मानव-जीवन की सुचारु गति-प्रगति-उन्नति के लिए नीति के शाश्वत और व्यावहारिक—दोनों पक्षों की अनिवार्य आवश्यकता है। ये दोनों ही पक्ष सबल होने चाहिए, एक की भी निर्बलता जीवन-रथ की गति को विषम बना देती है।

मैंने अपनी प्रस्तुत पुस्तक 'जैन नीतिशास्त्र : एक परिशीलन' में नीति के इन दोनों पक्षों (शाश्वत नीति और व्यावहारिक नीति) पर स्पष्ट दृष्टि रखी है और इन दोनों को समुचित महत्व दिया है।

यह सत्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थ को मैंने मुख्य रूप से जैन-नीति को आधारभूत बनाकर लिखा है, किन्तु इसमें सभ्य संसार की अर्वाचीन और प्राचीन नीतियों का भी समावेश किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक चार खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में नीति का सामान्य पर्यवेक्षण है। इसमें वैदिक, बौद्ध, ईसाई, चीनी, यूनानी, मुस्लिम प्रभृति सभी नीतियों के विशिष्ट तत्वों का दिग्दर्शन कराया गया है।

द्वितीय खण्ड संपूर्णतया जैन-नीति से सम्बन्धित है। इसमें सम्यग्दर्शन जो कि जैन नीति और नैतिक साधना का प्रमुख आधार है, उसके विवेचन के उपरान्त, व्यसनमुक्त जीवन, नैतिक जीवन के व्यावहारिक सोपान, नैतिक उत्कर्ष (श्रावकाचार), नैतिक चरम (श्रमणाचार) और नैतिक उत्कर्ष की मनोवैज्ञानिक भूमिकाओं का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय खण्ड में जैन-नीति का पश्चिमी नैतिक वादों के साथ तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात कर्तव्य-अधिकार और दण्ड एवं अपराध के विभिन्न सिद्धान्तों और अवधारणाओं को स्पष्टतः विशद रूप में विवेचित किया है।

अन्तिम चतुर्थ खण्ड में परिशिष्ट के रूप में नीति सूक्ति कोष दिया गया है।

प्रस्तुत कृति रचना का उद्देश्य

यद्यपि बाजार में नीति सम्बन्धी अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं, लेकिन विषय की सर्वांगपूर्णता का प्रायः सभी में अभाव है।

अधिकांश पुस्तकें विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के अनुसार लिखी गई हैं। स्पष्ट ही उनकी अपनी सीमाएं हैं। पाठ्यक्रम पूरा करना ही उनका लक्ष्य रहा है।

डा० K. C. Sogani की Ethical Doctrines in Jaina Ethics और डा० D. N. Bhargava की Jaina Ethics यद्यपि जैन नीति की दृष्टि से अच्छी पुस्तकें कही जा सकती हैं किन्तु इनमें भी जैनाचार का ही वर्णन मुख्य रूप से हुआ है। श्रावक और श्रमण के आचार का नीतिपरक आधार और विवेचन का इनमें भी अभाव है।

इसके अतिरिक्त और भी पुस्तकें हैं—जैसे श्री संगमलाल पाण्डेय का नीतिशास्त्र का विवेचन, श्री भीखनलाल आत्रेय का भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास आदि।

तथापि एक ऐसी पुस्तक का अभाव खटक रहा था, जिसमें जैन-नीति का सर्वांगपूर्ण तथा तुलनात्मक विवेचन हो। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने इस कमी को पूरा करने का प्रयास किया है।

यह प्रश्न मेरे समक्ष रहा कि जैन-नीति क्या है? उसका कोई स्वतन्त्र स्वरूप है भी या नहीं? अथवा वैदिक परम्परा की नीति को ही जैन मनीषियों ने स्वीकार किया है। इस विषय में मैं गहरा उतरा, ग्रन्थों का —प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखित सामग्री का ज्यों-ज्यों आलोड़न किया तो स्पष्ट अनुभव किया कि जैन नीति का एक अलग ही स्पष्ट स्वरूप है, जो भारतीय अन्य नीति-परम्पराओं से कुछ विशिष्ट है। अपने आप में पूर्ण है, सर्वांगपूर्ण है। जैन नीति के इसी स्वरूप को मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

जैन नीति के स्वरूप को प्रस्तुत ग्रन्थ में मैं कितना स्पष्ट कर सका हूँ, यह निर्णय तो प्रबुद्ध पाठक ही कर सकेंगे। किन्तु मुझे इतना परितोष अवश्य है कि जैन वाङ्मय की एक रिक्त विधा को मैंने भरने का एक लघु व नम्र प्रयास किया है।

मेरे इस प्रयास को सफल बनाने में स्नेह सौजन्यमूर्ति श्री श्रीचन्दजी सुराना व डॉ० वृजमोहन जैन का बहुमूल्य सहकार मिला है। उन्होंने पुस्तक के संपादन के साथ ही कलात्मक मुद्रण और त्रुटिरहित प्रूफ संशोधन करके ग्रन्थ को चित्ताकर्षक बनाने का भी प्रयास किया है।

संघनायक महामहिम राष्ट्रसन्त आचार्य सम्राट श्री आनन्दऋषिजी महाराज की अपार कृपादृष्टि व आशीर्वाद मेरे लिए सम्बल रूप रहा है। तथा परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० का मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ जिनकी अपार कृपा से ही मैं साधना व साहित्य क्षेत्र में प्रवेश कर सका हूँ और आज जो कुछ भी हूँ वह उन्हीं की कृपा का प्रतिफल है।

पूज्यनीया मातेश्वरी स्वर्गीया महासती प्रतिभामूर्ति श्री प्रभावतीजी म० व ज्येष्ठ भगिनी महासती श्री पुष्पवतीजी की प्रबल प्रेरणा इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न करने के लिए प्रेरक रही। श्री रमेश मुनि, श्री राजेन्द्र मुनि, श्री दिनेश मुनि, श्री सुरेन्द्र मुनि आदि की सेवा तथा सहयोग भी विस्मृत नहीं की जा सकती।

ज्ञात व अज्ञात रूप में जिन किन्हीं का भी सहयोग मिला है तथा जिन ग्रन्थों का मैंने उपयोग किया है उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ जैन नीति के स्वरूप को समझने में सहायक होगा।

गुरु पूर्णिमा
महावीर भवन,
इन्दौर (म. प्र.)

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

सम्पादकीय

एक बार किसी युवक ने प्रसिद्ध विचारक बेंजामिन फ्रेंकलिन से प्रश्न किया—जीवन में मानव का सच्चा साथी कौन है ?

फ्रेंकलिन ने युवक को ऊपर से नीचे तक देखा। वह कुछ निराश-सा लग रहा था, संभवतः संघर्ष और परिस्थितियों की विपरीतता ने उस युवक की जीवन-ऊर्जा को क्षीण बना दिया था।

फ्रेंकलिन कुछ क्षण तक उस युवक को देखते रहे, फिर चिंतन की गहराई में उतरे और उतरकर उस युवक के कंधे पर आश्वासन भरा हाथ रखकर गम्भीर स्वर में बोले—युवक ! जीवन संघर्ष में विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य का सबसे बड़ा साथी है नीति। तुम इस पर पूरा भरोसा कर सकते हो।[1]

वस्तुतः नीति मानव की सहायता जाने-अनजाने यत्र-तत्र-सर्वत्र करती रहती है। सुख में, दुःख में, किसी कठिनाई में, जटिल और विषम परिस्थिति में नीति ऐसा मार्ग सुझा ही देती है कि रास्ते में आया हुआ स्पीडब्रेकर एक झटके के साथ हट जाता है और मानव की रुकी हुई गाड़ी फिर सरपट पटरियों पर दौड़ने लगती है।

किस परिस्थिति में किस प्रकार के निर्णय किये जायें जो उचित भी हों, समाजमान्य भी हों और उन्नतिकारक भी हों, उन सिद्धांतों के संकलन को नीतिशास्त्र कहा जा सकता है।

इस नीतिशास्त्र में युग-युगों के अनुभवों का सार संचित होता है। इसीलिए यह शास्त्र और इसके सिद्धान्त सामान्य और सहज व्यवहार में भी मानव के लिए उपयोगी हैं।

---

1 The most reliable and dependable companion of a man is morality, to get success in the struggle of life.

— Benzamin Franklin

नीतिशास्त्र का अध्ययन दो रूपों में किया जा सकता है—१. संकलन और २. विश्लेषण।

संकलन में नीति सम्बन्धी बिखरी हुई सामग्री को एक स्थान पर एकत्र किया जाता है और फिर उसका विश्लेषण किया जाता है तथा मानव-मात्र के लिए उपयोगी सिद्धान्त निर्धारित किये जाते हैं। वर्गीकरण द्वारा विश्लेषण में वैज्ञानिकता का पुट दिया जा सकता है और संकलित सामग्री के चयन में सुगठितता, सरलता तथा प्रामाणिकता का समावेश किया जा सकता है। साथ ही विश्लेषण चरण में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए, नीति के बदलते हुए—युगानुरूप परिवर्तित रूप की समीक्षा के उपरान्त एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना सुगम हो जाता है।

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि द्वारा रचित 'जैन नीतिशास्त्र : एक परिशीलन' पुस्तक नीतिशास्त्रीय विवेचन के उपरि लिखित सभी गुणों से आप्यायित है। संकलन और विश्लेषण दोनों ही चरणों का सम्यक् रीत्या-निर्वाह किया गया है।

पुस्तक का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आधुनिक युग तक की नीति का पर्यालोचन प्रथम खण्ड में किया गया है।

इस खण्ड की प्रमुख विशेषता यह है कि अन्य सभी भारतीय मनीषियों ने नीति का प्रारम्भ ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य के सूक्तों से माना है जबकि प्रस्तुत पुस्तक में नीति का प्रारम्भ प्रागैतिहासिक काल से माना है और इस तथ्य को पुष्ट प्रमाणों से प्रमाणित किया गया है फिर विकास क्रम दिखाते हुए समस्त भारतीय एवं पाश्चात्य नीतियों का सर्वेक्षण किया गया है।

अन्य विज्ञानों से तुलना तथा अन्य सामान्य विषय तो अन्यत्र भी उपलब्ध हो सकते हैं किन्तु नीतिशास्त्र की शैलियाँ शीर्षक से एक नई वस्तु पाठकों को मिलेगी।

साथ ही जैन नीति का स्पष्ट परिचय 'भगवान महावीर की नीति सम्बन्धी अवधारणाएँ' अध्याय में मुनिश्री ने जैन-नीति के विशिष्ट तत्वों को स्पष्ट कर दिया है।

मुनिश्री का ध्येय जैन-नीति का परिचय कराना है, अतः दूसरे खण्ड में जैन-नीति का ही वर्णन हुआ है। इस खण्ड की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि श्रावक व्रत के अतिचारों और श्रमण व्रतों के अपवाद मार्ग की नीति-परक अवधारणाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं।

इसी प्रकार गुणस्थानों (Stages of Spiritual Development) का मनोविश्लेषणात्मक विवेचन और साथ ही नीति-शास्त्रीय सन्दर्भ प्रस्तुत पुस्तक की अन्यतम विशेषता है।

प्रस्तुत खण्ड का विकास बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। सर्वप्रथम सही—यथातथ्य विश्वास को जैन नीति का आधार मानकर उस विश्वास का सम्यग्दर्शन के रूप में विस्तृत और नीतिपरक विवेचन किया गया है।

यह तो सार्वजनीन तथ्य है कि गलत (मिथ्या) धारणाओं की बालुई नींव पर नीति का भवन खड़ा नहीं किया जा सकता; क्योंकि नीति का आधार ही सत्य/सत्य धारणा है। उचित-अनुचित, कर्तव्याकर्तव्य आदि नैतिक प्रत्ययों का यथातथ्य निर्णय वही कर सकता है, जिसकी दृष्टि सम्यक् हो, श्रद्धा परिष्कृत हो।

असंस्कारी और सुसंस्कारी दोनों ही प्रकार के बालक विद्यालय में जाते हैं, शिक्षक दोनों ही बालकों को समान रूप से शिक्षा देते हैं, समझाते हैं किन्तु असंस्कारी बालक कुछ भी नहीं समझ पाता, जबकि सुसंस्कारी बालक शिक्षा के सोपान चढ़ता/पार करता चला जाता है।

यही स्थिति नैतिकता के सम्बन्ध में है। सम्यक् और सत्य दृष्टि-कोण वाला व्यक्ति नैतिक आचरण करने में सक्षम होता है जबकि गलत दृष्टिकोण वाला सक्षम नहीं हो पाता। उसकी तो वही स्थिति होती है—

फूलहिं-फलहिं न बेंत, सुधा सरस बरसे जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें बिरंचि सम॥

इसीलिए जैन-नीति के आधार रूप में सम्यग्दर्शन के वर्णन के साथ-साथ नैतिक जीवन पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है, इसे स्पष्ट किया है।

तीसरे खण्ड में मुनिश्री ने पश्चिमी नैतिक वादों से जैन-नीति की तुलना करके यह स्पष्ट किया है कि ये वाद जैन-नीति के कहाँ तक अनुकूल हैं और कहाँ से उनकी राहें अलग हो गई हैं। और वे राहें कैसी हैं, उचित अथवा अनुचित? और इस अलगाव में देश-काल की परिस्थितियों का कितना और कैसा प्रभाव है?

अन्तिम अध्याय जैन-नीति का आधुनिक समस्याओं के समाधान में योगदान ऐसे अहिंसक/नैतिक उपाय सुझाता है कि समाज और राष्ट्र में सुख-शान्ति की सरिता बहती रहे, घर-परिवार कहीं भी क्लेश का वातावरण न रहे, सर्वत्र समता और हँसी खुशी के सुमन खिलते रहें।

इन तीनों खण्ड तक नीति का विश्लेषणात्मक चरण है और इसके परिशिष्ट में संकलनात्मक चरण। इस चरण में नीति सूक्तियों का संचयन है।

सूक्तियों के लिए आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में कहा है—

प्रबोधाय विवेकाय, हिताय प्रशमाय च।
सम्यक् तत्त्वोपदेशाय, सतां सूक्तिः प्रवर्तते ।।

—सोये हुए को जगाने के लिए, सत्य-असत्य के निर्णय के लिए, लोक-कल्याण के लिए और वैराग्य जागृति के लिए तथा सच्चे तत्व का उपदेश देने के लिए सत्पुरुषों द्वारा सूक्ति का प्रवर्तन/कथन होता है।

सत्पुरुषों द्वारा कथित सूक्तियों का एक महार्णव ही है। संकलनकर्ता के लिए एक समस्या खड़ी हो जाती है। सभी सूक्तियों का अपना प्रभाव होता है, आकर्षण होता है। वे संकलनकर्ता से बोलती हुई जान पड़ती हैं हमें भी चुन लो, ठीक नव-कुसुम कलियों के समान, जिनके सम्मोहक आकर्षण से संकलनकर्ता अभिभूत हो जाता है।

यह स्थिति वैसी ही होती है, जैसी संजीवनी बूटी लेते समय हनुमान जी के सामने आ गई थी। सभी बूटियाँ चमक उठी थीं। हनुमान जी असमंजस में पड़ गये, कुछ निर्णय न कर सके—किस बूटी को ले जाऊँ और किसको नहीं; आखिर हनुमान जी पर्वत खण्ड को ही उठा लाये।

लेकिन सूक्ति संकलनकर्ता क्या करे? सभी सूक्तियाँ 'सूक्तं शोभनोक्ति विशिष्टम्' होती हैं, सभी की शोभा न्यारी होती है, फिर सूक्तियों के महार्णव में रत्न-कण समान कुछ अनुपम सूक्तियों का चयन करना ऐसा ही है जैसा सागर तल में से मोती निकालना।

उपाचार्य श्री ने विशाल और गहरे सूक्ति सागर में से ऐसी ही गहरी डुबकी लगाकर लगभग ३५० सूक्तियों का संचयन किया है, जो अपने आपमें बेजोड़ है, प्रत्येक प्रकार के मानव के लिए उपयोगी हैं और प्रत्येक अवसर पर सहायता करने वाला एक विशिष्ट विश्वस्त संगी हैं।

यह सूक्ति कोष प्रस्तुत ग्रन्थ का कलश है और उपाचार्य श्री की तीव्र मेधा तथा विशिष्ट संचयन कौशल का परिचायक है।

भारतीय भाषाओं में, विशेषकर राष्ट्र भाषा हिन्दी में 'भारतीय नीति शास्त्र' पर पचासों पुस्तकें निकल चुकी है, और धड़ल्ले से निकल

रही है, किन्तु 'जैन नीतिशास्त्र' पर आज तक कोई ठोस पुस्तक देखने को नहीं मिली। इधर में जो कुछ पुस्तकें 'जैन नीतिशास्त्र' के नाम से निकली हैं उनमें भी वर्णन की वही परम्परागत शैली है और वे ही आचार सम्बन्धी सर्व प्रसिद्ध बातें। पाश्चात्य एवं पौर्वात्य नीतिशास्त्र की शब्दावली में, नीतिशास्त्र की शैली में तथा सम्पूर्ण नीतिशास्त्र के तुलनात्मक दृष्टि कोण से चिन्तन का अभाव खटक रहा है। प्रस्तुत पुस्तक की अपनी यह विशेषता है कि नीतिशास्त्र के सभी प्रत्ययों पर गहराई से विचार किया गया है और जैन नीति की धारणाओं को पद-पद पर समीक्षा के साथ प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति भी करेगा और नीतिशास्त्र के अध्येताओं को मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र के छात्रों को एक नई पाठ्य सामग्री देगा।

श्रद्धेय उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी ने अपने गम्भीर अध्ययन व सर्वतोमुखी चिन्तन के आधार पर लगभग १२ वर्ष के दीर्घकालीन स्वाध्याय/अनुशीलन के पश्चात् प्रस्तुत ग्रंथ का लेखन सम्पन्न किया है। मुनि श्री ने पचासों ग्रन्थों का पारायण किया। अनेक सामयिक पत्र-पत्रिकाएं पढ़ीं और धीरे-धीरे इस विषय पर लिखते रहे। इस दीर्घ काल में वे दक्षिण भारत की पदयात्रा करके उत्तर भारत के हृदय भारत की राजधानी देहली तक पहुँचे तथा पुनः जयपुर से वापस राजस्थान प्रवास करके महाराष्ट्र के पूना, अहमदनगर से इन्दौर तक की एक लम्बी परिक्रमा कर चुके हैं। लगभग दस हजार मील की पदयात्रा के मध्य बावजूद अनेकविध व्यवधानों के भी इस ग्रन्थ के लेखन में जुटे रहे। अनेक बार परिवर्तन/परिवर्धन करते रहे।

इस प्रकार एक सुदीर्घ चिन्तन से परिपक्व यह पुस्तक अनेक नये रोचक तथ्यों से परिपूर्ण जैन साहित्य में एक नवीन विषय का प्रवर्तन करने वाली सिद्ध होगी।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'
—डा० वृजमोहन जैन

●

प्रस्तावना

मानव-जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठभूमियों पर आधृत है। उन विविधताओं का एक ऐसा समन्वित रूप उसमें सम्प्रतिष्ठ है, जो उसे सामंजस्य के धागे में पिरोए रखता है। यह वांछित है कि इस तथ्य को यथावत् रूप में आत्मसात् किया जाए। जहाँ ऐसा होता है, जीवन संतुलन की धुरी पर सम्यक् रूप में गतिशील रहता है।

मानव-जीवन का यह सामंजस्य अपने आप में अनेक मर्यादाएँ लिए हुए है। ये मर्यादाएँ समाज, धर्म-परिवार, राष्ट्र एवं लोक से संबद्ध उन विशिष्ट मान्यातओं से जुड़ी होती हैं, जो इन सब के अस्तित्व की संवाहिकाएँ हैं। यों एक ऐसे नियम-क्रम या विधिक्रम का स्वरूप निर्मित होता है, जो जीवन की गाड़ी को सही दिशा में सही रूप में लिए चलता है। उसे नीति की संज्ञा दी गई है।

नीति शब्द संस्कृत की नी धातु से निष्पन्न है। "नी" धातु ले जाने के अर्थ में है। नीति का शाब्दिक विश्लेषण "**नीयते अनया इति नीतिः**" है। जो सही दिशा में लिए चले, अग्रसर करे, वह नीति शब्द से अभिहित है।

नीति शब्द अपने आप में कुछ भ्रामक भी है। यह एकाको उपयोग में भी आता है और कतिपय अन्य संज्ञाओं के आगे जुड़कर भो, जैसेः— धर्मनीति, राजनीति, दण्डनीत, युद्धनीत, कूटनीति, समाजनीति इत्यादि। यहाँ कुछ शंकाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, क्या समाजनीति,धर्मनीति और राजनीति आदि के मूल आधार आदर्शों की दृष्टि से भिन्न हो सकते हैं? एक दूसरे के प्रतिकूल हो सकते हैं? यदि ऐसा है तो क्या वे सब नीति कहे जाने की अधिकारिणी हैं?

कौटिल्य के अर्थशास्त्र का एक छोटा सा उदाहरण है। उन्होंने वहाँ शत्रु राजा के विनाश के लिए विषकन्या के प्रयोग की चर्चा की है। शैशवावस्था से ही एक कन्या को विषाक्त बनाने हेतु विविध प्रकार से उसकी देह पर विषों के अनेक प्रयोग किए जाते थे। साँप आदि जहरीले जन्तुओं से कटवाना, विषैले पदार्थों का सेवन करवाना प्रभृति।

निरन्तर ऐसे प्रयोग किए जाते रहने से वह कन्या तरुणावस्था तक पहुँचते-पहुचते इतनी विषाक्त हो जाती थी कि उसके संस्पर्श मात्र से तत्काल व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी। ऐसे ही विषकन्या प्रयोग की एक घटना का संकेत विशाखदत्त रचित "मुद्राराक्षस" नामक नाटक में है। यह वह नाटक है जिसमें महापद्मनन्द के महामन्त्री राक्षस [सुशर्मा] तथा चन्द्रगुप्त मौर्य को उत्तर भारत के एकछत्र साम्राज्य का सर्वतन्त्र-अधिपति बनाने को प्राणपण से समुद्यत राजनीति के महान् पण्डित महामन्त्री चाणक्य के अत्यधिक बुद्धिमत्तापूर्ण राजनैतिक, कूटनैतिक संघर्ष की कहानी है, जहाँ पर्वतेश्वर (उत्तर-पश्चिम-सीमान्त-प्रदेश के शासक) मलयकेतु, जो चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रतिद्वन्द्वी था, जो विशाल सैन्य के साथ पाटलिपुत्र पर चढ़ आया था, की विषकन्या के प्रयोग द्वारा मृत्यु होती है। यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है, महान् नीतिनिष्णात कौटिल्य ऐसे हिंसालक्षी उपक्रम को जो नीति में स्वीकार करते हैं, क्या उसमें औचित्य है ?

इसी प्रकार का एक प्रसंग रामायण में प्राप्त होता है। रावण का पुत्र मेघनाद अजेय रथ प्राप्त करने हेतु अपनी कुलाधिष्ठात्री निकुंभिला देवी के मन्दिर में अनुष्ठान हेतु जाता है। अनुष्ठान में अभिरत होता है। उधर राम के दल में विभीषण द्वारा सुझाए जाने पर लक्ष्मण अनेक योद्धाओं के साथ मेघनाद के अनुष्ठान में विघ्न डालने हेतु आते हैं। अनुष्ठान को विध्वस्त करना चाहते हैं। लक्ष्मण के साथी योद्धा मेघनाद को तरह-तरह से प्रताड़ित करते हैं, सताते हैं, फिर भी मेघनाद काफी समय तक अविचलित रहता है। विघ्नकारी उसे मारने पीटने के साथ-साथ उसकी यज्ञाग्नि में पानी तक डाल देते हैं। अनुष्ठान भग्न हो जाता है। मेघनाद को उसे अपूर्णावस्था में छोड़ देना पड़ता है। यहां भी वही प्रश्न है ? मर्यादा पुरुषोत्तम राम के आदेश से ऐसा जो किया गया, क्या वह नीति के अन्तर्गत है ?

एक सुप्रसिद्ध नीति वचन है:—

सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात् ।
न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ॥

सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए । ऐसा सत्य नहीं बोलना चाहिए, जो अप्रिय हो ।

इसी तथ्य को स्वायत्त, करते हुए किरातार्जुनीय के रचयिता महाकवि भारवि ने बड़ा मार्मिक वाक्य लिखा है :—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥

यहाँ बड़ी असमंजस स्थिति उत्पन्न होती है । सत्य शाश्वत है, सार्वदेशिक कल्याण लिए हुए है । उसका प्रयोक्ता क्यों उसके परिणाम को पहले ही आंकने और तदनुसार उसका स्पष्ट-अस्पष्ट, विहित-अविहित प्रयोग करने का चिन्तन करे ।

इन सब कार्य-विधाओं, व्यापारों, क्रिया-कलापों के साथ अ मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, अध्यात्मिक, वैयक्तिक, आनुवंशिक, लौकैषने परक वित्तैषणापरक अवधारणाओं का जाल संयुक्त है ।

भारतीय संस्कृति की मुख्यतः दो धाराएँ हैं—वैदिक धारा और श्रमण धारा । वैदिक धारा वह परम्परा है, जो वेद, ब्राह्मण, आरण्यक कल्प, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि वेदानुषंगी वाङ्मय से अभिप्रेरित है । उसे ब्राह्मण-परम्परा भी कहा जाता है, क्योंकि इसके पुरोधा ब्राह्मण थे ।

श्रमण-धारा वेद बाह्यधारा है, जहाँ वेदों का अपौरुषेयत्व, यज्ञ-यागादि कर्मानुष्ठान स्वीकृत नहीं है, जहां जन्मगत जातिवाद के लिए भी कोई स्थान नहीं है । इस धारा के अन्तर्गत बौद्ध जैन दो परम्पराएँ आती हैं । बौद्धवाङ्मय विनयपिटक, सुत्तपिटक, अभिधम्म पिटक तथा तन्मूलक अट्ठकथाएँ, जातक आदि के रूप से पालि में ग्रथित है ।

जैन वाङ्मय आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, स्थानांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति आदि सूत्र-ग्रंथों के रूप में बारह अंगों में विभक्त है, अर्द्धमागधी प्राकृत में रचित है । बारहवां अंग, जो दृष्टिवाद कहा जाता है, आज उपलब्ध नहीं है, अतः वर्तमान में जैन वाङ्मय ११अंगों में प्राप्त है । उ के आधार पर भाष्य, निर्युक्ति, चूर्णि, वृत्ति, टब्बा, दर्शन-ग्रन्थ, पुराण, आख्या-

यिकाएं, चरित-काव्य आदि विविध साहित्यिक विधाओं में इस चिन्तन-धारा का विपुल विस्तार हुआ है।

इन तीनों परम्पराओं के आधार पर वैदिक नीति, बौद्धनीति, तथा जैन नीति के रूप में भी नीति शब्द का प्रयोग होता रहा है। यहाँ भी सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वैदिकों, बौद्धों तथा जैनों की नीतियाँ परस्पर भिन्न हैं? क्या वे एक दूसरे के प्रतिकूल हैं? यदि उत्तर विधिपरक है तो क्या वे पारस्परिक प्रातिकूल्य के बावजूद नीतियाँ कहे जाने योग्य हैं? यदि उनमें किसी प्रकार का प्रातिकूल्य, वैषम्य वैपरीत्य नहीं है तो फिर उसके साथ जुड़े वैदिक, बौद्ध एवं जैन, इन भिन्न-भिन्न विशेषणों की सार्थकता ही क्या है?

केवल भारत की ही बात क्यों करें, पश्चिमी देशों में भी "नीति" विषय चिरकाल से चर्चित रहा है। अरस्तू, प्लेटो आदि ने इस पर गहन चिन्तन किया। चीन आदि पूर्वी देशों में भी कन्फ्यूशियस जैसे विचारकों ने इस पर गहराई से सोचा, सिद्धान्त निरूपित किए। इस समय पश्चिमी चिन्तनधारा में नीति के लिए Ethics तथा Morality आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ "जैन नीतिशास्त्रः एक परिशीलन" के लेखक प्रबुद्ध मनीषी, शताधिक ग्रन्थों के रचनाकार, श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री ने इन सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए जैन नीति पर जो साहित्यिक सृजन किया है, वह सच-मुच अपने आप में अनूठा है। श्री वर्धमान स्थानक वासी जैन श्रमण संघ के दिवंगत युवाचार्य बहुश्रुत पण्डितरत्न श्री मधुकर मुनि जी के माध्यम से मेरा श्री देवेन्द्र मुनिजी से विशेष परिचय हुआ। श्री देवेन्द्र मुनिजी का व्यक्तित्व ज्ञानाराधना का एक सजीव निदर्शन है, जो अपने-आप में सहज आकर्षण लिए हुए है। तदनंतर राजस्थान दिल्ली आदि में बहुत बार उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। अनेक विषयों पर गहन चिन्तन, विचार-विमर्श तथा चर्चा के प्रसंग भी रहे। मुझे लगा, निश्चय ही ये एक ऐसो अद्भुत मानव हैं, जिन्होंने अपने आपको सारस्वत आराधना में सर्वतोभावेन समर्पित कर दिया है। ग्रन्थों के अम्बार से घिरे जब उन्हें देखते हैं तो ऐसे प्रतीत होता है कि वे अध्ययन-अनुशीलन के समय समस्त जगत को विस्मृत कर अपने आपको शास्त्रानुशीलन के सागर में

मानो खो देते हैं। गम्भीरतम अध्ययन,प्रतिभा और प्रज्ञा तो मांगता ही है; वह बहुत बड़ा श्रम भी मांगता है। श्रम का संबल पाकर संस्कारलभ्य मेधा शतमुखी विकासप्रवण हो जाती है। श्री देवेन्द्र मुनि जी में यह सब सहज रूप में सधा है। स्वाध्याय को जो तप कहा है, वह उनके जीवन में यथावत् रूप में प्रतिफलित है। एक ओर बहुत बड़ी विशेषता मैं उनमें पाता हूँ, इतने बड़े अध्येता, विचक्षण, विलक्षण विद्वान् होते हुए भी वे बड़े विनय शील हैं। वैदुष्य,पांडित्य का थोड़ा भी अहंकार उन्हें छू तक नहीं पाया है। वे बड़े मधुर प्रिय तथा शिष्ट भाषी और गुणग्राही हैं, विद्वानों का बहुत आदर करते हैं। विद्वानों में प्रायः एक कमी देखी जाती रही है। वे एक दूसरे को सह नहीं पाते। एक बड़े विद्वान को देखकर दूसरे में ईर्ष्या भाव जाग उठता है। श्री देवेन्द्र मुनिजी इसके शत-प्रतिशत अपवाद हैं। निःसन्देह यह उनका सौभाग्य है कि इतनी शालीन सौम्य, सरल, मृदुल प्रकृति उन्हें प्राप्त हो सकी। वेद का एक बड़ा सुन्दर पद है—

"विद्या वै ब्राह्मणमाजगाम,
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय,
न मां ब्रूयाः वीर्यवती तथा स्याम् ॥"

विद्या ब्राह्मण के पास आई और उससे कहने लगी— ब्राह्मण ! तू मेरी रक्षा करना। मैं तुम्हारी बहुत बड़ी निधि हूँ। मुझे ऐसे व्यक्ति को मत देना, जो ईर्ष्यालु हो, जो ऋजु-सरल न हो, जो संयम युक्त न हो। यदि तुम ऐसा करोगे तो मैं शक्तिशालिनी बनूंगी, मुझ में ओज प्रस्फुटित होगा।

विद्या के ये उच्च आदर्श देवेन्द्र मुनिजी के जीवन में साक्षात् सम्यक् अनुस्यूत देखे जाते हैं।

साधक के जीवन के दो मुख्य अंग हैं—ज्ञान तथा ज्ञान के अनुरूप चर्या का अनुसरण। दोनों का परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है। ज्ञान चर्या को सत्य-प्रवण पथ दिखलाता है। उससे अनुप्रेरित, अभिचालित चर्या शक्ति और सार्थक्य प्राप्त करती है, जिसमें ज्ञान की फलवत्ता है। ये दोनों पक्ष जीवन में सन्तुलित, समन्वित रूप में सधते जाएँ तो साधक का जीवन सफल है। इन दोनों में "पढमं नाणं तओ दया" के अनुसार ज्ञान का प्राथम्य इसलिए

है कि उससे क्रिया को गतिशील होने का विधिक्रम प्राप्त होता है। बाल्यावस्था से ही श्रमण-जीवन में दीक्षित श्री देवेन्द्र मुनिजी पांच महाव्रतों के धारक, अध्यात्म में सक्रिय, साधक तो हैं ही, उनकी यह उत्कट ज्ञानाराधना उनकी साधकता को और अधिक स्फूर्तिमय, विकासमय, तेजोमय बना देती है, जिसे साधक के जीवन का अलंकरण कहा जाना चाहिए।

श्री देवेन्द्र मुनिजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में नीति का मानदण्ड, नीति का आधार, नीति निर्णय के प्रेरक तत्व, नीति, अनीति, दुर्नीति, नीतिशास्त्र का उद्गम, विकास, वाङ्मय की विविध विधाओं में नीति के तत्व, पाश्चात्य देशों और प्राच्य देशों की नीति परम्पराएँ, भारतीय नीति के विविध आयाम, अवधारणाएं, नीति सम्बन्धी समस्याएं उनके समाधान, नीतिशास्त्र की प्रकृति तथा उसका अन्य शास्त्रों/विज्ञानों के साथ सम्बन्ध, नीतिशास्त्र के विवेच्य विषय, नैतिक प्रत्यय, नैतिक निर्णय और उन पर मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, तार्किक प्रभाव इत्यादि विषयों का प्रामाणिक आधार पर जो गवेषणात्मक दृष्टि से विवेचन किया है, वह जहाँ एक ओर उनके गहनअध्ययन का द्योतक है, वहाँ दूसरी ओर उनके प्रतिपादन-कौशल का परिचायक है।

श्री देवेन्द्र मुनिजी के जीवन में जैसे ऋजुता, सरलता एवं सहजता है, उनके निरूपण-विश्लेषण में भी तदनुरूप सरलता, सहजता के दर्शन होते हैं, जो स्वाभाविक है। अत्यधिक कठिन एवं जटिल विषयों को जिस सरलता से वे व्याख्यात करते हैं, निश्चय ही वह उनके लेखन का असाधारण वैशिष्ट्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उपर्युक्त विषयों का जो विशद विवेचन हुआ है, व नीति के क्षेत्र में अब तक हुए विकास का बड़ा क्रमबद्ध सुन्दर दिग्दर्शन कराता है।

ऊपर जो नीति विषयक चर्चा की गई है, उस पर गहराई से विचार करें तो यह प्रकट होता है कि नीति सम्बन्धी समीचीनता और असमीचीनता का निर्णय केवल वर्तमान के आधार पर नहीं किया जाता रहा है। अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की त्रिविध शृंखला को अथवा मुख्यतः सत् असत् मूलक भावी परिणाम को दृष्टि में रखते हुए वैसे निर्णय होते रहे हैं, जिनके आधार पर वर्तमान में दूषित या अनुचित दीखने वाले कार्य भी उत्तम और उचित माने जाते हैं।

जैसे—विषकन्या के सम्बन्ध में जो पहले चर्चा की गई है, वहाँ चाणक्य ने राष्ट्र के ऐक्य परक विराट् हित को दृष्टि में रखते हुए उस कार्य को उचित और ग्राह्य माना है, जो यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर उचित नहीं लगता।

रावणपुत्र मेघनाद के अनुष्ठान को भग्न किये जाने का प्रसंग भी इसी कोटि में आता है। रावण एक आततायी है, सती साध्वी पतिव्रता सीता का बलात् अपहरण करता है, जो किसी भी स्थिति में उचित कहे जाने योग्य नहीं है। मेघनाद अपने पिता के अस्तित्व और विजय के लिए युद्ध करता है, उस पिता के लिए, जिसने न्याय, नीति, मर्यादा और सदाचार को तिलांजलि दे दी है। वैसे गलत अभिप्रेत को लेकर विजय-लाभ की कामना करने वाले के दलन के लिए यदि कुछ मर्यादा-भंग भी होता है तो वह अनादेय नहीं कहा जा सकता। इसलिए राम के दल के योद्धाओं द्वारा मेघनाद के अनुष्ठान को तहस-नहस करने का जो प्रयत्न किया गया, वह अनीतिपूर्ण, अनौचित्यपूर्ण नहीं कहा गया। परिणाम-सरसता और परिणामविरसता प्रवृत्ति और निवृत्ति के मुख्य उपादान हैं, जो परम्परा से प्रचलित रहे हैं, किसी रूप में आज भी हैं। कोई बद्धमूल नियामकता उनके साथ नहीं जुड़ी है। कुछ ऐसे अपवाद भी दृष्टिगोचर होते हैं, जहाँ कतिपय अतिदृढ़तावादी, सिद्धान्तवादी व्यक्ति परम्परा का अनुसरण नहीं करते और वे अक्सर सही सिद्धान्तों के पालन में श्रेयस् मानते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्बन्ध मुख्य रूप से जैन नीति-शास्त्र से है। जैन नीति की कोई इत्थंभूत परिभाषा दी जा सके, यह शक्य नहीं है। यहाँ संक्षेप में इस पर कुछ चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

जैन शब्द विजेता और विजय से जुड़ा है। जो राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आत्म शत्रुओं को जीत लेते हैं, कर्मों के आवरण से अवरुद्ध आत्मशक्ति को कर्म-निर्जरण द्वारा उन्मुक्त कर, उजागर कर अपने शुद्ध स्वरूप को अधिगत कर लेते हैं, उन्हें 'जिन' कहा जाता है—"जयति राग द्वेषौ इति जिनः।" ऐसे आत्म-साक्षात्कर्ता, आत्मविजेता पुरुषों द्वारा जो मार्ग प्रतिपादित, प्ररूपित होता है, वह जैन धर्म है, जो आत्मा की सम्पूर्ण शुद्धि में विश्वास करता है।

मुनिश्री ने जैन नीतिशास्त्र के मूल आधार भूत तत्त्वों का विवेचन करते हुए दो तत्त्वों पर ध्यान केन्द्रित किया है। प्रथम, सम्यग् दर्शन, द्वितीय, सम्यक् चारित्र। सम्यग् ज्ञान तो दोनों में ही अन्तर्भुक्त है। सम्यग्

दर्शन चिन्तन की विशदता, स्पष्टता व सत्योन्मुखता के लिए नितान्त अनिवार्य है। भगवान महावीर का यह कथन—'सम्मद्दिट्ठीस्स सम्मं सुयं'—सम्यग्दृष्टि का सभी चिन्तन सम्यग् दिशागामी होता है। वह असम्यग् को भी सम्यग् में परिणत करने में कुशल होता है। अतः जहां-जहां भी नीति सम्बन्धी विरोधी चिन्तन व विवादास्पद प्रसंग आते हैं वहां सम्यग् दृष्टिपूर्वक उनका सत्योन्मुखी समाधान खोजने की लेखक की अवधारणा समग्र नीतिशास्त्र के लिए एक मार्गदर्शक स्थापना का कार्य करेगी।

जगत की समग्र बुराइयों को स्थूल रूप में हिंसा,चोरी,असत्य, व्यभिचार तथा परिग्रह—संग्रह के रूप में पाँच भागों में बांटा गया है। इन पाँचों के निरोध के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के रूप में पाँच व्रत निर्धारित किए गए हैं। फिर वे महाव्रत तथा अणुव्रत के रूप में दो विधाओं में विभक्त हैं। जहाँ व्रत-पालन में जरा भी अपवाद स्वीकृत नहीं होता, वे महाव्रत के रूप में अभिहित हैं और जहाँ व्यक्ति अपनी क्षमता या शक्ति को संजोते हुए कुछ अपवाद स्वीकार कर व्रतों का पालन करता है, उन्हें अणुव्रत कहा जाता है। महाव्रत की महत्ता इसमें है कि अपवाद अग्राह्य होने के कारण वहाँ संयम का परिपालन सार्वत्रिक है, समग्रतया है। वैसा करने में बड़ा आत्म-सामर्थ्य चाहिए, जिसे जुटा पाना बहुत थोड़े से व्यक्तियों के लिए संभव है। वैसे व्यक्ति वास्तव में महान् होते हैं।

दूसरी विधा अणुव्रतों की है। वे अणु या छोटे इसलिए कहे जाते हैं कि वहाँ साधक अपनी क्षमता की तरतमता के कारण अहिंसा, सत्य आदि के परिपालन में सीमा करता है।

जैन नीति का द्वितीय मूल आधार व्रत-परम्परा है। नीति के खरेपन या खोटेपन का मानदण्ड इन्हीं व्रतों के आदर्शों पर टिका है। जैन परम्परा की यह अपनी विशेषता रही है कि नीति-निर्धारण में व्रतों के आदर्श अपने मौलिक स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ परिष्कृत, परिवर्तित, नवीकृत तो हो सकते हैं किन्तु सिद्धान्तों की मूल आत्मा वहां मरती नहीं। भविष्य में होने वाले बहुत बड़े हित की आशा में वर्तमान में सिद्धान्तों के मूल को व्याहत नहीं किया जा सकता। अध्यात्म को लोकजनीन तो बनाया जा सकता है, किन्तु उसे अध्यात्म की सीमा से पृथक नहीं किया जा सकता। इसका फल जहां एक ओर अतिलोकजनीनता प्राप्त न कर सकने में आता है, वहाँ दूसरी ओर अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत तत्त्वों से पृथक्

होकर कार्यशील होने में अवरोध उत्पन्न करता है, जो जीवन की पवित्रता को सुप्रतिष्ठ बनाए रखने का एक सशक्त माध्यम सिद्ध होता है। इस परम्परा ने जैन मानस को सत्य के अधिकतम निकट बने रहने में प्रेरित किया। ऐसी स्थितियों में, जहां वैभव के प्रलोभन में मानव सत् सिद्धान्तों से विचलित हो जाता है, जैनत्व में आस्थाशील व्यक्ति वैसे नहीं हुए, उनमें सत्य के प्रति अविचल दृढ़ता का भाव पनपा, जिसने उनके व्यक्तित्व में ऐसी प्रामाणिकता का संचार किया, जो ऐहिक आकर्षणों के झंझावातों से कभी प्रकम्पित, चलित नहीं हुई।

मध्यकालीन भारतीय राजनीति में जब देश विभिन्न क्षत्रिय नरेशों द्वारा शासित था, जैनों का उनके यहां शासनतन्त्र तथा व्यवस्थातन्त्र में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा। कर्नाटक के महामात्य, प्रधान सेनापति चामुण्डराय, जिन्होंने श्रमणबेल गोला में, भगवान बाहुबलि की छप्पन फीट ऊँची पाषाण प्रतिमा का निर्माण करवाया, जो अपनी कोटि की संसार की सबसे ऊँची प्रतिमा है, जो स्थापित नहीं है, उसी पर्वत शिखर का उत्कीर्ण अंश है, जहाँ वह स्थित है, भारतीय इतिहास गगन के देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में उजागर हैं। उसी प्रकार आबू पर्वत-स्थित देलवाड़ा के विश्वविख्यात, उत्कीर्णन कला के अनुपम उदाहरण जैन मन्दिरों के निर्माता वस्तुपाल तेजपाल भी वैसे ही एक अन्य उदाहरण है। वे धवलक्य पूर्वक (धौला) सौराष्ट्र के महामात्य और प्रधान सेनानायक थे। यह परम्परा आगे भी गतिशील रही। राजस्थान के जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर जैसे बड़े-बड़े राज्यों के सेनापति प्रायः ओसवाल जैन रहे। ऐसा होने में उनके जीवन का एक पक्ष विशेष प्रभावक रहा, जो नैतिक था। क्षत्रिय राजा क्षत्रियों को प्रायः इसलिए महामात्य एवं प्रधान सेनापति का पद नहीं देते थे, क्योंकि उनसे स्वयं राज्य के प्रलोभन में आकर विद्रोह की आशंका बनी रहती थी। उनकी प्रामाणिकता में राजा विश्वस्त नहीं थे। वहाँ जैनों में उनको इस बात का पूर्ण विश्वास रहता कि वे स्वयं के लोभ में आकर अपने स्वामी के साथ विश्वासघात नहीं करेंगे और इतिहास बताता है कि विश्वासघात का वैसा कोई प्रसंग नहीं बना। यहाँ जैन नीति का एक असाधारण वैशिष्ट्य हमारे समक्ष उपस्थित होता है, जो वस्तुतः चामत्कारिक है, जिसने भारतीय राजनीति और शासनतन्त्र को ऐसे पावित्र्य का सन्देश दिया, जो आज भी प्रेरणास्पद है। मैं पुनः स्मरण कराना चाहूँगा कि जहां अन्य परम्पराओं में नीति ने ऐसे समझौते किये, जो

उस परम्परा के मौलिक शुद्ध स्रोत के अनुगामी नहीं थे, केवल ऐहिक स्वार्थ वत्ता की वहां सम्भावनाएँ थीं, अतएव ऐसे अनेक प्रसंग बने, जहां नीति ने धार्मिक आदर्शों को अक्षुण्ण नहीं रहने दिया, जैन नीति में वैसा कभी स्वीकार्य नहीं हुआ। यदि स्वार्थवश कभी किसी द्वारा वैसा अपनाया भी गया तो उसे नैतिक मान्यता नहीं मिली। निःसन्देह जैन नीति का यह पक्ष, जो संयम, नियम, व्रत, त्याग, तितिक्षा, अनुकम्पा आदि से अनुप्रेरित रहा, कभी क्षीण नहीं हुआ। ऐसा होने में धार्मिक सिद्धान्त तो उत्प्रेरक रहे ही, जैन धर्म में आस्थावान जनों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि भी सहायक रही।

भगवान महावीर के युग को लें तो हमें कुछ ऐसे व्यक्ति प्राप्त होते हैं जो अपने युग के नैतिक मानदण्ड के रूप में अवस्थित हैं। द्वादशांगी के अन्तर्गत उपासकदशा नामक आगम-ग्रन्थ में भगवान महावीर के दश प्रमुख उपासकों का जीवन-चरित्र है, जिसके प्रथम अध्ययन में वर्णित श्रमणोपासक आनन्द का जीवन एक प्रतीक है, जो अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है। आनन्द बहुत सम्पन्न था। कृषि, वाणिज्य आदि के रूप में उसका बहुत बड़ा व्यवसाय था। यह सब तो था किन्तु एक नागरिक के रूप में अपने नैतिक दायित्वों को जिस प्रकार वह निभाता था, वह उसकी नैतिक अवधारणाओं की सुन्दरतम क्रियान्विति का साक्ष्य है। वैभव के बढ़ने के साथ-साथ तब उन्माद, अभिमान और जन-साधारण से पार्थक्य नहीं बढ़ता था, जो उनके नीतिनिष्ठ जीवन का संसूचक है। वर्तमान के सन्दर्भ में जब हम जाते हैं तो यह सब ऐतिहासिक प्रतीत होता है। जैन नैतिकता की जो अपनी असाधारण पहचान थी, वह अब सुरक्षित नहीं रह पायी है। इससे स्पष्ट है कि जैनों ने कुछ ऐसा खोया है, जो काफी बहुमूल्य था।

इस प्रकार अनेकानेक पहलुओं को उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी ने अपने ग्रन्थ में बहुत बारीकी से परखने का विद्वत्तापूर्ण प्रयत्न किया है।

ग्रन्थ के अन्त में वैदिक, बौद्ध तथा जैन नीति वचनों का जो परिशिष्टों के रूप में प्रस्तुतीकरण किया गया है, उससे ग्रन्थ की उपयोगिता निश्चय ही बढ़ गई है।

जैन नीतिशास्त्र के क्षेत्र में अपनी कोटि का यह पहला ग्रन्थ है, जिसमें आगम-काल से लेकर अब तक के जैन नीति के विविध आयामों को तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक दृष्टि से सम्यक् उपस्थापित करने का बड़ा सुन्दर समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी का विद्वज्जगत निःसन्देह ऋणी रहेगा। जिज्ञासु पाठकों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी तथा ज्ञानवर्धक होगा ही, विशेषतः उच्च अध्ययनार्थियों

तथा अनुसन्धित्सुओं के लिए यह बहुत ही लाभप्रद सिद्ध होगा, जो भारतीय और भारतीयेतर नीतिशास्त्रों के सन्दर्भ में शोधरत हैं।

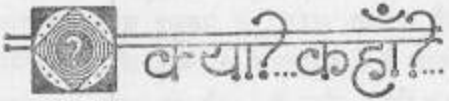
साहित्यिक जगत में विश्रुतकीर्ति, संपादन-कला-निष्णात प्रबुद्ध लेखक श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' ने प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन बहुत ही प्रशस्त रूप में किया है। सम्पादक का कार्य और रत्नसंचेता जौहरी का कार्य लगभग एक जैसा होता है। जौहरी रत्नों का सुन्दरतम संचयन करता हुआ उनको एक आकर्षक हार के रूप में परिवर्तित कर देता है, एक सुयोग्य सम्पादक का कार्य भी इसी कोटि का है। वह विचारमय रत्नों को यथावत् आकलित करता हुआ उन्हें जो आकर्षक रूप प्रदान करता है, उससे पाठक रुचिपूर्वक उसके अध्ययन में प्रवृत होते हैं। श्री 'सरस' ने इस ग्रन्थ के सम्पादन में ऐसा ही किया है, जो स्तुत्य है। ग्रन्थ में सर्वत्र उनका सम्पादन/कौशल एवं दीर्घकालीन अनुभव परिदृश्यमान है। मैं उन्हें हृदय से वर्धापित करता हूँ।

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी लौकिक एषणाओं से अतीत एक उत्कृष्ट अध्यात्मयोगी है। उनके अपने सभी कार्य अध्यात्म प्रेरित हैं। लेखन भी उनकी साधना का एक विशेष अंग है, जो आत्म-सम्मानार्जन, भावपरिष्कार तथा आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होता है। अतः ग्रन्थ रचना का उनका श्रम तो अपने आपमें सार्थक है ही, वे तो वैसा कर आत्म-श्रेयस् की दृष्टि से लाभान्वित हैं ही, यदि जिज्ञासु भाई बहन इस ग्रन्थ का साभिरुचि अध्ययन करेंगे तो निःसन्देह उन्हें सम्यक् दिशाबोध प्राप्त होगा, जिसके अनुसार चलकर मानव अपने जीवन का सार्थक्य साधता है। मुझे आशा है कि वे ऐसा करेंगे।

—डॉ० छगनलाल शास्त्री

कैवल्यधाम,
सरदारशहर,
(राजस्थान)
आषाढ शुक्ल सप्तमी, विक्रमाब्द २०४५

एम०, ए०, (त्रय) पी-एच० डी०
काव्यतीर्थ विद्यामहोदधि
विजिटिंग प्रोफेसर
मद्रास विश्वविद्यालय,



खण्ड १

नीति का सामान्य पर्यालोचन १-१८६

Part I

General Survey of Ethics

१. नीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि १-१४

नीति का मानदण्ड १, मानव की मननशीलता २, नीति का आधार ३, कार्य की साध्यता-असाध्यता ४, निर्णय के प्रेरक तत्व ५, नीति, अनीति-दुर्नीति ६, नीति ७, अनीति ८, दुर्नीति-अनीति का ही दूसरा नाम ८, अति-दुर्नीति १०, नीति और नीयत ११, नीति और पालिसी १२, निर्णय क्षमता के विकास हेतु नीतिशास्त्र का ज्ञान आवश्यक १३, जीवन में सफलता के लिए नीतिशास्त्र का ज्ञान आवश्यक १४ ।

२. नीतिशास्त्र का उद्गम एवं विकास १५-४५

भारतीय नीतिधारा (I), १५, नीतिशास्त्र की उत्पत्ति और विकास (भारतीय दृष्टिकोण) १६, नीतिशास्त्र की उत्पत्ति १६, हाकार नीति १७, माकार नीति १८, धिक्कार नीति १८, वंदिक नीति २०, ब्राह्मण ग्रन्थों की नीति २१, उपनिषदों की नीति २२, स्मृतियों की नीति २४, महाकाव्य साहित्य में नीति २५, पौराणिक नीति २७, पंचतंत्र और हितोपदेश की नीति ३०, बौद्ध परम्परा की नीति ३३, एशिया की अन्य नीति धाराएँ ३६, ताओ की नीति परम्परा ३६, कन्फ्यूसियस की नीति ३८, जरथुस्त्र की नीति ३८, इस्लाम धर्म की नीति ३९, ईसाई धर्म की नीति ४०, पाश्चात्य नीति शास्त्र का विकास ४१, भारतीय नीति की विकास अवस्थाएँ ४३ ।

३. भगवान महावीर की नीति अवधारणाएँ ४६-६४

भगवान महावीर ४७, जैन नीति के मूल तत्व ४८, श्रमणा-

चार में नीति ५०, भगवान महावीर की विशिष्ट नीति ५१, अनाग्रह नीति ५१; अनेकांत नीति ५२, यतना नीति ५३, समता नीति ५३, अनुशासन एवं विनय नीति ५५, सामूहिकता की नीति ५६, स्वहित और लोकहित ५७, महावीर युग की नैतिक समस्याएँ और भगवान द्वारा समाधान ६०, उपसंहार ६३।

४. नीतिशास्त्र की परिभाषा ६५-७९

'नीतिशास्त्र' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से ६५, नीतिशास्त्र की आदर्श परिभाषा ६६, नीति और धर्म का एकत्व और अनेकत्व ६७, नीतिशास्त्र की समाजपरक परिभाषाएँ (भारतीय चिन्तन) ६७, पाश्चात्य चिन्तन ७०, Ethics शब्द की व्युत्पत्ति ७२, पाश्चात्य चिन्तकों की नीति सम्बन्धी परिभाषाएँ ७३, भारतीय दृष्टिकोण ७७, भ० महावीर के नीति वचन ७८।

५. नीतिशास्त्र की प्रकृति और अन्य विज्ञान ८०-९३

नीतिशास्त्र की प्रकृति ८०, नीतिशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध ८३, नीतिशास्त्र और भौतिक विज्ञान ८५, नीतिशास्त्र और जीवशास्त्र ८६, नीतिशास्त्र और राजनीति ८६, नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र ८८, नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान ८९, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र ९०, नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र ९१, नीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र ९२।

६. नीतिशास्त्र के विवेच्य विषय ९४-१०४

न्याय का विवेचन ९५, कर्तव्य का विवेचन ९६, श्रेय का विवेचन ९७, सदाचार का विवेचन ९९, मूल्य का विवेचन १०१।

७. नैतिक प्रत्यय १०५-१३४

नैतिक प्रत्यय का तात्पर्य १०५, नैतिक प्रत्ययों का विश्लेषण १०६, नैतिक शुभ १०८, नैतिक उचित १०९, नैतिक कर्तव्य १०९, सद्गुण १११, पुण्य और पाप ११२, संकल्प की स्वतन्त्रता ११३, वर्णाश्रम व्यवस्था ११६, त्रिऋण विचार १२३, पुरुषार्थ चतुष्टय विचार १२४, निवृत्ति-प्रवृत्ति प्रत्यय १२८, कर्म का प्रत्यय १२९ पुनर्जन्म : नैतिक प्रत्यय १३१, संस्कार प्रत्यय १३३, उपसंहार १३४।

८. नीतिशास्त्र की प्रणालियाँ और शैलियाँ १३५-१४८

प्रणालियाँ और शैलियाँ १३५, नीतिशास्त्र की प्रणालियाँ १३५, दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों में अन्तर १३६, दार्शनिक प्रणाली १३७, वैज्ञानिक प्रणालियाँ १३७, नीतिशास्त्र की वादात्मक प्रणालियाँ १३९; समन्वयात्मक नैतिक प्रणाली १४१, नीतिशास्त्र की शैलियाँ १४२ ।

९. नैतिक मान्यताएँ १४९—१६१

नीतिशास्त्र का दार्शनिक आधार १५२, (१) हेतुवाद और फलवाद १५२ (२) आत्मा की अमरता १५३ (३) प्रगति की अनिवार्यता १५४, (४) ईश्वर की सत्ता १५५, ६ स्वतन्त्रेच्छा (इच्छा स्वातन्त्र्य) १५६, स्वतन्त्रता का तारतम्य १५८, सर्वोपरि आधार १६१ ।

१०. नैतिक निर्णय १६२—१८६

नैतिक निर्णय पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव १६३, व्यवहार के मनोवैज्ञानिक प्रेरणा तत्व १६५; जैन दर्शन का वर्गीकरण १६६, नैतिक विवेचन की प्रकृति १६७, संकल्प, चरित्र और आचरण १७१, नैतिक परिस्थिति का लक्षण १७४, सामाजिक रूढ़ियाँ १७४, प्रतिक्रिया : अन्य जनों का व्यवहार १७५, वैज्ञानिक प्रभाव १७६, तार्किक प्रभाव १७७, नैतिक निर्णय की विशेषताएँ १७७, निर्णय-कर्ता १७८, हानिकारक प्रथाएँ १७९, जटिल परिस्थितियों में विवेकपूर्ण निर्णय १८२, कुछ कार्य नीति से परे भी १८४; उपसंहार १८६ ।

खंड २

जैन नीति के विभिन्न आयाम १८७-३७४

Part II

Different Dimensions of Jaina Ethics

१. जैन नीति का आधार : सम्यग्दर्शन १८९—२०३

सम्यग्दर्शन का अर्थ १८९, मिथ्यात्व के भेद १९०, सम्यग्दर्शन का नीतिशास्त्रीय महत्व १९३, जैन धर्म में सम्यक्त्व का स्वरूप १९३, सम्यग्दर्शन का लक्षण १८४, नव तत्व १९६, जीव तत्व १९६,

अजीव तत्व १९८, अन्य तत्व १९९, आस्रव, बन्ध और पाप हेय क्यों ? २००, संवर निर्जरा और पुण्य उपादेय क्यों ? २०१

२. **सम्यग्दर्शन का स्वरूप और नैतिक जीवन पर उसका प्रभाव** २०४—२२१

सम्यक्त्व की उत्पत्ति २०४, सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण २०४, रुचि की अपेक्षा दसविध वर्गीकरण २०६, सम्यक्त्व का पंच-विध वर्गीकरण २०७, सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण २०८, सम्यक्त्व के पाँच लक्षण २०९, सम्यग्दर्शन के आठ अंग २१२, सम्यक्त्व के अतिचार २१८, उपसंहार २१९ ।

३. **नैतिक आरोहण का प्रथम चरण : व्यसनमुक्त जीवन** २२२—२३८

व्यसन क्या है २२३, व्यसनों के सात प्रकार २२४, जुआ २२४ माँसाहार २२६, मद्यपान २२७, वेश्यागमन २३०, शिकार २३१, चोरी २३२, चोरी के विभिन्न रूप २३२, चोरी के कारण २३३, पर-स्त्री सेवन २३४, परस्त्रीसेवन के दोष और हानियाँ २२६, परस्त्री सेवन के कारण २३७, उपसंहार २३७ ।

४. **जैन दृष्टि सम्मत—व्यावहारिक नीति के सोपान** २३९—२६९

(१) न्याय सम्पन्न विभव २४१, (२) शिष्टाचार प्रशंसकता २४१ (३) विवाह सम्बन्ध विवेक २४१, (४) पापभीरुता २४३, (५) देश प्रसिद्ध आचार-पालनता २४४, (६) अनिन्दकत्व २४४, (७–८) आदर्श घर २४६, (९) सदाचारी व्यक्तियों की संगति २४७, (१०) माता-पिता की सेवा २४८, (११) उपद्रवग्रस्त स्थान का त्याग २४८, (१२) निन्दनीय प्रवृत्ति का त्याग २४९, (१३) आय-व्यय का सन्तुलन २४९, (१४) वित्तीय स्थिति के अनुसार, वेशभूषा २५० (१५) धर्मश्रवण २५०, (१६–१७) आहार-विवेक २५० (१८) धर्म-मर्यादित अर्थ-कामसेवन २५२, (१९) अतिथि-सत्कार २५३ (२०-२१) अभिनिवेशिता और गुणानुराग २५३, (२२) देश-कालोचित आचरण २५४, (२३) सामर्थ्यासामर्थ्य की पहचान २५४, (२४) व्रती और ज्ञानीजनों की सेवा २५५, (२५) उत्तरदायित्व निभाना २५५, (२६) दीर्घदर्शिता २५६, (२७-२९) विशेषज्ञता, कृतज्ञता, लोकप्रियता २५७, (३०–३३) सलज्जता, सदयता, सौम्यता और परोपकार २५९, (३४-३५) विजय की ओर २६२, अन्य नैतिक गुण २६७ ।

५. नैतिक उत्कर्ष (श्रावक की आचार नीति) २७०—३११

'श्रावक' शब्द का निर्वचन २७०, व्रत का स्वरूप २७२, श्रावक व्रत २७३, व्रतों के सम्बन्ध में सावधानियाँ २७५, अतिक्रम आदि २७६, व्रतग्रहण की विधि एवं मर्यादा २७७, अणुव्रत २७९, अहिंसाणुव्रत २७९, सत्याणुव्रत २८२, अचौर्याणुव्रत २८५, स्वदार-सन्तोषव्रत २८७, स्थूलपरिग्रह परिमाण व्रत २९०, गुणव्रत २९२, दिशा परिमाण व्रत २९२, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत २९४ निषिद्ध व्यवसाय २९५, अनर्थदण्ड विरमण व्रत २९८, शिक्षाव्रत ३००, सामायिक ३०१, देशावकाशिक व्रत ३०२, पौषधोपवास व्रत ३०२, अतिथिसंविभाग व्रत ३०३।

नैतिक उत्कर्ष के सोपान (श्रावक प्रतिमा) ३०४, प्रतिमाओं का स्वरूप और विवेचन ३०६, प्रतिमाओं की काल मर्यादाएँ और विशेषताएं ३१०, एक विकल्प ३११।

६. नैतिक चरम (श्रमणाचार) ३१२-३५५

श्रमण शब्द की विशिष्टताएँ ३१३, श्रमण के सत्ताईस गुण ३१६, उत्सर्ग और अपवाद मार्ग ३१६, श्रमण के सत्ताइस गुणों का विवेचन ३१८, अहिंसा महाव्रत ३१९, सत्य महाव्रत ३२०, अस्तेय महाव्रत ३२१, ब्रह्मचर्य महाव्रत ३२१, अपरिग्रह महाव्रत ३२४, पांच इन्द्रिय निग्रह ३२६, कषाय-विवेक ३२७, भाव सत्य ३२८, योग सत्य ३२८, करण सत्य ३२८, क्षमा ३२९, विराग ३२९, मन-वचन-काय समाहरणता ३२९, दर्शन-ज्ञान-चारित्र सम्पन्नता ३३०, वेदना और मारणान्तिक समाध्यासना ३३१, बाईस परीषह ३३१, द्वादश अनुप्रेक्षाएँ ३३४, दशश्रमण धर्म ३३६, तप ३३७, तप के बारह भेद ३३७, बाह्य तप के भेद ३३८, आभ्यन्तर तप और उसके भेद ३३९, प्रवचन माता ३४५, समिति ३४७, गुप्ति ३४९, स्व-पर-कल्याण ३५० आर्य सुहस्ति का व्यावहारिक निर्णय ३५१, निर्धन सेवा की प्रेरणा ३५२, अहिंसा की प्रेरणा ३५३।

७. आत्मविकास की मनोवैज्ञानिक नीति (गुणस्थान) ३५६-३७४

पूर्णता की यात्रा ३५६, आदर्श और व्यवहार स्थिति ३५८, विविध स्थिति ३५८, गुणस्थान ३६०, गुणस्थानों के नाम ३६२, चेतना के भाव ३६२, कर्म ३६३, (१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ३६४,

मिथ्यात्व के प्रकार ३६५, (२) सास्वादन गुणस्थान (अधोमुखी वृत्ति) ३६७, (३) मिश्र गुणस्थान (भटकता विश्वास) (४) सम्यग्-दृष्टि गुणस्थान (नैतिक भूमिका पर पदन्यास) ३६९, (५) देशविरति गुणस्थान ३७१, (६) प्रमत्तविरत गुणस्थान ३७२, (७-१२) गुणस्थान ४७३, (१३) तेरहवाँ गुणस्थान सर्वज्ञत्वदशा (जीवन्मुक्त दशा) ३७३।

खंड ३

जैन नीति और विभिन्न वादों का तुलनात्मक मूल्यांकन ३७५–४४६

Part III

Jaina Ethics and Comparative Evaluation of other Ethical Thoughts

१. जैन नीति और नैतिक वाद ३७७-३९८

संदेहवाद ३७७, सुखवाद ३७९, नैतिक सुखवाद अथवा उपयोगितावाद ३८१, विकासवादी सुखवाद ३८३, बुद्धिपरकतावाद ३८५, आत्मपूर्णतावाद ३८७, विधानवाद ३८८, अन्तरात्मवाद३९१, सहानुभूतिवाद ३९२, नैतिक अन्तरात्मवाद ३९४, सहजज्ञानवाद ३९४, मानवतावाद ३९६, साम्यवाद ३९६, गाँधीवादी नीति दर्शन ३९७, उपसंहार ३९८।

२. अधिकार-कर्तव्य और अपराध एवं दण्ड ३९९-४२०

अधिकार और कर्तव्य ३९९, व्यक्ति के नैतिक अधिकार ४००, नैतिक कर्तव्य ४०४, अधिकारों और कर्तव्यों में पारस्परिक संबंध ४०९, कर्तव्याकर्तव्य विचार ४०९, कर्तव्यों का वर्गीकरण ४११, मेरा स्थान और मेरे कर्तव्य ४१३, दण्ड ४१४, दण्ड क्या है ? ४१५, दण्ड के सिद्धान्त ४१६, बदला लेने का सिद्धान्त ४१७, निवर्तनवादी सिद्धान्त ४१७, सुधारात्मक सिद्धान्त ४१८, अपराध के सिद्धान्त ४२०।

३. नीति की सापेक्षता और निरपेक्षता ४२१-४२९

सापेक्षता और निरपेक्षता का विवेचन ४२२, सापेक्षता का विवेचन और स्वरूप ४२३, एकांगी दृष्टि की अपूर्णता ४२४, सापेक्षता की कोटियाँ ४२६, नीति का मानक और आध्यात्मिक स्वतं-

त्रता ४२७, निरपेक्ष आधारित सापेक्षता ही पूर्ण ३२८, निश्चय दृष्टि निरपेक्ष और आचरण में सापेक्षता—यही जैन दृष्टि ४२९

४. समस्याओं के समाधान में जैन नीति का योगदान ४३०-४४३

आदिकाल से मानव के शांति-प्रयास और उनकी विफलता ४३०, मानव की प्रमुख तीन समस्याएँ ४३२, (१) व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं के जैन दृष्टि से समाधान ४३२ (२) राजनीतिक समस्याओं के समाधान ४३४, (३) आर्थिक समस्याओं के समाधान ४३५, जैन नीति को विश्व को अनुपम देन ४३६, नैतिक निर्णय के आधार ४३६, पाँच प्रकार के व्यवहार ४३६ कार्य सफलता के उपाय ४३८, आत्म-गौरव एवं स्वातंत्र्य ४३९, अहिंसा ४४१, अनेकांत ४४१, अपरिग्रह ४४१, अनाग्रह ४४२, समत्व ४४२।

परिशिष्ट : १ ४४५–५०७

नीति सूक्ति कोष ४४५–५०७

प्राकृत जैन साहित्य की सूक्तियाँ ४४७–४८१

बौद्ध साहित्य की सूक्तियां ४८२–४८५

वैदिक साहित्य की सूक्तियां ४८५–४९०

हिन्दी साहित्य की सूक्तियाँ ४९०–५०३

अंग्रेजी साहित्य की सूक्तियाँ ५०४–५०७

परिशिष्ट : २ ५०८–५१२

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची ५०८-५१२

खण्ड १

नीति का सामान्य पर्यालोचन

Part I

GENERAL SURVEY OF ETHICS

१. नीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि
२. नीतिशास्त्र का उद्गम एवं विकास
३. भगवान महावीर की
नीति-अवधारणाएँ
४. नीतिशास्त्र की परिभाषा
५. नीति की प्रकृति और अन्य विज्ञान
६. नीतिशास्त्र के विवेच्य विषय
७. नैतिक प्रत्यय
८. नीतिशास्त्र की प्रणालियां और
शैलियां
९. नैतिक मान्यताएँ
१०. नैतिक निर्णय

१.

नीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि

नीति का मानदण्ड

एक विद्वान आचार्य से किसी भद्र नागरिक ने पूछा—महाराज ! मैं बहुत अल्पबुद्धि हूँ तथा धर्म-अधर्म की गंभीर चर्चा करने का समय भी नहीं मिलता और इतनी गहरी समझ भी नहीं है। मुझे तो सीधी भाषा में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, धर्म-अधर्म का ज्ञान दीजिए।

आचार्य ने कहा—भद्र ! धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य की तुला स्वयं तुम्हारा व्यवहार ही है।

आचार्य ने एक गाथा कही—

जं इच्छसि अप्पणतो जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि एत्तियगं जिणसासणं ॥[1]

भद्र ! जो तुम अपने लिए अच्छा समझते हो, तुम्हें जो प्रिय है, वही तुम दूसरों के लिए भी सोचो, और करो, जो तुम्हें अपने लिए अप्रिय लगता है, वह दूसरों के लिए भी मत करो—बस धर्मशास्त्र का यही, इतना ही रहस्य है, सार है।

समाधानकर्ता आचार्य ने सूत्र रूप में समस्त कर्तव्य-अकर्तव्य, जीवन-व्यवहार का एक सुस्पष्ट मानदण्ड निरूपित कर दिया है।

व्यवहार (behaviour), कर्त्तव्य (duty) आदि सब चैतन्य प्राणी के ही क्रिया-कलाप हैं; अचेतन अथवा जड़ तो स्वयं कोई क्रिया कर ही नहीं सकता चूंकि उसमें चेतना ही नहीं है।

---

१ बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ४५८४

चेतनाशील प्राणियों में भी मानव ही सर्वश्रेष्ठ है। उसी के मस्तिष्क में शुभ (good) और अशुभ (bad) अथवा उचित (right) और अनुचित (wrong) के विकल्प आते हैं।

नीति (ethics), नैतिकता (morality), आचार (conduct) आदि सभी बातें मानव के लिए हैं और आचार्य ने अपने शब्दों में सिर्फ एक गाथा में समस्त नीतिशास्त्र का मूल आधार (fundamental base), सिद्धान्त (principle) और केन्द्र बिन्दु (central orbit) दे दिया है।

शुभत्व (goodness) और अशुभत्व (badness) आदि के बारे में मानव की जिज्ञासा सदा रही है। यह जिज्ञासा सार्वदेशीय और सार्वकालीन है। महापुरुषों, धर्म-प्रवर्तकों, साधु-सन्तों और मनीषी विद्वानों के समक्ष वह समाधान पाने की इच्छा से ऐसी जिज्ञासा रखता रहा है।

उत्तर काल में एक जिज्ञासु ने मनीषी विद्वान के समक्ष यही जिज्ञासा प्रकट की तो उसे भी यही समाधान मिला—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

जो तुम्हारी आत्मा को प्रतिकूल हो, तुम्हें अच्छा न लगे; वैसा आचरण किसी अन्य के साथ मत करो।

वस्तुतः आचरण अथवा मानवीय क्रिया-कलाप नीति से ही संबंधित हैं और मानव का आचरण ही नीतिपूर्ण अथवा अनीतिपूर्ण होता है। जिस आचरण से स्वयं अपना और साथ ही दूसरे का हित हो, वह नीतिपूर्ण है, शुभ है।

Thou shalt not hurt your neighbour.

(तुम अपने पड़ोसियों (किसी भी व्यक्ति) को दुःख न दो।)

ईसामसीह के इन शब्दों में भी व्यक्तिपरक और समाजपरक नीति का स्पष्ट सन्देश है।

मानव की मननशीलता

इस सार्वकालीन और सार्वजनीन जिज्ञासा का एक मात्र कारण यह है कि मानव सिर्फ सामाजिक प्राणी (social animal) ही नहीं है जैसाकि यूनानी विचारक अरस्तू ने बताया है; अपितु सत्य तथ्य यह है कि वह विवेकशील और विकसित प्रज्ञा का स्वामी है।

मानव का जीवन केवल मूल प्रवृत्तियों (instincts) द्वारा ही संचा-

लित नहीं होता। यद्यपि जीवन व्यवहार में इनका काफी भाग होता है किन्तु यही सब कुछ नहीं हैं, विवेक-चिन्तन-मनन-प्रज्ञा और बुद्धि की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है; समझदारी का भी विशेष महत्त्व होता है।

सांसारिक पर्यावरण में मानव का जीवन बहुत ही जटिल है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (straight like highway) है, न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent), न घाटी का उतार (descent) है, अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है।

उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (ups) आते हैं तो कभी उतार (downs) और कभी कोई अवरोध (speed breaker) आ जाता है तो कभी कोई मोड़ (turn) भी आ जाता है।

कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति लड़खड़ा जाती है, रुक ही जाती है।

उस समय वह सोचने को विवश हो जाता है कि क्या करना चाहिए ? कैसे, किधर से और किस प्रकार चलना उचित है ? कौन-सी दिशा पकड़ी जाय कि सुरक्षित अपने लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव हो सके।

ऐसी स्थिति में मानव की अन्तश्चेतना में हलचल होती है। उसके मन में मनन और बुद्धि में चिन्तन चलता है; फिर गहराई से अपनी शक्ति-सामर्थ्य-योग्यता और परिस्थितियों तथा सामने आये अवरोध का अपने विवेक से विश्लेषण करके अपने करणीय कर्तव्य को निश्चित करना पड़ता है, किसी एक निर्णय पर पहुँचना आवश्यक हो जाता है।

वह निर्णय भी आधारहीन और अनर्गल नहीं होता। उसका कोई निश्चित आधार (base) और मानदण्ड (measuring rod) होता है। उसी मानदण्ड और आधार के अनुसार ही फैसला किया जाता है, करणीय कर्त्तव्य का निश्चय होता है, अकरणीय-अकर्तव्य का भी विवेक होता है; और मानव अपने मार्ग में आये उन अवरोधों को पार करता हुआ जीवन में आगे बढ़ता है, लक्ष्य की ओर प्रगति करता है।

नीति का आधार

निर्णय करने का मानदण्ड क्या हो, आधार कैसा हो, इस विषय में आचार्यश्री का उक्त कथन सभी के लिए पथ प्रदर्शक (directive principle) है, प्रकाश स्तम्भ (light house) के समान पथ आलोकित करने वाला है,

जिसके आलोक में कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ की मीमांसा करके "क्या करना चाहिए—किस प्रकार करना चाहिए"—इसका निर्णय किया जा सकता है।

क्या (what) करना चाहिए ?
कब (when) करना चाहिए ?
किस प्रकार (how) करना चाहिए ?
कहाँ (where) करना चाहिए ?
क्यों (why) करना चाहिए ?
किसके साथ (to whom) करना चाहिए ?

इन सभी चाहिए (ought) का उत्तर देने वाला और शुभ (good) के सन्दर्भ में विचार करने वाला तथा आदर्श को लक्ष्यबिन्दु में बनाये रखने वाले शास्त्र का नाम नीतिशास्त्र (Ethics) है।

जैन मनीषियों ने 'नीति' की परिभाषा की है—**णीई धम्माणुजोयणी**'—धर्म याने परम शुभ, सबका हित करने वाला—उसका अनुसरण या अनुसन्धान करने वाली पद्धति अथवा शैली नीति है। नीति के मानदण्ड की व्याख्या ही 'नीतिशास्त्र' है।

श्री जेम्स सेथ का भी यही विचार है, वह लिखता है—

'शुभ के विज्ञान के रूप में वह (नीतिशास्त्र) 'आदर्श' और 'चाहिए' का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान है।'[1]

वस्तुतः एक 'निश्चित शुभ आदर्श' और विभिन्न प्रकार के 'चाहिए' ही मानव की निर्णय क्षमता और कर्तव्य शक्ति तथा कार्य करने की दिशा का निर्देशन करते हैं, उसकी दिशा को निश्चित करते हैं।

कार्य की साध्यता-असाध्यता

किन्तु किसी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले उसकी साध्यता (feasibility) और असाध्यता (non-feasibility) के बारे में भी जानना समझना आवश्यक है। इस विषय में आचार्य जिनदास गणी के ये शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण हैं—

---

१. As the science of the good, it is the science par excellence of the 'ideal' and 'ought'. —James Seth

—उद्धृत, डा. वात्स्यायन : नीतिशास्त्र, पृ. ४

भण्णति सज्झमसज्झं, कज्जं तु साहए मइमं ।
अविसज्झं साहेंतो, किलिस्सति न तं च साहेइ ।[1]

कार्य के दो रूप हैं—एक साध्य और दूसरा असाध्य। बुद्धिमान व्यक्ति साध्य को ही साधने का प्रयत्न करता है; क्योंकि असाध्य को साधने में व्यर्थ ही समय, शक्ति और श्रम बर्बाद हो जाता है, फिर भी सफलता नहीं प्राप्त होती, अपितु चित्त में क्लेश उत्पन्न होता है, सुख चैन नष्ट हो जाता है।

इसी बात को आचार्य हेमचन्द्र ने इन दो शब्दों में कहा है—**'अप्रवृत्तश्च गर्हिते'**[2] और **'जानन् बलाबलम्'** अर्थात् किसी भी निन्दनीय कार्य में प्रवृत्ति न करे और अपनी शक्ति-अशक्ति को पहचान कर, अपने सामर्थ्य का विचार करके ही किसी कार्य में प्रवृत्ति करे।

प्रसिद्ध इतिहासकार एलफिन्सटन (Elphinstone) ने इतिहास के सफल व्यक्तियों के चरित्र का विश्लेषण करके सफलता के लिए तीन बातें आवश्यक बताई हैं— १) सही निर्णय (right decision), (२) सही समय (right time) और (३) सही कदम (right step)।

निर्णय के प्रेरक तत्व

इसलिए कशमकश के दौरान, किसी समस्या के उलझने पर, कहीं विरोध-अवरोध खड़ा होने पर कार्य की साध्यता, अपनी शक्ति और साधन, परिस्थितियों का सही आकलन और विवेचन आदि सभी बातों का विचार करके तथा उचितता (reasonability) को दृष्टिबिन्दु में रखकर निर्णय लेना चाहिए। ऐसा निर्णय ही सफलता प्राप्ति में सहायक होता है।

किन्तु मानव की विवशता यह है कि वह अपने सभी निर्णय विवेक के आधार पर नहीं लेता, कुछ निर्णयों में कषाय (passions) प्रेरक शक्ति बन जाती हैं तो कुछ में ग्रन्थियों (complexes) की प्रमुख भूमिका होती है।

इस प्रकार मानव के कुछ निर्णय विवेक (reason) के आधार पर तो कुछ कषाय (passions) के आधार पर और कुछ आवेगों (impulses) के आधार पर होते हैं। इन निर्णयों के आधार पर वह वैसे ही कार्य भी करता है।

---

१. निशीथ भाष्य ४१५७ २. योगशास्त्र, १, ४७-५६

नीति, अनीति, दुर्नीति

मानव चरित्र की इन तीन प्रेरक शक्तियों के आधार पर नीति के भी तीन रूप हो जाते हैं—(१) नीति (morality), (२) अनीति (immorality) और (३) दुर्नीति (non-morality)।

नीति में तो शुभ (good) गर्भित रहता ही है। इसे सुनीति भी कह सकते है। इसमें दोनों के ही सुधार की, शुभ की भावना निहित रहती हैं। व्यक्ति स्वयं भी सदाचारी बना रहता है और दूसरे को भी सदाचारी बनाना चाहता है। इस प्रकार की नीति का आधार विवेक होता है।

अनीति करने वाला व्यक्ति नीति और अनीति के भेद को तो जानता है, किन्तु नीति पर चल नहीं पाता। कषायों के आवेग में बह जाता है। उसके व्यवहार में क्रोध, मान, लोभ आदि कषाय प्रेरक के रूप में काम करते हैं।

दुर्नीति वाले व्यक्ति का नीति से दूर का भी वास्ता नहीं होता। उसके व्यवहार में अति (over) का तत्त्व प्रमुख होता है। वह अति साहसी (over-bold), अतिमानी (over-proudy) और अति लालची (over-greedy) होता है। ऐसा व्यक्ति, दूसरों का हित साधना तो दूर, स्वयं अपनी ही हानि कर लेता है। अति के कारण ऐसे व्यक्ति में मूर्खता भी आ जाती है, उसके काम मूर्खता भरे होते हैं।

एक व्यक्ति कीचड़ में फंसा है। उसे सावधानीपूर्वक अपने पर कीचड़ का छींटा लगाये बिना कीचड़ से निकाल देना 'नीति' है। उसे निकालने के प्रयास में थोड़े छींटे अपने पर लगा लेना 'अनीति' है। उस व्यक्ति के साथ स्वयं भी उस कीचड़ में गिर जाना 'दुर्नीति' है।

नीति का एक वचन है—'शठं प्रति शाठ्यं' दुष्ट के साथ दुष्टता का व्यवहार करना चाहिए। इसी को अंग्रेजी में (tit for tat policy) कहा गया है। यहाँ भी नीति के तीनों रूपों का प्रयोग हो सकता है। शठ को समझाने-बुझाने, उसके ऊपर उपकार करने, समय-असमय बीमारी आदि में उसकी सेवा करके उसे सुधारना, दुष्ट वृत्ति को मिटाना 'नीति' अथवा 'सुनीति' है। उसे किसी बड़े दुष्ट के चक्कर में फँसाकर सुधारने का प्रयास करना 'अनीति' है। स्वयं उसके साथ दुष्टता का व्यवहार (behaviour) करना दुर्नीति है।

नीति में अपना और दूसरे का—दोनों का ही उत्थान निहित है।

अनीति और दुर्नीति में अपना पतन भी है, और दूसरों का पतन तो है ही। जो व्यवहार, जो कार्य स्वयं को पतन की ओर ले जाए, वह नीतिपूर्ण नहीं हो सकता।

इसी आधार पर कार्य का औचित्य और अनौचित्य भी निर्धारित होता है।

नीति

रानी मृगावती को प्राप्त करने की इच्छा से उज्जयिनीपति चंड-प्रद्योत ने कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। भयातिरेक से कौशाम्बीपति राजा शतानीक की मृत्यु हो गई। कौशाम्बी अनाथ हुई और रानी मृगावती के सिर से पति की छाया उठ गई। विचित्र अनपेक्षित स्थिति सामने आ गई।

इतने पर भी रानी मृगावती ने अपना विवेक बनाये रखा। राजा चण्डप्रद्योत के कामुक प्रस्ताव के उत्तर में उसने कहलवाया—पति का शोक दूर होने में अभी कुछ समय लगेगा, तब तक आप कौशाम्बी की रक्षा प्राचीर मजबूत करा दीजिए ताकि कोई बाहरी शत्रु आक्रमण कर घुसने की हिम्मत न कर सके। इसके बाद ही आपके प्रस्ताव पर विचार करने की मनःस्थिति बन सकेगी।

चंडप्रद्योत को आशा बँधी। उसने रक्षा प्राचीर मजबूत करा दी। रानी सुरक्षित हो गई। कौशाम्बी की प्रजा की भी रक्षा हो गई।

रानी अपने सदाचरण से डिगना तो चाहती ही नहीं थी। वह श्रमण भगवान महावीर के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी जिससे वह स्वयं तो उत्थान के मार्ग पर आगे बढ़े ही, साथ ही तीर्थंकर महावीर के अमोघ प्रभाव से चंडप्रद्योत की दृष्ट वृत्ति भी शान्त हो जाय।

भगवान महावीर आये। उनके सत्संग से रानी की इच्छा सफल हुई। प्रद्योत की दृष्ट वृत्ति शान्त हो गई। वह सुधर गया। उसने स्वयं रानी मृगावती को दीक्षा की अनुमति दी और उसके बालपुत्र उदयन का राजतिलक कर दिया।

रानी मृगावती का निर्णय विवेकपूर्ण और उत्तम कोटि का था। वह पूर्णतया नीतिसम्मत था।[1]

---

१ देखिए लेखक का भगवान महावीर : एक अनुशीलन ग्रन्थ, पृ० ४८२

अनीति

अनीति करने वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति दुर्योधन के समान होती है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः

मैं धर्म को जानता हूँ किन्तु इसमें प्रवृत्ति नहीं कर पाता और अधर्म को भी जानता हूँ किन्तु उसे छोड़ नहीं सकता।

यहां धर्म शब्द का प्रयोग नीति के अर्थ में है और अधर्म शब्द अनीति को द्योतित करता है।

ऐसे व्यक्ति मान की भावना (high-handedness) से ग्रसित होते हैं। वे अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए सामने वाले के साथ अनीतिपूर्ण व्यवहार करते हैं, उसे नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं।

द्रौपदी का चीरहरण दुर्योधन का ऐसा ही अनीतिपूर्ण कुत्सित प्रयास था।

रावण का अभिमान में चूर होकर राम के साथ युद्ध करना भी अनीति था।

ऐसा ही अनुचित प्रयास गोशालक ने भी किया था, जब उसने श्रमण भ. महावीर पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया था। वह भी अपने को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली और तीर्थंकर सिद्ध करना चाहता था तथा भगवान महावीर को अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाला। वह गोशालक अतिपूज्य (sarcosant) बनने की दुर्भावना से ग्रसित था।[1]

ऐसी बात नहीं कि अनीति करने वाले लोग बुद्धिहीन हों। किन्तु उनकी बुद्धि पर मान, लोभ आदि कषायों का पर्दा पड़ा रहता है। उनके कार्य कषायप्रेरित और कषायों के रंग में रंगे होते हैं। इसीलिए उनके व्यवहार अनीतिपूर्ण होते हैं, क्योंकि ये अशुभ आवेगों से प्रेरित होते हैं।

दुर्नीति—अतिनीति का ही दूसरा नाम

जब कषायों के आवेग (impulses of passions) सीमा को लांघकर अति तक पहुँच जाते हैं तो व्यक्ति की सद्बुद्धि लुप्त हो जाती है और वह अति के अतिरेक में दुर्नीतिपूर्ण कार्य करने लगता है।

ऐसा भी नहीं है कि अति से ग्रसित व्यक्ति (extremist) सदा ही

---

१ भगवती सूत्र, शतक १५, देखें भगवान महावीर : एक अनुशीलन पृ० ५१८-५२७

दूसरों का बुरा चाहता हो; किन्तु उसके कार्य ही परिणाम में कष्टप्रद होते हैं।

कभी-कभी अतिसाहस (over-boldness) के कारण भी मनुष्य दुर्नीतिपूर्ण कार्य कर बैठता है। वीरगाथाकाल (cavalry age) के यूरोप का एक ऐसा ही अतिसाहसी व्यक्ति था—डान क्विक्जोट (Don Quixote) और उसका सहायक था सेंको पांजा (Sanco Panza)। डान क्विक्जोट साहस के संवेग में बह जाता था, अतः बुद्धि से काम कम ले पाता था।

यूरोप में उस समय तक विद्युत शक्ति का आविष्कार नहीं हुआ था, अनाज पीसने के लिए वहाँ पनचक्कियां ही साधन थे।

इन चक्कियों की रचना इस प्रकार की जाती थी—एक लम्बा लकड़ी का लट्ठा गाड़ा जाता था जो छत से काफी ऊपर निकला रहता था। वहां उसमें लकड़ी के दो आड़े तख्ते बाँधे जाते थे। बिलकुल ईसाई धर्म के प्रतीक क्रास (cross) जैसा आकार होता था इसका। वायु के वेग से ये घूमते तो बेल्ट (belt) द्वारा सम्बन्धित नीचे कमरे में लगी पुली (pulley) भी घूमने लगती और साथ ही चक्की भी चलने लगती, अनाज पिस जाता।

भरपूर वायु मिले और तख्ते तेज गति से घूमें इसलिए ये चक्कियां गाँव से बाहर खुले मैदानों में लगाई जाती थीं।

डान क्विक्जोट घोड़े पर सवार एक गाँव के बाहर पहुंचा। उसने दूर से ही तख्ते घूमते देखे तो वह समझा—यह कोई राक्षस है और अपने लम्बे-लम्बे हाथों को घुमा रहा है।

उसके मस्तिष्क में विचार दौड़ा—यह राक्षस इस समीप के गांव को नष्ट करने की तैयारी कर रहा है। बस, फिर क्या था, उसने गांववासियों की रक्षा और राक्षस को नष्ट करने का निर्णय कर लिया। सेंको पांजा के समझाने पर भी न माना। म्यान से तलवार निकालकर टूट ही तो पड़ा।

परिणाम जो होना था, वही हुआ। लकड़ी के मोटे तख्तों का क्या बिगड़ना था ? हाँ, डॉन क्विक्जोट का अवश्य बिगड़ गया। उसकी तलवार टूट गई। गहरी चोटें आईं। महीनों बिस्तर पर पड़ा रहा। हंसी का पात्र बना।

यद्यपि डॉन क्विक्जोट की भावना बुरी नहीं थी; किन्तु संवेगों में बह जाने के कारण उसका कार्य अनुचित तो था ही, मूर्खतापूर्ण भी था।

अति : दुर्नीति

अति को भारतीय नीतिशास्त्र में सर्वत्र बुरा कहा गया है—

अतिदानात् बलिर्बद्धः मानाधिक्यात् सुयोधनः ।
विनष्टो रावणो मोहात् अति सर्वत्र वर्जयेत् ।।

—अत्यधिक दान देने से बलि बांधा गया, मान की अधिकता के कारण सुयोधन (दुर्योधन) और अधिक मोह करने के कारण रावण—इन दोनों का नाश हुआ। इसलिए 'अति' (extremity) सदा ही निषिद्ध है।

यही बात आंग्ल भाषा के नीतिसूत्र में कही गई है—Excess in everything brings bitter results. किसी भी प्रकार की अति कटु परिणाम देती है।

यों दान अच्छी बात है, इसे मोक्ष का भी कारण माना गया है। नीति में भी दान की बहुत प्रशंसा की गई है। ज्ञानदान, अभयदान, औषध-दान, श्रमदान, धनदान, प्रेमदान, भूदान, गोदान, तिलदान, तुलादान, आदि सैकड़ों प्रकार के दान प्रचलित और प्रशंसित हुए। मित्र बनाने का भी वह प्रमुख साधन है। राजनीति के चार स्तम्भों—साम, दाम, दण्ड, भेद—में भी दाम प्रमुख है।

अंग्रेजी में भी कहावत है—

Money makes the mare go.

(चांदी की कटारी जहां मारी, पार गई।

लौकिक व्यवहार में भी दान प्रमुख भूमिका अदा करता है। इससे मानव को यश मिलता है, वह दानशूर कहलाता है।

सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक—जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दान, सफलता प्राप्ति की मूल और आधारभूत कुंजी है, नीति है। सर्वत्र इसकी सराहना होती है, कोई भी इसकी बुराई नहीं करता।

इतने पर भी 'अति' लगने से दान स्वयं दाता को ही हानिकारक हो जाता है, अतिदान के कारण मनुष्य अपना सर्वस्व स्वाहा कर देता है, घर का धन देकर स्वयं दर-दर का भिखारी बन जाता है। लोग उसे मूर्ख कहते हैं।

'आचार' जो समस्त जीवन और धर्मों का आधार है, केन्द्र है, यदि

उसके साथ भी 'अति' लग जाये तो वह भी (अति+आचार) अत्याचार बन जाता है, जो प्रत्येक दृष्टि से गर्हित और निन्द्य है।

अतिवादी (extremist) अथवा अति का आचरण करने वाला व्यक्ति मनोविज्ञान की भाषा में (abnormal) होता है। वह सामान्य मानवीय गुणों—बुद्धि, विवेक, दया, अनुकम्पा आदि से दूर जा पड़ता है।

इसीलिए उसके द्वारा किये हुए कार्य परिणाम में पीड़ाकारक होते हैं। वह स्वयं तो दुःखी होता ही है दूसरों को भी दुःखी ही करता है।

यही कारण है कि नीति में सदा-सर्वदा और सर्वत्र 'अति' को त्याज्य बताया है। अति की निन्दा की गई है और इसे दुर्नीति कहा गया है।

नीति और नीयत

नीति से मिलता-जुलता उर्दू शब्द है नीयत। नीयत का अर्थ—अभिप्राय, संकल्प अथवा इरादा (intention) है। इरादा बुरा भी हो सकता है और अच्छा भी। किसी को हानि पहुंचाने का संकल्प भी किया जा सकता है और किसी को लाभ पहुंचाने का भी। सत्संकल्प और दुःसंकल्प भी हो सकता है।

नीयत का अभिप्राय मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियाँ भी है और उसका लौकिक व्यवहार भी। यह शब्द दोनों ही की ओर संकेत करता है। उर्दू का यह शेर नीयत शब्द के अभिप्राय को प्रगट करता है—

न सूरत बुरी है, न सीरत बुरी है।
बुरा है वही, जिसकी नीयत बुरी है॥

संकल्प अथवा इरादे का प्रभाव नीयत पर पड़ता है। किसी व्यक्ति की नीयत कैसी है, यह उसके शब्दों से ज्ञात नहीं हो पाता; वह क्या करता है, यही उसकी नीयत का मापदण्ड है।

इस दुनिया में न जेब किसी की खाली रहे।
घर में दीवाली, जीवन में हरियाली रहे॥

यह भावना एक सज्जन, सत्पुरुष, संत की हो तो उसकी नीयत अच्छी है और यदि किसी ठग, पॉकेटमार, चोर की हो तो बुरी है। दोनों के इरादे में आकाश-पाताल का अन्तर है। सज्जन अन्य पुरुषों की, संसार की उन्नति की नीयत रखता है; जबकि दुर्जन उन्हें लूटकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है।

सज्जन कहता है—

....भला सभी का किया चाहता हूँ।

स्वार्थी व बेईमान इसमें आगे यों जोड़ देता है—

....लेकिन शुरू अपने घर से किया चाहता हूँ।

जिस प्रकार नीति के तीन भेद हैं—नीति, अनीति और दुर्नीति; उसी प्रकार नीयत के भी तीन प्रकार हैं—भली नीयत, स्वार्थ सिद्ध करने वाली नीयत और बुरी नीयत।

नीति और पॉलिसी (policy)

नीति, व्यावहारिक नीति अथवा मानव के व्यावहारिक कार्यकलापों के लिए अंग्रेजी का शब्द (policy) समकक्ष है। इसका अर्थ है—कार्य करने का तरीका (a course of action)। आदमी किस प्रकार का और कैसा कार्य करता है, यह उसकी नीति (policy) है।

जैसे प्रसिद्ध लोकोक्ति है—

Honesty is the best policy.

(ईमानदारी सर्वश्रेष्ठ नीति है।)

(policy) शब्द का एक अर्थ (written contract of insurance) भी होता है। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग जीवन-बीमा—अथवा जनरल बीमा के सन्दर्भ में किया जाता है।

पॉलिसी (policy) शब्द का अधिकतर प्रयोग राजनैतिक जगत में होता है। जैसे—गृहनीति (home policy), विदेशनीति (foreign policy), वित्तनीति (finance policy) आदि-आदि।

किन्तु आर्थिक क्षेत्र में भी इस शब्द का खुलकर प्रयोग होता है। जैसे किसी आर्थिक संस्थान, व्यापारिक संस्थान आदि के व्यापारिक तौर-तरीकों को उस संस्थान की पॉलिसी (policy) कहा जाता है।

यह बात सामाजिक संस्थाओं आदि के बारे में भी लागू होती है। सामान्यतया नीतिशास्त्र में नैतिक और नैतिकता के लिए moral and morality शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु व्युत्पत्ति की दृष्टि से (moral) और (policy) शब्द में मूलभूत अन्तर है।

moral शब्द सामाजिक रीति-रिवाजों का द्योतक है। इसकी

व्युत्पत्ति लैटिन शब्द mores से हुई है, जिसका अभिप्राय समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों (customs) से है।[1]

जबकि policy शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द politus से हुई है, जिसका अभिप्राय है (embellished) सजाना, सुशोभित करना।[2] यानी व्यक्ति का वह व्यवहार और मानसिक प्रवृत्तियाँ जो परिष्कृत हो चुकी हों, मंज चुकी हों, जिनमें सजावट आ गई हो।

वह परिस्कार व्यक्ति की रुचि प्रवृत्ति के अनुसार शुभ (good) भी हो सकता है और अशुभ (bad) भी।

इसीलिए (policy) शब्द के भी तीन रूप बताये गये हैं—

(१) prudential policy (अच्छी या समझदारी की नीति) इसे नीति अथवा सुनीति कह सकते हैं।

(२) no-policy (अनीति)—इसमें व्यक्ति अपना स्वार्थ ही सिद्ध करने की चेष्टा करता है। उसकी कोई निश्चित नीति नहीं होती। जैसा अवसर देखा, वैसा बदल गया।

(३) crooked or bad policy—यह कुनीति अथवा दुर्नीति के समकक्ष है। व्यक्ति इसमें अपना अपयश और अन्य लोगों की हानि करता है। इसमें संवेग प्रमुख कार्य करते हैं। संवेगों के प्रवाह में व्यक्ति बह जाता है। विवेक से उसका दूर का भी वास्ता नहीं होता।

वास्तव में वही दुर्नीति है, जिसमें अपनी तथा दूसरे की भी हानि होती है और परिणाम दुःखद होता है।

निर्णयक्षमता के विकास हेतु नीतिशास्त्र का ज्ञान आवश्यक

नीति, अनीति और दुर्नीति के भेद से यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को किसी कार्य को प्रारम्भ करने का निर्णय भली-भाँति सोच-विचार कर लेना चाहिए।

किन्तु सही स्थिति यह है कि शुभ निर्णय लेने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में समान नहीं होती। कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो समयानुकूल उचित और नीतिसम्मत निर्णय ले पाते हैं। ऐसे लोग अन्तःप्रज्ञा के धनी होते हैं।

---

1. John H. Muirhead : The Elements of Ethics, p. 4
2. Policy (word) Chambers' Twentieth Century Dictionary).

लेकिन सभी की अन्तःप्रज्ञा इतनी विकसित नहीं होती कि वे परिस्थितियों का सही विश्लेषण करके सही निर्णय ले सकें। समाज में ऐसे सामान्य व्यक्तियों की संख्या ही अधिक है। ये सामान्य व्यक्ति कुछ अन्तःप्रज्ञा से, कुछ अपने अनुभव से, कुछ शास्त्र के ज्ञान से और कुछ गुरु के निर्देशन से निर्णय लेने में सक्षम हो पाते हैं।[1]

इसलिए निर्णय के आधारभूत तत्त्वों और मानदण्डों का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। इस ज्ञान से उसकी निर्णय क्षमता जागृत होती है और बढ़ती है। इस प्रक्रिया में नीतिशास्त्र का अध्ययन बहुत ही लाभप्रद और उपयोगी है। यह मनुष्य को सही समय पर सही निर्णय लेने में सक्षम बनाता है।

जीवन में सफलता के लिए नीतिशास्त्र का ज्ञान आवश्यक

जो मनुष्य सही समय पर सही निर्णय लेकर और उसे सही ढंग से अमल में ले आते हैं (Right decision at right time and right execution) वे जीवन यात्रा में सफल होते हैं, उनका जीवन यशस्वी होता है।

वस्तुतः नीतिशास्त्र एक विचारशीलता है, पारस्परिक व्यवहारों का आधार है। व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय जीवन में जो परस्पर व्यवहार होते हैं, उनके कुछ निश्चित मानदण्ड होते हैं। उन मानदण्डों के आधार पर ही उचित-अनुचित का निर्णय एवं करणीय कार्यों का भी निश्चय होता है और इन मानदण्डों को निश्चित करने का कार्य नीतिशास्त्र करता है।

अतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता के लिए नीतिशास्त्र का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।



---

१. सह सम्मुइयाए, पर वागरणेण —आचारांग १, १

२

नीतिशास्त्र का उद्गम एवं विकास

(ORIGIN AND DEVELOPMENT OF ETHICS)

भारतीय नीतिधारा (1)

अंग्रेजी में एक लोकोक्ति है—

Necessity is the mother of invention.

(आवश्यकता आविष्कार की जननी है।)

मानव का स्वभाव है कि जब तक जीवन यात्रा सुख-सुविधापूर्वक चलती रहती है, उसकी किसी भी नई बात में अथवा ज्ञान-विज्ञान की ओर रुचि नहीं होती।

रोग औषधि विज्ञान का जनक है तो कठिनाइयों, परेशानियों, अधिक श्रम ने प्रौद्योगिकी का विकास किया है।

ज्यों-ज्यों नये रोग उत्पन्न होते हैं, चिकित्सा विज्ञान उन रोगों के शमन के उपाय खोजता है और इस प्रकार विकसित तथा उन्नत होता चला जाता है।

जब तक मानव का जीवन ग्रामीण व्यवस्था से संचालित था, उसे अधिक दूर तक नहीं जाता पड़ता था तब तक यातायात के साधनों का विकास नहीं हुआ; किन्तु जब व्यापार आदि के लिए, अन्य राज्यों को विजित करने अथवा भ्रमण या अन्य संस्कृतियों को जानने की आवश्यकता हुई तो द्रुतगामी साधन भी अस्तित्व में आए। घोड़े और रथों से उन्नति करता हुआ आज का युग स्कूटर, मोपेड, कार, हवाई जहाज से बढ़कर स्पूतनिक और जम्बो जेट विमानों तक आ पहुँचा है।

युद्ध और शस्त्र-विज्ञान की प्रगति का भी यही रहस्य है।

ज्ञान-विज्ञान आदि प्रत्येक उपयोगी शाखा के लिए यही सिद्धान्त लागू होता है। प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान मानव की आवश्यकता के आधार पर ही अस्तित्व में आता है और देश-काल की परिस्थितियाँ इसकी उन्नति और विकास में सहयोगी बनती हैं। मानव की क्षण-क्षण बदलती/बढ़ती आवश्यकता और परिस्थितियों के परिवर्तन ज्ञान-विज्ञान के विकास के मूलभूत घटक हैं।

नीतिशास्त्र भी इन घटकों का अपवाद नहीं है। इसकी उत्पत्ति और विकास में भी इन दोनों तत्त्वों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यहाँ हम पहले भारतीय नीतिशास्त्र की उत्पत्ति और विकास का वर्णन करेंगे तदुपरान्त चीन देश के नीतिशास्त्र का और अन्त में पाश्चात्य नीतिशास्त्र का। इसके बाद भारतीय और पाश्चात्य नीतिशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

नीतिशास्त्र की उत्पत्ति और विकास (भारतीय दृष्टिकोण)

भारत में संस्कृति की दो धाराएँ अति प्राचीन काल से चली आ रही हैं। इनमें से प्रथम है श्रमण संस्कृति और दूसरी को वैदिक संस्कृति कहा जाता है। भगवान पार्श्वनाथ के निर्वाण के उपरान्त श्रमण संस्कृति दो उपधाराओं में विभाजित हो गई। इनमें से मूल धारा तो जैन संस्कृति ही रही और दूसरी धारा बौद्ध संस्कृति की अभिधा से अभिहित हुई।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति की तीन धाराएँ हो गईं—(१) जैन संस्कृति, (२) बौद्ध संस्कृति और (३) वैदिक संस्कृति।

वैदिक संस्कृति भी सांख्य, योग, वेदान्त आदि विभिन्न विचारधाराओं में विभाजित हुई; किन्तु नीति की दृष्टि से चार्वाक विचारधारा अधिक उल्लेखनीय है; क्योंकि इसका दर्शन भौतिकवादी है, इसी कारण इसने जो नैतिक नियम निर्धारित किये वे भी भौतिकता अथवा शरीर-सुख प्रधान थे; जबकि भारत की अन्य सभी विचारधाराएँ आध्यात्मिकता प्रधान रहीं।

नीति-शास्त्र की उत्पत्ति

भारत की तीनों प्रमुख विचारधाराओं (जैन, वैदिक और बौद्ध) ने मानवीय उन्नति और विकास के सन्दर्भ में एक ऐसा युग स्वीकार किया है, जबकि मानव को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता था। उसकी सभी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ

कल्प नामक वृक्षों से ही पूर्ण हो जाती थीं। उसके भोजन एवं वस्त्र, आवास तथा मनोरंजन की सभी आवश्यकताएँ वृक्षों से पूर्ण हो जाती थीं। इस युग को वैदिक और बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शन ने भी भोग युग कहा है।

भोग युग का अभिप्राय है; जिस युग में जीविका निर्वाह के लिए किसी प्रकार के कला-कौशल के रूप में श्रम या कर्म की आवश्यकता ही न पड़े।

जैन विचारधारा ने इस भोगयुग को तीन कालों (आरों) में विभाजित किया है। प्रथम और द्वितीय आरे में तो कल्पवृक्षों की प्रचुरता रही, किन्तु तृतीय आरा जब समाप्ति की ओर अपने चरण बढ़ा रहा था, तब कल्पवृक्षों की न्यूनता होने लग गयी।

इस न्यूनता का परिणाम यह हुआ कि उस युग के मानव कल्पवृक्षों पर अपना अधिकार जमाने लगे। आवश्यक वस्तुओं की कमी के कारण इनमें संग्रह प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव भी हो गया। इसके फलस्वरूप लोभ-क्रोध की वृद्धि और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने लगी।

इस स्थिति का मूल कारण था—उपलब्ध साधनो से मानवों की आवश्यकताओं का पूरा न होना।

इस संघर्ष की स्थिति को टालने के लिए जो नियम कुलकरों (कुल—कबीले के नियामकों द्वारा) निर्धारित किये गये, वे जैन दृष्टि से नीति के प्रथम सिद्धान्त थे। प्रारम्भ में वे नियम तीन प्रकार के थे जिन्हें हम तीन नीति कह सकते हैं।

(१) हाकार नीति—जब कोई व्यक्ति निर्धारित नियमों का उल्लंघन करता तो उससे कहा जाता—'हा! तुमने यह क्या किया?'[1] यह 'शब्द-प्रताड़ना' इस युग का महान दण्ड था। व्यक्ति सुनकर लज्जित हो जाता। यह दण्ड प्रथम कुलकर विमलवाहन ने निर्धारित किया।[2]

(२) माकार नीति—जब हाकार नीति विफल होने लगी तथा अपराध बढ़ने लगे तब तीसरे कुलकर यशस्वी ने 'माकार' दण्डनीति का प्रचलन किया। 'माकार' का अभिप्राय था—ऐसा कार्य मत करो।[3] यशस्वी ने

---

१ 'ह' इत्यधिक्षेपार्थस्तस्य करणं हाकारः। —स्थानांगसूत्रवृत्ति ३९९

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति कालाधिकार ७६

३ 'मा' इत्यस्य निषेधार्थस्य करणं अभिधानं माकारः। —स्थानांगसूत्रवृत्ति ३९९

'हाकार' और 'माकार' दोनों दण्डनीतियों से काम लिया।[1] यह व्यवस्था उसके पुत्र अभिचन्द्र के समय तक सुचारु रूप से चलती रही।

(३) **धिक्कार नीति**—अपराध क्रमशः बढ़ते जा रहे थे। अतः पाँचवें कुलकर प्रसेनजित ने इस नीति का प्रचलन किया।' अपराधी व्यक्ति से कहा जाता—धिक्कार है, तुमने ऐसा कार्य किया। यह नीति छठे कुलकर मरुदेव और सातवें कुलकर नाभिराय तक सफलतापूर्वक चलती रही। इसका कारण यह था कि इस युग के मानव का स्वभाव सरल और कोमल था।[2] उसके लिए धिक्कार शब्द ही काफी था।

आधुनिक शब्दावली में हाकार को 'खेद', माकार को 'निषेध' और धिक्कार को 'तिरस्कार' नीति कहा जा सकता है।

जैन दृष्टि से यह नीति का प्रारम्भ है, जो समाज की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए उस भोग युग की अन्तिम वेला में—तीसरे आरे के अन्तिम चरण में, इस युग के मेधावी पुरुषों—कुलकरों द्वारा मानव समाज पर लागू की गई थी।

इसके उपरान्त विश्व के रंगमंच पर प्रथम कुशल प्रशासक और नीति तथा धर्म-प्रवर्तक ऋषभदेव का प्रादुर्भाव हुआ। आप प्रथम तीर्थंकर, प्रथम केवली और प्रथम राजा थे। आपके समय से कर्मयुग का प्रारम्भ हुआ। कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान और असि,[3] मसि,[4] कृषि आदि का प्रारंभ आपने ही किया। मानव को कर्म करने की—आजीविका उपार्जन करने की शिक्षा दी। समाज व्यवस्था, राज-व्यवस्था आदि सभी का सूत्रपात आपने किया। राजनीति, न्याय, दण्डनीति आदि के सिद्धान्त सर्वप्रथम आपने ही निश्चित किये।[5]

हाकार, माकार, धिक्कार के अतिरिक्त आपने चार दण्ड नीतियाँ और निर्धारित कीं—

(१) **परिभाष**—कुछ समय के लिए अपराधी को आक्रोशपूर्ण शब्दों में नजरबन्द रहने का दण्ड देना।

---

१ त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १।२।१७६-१७९

२ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार, सू० १४

३ युद्ध विद्या ४ लेखन कला

५ कर्म-नीति, समाज संचालन और राजनीति आदि के निर्धारण के सम्बन्ध में वैदिक परम्परा में जो स्थान प्रथम मनु का है, लगभग वही स्वरूप जैन परम्परा में 'ऋषभदेव' का माना गया है।

(२) **मण्डल बंध**—सीमित क्षेत्र में रहने का दण्ड देना।

(३) **चारक**—बन्दीगृह में बन्द करने का दण्ड देना।

(४) **छविच्छेद**—अंगोपांगों के छेदन का दण्ड देना।[1]

समाज की सुव्यवस्था के लिए इन्हीं के युग में सहयोग नीति का प्रचलन हुआ तथा वर्ण व्यवस्था अस्तित्व में आई।

साम-दाम-दण्ड-भेद—राजनीति की इन चार नीतियों और इनके सिद्धान्त निर्धारित किये गये।[2]

तदुपरांत जब वे साधना-मार्ग पर चलने को उद्यत हुए उस समय उन्होंने अपना विशाल राज्य अपने सभी पुत्रों में विभाजित किया। बड़े पुत्र भरत को विनीता (अयोध्या) नगरी का राज्य दिया तथा अन्य पुत्रों को अन्य नगरियों का राज्य प्रदान किया। इस प्रकार उन्होंने उत्तराधिकार[3] नीति निर्धारित की।

इस नीति का उद्देश्य था राज्य के लिए भाइयों के संघर्ष को समाप्त करना।

कैवल्य प्राप्त करने के बाद इन्होंने धर्म-धर्मनीति-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का मर्म बताया। साधु और श्रावक (गृहस्थ) के धर्म और नीति का प्रचलन किया।

यों कर्मनीति के बाद धर्म नीति का विकास हुआ।

इसीलिए आवश्यकचूर्णि[4] में कहा गया है कि ऋषभस्वामी सभी प्रकार की नीतियों के आदि पुरस्कर्ता थे।

यह मत जैन विद्वानों का ही नहीं अपितु वैदिक विद्वानों का भी है। श्रीमद्भागवत[5] में भी इन्हें नीति और धर्म के संस्थापक के रूप में स्वीकार किया गया है।

---

१ स्थानांग वृत्ति ७।३।५५७—वहां हाकार से लेकर छविच्छेद तक सात नीतियों का वर्णन है।

२ त्रिषष्टि० १।२।९५९

३ (क) उवदिसित्ता पुत्तसयं रज्जसए अभिसिंचइ।
—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३६।७७ (अमोलक ऋषिजी)

(ख) कल्पसूत्र (पुण्यविजयजी) १९५।५७

(ग) त्रिषष्टि० १।३।१–१७

४, णीतीओ उसभसामिम्मि चेव उप्पन्नाओ। —आवश्यकचूर्णि १५६

५. श्रीमद्भागवत ५।५।२८।५६३

भगवान ऋषभदेव का काल अत्यधिक प्राचीन है। वर्षों में इसकी गणना नहीं की जा सकती, किन्तु उनके द्वारा निर्धारित नीति के नियम समय प्रवाह के साथ यथावत् चलते रहे। युग बीतते गये।

श्रीकृष्ण के युग में भगवान नेमिनाथ द्वारा नीति के प्रत्ययों में एक और प्रत्यय जुड़ा; वह था—मांसाहार के प्रति विरक्ति। उस युग में क्षत्रियों में मांसाहार का प्रचलन हो गया था। ऐसे कुछ मांसाहारी क्षत्रिय भगवान नेमिनाथ की बारात में भी गये थे। उनके भोजन के लिए बहुत से पशुओं को एक बाड़े में बन्द कर दिया था। प्रभु नेमिनाथ को जब यह ज्ञात हुआ कि उनके बारातियों के भोजन के लिए इन निरीह मूक पशुओं की हत्या की जायेगी तो उनका हृदय दया द्रवित हो गया, और यह हत्या टालने के लिए वे अहिंसक असहयोग के रूप में स्वयं बारात से वापस लौटकर दीक्षित हो गये।

मांसाहार अहिंसा धर्म के विपरीत तो है ही, मानव-शरीर के लिए भी हानिकारक है। मानव में क्रूरता उत्पन्न करता है और क्रूर व्यक्ति अनीति का ही आचरण करता है। इसीलिए नेमिनाथ ने इस अनीतिपूर्ण कार्य के प्रति अहिंसक विरोध प्रगट किया और दया एवं प्राणी मात्र की रक्षा की नीति पर बल दिया।

भगवान पार्श्वनाथ ने कमठ तापस के ढोंग और पाखण्ड का पर्दाफाश करके सरलता और सत्यता की नीति स्थापित की। समाज में क्रियाकांडों की जगह जीवमात्र के प्रति दया की महत्ता और सत्यप्रिय होने का आदर्श स्थापित किया।

भ० महावीर अपने युग के अप्रतिम व्यक्तित्व थे। उन्होंने पशुवध, हिंसक यज्ञ आदि तथा उस युग में प्रचलित मिथ्या विश्वासों, वर्ण व्यवस्था की जटिलता, दास जैसी घृणित प्रथा की नींव हिलाकर मानव की श्रेष्ठता की स्थापना की, स्त्री जाति का गौरव पुनः स्थापित किया और नीति के सार्वभौम सिद्धान्त निर्धारित किये।[1]

वैदिक नीति

वैदिक परम्परा का आदि ग्रन्थ ऋग्वेद है। वहीं से वैदिक परम्परा

---

१. भगवान महावीर की नीति का विस्तृत विवरण अध्याय ३ में दिया गया है।

का ज्ञान प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद के अतिरिक्त सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद—यह तीन वेद और हैं।

वेद प्रमुख रूप से प्रार्थना ग्रन्थ हैं। उनमें सूर्य (सविता),अग्नि, इन्द्र, आदि देवताओं से सुख समृद्धि की, शत्रुओं पर विजय की प्रार्थनाएँ की गई हैं और तत्सम्बन्धी मंत्रों (ऋचाओं) का संकलन किया गया है। ऐसे मन्त्र बहुत कम हैं, जिनका नीति से सीधा सम्बन्ध जोड़ा जा सके।[1] फिर भी कुछ मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं, यथा—

सत्यकर्म प्रेरणा—

'वह देव तुमको श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कार्यों को करने की प्रेरणा करें।[2]

सत्य की प्रेरणा—

मैं झूठ से सत्य की ओर जाता हूँ।[3]

अन्य लोगों की सेवा के लिए ऋग्वेद[4] में कहा गया है—

'अज्ञानी व्यर्थ अन्न को इकट्ठा करता है, मैं सत्य कहता हूँ वह उसका नाश करने वाला है। जो अन्न न अतिथि को पुष्ट करता है और न मित्रों को, उसे अकेले खाने वाला पाप करता है।'

इस सूक्त में संग्रहवृत्ति का निषेध झलकता है।

सामूहिकता सम्बन्धी एक मन्त्र अथर्ववेद[5] में प्राप्त होता है—

'तुम सबका पानी पीने का स्थान एक हो, भोजन एक साथ करो।'

इस सूक्त में सामूहिकता और मेल-मिलाप की भावना व्यक्त हुई है।

वस्तुतः वेदों में नीति सम्बन्धी बहु प्रचलित तीन सूक्त हैं—

तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतंगमय
असतो मा सद्गमय

---

1. ....a moralising note....is otherwise quite foreign to Rigveda, The Rigveda is every thing but a text book of morals.
—A History of Indian Literature Vol. I, 1927, p. 115

२. यजुर्वेद १।१
३. यजुर्वेद १।५
४. ऋग्वेद १०।११७।६
५. अथर्ववेद १।३०।६

इन सूक्तों से समाज की उन्नति और नीतिपूर्ण व्यवहार की ध्वनि निकलती प्रतीत होती है। ये सूक्त वैयक्तिक जीवन के लिए भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितने सामाजिक और सामूहिक जीवन के लिए। वेदों की नीति में स्त्री जाति का गौरव भी कहीं-कहीं झलकता दिखाई देता है, और समाज को पुरुषार्थ करने की प्रेरणा भी।

ब्राह्मण ग्रन्थों की नीति

वेदों के बाद वैदिक परम्परा के प्राचीन ग्रन्थ ब्राह्मण माने जाते हैं। यद्यपि ब्राह्मणों का मूल स्वर यज्ञ और क्रियाकांड है फिर भी उनमें नीति सम्बन्धी कुछ वाक्य मिल जाते हैं।

शतपथ आदि ब्राह्मणों में सत्य,[1] तप,[2] दया, दान, दमन[3] पुरुषार्थ[4], साफ-सुथरा रहने की प्रेरणा,[5] भोजन का महत्व[6] उचित भोजन आदि सम्बन्धी अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्ण व्यवस्था[7], गृहस्थ धर्म[8], स्त्रियों के कर्त्तव्य[9] पुत्र का महत्त्व[10], पुत्र का कर्त्तव्य[11], तीन ऋण[12], चार ऋण[13], विद्या का महत्त्व[14] आदि का वर्णन उपलब्ध होता है।

उपनिषदों—का प्रधान विषय अध्यात्म है। इन ग्रन्थों में आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी जिज्ञासाएँ और समाधान वर्णित हैं। ब्रह्म का स्वरूप[15],

---

१ शतपथ ब्राह्मण १।१।१।४-५; १।३।४।२७; १४।४।२।२६

२ शतपथ ब्राह्मण ३।४।४।२७

३ शतपथ ब्राह्मण १४।८।२।२-३-४

४ ऐतरेय ब्राह्मण ३३।३

५ तैतरीय ब्राह्मण १-२६

६ शतपथ ब्राह्मण १०।२।६।१७; ७।५।१२।१६

७ शतपथ ब्राह्मण ४।२।२।१४; १४।४।२।२७, १४।४।४।६; ४।१।५।६ आदि

८ शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०, १२।८।२।६, ३।३।१।१०, ४।१।५।७ आदि

९ शतपथ ब्राह्मण ३।८।२।५, १।२।३।६, ११।४।३।२ आदि

१० ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१

११ शतपथ १४।४।३।२६; १२।२।३।४ आदि

१२ तै. सं. ६।२।१०

१३ शतपथ १।७।२।१, ३।४।५

१४ शतपथ १०।५।४।१६

१५ तै० ३।१, केन. ४।४।५, कठ. २।५।१५ आदि

मनुष्य का परम कर्त्तव्य[1], ज्ञानी का जीवन[2], कर्मों के फलानुसार लोक-लोकान्तर में गति[3], धर्म के तीन स्कन्ध[4] आदि विषयों का वर्णन किया गया है।

उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग हैं। इनकी संख्या २०० से ऊपर बताई जाती है; किन्तु इनमें से १०८ उपनिषद् प्रधान माने गए हैं और इनमें भी ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय,छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा नृसिंह पूर्वतापनी—यह ११ उपनिषद् प्रमुख हैं।

ईशावास्य उपनिषद् में दूसरे के धन की इच्छा न करने[5] का उपदेश दिया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा समाप्त करके गुरुगृह से जाने वाले शिष्य को मात-पिता तथा गुरु-सेवा में आलस्य न करने स्वाध्याय एवं सत्य बोलने की प्रेरणा दी गई है।[6]

इस प्रकार उपनिषदों में भी नीति सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश सूत्र प्राप्त होते हैं।

वेदांग छह हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। इनमें से नीति के दृष्टिकोण से 'कल्प' का ही महत्त्व है। कल्प के दो भेद हैं—श्रौतसूत्र और स्मार्तसूत्र। श्रौत सूत्र में यज्ञ-याग आदि का वर्णन है अतः नीति की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है।

स्मार्त सूत्र के दो भेद हैं—गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। इनमें मानव के आचार का वर्णन होने से नीति की दृष्टि से इनका सर्वाधिक महत्त्व है। इनमें विविध संस्कारों, रीति-रिवाजों आदि का भी वर्णन है।

---

१ बृहदारण्यक ४।५।६; छान्दोग्य ७।२३।१, कठ २।५।१२-१३, मुण्डक २।२।८

२ ईश० १।२, कठ २।६।१४; मुण्डक २।२।८, छान्दोग्य ७।५२।२, बृहदारण्यक ३।५।१

३ प्रश्न ३।७, बृहदारण्यक ४।४।५

४ छान्दोग्य २।२३।१

५ ईश. १—मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

६ तैत्तिरीय १।२।१- सत्य वद धर्म चर, स्वाध्यायान् मा प्रमद इत्यादि।

धर्मसूत्र सम्बन्धी कई ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें से बौधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र और गौतम धर्मसूत्र प्रमुख हैं।

इनमें विवाह के भेद, विवाह की नीति, ब्रह्मचारी, संन्यासी, ब्राह्मण, प्रभृति के कर्त्तव्य आदि बताये गये हैं। झूठी गवाही देने वाले को दण्ड[1] तथा अन्य प्रकार के पापकर्मियों के लिए भी दण्ड का विधान है। वाणी संयम[2] आदि सद्व्यवहारों का भी उपदेश दिया गया है।

विवाह के सम्बन्ध में स्वगोत्र की कन्या से विवाह का निषेध[3], अतिथि सत्कार[4], उपार्जित धन का व्यय (दान)[5], कर-विधान[6], पर-स्त्री गमन[7], दण्ड आदि विषयों पर धर्मसूत्रों में काफी विवेचन किया गया है और ऐसे सिद्धान्त निश्चित किये गये हैं जो नीति से सम्बन्धित हैं।

स्मृति साहित्य नीति की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। इनमें आचार, व्यवहार (विधि अथवा कानून) और प्रायश्चित्त का वर्णन है। यद्यपि स्मृतियों की संख्या १८ है किन्तु इनमें से ३ महत्त्वपूर्ण हैं—मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति और नारदस्मृति। इनमें भी सर्वाधिक लोकप्रिय मनुस्मृति है। द्वितीय स्थान याज्ञवल्क्य स्मृति का है।

स्मृतियों में चारों वर्णों के कर्त्तव्य, पारस्परिक व्यवहार का वर्णन है। साथ ही नीति और राजनीति के विषय में सुन्दर सूक्तियाँ भी हैं।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया॥[8]

—जिस कुल में स्त्रियों का पूजन (आदर-सम्मान-सत्कार) होता है, वहाँ देवताओं का निवास रहता है (देवता प्रसन्न रहते हैं) और जिस कुल में नारियों का सम्मान नहीं होता, वहाँ सभी कर्म निष्फल होते हैं।

---

१ गौतम धर्मसूत्र २।४।२३
२ गौतम धर्मसूत्र १।७।३
३ आपस्तम्ब धर्मसूत्र ११।५
४ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।३।६।१४-१५;३।७।३,५,७,८,१०,१६
५ आपस्तम्ब धर्मसूत्र ८।२०।१८,२०
६ आपस्तम्ब धर्मसूत्र १०।२६।११-१४
७ आपस्तम्ब धर्मसूत्र १०।२७।७,८,१४,१५
८. मनुस्मृति ३।५६

मनुस्मृति का यह श्लोक समाज में नारी की गरिमा प्रकट करता है। यह उच्च चरित्रवान नारी के लिए कहा गया है।

राजा के चरित्र को मार्मिक मार्गदर्शन देने वाला एक श्लोक यहाँ उद्धृत करने योग्य है—

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥[1]

(राजा का कर्त्तव्य है कि बगुले के समान शत्रु का धन लेने की चिन्ता करे, सिंह के समान पराक्रमी बने, भेड़िये के समान अवसर देखकर शत्रु को मारे और (विपरीत) अवसर होने पर खरगोश की तरह चुपचाप (छिपकर) निकल जाय।)

प्रस्तुत श्लोक में राजा के कर्तव्यों के रूप में राजनीति—कूटनीति की कार्यकारी और प्रभावी चतुराई का वर्णन हुआ है।

महाकाव्य साहित्य में नीति

महर्षि वाल्मीकिरचित रामायण सबसे प्राचीन महाकाव्य है। इसकी कथा मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम से सम्बन्धित है। अतः इसमें आदर्श पत्नी, आदर्श भाई, आदर्श सेवक आदि का सुन्दर वर्णन स्वभावतः आया है। साथ ही इसमें नीतियाँ भी यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। कहीं-कहीं नीति के श्लोक विषयानुसार भी रखे गये हैं।

राजनीति की दृष्टि से सुन्दरकांड का ५२वाँ सर्ग, उत्तरकांड का ५३वाँ सर्ग, अरण्यकांड का ४०वाँ सर्ग तथा अयोध्याकांड का १००वाँ सर्ग द्रष्टव्य है। सामान्य नीति का वर्णन उत्तरकांड के ५२वें सर्ग तथा अयोध्या कांड के १४०वें सर्ग में मिलता है और स्त्री सम्बन्धी नीति के लिए अयोध्याकांड का १३९वां सर्ग देखा जा सकता है।

अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ हम एक दृष्टान्त देते हैं—

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः पाप संश्रयात्।
पर पापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नाग ह्रदे यथा ॥[2]

---

१. मनुस्मृति ७।१०६
२. वाल्मीकि रामायण ३।३८।२६

(जो पाप नहीं करते, वे भी पापीजनों के संसर्ग से नष्ट हो जाते हैं जैसे सर्पयुक्त जल-कुण्ड की मछलियाँ सर्पों के संसर्ग से (गरुड़ द्वारा) नष्ट हो जाती हैं।)

प्रस्तुत श्लोक में कुसंगति अथवा दुर्जनों की संगति का कटुफल बताया गया है। इसी प्रकार के श्लोक अन्य संस्कृत तथा हिन्दी के नीति काव्यों में प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर यह दर्शाया गया है कि व्यक्ति के वास्तविक रूप को साथ रहकर ही जाना जा सकता है।

पम्पा सरोवर पर एक बगुले को धीरे-धीरे चलते देखकर श्रीराम अपने अनुज लक्ष्मण से बोले—

पश्य लक्ष्मण ! पंपायां बकः परमधार्मिकः।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा पदम् धत्ते, जीवानां वधशंकया॥

—(हे लक्ष्मण ! देख यह बगुला परमधार्मिक है। जीव न मर जाय, इस शंका से देख-देखकर धीरे-धीरे कदम रख रहा है।)

इस पर जल में तैरती एक मछली ने कहा—

बकः किं शस्यते रामः येनाहं निष्कुलीकृतः।
सहचारी विजानीयात् चरित्रं सहचारिणाम्॥

—(हे राम ! जिस बगुले को आप परम धार्मिक समझ रहे हैं उसका असली रूप मुझसे पूछिए। इसने मेरे कुल का ही नाश कर दिया है (मछलियों को गटक गया है)। सत्य तो यह है कि दूर से वास्तविकता का पता नहीं लगता, साथ रहने वाला ही अपने साथी के असली रूप को सही ढंग से जान पाता है।)

इस श्लोक में दंभी और ढोंगी चरित्र वाले, तन के उजले मन के काले, धर्म का आडम्बर ओढ़े हुए पाखंडियों के वास्तविक चरित्र की ओर व्यंग भी किया गया है तथा उनसे सावधान रहने की सामान्य नीति का भी निर्देश है।

इसी प्रकार के अनेक नीति श्लोक और सूक्तियां वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होते हैं।

नीति की दृष्टि से महाभारत अत्यन्त समृद्ध महाकाव्य है। धौम्य-नीति, विदुरनीति, भीष्मनीति आदि नीति ग्रन्थ महाभारत के ही अंश हैं।

यहाँ तक कि श्रीमद्भगवद्गीता भी इसी का एक अंश है। इस महाकाव्य में नीति के फुटकर श्लोक, उपाख्यान आदि भरे पड़े हैं।

इस दृष्टि से वनपर्व, उद्योगपर्व, भीष्मपर्व, स्त्रीपर्व, शान्तिपर्व, अनुशासन पर्व आदि पठनीय हैं।

वन पर्व में अहिंसा, भाग्य, धर्म, स्त्री तथा सामान्य नीति विषयक बातें हैं। उद्योग पर्व में नैतिकता, धर्म तथा सांसारिक ज्ञान की सुन्दर नीतियाँ विदुर ने कही हैं। इसी प्रकार स्त्रीपर्व में विदुर ने स्त्री-चरित्र के सम्बन्ध में नीतियुक्त वर्णन किया है। भीष्म पर्व के अन्तर्गत गीता है। शान्ति पर्व राजनीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अनुशासन पर्व में स्मृतियों के समान विभिन्न विषयों के बारे में विधि निषेध प्राप्त होता है।

संक्षेप में यह ग्रन्थ (महाभारत) राजनीति, धर्मनीति, सामान्यनीति लोकव्यवहार नीति आदि से बहुत समृद्ध है।

एक-दो उदाहरण काफी होंगे—

यूयं शतः वयं पंच, यूयं यूयं वयं वयं।
कित्वन्येषां विवादेषु, यूयं पंचशतोत्तरं॥[1]

—(युधिष्ठिर दुर्योधन को समझाते हुए कहते हैं—भाई! घर में तो तुम सौ भाई हो और हम पाँच, तुम तुम हो और हम हम हैं। किन्तु दूसरों के साथ विवाद के अवसर पर तुम एक सौ पांच हो, हम सभी भाई एक हैं, सम्मिलित हैं।)

इस श्लोक में संगठन का महत्व स्पष्ट है।

संगठन का महत्त्व बताने वाली ऐसी ही वैदिक उक्ति भी है—**संघौ शक्तिः कलौयुगे**—कलियुग में संगठन ही शक्ति है।

धन के महत्व के विषय में महाभारत का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

धनमाहु परंधर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जीवंति धनिनो लोके मृतायेत्वधना नराः॥[2]

—धन तो परम धर्म (सबसे बड़ा धर्म) है क्योंकि धन में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। संसार में धनी ही जीवित है, निर्धन पुरुष को तो मरा हुआ ही समझो।

---

१. जैन महाभारत, वनपर्व
२. महाभारत १।७२।७३

यही नीति भर्तृहरि की इस उक्ति में प्रतिपादित है—

सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ।

(सभी गुण स्वर्ण (धन) के आश्रित रहते हैं ।)

प्रसिद्ध लोकोक्ति 'बिन टका टकटकायते' में भी इन्हीं संस्कृत सूक्तियों की छाया दृष्टिगोचर होती है ।

संस्कृत महाकाव्यों में रामायण और महाभारत के अतिरिक्त बुद्धघोष के बुद्धचरित्र तथा सौन्दरानन्द, कालिदास के रघुवंश तथा कुमारसंभव, भारवि का किरातार्जुनीय, भट्टि का रावण वध (इसका दूसरा बहुप्रचलित नाम भट्टि काव्य है) माघ का शिशुपालवध आदि हैं। इनमें यत्र-तत्र नीति की अनेक सूक्तियां मिलती हैं ।

कालिदास की यह सूक्ति लोकोक्ति के रूप में प्रसिद्ध है—

एकोहि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतींन्दोः किरणेष्विवांकः ।[1]

—(जैसे चन्द्रमा की ज्योति में उसका कलंक छिप जाता है वैसे ही गुणों के समूह में एक दोष भी छिप जाता है ।)

वचन सम्बन्धी भारवि की यह सूक्ति भी उल्लेखनीय है—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ।[2]

—(ऐसा वचन दुर्लभ है जो हितकारी तथा मन को अच्छा लगने वाला भी हो ।)

पौराणिक नीति

पुराणों की संख्या १८ मानी गई है । इनके रचयिता महाभारतकार महर्षि वेदव्यास माने जाते हैं । जिस प्रकार महाभारत में नीति के अनेकों श्लोक मिलते हैं, उसी प्रकार पुराणों में भी यत्र-तत्र नीति सम्बन्धी श्लोक और सूक्तियां भरी पड़ी हैं । डा० कर्माकर[3] ने अपनी पुस्तक 'पुराणिक वर्ड्स आफ विज्डम' में ही एक हजार श्लोक संकलित किये हैं ।

अठारह पुराणों में ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण, पद्मपुराण, शिवपुराण भागवतपुराण, अग्निपुराण, मार्कण्डेयपुराण, गरुड़पुराण और ब्रह्मांड पुराण

---

१. उद्धृत, डा० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी नीति काव्य, पृष्ठ ३२

२. वही, पृष्ठ ३३

३. Dr. Karmakar : Puranik Words of Wisdom, Bombay, 1947

प्रमुख हैं। नीति के प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहस्पति तथा शौनकीय नीतिसार गरुड़ पुराण के ही अंश हैं।[1]

पुराणों के नीति विषय—स्त्री, पंडित, सज्जन, नीच, धन, कृपण, भाग्य, सुख, दुःख, संसार, विद्या, धर्म, काल, सत्य, जीवन, मन, उद्यम, चिन्ता, शत्रु, मित्र आदि हैं। कहीं-कहीं सीधी सरल भाषा में नीति का उपदेश है तो कहीं उदाहरणों से उसे पुष्ट भी किया गया है। फिर भी उदाहरण-पुष्टि का प्रयास कम ही है। यहां चार उदाहरण दिये जा रहे हैं—

अधमाः कलिमिच्छन्ति, संधिमिच्छन्ति मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति, मानोहि महतां धनम् ॥[2]

—(अधम (नीच) व्यक्ति कलह चाहते हैं, मध्यम व्यक्ति सन्धि की इच्छा करते हैं और उत्तम व्यक्ति मान चाहते हैं, क्योंकि मान ही सबसे बड़ा धन है।)

प्रस्तुत श्लोक में उत्तम, मध्यम और अधम व्यक्तियों की वृत्ति प्रवृत्ति तथा उनकी हृदयगत नीति पर यथार्थ प्रकाश डाला गया है।

जलौका केवलं रक्तमाददाना तपस्विनी।
प्रमदा सर्वदादत्ते चित्तं वित्तं बलं सुखम् ॥[3]

—जोंक तो केवल रक्त लेती है किन्तु स्त्री तो हृदय, धन, बल और सुख—सभी कुछ ले लेती है। भाव यह है—स्त्री जोंक से भी खतरनाक है।

लोकबंधुषु मेघेषु विद्युत्वच्चपल सौहृदाः।
स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥[4]

—(लोकोपकारी बादलों में भी बिजलियाँ चंचल रहती हैं (स्थिर नहीं रहतीं) उसी प्रकार गुणी पुरुषों के सान्निध्य में भी चपल अनुराग वाली कामिनी स्त्रियाँ चंचल रहती हैं।)

यहां मेघों में बिजली की चपलता के उदाहरण द्वारा स्त्री हृदय की चंचलता को दर्शाया गया है।

---

१. डा० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी नीति काव्य, पृष्ठ ३४
२. Dr. Karmakar Puranik Words of Wisdom, p. 21
३. Ibid, p. 1
४ श्रीमद्भागवत १०/२०/१७

गाधवारिचरास्तापमविन्वञ्छरदर्जकम् ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटिम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥[1]

—(थोड़े जल में रहने वाले प्राणी जिस प्रकार शरतकालीन सूर्य की प्रखर किरणों से पीड़ित होते हैं, उसी प्रकार अपनी इन्द्रियों के वश में रहने वाले दरिद्र और कृपण कुटुम्बी को तरह-तरह के ताप सताते ही रहते हैं।)

प्रस्तुत श्लोक में उदाहरण द्वारा दरिद्र और कृपण की स्थिति स्पष्ट करके नीति की स्थापना की गई है।

काव्य के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में कथाओं द्वारा भी नीति की शिक्षा दी गई है। यद्यपि ऐसा अनुमान है कि इस दृष्टि से (नीति की दृष्टि से) कथाओं (लोक कथाओं) का संकलन सर्वप्रथम जातकों में किया गया।[2] जैन सूत्र—ज्ञाताधर्मकथा तथा उत्तराध्ययन सूत्र में भी कई लघु नीति कथाएँ मिलती हैं जिनकी प्रेरणा नीति के साथ धर्म से भी जुड़ गई है।[3] किन्तु ऐसी कथाएँ उपाख्यायिकाओं के रूप में वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों में भी प्राप्त होती हैं।[4] लेकिन नीति-कथा के रूप में इनको पंचतंत्र में स्थान प्राप्त हुआ।

पंचतन्त्र की रचना विष्णु शर्मा ने एक राजा के पुत्रों को ६ महीने में राजनीति और लोकनीति सिखाने के लिए की। इसमें कथाएँ तो गद्य में हैं और कथा के अन्त में एक नीति सम्बन्धी श्लोक दिया गया है। कथा का हार्द उस श्लोक में आ गया है।

उदाहरण के लिए देखिए—

एक बार वन में कुछ बढ़ई एक वृक्ष की डाल चीर रहे थे। दोपहर में वे आधी चीरी हुई डाल में कीली लगाकर भोजन करने चले गये। इतने में एक उत्पाती बन्दर आया और चिरे हुए भाग पर बैठकर कीली निकालने लगा। कीली निकल जाने से बन्दर का अण्डकोष दब गया और वह वहीं मरण को प्राप्त हो गया।

---

१. श्रीमद्भागवत १०।२०।३८
२. विंटरनित्स : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, पृ० ४०६
३. ज्ञाताधर्म कथा के अध्ययन उत्तराध्ययन के चित्तसंभूतीय आदि अध्ययन देखें जैन कथा साहित्य की विकासयात्रा—देवेन्द्र मुनि
४. कीथ : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर पृ० २४६

इस कथा के साथ वहाँ श्लोक दिया गया है—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति।
स एवं निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः॥[1]

—(जो पुरुष बिना काम का काम (जिस कार्य से कोई प्रयोजन सिद्ध न हो, व्यर्थ का कार्य) करना चाहता है वह उसी प्रकार विनष्ट हो जाता है जिस प्रकार कीली निकालकर बन्दर मृत्यु को प्राप्त हो गया।)

पंचतंत्र के कई रूपान्तर हुए किन्तु इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध नारायण पंडित का हितोपदेश है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत भाषा में ऐसे ग्रन्थों की भी प्रचुर रचना हुई जिनका विषय नीति ही है और उनके नाम के साथ नीति शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, यथा—शुक्रनीति, विदुरनीति, चाणक्यनीति आदि।

ऐसे ग्रन्थों की संख्या लगभग १०० से अधिक है किन्तु इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध कुछ ही ग्रन्थ हो सके हैं।

चाणक्य नीति[2]और भर्तृहरि का नीतिशतक इन ग्रन्थों में प्रमुख हैं।

सोमप्रभ आचार्य का सूक्तिमुक्तावली तथा सोमदेव आचार्य[3] का नीतिवाक्यामृत भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

इनके अतिरिक्त द्याद्विवेदकृत नीतिमंजरी, वाचस्पतिमिश्रकृत नीति

---

१. पंचतन्त्र पृष्ठ १.

२ (क) चाणक्य-नीति की छोटी-बड़ी प्रतियाँ—चाणक्यनीति, चाणक्य राजनीति, चाणक्यनीति दर्पण, वृद्ध चाणक्य आदि प्रायः १७ रूपों में मिलती है।

—दासगुप्ता : ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, भाग १, १९४७, कलकत्ता।

(ख) (i) चाणक्यनीति वास्तव में चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य द्वारा रचित न होकर लोक-प्रचलित नीति-श्लोकों का संग्रह है।

(ii) भर्तृहरि के नीति-शतक के सम्बन्ध में भी लोगों का यही अनुमान है।

—डा० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी नीतिकाव्य, पृष्ठ ३७, पादटिप्पणी

१ यह दोनों आचार्य जैन परम्परा से सम्बन्धित हैं। संस्कृत भाषा में नीति सम्बन्धी स्वतन्त्र रचना करने के कारण यहाँ इनका उल्लेख किया गया है।

—सम्पादक

चिन्तामणि, वररुचिकृत नीतिरत्न, वैतालभट्टकृत नीतिप्रदीप आदि शताधिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

इनमें से चाणक्य नीति सूत्र शैली में रचित है और शेष ग्रन्थों की रचना श्लोकों में की गई है। इनमें सीधे-सादे शब्दों नीति-सिद्धान्तों के निर्देश हैं।

यहां नीति सम्बन्धी दो प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं—(१) गौतम कुलक। एवं (२) उपदेश सप्ततिका।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनमें नीति की शिक्षा अप्रत्यक्ष रूप से दी गई है। इन्हें अन्योक्ति कहा गया है। वीरेश्वर, विजयगणि, नीलकण्ठ, जगन्नाथ आदि के अन्योक्ति शतक इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अन्योक्ति शतकों की संख्या भी काफी अधिक है।

इनमें केला, आम, कटहल आदि वृक्षों, चातक, मोर, बाज आदि पक्षियों; सिंह, गीदड़, मृग आदि पशुओं, पृथ्वी, बादल, सूर्य आदि प्राकृतिक वस्तुओं तथा झिल्ली आदि कीट-पतंगों को सम्बोधित करके नीति की बातें कही गई हैं जो विभिन्न रुचि प्रवृत्ति और श्रेणी के पुरुषों पर घटित होती हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी नीति सम्बन्धित हैं जिनकी रचना मुक्तक शैली में हुई है। इन्हें सुभाषित ग्रन्थ कहा जाता है। संस्कृत के प्रमुख सुभाषित ग्रन्थ हैं—कवीन्द्र वचन समुच्चय, सुभाषित कौस्तुभ, सुभाषित त्रिशती, सुभाषित रत्नाकर, सुभाषित रत्न भांडागार, सदुक्ति कर्णामृत (श्रीधर दास), सुभाषितावली (वल्लभदेव), सुभाषित रत्न सन्दोह (अमित गति) आदि।

इस प्रकार वेदों से प्रारम्भ होकर, ब्राह्मण, स्मृति, महाकाव्य, पुराण, नीतिसम्बन्धी ग्रन्थ, अन्योक्ति, सुभाषितों से होती हुई संस्कृत भाषा में रचित वैदिक नीति की धारा प्रवाहित होती हुई पयस्विनी के समान गतिशील रही।

यद्यपि इन ग्रन्थों पर और इनमें वर्णित नीति पर जैन और बौद्ध परम्पराओं का काफी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, फिर भी विद्वानों ने इसे वैदिक नीति स्वीकार किया है, इसका प्रमुख कारण यह है कि अधिकांश ग्रन्थ और ग्रन्थकार रूप से वैदिक परम्परा से सम्बन्धित रहे है।

---

१ आनन्द प्रवचन : भाग ८ से १२ में गौतम कुलक की सैकड़ों नीति सूक्तियां हैं।

बौद्ध परम्परा की नीति

बौद्ध परम्परा का प्रारम्भ तथागत गौतम बुद्ध से हुआ, जो ईसापूर्व की छठी शताब्दी में भारत-भूमि पर विचरण कर रहे थे। बोधि प्राप्त होने पर तथागत बुद्ध ने अपना धर्मोपदेश पालि भाषा में दिया। इसीलिए पालि बौद्धधर्म की प्रमुख भाषा हो गयी और बौद्धधर्म का प्रारम्भिक साहित्य पालि-साहित्य के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

बौद्ध साहित्य के पिटक और जातक—दो प्रमुख भेद किये जा सकते हैं। जातकों में प्रमुख रूप से कहानियाँ हैं, बोधिसत्वों से सम्बन्धित आख्यायिकाएँ हैं, उनमें कथाओं के माध्यम से नीति-शिक्षा दी गई है।

पिटक साहित्य में नीति की दृष्टि से धम्मपद महत्वपूर्ण है। उसमें से कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

यो बालो मञ्ञति बाल्यं पण्डितो वापि तेन सो।
बालो च पण्डितमानी स वे बालो ति वुच्चति॥[1]

—यदि मूर्ख अपने को मूर्ख समझे तो उतने अंश में तो वह बुद्धिमान है, असली मूर्ख तो वह है जो मूर्ख होते हुए भी अपने को बुद्धिमान समझता है।

मूर्ख के विषय में कितनी गहरी बात कही गई है।

अयसाव मलं समुट्ठितं तदुट्ठाय तमेव खादति।
एवं अति धोन चारिनं सकम्मानि नयन्ति दुग्गति॥[2]

—(जिस प्रकार लोहे से उत्पन्न मोर्चा (जंग) उस लोहे को ही खा जाती है, उसी प्रकार अतिचंचल मनुष्य की चंचलता उसकी दुर्गति (दुर्दशा) कर देती है—(दुर्गति को ले जाती है)।)

अभिप्राय यह है कि मन, वाणी और शरीर—तीनों की चंचलता हानिकारक है, दुर्गति का कारण है।

धम्मपद की अधिकांश नीतियाँ व्यावहारिक हैं। किन्तु एक स्थान पर आत्मपरक नीति भी मिलती है—

---

१ धम्मपद ६३

२ धम्मपद २४०

अतदत्थं परत्थेत बहुनापि न हापये ।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसु तो सिवा ॥

—(परोपकार के लिए आत्मार्थ को बहुत न छोड़े । आत्मार्थ को जानकर सदर्थ में लगे ।)

जातक, बोधिसत्वों, तथागत बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं के संकलन है । ५४७ जातक मिलते हैं । यद्यपि बौद्ध परम्परा इन कथाओं को तथागत बुद्ध के पूर्वजन्मों से सम्बन्धित मानती है, किन्तु विद्वानों का विचार है कि मूलतः यह कथाएँ लोक-कथाएँ हैं जिन्हें बौद्धधर्म और उसके उपदेशों के अनुसार स्वरूप प्रदान कर दिया है ।[1]

लेकिन संस्कृत के कथा साहित्य पर और महाभारत तथा पंचतन्त्र पर तो इनका प्रभाव बहुत ही स्पष्ट है ।[2]

जातकों की शैली यह है कि किसी भी नीति या उपदेश के लिए एक कथा ली गई है और उस कथा के बीच में या अन्त में नीतिपरक गाथा दे दी गई है । उस गाथा में नीति का उपदेश दे दिया गया है । कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं ।

रोहिणी जातक की यह गाथा देखिए—

सेय्यो अमित्तो मेधावी यञ्चे बाला नु कंपको ॥
पस्स रोहिणिकं जम्मि मातरं हन्त्वा सोचती ॥[3]

—(मूर्ख दयालु मित्र की अपेक्षा बुद्धिमान शत्रु अच्छा है । मूर्ख रोहिणी को देखो, माता को मारकर अब दुःखी होती है ।)

इस नीति की पृष्ठभूमि में कथा यह है—रोहिणी की माँ एक बार सो रही थी, उसे मक्खियाँ परेशान करने लगीं । माँ ने रोहिणी को मक्खी उड़ाने को कहा तो उसने मूसल इतनी जोर से मारा कि माँ के प्राण-पखेरू ही उड़ गये । रोहिणी रोने लगी ।

'नादान दोस्त से दाना (समझदार) दुश्मन अच्छा' जैसी फारसी की और better to have a wise foe than a foolish friend जैसी अंग्रेजी की सूक्ति और लोकोक्तियों में इसकी छाया स्पष्ट है ।

---

१ डा. भोलानाथ तिवारी : हिन्दी नीति काव्य, पृ० ४४
२ वही, पृष्ठ ४४
३ जातक १, (रोहिणी जातक), पृ० ३२३-२५

सिगाल जातक की गाथा पर्याप्त सोच-विचार कर कार्य करने के सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—

असमोक्खित कम्मन्तं तुरताभिनिपातिनं ।
तानि कम्मानि पप्पेन्ति उण्हं वज्जोहितं मुखे ॥[1]

—(जो मनुष्य बिना विचारे जल्दबाजी में काम करता है, उसके वे काम ही उसे तपाते हैं; जैसे मुंह में डाला गर्म भोजन ।)

कटुवाणी बोलने के बारे में सुजाता जातक में कहा गया है—

वण्णेन सम्पन्ना, मञ्जुका पियदस्सना ।
खरवाचाविया होंति, अस्सिं लोके परम्हि च ॥[2]

—(सुन्दर वर्णवाला, देखने में प्रिय और कोमल होने पर भी कड़वी वाणी (रूखी वाणी) बोलने वाला न इस लोक में प्रिय होता है और न परलोक में ।)

यद्यपि अधिकांश जातक कथाएं धर्म की दृष्टि से लिखी गई हैं; किन्तु व्यावहारिकता प्रधान होने के कारण कुछ ऐसी बातें भी आ गई हैं, जिन्हें अनैतिक ही कहा जायेगा । वच्छनख जातक में गृहस्थ के व्यवहार के लिए कहा गया है—

घरा नानीहमानस्स घरा नामणतो मुसा ।
घरा नादिन्न दण्डस्स परेसं अनिकुब्बतो ॥[3]

—(नित्य परिश्रम न करने वाले की गृहस्थी नहीं चलती । झूठ न बोलने वाले की गृहस्थी नहीं चलती । दण्डत्यागी की गृहस्थी नहीं चलती । दूसरों को न ठगते हुए की गृहस्थी नहीं चलती ।)

यद्यपि इस गाथा को अनैतिक ही कहा जायेगा; किन्तु क्या आधुनिक युग में (और विस्तृत दृष्टिकोण से प्रत्येक युग में) सामान्य गृहस्थ के व्यावहारिक जीवन में यह परिस्थितियाँ घटित नहीं होतीं ? क्या उसे यह सबकुछ, न चाहते हुए भी, व्यवहार में करने को बाध्य नहीं होना पड़ता ?

---

१ जातक १, पृष्ठ २४७,
तुलना करिए—बिना विचारे जो करे, सो पीछे पछताय ।
काम बिगारै आपुनो, जग में होत हसाय ॥

२ जातक ३, पृष्ठ ७६,

३. जातक २, पृष्ठ ४१६,

भदन्त आनन्द कौशल्यायन के अनुसार 'लोकनीति' नाम का पालि ग्रन्थ लंका में है। उसमें व्यवहार नीति का ही वर्णन है।

इस प्रकार पालि साहित्य में नीति के लगभग सभी रूप प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से पालि साहित्य अच्छा समृद्ध है।

(II) एशिया की अन्य नीतिधाराएँ

अब तक की पंक्तियों में हमने उन नीतिधाराओं का संक्षिप्त परिचय दिया, जो भारतभूमि में ही उत्पन्न हुईं और यहीं विकसित हुईं। किन्तु अब उन नीति-धाराओं का परिचय दे रहे हैं जिनका उत्पत्ति स्थल एशिया महाद्वीप है।

ये धाराएँ हैं—चीन देश की, फारस की, महात्मा ईसामसीह की और हजरत मुहम्मद साहब की तथा यूनानी विचारकों प्लेटो, अरस्तू आदि की।

यद्यपि यूनान भी एशिया महाद्वीप में है और ईसामसीह की जन्मस्थली भी एशिया महाद्वीप ही है, किन्तु यूनानी विचारकों का सर्वाधिक प्रभाव पश्चिमी देशों पर हुआ, भारत और भारतीय नीति पर इनका प्रभाव नगण्य-सा रहा। ईसामसीह की नीति का प्रभाव अंग्रेजों के भारत पर शासन के कारण यूनानी विचारकों की नीति सम्बन्धी विचारधाराओं की अपेक्षा कुछ अधिक रहा।

ताओ की नीति-परम्परा

ताओ एक विचारधारा है। इसका पुरस्कर्ता लाओत्से है जो चीन देश में ईसापूर्व छठी शताब्दी में पैदा हुआ।

लाओत्से एक गम्भीर तत्वचिन्तक और विचारक है। उसके विचारों का संकलन ताओ उपनिषद् नाम के ग्रन्थ में हुआ है।

लाओत्से ने ईश्वर का नाम 'ताओ' दिया है और उसे सर्वव्यापी तथा प्रेममय बताया है। 'ताओ तेह किंग' लाओत्से की अमर रचना है। 'तेह' उस ताओ को प्राप्त करने का उपाय है। इसी पर लाओत्से की सम्पूर्ण नीति आधारित है; दूसरे शब्दों में 'तेह' उसकी सम्पूर्ण नीति की आधारशिला है।

लाओत्से की नीति के प्रमुख तत्व हैं—

(१) आसक्ति का त्याग करके काम करना ।[1]
(२) आघात के बदले दया करना,
(३) छोटे में बड़ा देखना ।

सुखी रहने की नीति के विषय में लाओत्से कहता है—

आप मुंह बन्द करें, आंखें और कान भी बन्द करें,
जन्म-भर आपको कोई उपद्रव न होगा ।
किन्तु यदि आप मुंह खोलेंगे, चालाकी दिखायेंगे तो जन्मभर दुखी रहेंगे ।[2]

भारत में जो, गांधीजी के तीन बन्दर प्रसिद्ध हैं, जिनमें से एक आंखें बन्द किये हुए है, दूसरा कान और तीसरा मुंह; वह लाओत्से के इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं । लाओत्से ने ही तीन बन्दरों की मूर्ति सर्वप्रथम बनायी थी और 'बुरा मत देखो, बुरा मत कहो, बुरा मत सुनो' की नीति सुखी जीवन के लिए निर्धारित की थी ।

खुशामद भरे शब्दों पर अविश्वास करने की नीति के विषय में बताते हुए लाओत्से कहता है—

तड़पन-भरे शब्द लच्छेदार नहीं होते ।
लच्छेदार शब्द विश्वासयोग्य नहीं होते ।।[3]

लाओत्से व्यक्ति के स्वयं अपने सुधार[4] की नीति में विश्वास करता है । वह दबाव अथवा दण्ड से सुधार की नीति को गलत मानता है । उसका मानना है, इस तरह लोग धूर्त बन जाते हैं ।[5] वह समझौते की नीति पर विश्वास करता है और इसी को व्यावहारिक जीवन में उपयोगी समझता है तथा सुख-शांति का राजमार्ग मानता है ।

इस प्रकार लाओत्से की नीति सरलता, समझौता, किसी की बुराई (निन्दा) न करना, खुशामदियों से दूर रहना आदि है ।

---

१ ताओ उपनिषद् ६३ ।
तुलना करिए—कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन । —गीता
२ ताओ उपनिषद् ५३ ३ ताओ उपनिषद् ८१
४ वही ५८ ५ वही ५७
६ वही ७६

कन्फ्यूसियस की नीति

चीन का दूसरा महान विचारक कन्फ्यूसियस हुआ। इसका समय भी ईसापूर्व छठी शताब्दी है।

कफ्यूसियस की नीति का सारतत्व है—भाईचारा, प्रेम और लोक-व्यवहार के लिए इसकी नीति है—**जो तुम्हें नापसन्द है, वह दूसरों के लिए हरगिज मत करो।**[1]

यह दोनों सिद्धान्त ही कन्फ्यूसियस की नीति के आधार हैं। इन्हीं में उसकी सम्पूर्ण नीति समाई हुई है।

जरथुस्त्र की नीति

जरथुस्त्र फारस के बहुत बड़े विचारक थे। इनका समय ईसापूर्व छठी शताब्दी का है। इनके विचारों का संकलन अवेस्ता नाम के ग्रन्थ में हुआ है। इस ग्रन्थ का पारसियों के हृदय में बहुत सम्मान है। यह उनका प्रमुख धर्मग्रन्थ है, जिस प्रकार मुसलमानों का धर्मग्रन्थ कुरान है।

पारसी धर्म की नीति का प्रमुख आधार मैत्री है, कहा है—

'मैं उस मैत्री की याचना करता हूँ जो सबसे श्रेष्ठ मैत्री है। ऐसी श्रेष्ठ मैत्री जैसी सूर्य और चन्द्रमा के बीच में है।'[2]

लोकनीति के सन्दर्भ में मनुष्य के तीन प्रमुख कर्तव्य[3] बताये गये हैं—

१. जो दुश्मन है, उसे दोस्त बनाना,
२. जो दुष्ट है, उसे सदाचारी बनाना,
३. जो अशिक्षित है, उसे शिक्षित बनाना।

दैनिक व्यवहार को नीतिपूर्वक चलाने के लिए कहा गया है—[4]

० किसी की निन्दा मत करो।
० मन में लोभ-लालच का भाव मत रखो।

---

१ तुलना करिये—आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत।
तथा प्रथम पृष्ठ पर अंकित जैनाचार्य का वचन—जं इच्छसि...जिणसासणं।

२ खुरदह यश्त ५; उद्धृत—पारसी धर्म क्या कहता है? श्रीकृष्णदत्त भट्ट

३ शयस्त ला शयस्त २०/६ ,, ,, पृ० ५३

४ दीनाई मैनोकी खिरत २०/३-७ ,, ,, पृ० ५२

० किसी पर क्रोध मत करो।
० किसी प्रकार की चिन्ता न रखो।
० भोग-विलास में मत डूबो।
० दूसरों से डाह (जलन) मत रखो।
० आलसीपन की आदत मत डालो।
० उद्यमी बनो।
० दूसरों की सम्पत्ति मत ऐंठो, न हड़पो।
० दूसरों की स्त्रियों से दूर रहो।
० मन में किसी से बदला लेने की भावना मत रखो।

क्योंकि यह सभी बातें मैत्रीभाव और उद्यमशीलता में बाधक हैं।

इसके अतिरिक्त पशुओं के प्रति दया, पाप के प्रति पश्चात्ताप, सत्य और मृदुभाषा का प्रयोग आदि नीतिसम्बन्धी बातें तो हैं ही।

इस्लाम धर्म की नीति

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब का जन्म अरब के प्रसिद्ध शहर मक्का में ईस्वी सन् ५७० के लगभग हुआ। आपके विचारों का संकलन 'कुरान शरीफ' नामक ग्रन्थ में हुआ है। मुसलमान इस पुस्तक को पवित्र मानते हैं और बहुत आदर देते हैं।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि इस्लाम में नीति का अंश नहीं है और यदि है भी तो बहुत कम है; किन्तु यह धारणा सत्य नहीं है। इस्लाम में नीति के ऐसे वाक्य मिलते हैं, जो दैनंदिन व्यवहार में बहुत उपयोगी हैं, उनके आचरण से जीवन सुखी हो सकता है।

यहाँ हम नीति सम्बन्धी कुछ वाक्य कुरान शरीफ से मूल सहित उद्धृत कर रहे हैं—

० कानऽन्नासु उम्मतँ व्वाहिदतन — २/२१३
—सभी इन्सान एक कौम के हैं।
० व ला तुफ्सिदऽफिऽल् अर्दि — ७/५६
—इस दुनिया में फसाद बरपा (झगड़ा) न करो।
०....व अस्लिह लहूऽजात् बैनिकुम्..... — ८/१
—आपस में सुलह करो।
० या अय्युहऽल्लजीन आमनूऽ लिम तक्लूनमाला तफ्अलून — ६१/२

—ऐ ईमानवालो ! क्यों कहते हो ऐसी बात जो करते नहीं ।[1]

० व ला यग़्तब बा' .दुकुम बादन.... ४९/१२

—तुममें से कोई किसी की पीठ पीछे निन्दा न करे ।

० या अय्युहऽऽन्नासु कुलूऽमिम्माफ़िऽऽल आंद २/१६८
हलाहन तय्यिबन्

—ऐ लोगो ! जमीन की चीजों में से हलाल की चीजें खाओ ।

० व ला तन्कुसुऽल मिक्पाल वऽल मीजान ११/८४

—नाप-तौल में कमी न किया करो ।

० व ला तुबज्जिर तबजीरन् ऽ०
फिजूलखर्ची न करो ।

इसी प्रकार कुरान शरीफ में खैरात (दान), भाईचारा आदि की नीति का प्रतिपादन किया गया है । शराब, जुआ, सूदखोरी (अत्यधिक ब्याज लेना) आदि कार्यों को तथा रिश्वत को शैतान के काम कहकर अनैतिक कार्य घोषित किया गया है ।

हलाल और ईमान की रोटी खाने के आदेश में पुरुषार्थ नीति की झलक स्पष्ट है तथा अनैतिकता का निषेध है । कम तौल-नाप का निषेध व्यापार-नीति का उच्चमान स्थापित करता है ।

व्यवहार नीति की दृष्टि से कुरान शरीफ एक समृद्ध ग्रन्थ है ।

ईसाई धर्म की नीति

ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा थे । इनका जन्म आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुआ था । इनके धर्म का प्रचार संसार में सर्वाधिक है । सारे संसार में इसके अनुयायी फैले हुए हैं ।

इनके धर्म का मूलाधार मानवता या मानव सेवा है । अतः इस धर्म की नीति भी मानवतावादी है । मानवता इसका प्रमुख तत्व है ।

मानव में मानवता जगाने के लिए इन्होंने नम्रता, दया, क्षमा, प्रेम आदि बातों पर विशेष बल दिया ।

---

१ तुलना करिए—प्राण जाए पर वचन न जाई । —रामचरित मानस

पड़ोसी के साथ व्यवहार की नीति के विषय में कहा है—

Thou shalt not hurt thy neighbour.

तुम अपने पड़ौसी को हानि मत पहुँचाओ।

परिग्रह मानवता के विकास में बहुत बड़ा बाधक है। परिग्रही व्यक्ति के हृदय से मानवता पलायन कर जाती है। अतः अपरिग्रह नीति का अनुसरण करते हुए बताया है—

० "सुई के छेद में से ऊँट का निकल जाना संभव है किन्तु किसी धनवान व्यक्ति का स्वर्ग में प्रवेश पाना असम्भव है।"

इन शब्दों में उन्होंने संग्रह-विरक्ति की नीति का उपदेश दिया।

समझौता, सुलह और प्रेमभाव की नीति का प्रसार करने के लिए उन्होंने कहा—

० "यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो उसकी ओर अपना दूसरा गाल कर दो।"

समाज में सुख, शांति और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए यह सभी नीतियां आवश्यक भी हैं और उपयोगी भी।

इस प्रकार बाइबिल में नीति के अनेक आदर्श वचन मिलते हैं।

पाश्चात्य नीतिशास्त्र का विकास

पाश्चात्य नीतिशास्त्र का उद्भव सुकरात से माना जाता है। इसका समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी का है।

सुकरात की समस्या विशुद्ध रूप से नैतिक समस्या थी। उसने अपने नैतिक विचारों का प्रसार किया। वे सिद्धान्त राज्य के सिद्धान्तों से मेल नहीं खाते थे। नवयुवकों को भ्रष्ट करने का आरोप लगाकर उसे मृत्युदण्ड दिया गया जिसे उसने सहर्ष स्वीकार करके विष का प्याला पीकर प्राणोत्सर्ग कर दिया।

अपने अन्तिम समय में सुकरात ने अपने मित्र क्राइटो को तीन सिद्धान्त दिये—

(१) किसी को हानि न पहुँचाना

(२) अपने वायदों का पालन करना

(३) मात-पिता तथा शिक्षकों का सम्मान करना[1]

इन तीन सिद्धान्तों को ही पाश्चात्य नीति का आधार कहा जा सकता है।

उसके उपरान्त प्लेटो ने नीति के सिद्धान्तों को कुछ आगे बढ़ाया। उसने नीति को समाज का समन्वयकारी तत्त्व अथवा विधि स्वीकार किया और नीति के साथ न्याय (just) को भी परिभाषित किया। किन्तु इसके बाद यूनानी सभ्यता का पतन हो गया और यूरोप में अराजकता छा गई। परिणामस्वरूप नीति के विषय में भी कोई काम न हो सका।

तदुपरान्त ईसा की सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में जब पुनर्जागरण (Renaissance) हुआ तो नीति के क्षेत्र में भी काम हुआ। शापेनहावर,कांट, स्पिनोजा आदि ने नीति सम्बन्धी सिद्धान्त, प्रत्यय आदि निर्धारित किये।

इस ऐतिहासिक विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य नीतिशास्त्र का विकास, जितना भी दिखाई देता है, वह सब आधुनिक काल में ही हुआ है, उसका कोई विशेष सुदृढ़ प्राचीन आधार दृष्टिगोचर नहीं होता।

किन्तु जैसाकि डा. दिवाकर पाठक लिखते हैं—

"पश्चिमी विचारक प्रायः भारतीय संस्कृति की प्राचीनता के अध्ययन की कमी के कारण प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान का श्रीगणेश यूनान की संस्कृति से ही मानते हैं। इन लोगों के अनुसार आचार-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों (और नैतिक सिद्धान्तों का भी) का प्रतिपादन सबसे पहले यूनान में ही हुआ। किन्तु इस विचारधारा में आंशिक सत्यता है।"[2]

अपने मत की पुष्टि में वे अमेरिकी विद्वान होपकिन्स का निम्न कथन प्रस्तुत करते हैं—

"यद्यपि पश्चिम ने भारतीय मस्तिष्क (चिन्तन) को वर्षों पूर्व ढूंढ़ निकाला था और आज भी अगणित बौद्ध गाथाओं को चर्चा करता है; तथापि भारतीय धर्मों के अन्तरंग का पूर्ण परिचय कम ही लोगों को है। बहुत-से लोग यह भी नहीं जानते कि भारतीयों ने क्या चिन्तन किया और क्या कहा है ? जहाँ तक भारतीय नीतिशास्त्र का सम्बन्ध है, वह यूरोप और अमेरिका के लिए अधिकांशतः अज्ञात क्षेत्र है। यह जान कर अधिकांश लोगों को खुशी होगी कि ईसा युग से बहुत पूर्व भारत में

१ डा० रामनाथ शर्मा : पाश्चात्य नीतिशास्त्र, पृ. १

२. डा. दिवाकर पाठक : भारतीय नीतिशास्त्र पृ. ५

सत्य, उदारता, हृदय की दयालुता, आत्मा की पवित्रता, क्षमा तथा दया के आदर्श दैनिक जीवन के सिद्धान्तों के रूप में सिखाये जाते थे।"[1]

भारतीय नीति की विकास अवस्थाएं

भारतीय और भारतेतर विभिन्न धर्मों और उनके प्रवर्तकों के नीति सम्बन्धी विचारों की संक्षिप्त जानकारी भारतीय नीतिशास्त्र की विकास अवस्थाओं को समझने में सहायक होगी।

विकासक्रम की अपेक्षा से भारतीय नीति को पांच अवस्थाओं (stages) में विभाजित किया जा सकता है—

(i) **प्रागैतिहासिक नैतिक विचारधारा**—इसका प्रारम्भ ऋषभदेव से पूर्व कुलकर युग की हाकार नीति से हुआ और जैन परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के युग तक विभिन्न सोपानों को पार करती हुई विकसित होती रही। नैतिक चिन्तन का यह अतिदीर्घकाल है। नीति सम्बन्धी अधिकतर प्रत्यय इस युग में प्रचलन में आ चुके थे।

(ii) **प्राचीन नैतिक चिन्तन**—इसका प्रारम्भ वैदिक युग से माना जाता है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, स्मृति, पुराण आदि वैदिक परम्परा, बौद्ध परम्परा का नैतिक चिन्तन तथा संस्कृत काव्यों रामायण, महाभारत, नीति-ग्रन्थों, अन्योक्ति और सूक्ति सुभाषित संग्रहों, पंचतन्त्र आदि की नीति कथाओं—सभी का इस काल के नैतिक चिन्तन में समावेश हो जाता है।

---

1 "Although the West discovered mental India years ago and now talks quite glibly with its imagined 'millions of Buddhists, yet apart from some erroneous familiarity with Indian religions, there is little known in this country of what the Hindus have thought and said; as far the field of Hindu Ethics, it is terra incognitia to Europe and America.....It will be a pleasure to many and grief to none to know that truthfulness, generosity, kindness of heart, purity of soul, forgiveness and compassion were taught in India as everyday precepts long before the Christian era."

—Hopkins, E. W. : Ethics of India, p. IX

उद्धृत—डा. दिवाकर पाठक : भारतीय नीतिशास्त्र, पृष्ठ ५

इसी काल में श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित नीति और नतिक प्रत्यय भी समाविष्ट होते हैं।

यह काल ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी से लेकर ई० सन् १२०० तक यानी ४२०० वर्ष का ऐतिहासिक काल है।

(iii) मध्यकालीन संतों के नैतिक उपदेश और विचार—यह काल ईसा की बारहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक है।

ईसा की बारहवीं शताब्दी से मुसलमानों का भारत में आगमन शुरू हो गया। आक्रामक राजाओं के साथ मुस्लिम सन्त भी आये। राजाओं —मुस्लिम आक्रांताओं के कारण भारतीय राजनीति और युद्धनीति प्रभावित हुई, सन्तों के प्रभाव से सामान्यनीति और यहाँ तक कि धर्म सम्बन्धी मान्यताओं में भी नया मोड़ आया। नये नैतिक प्रत्यय स्थापित हुए। इस युग के प्रमुख संतकवि कबीर तुलसी आदि हैं।

(iv) उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारकों के नैतिक विचार—यद्यपि ईसाइयों का आगमन भारत में ई० १६०० में ही हो गया था किन्तु इनका प्रभाव भारतीय जन-मानस पर अठारहवीं शताब्दी से पड़ना शुरू हुआ। अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजों से सम्पर्क और ईसाई मिशनरियों द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार, हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन आदि ऐसी घटनाएँ थीं, जिनसे भारतीय विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कुछ भारतीयों की ऐसी मानसिकता बन गई कि यूरोप की सभ्यता और नैतिकता को वे भारतीयता से श्रेष्ठ समझने लगे। अंग्रेज प्रभुओं की कृपा से यह वर्ग शक्ति सम्पन्न और प्रभावशाली भी था।

अतः प्राचीन और मध्यकालीन नैतिक चिन्तनधाराओं को बहुत बड़ा झटका लगा। ऐसा अनुभव होने लगा कि सारा भारत ही यूरोपीयता के रंग में रंग जायेगा।

इस समय राजा राममोहनराय, जस्टिस रानाडे, स्वामी विवेकानंद, बंकिमचन्द्र चटर्जी, आदि प्रबुद्ध चेता भारतीय मनीषियों का चिन्तन जगा। उन्होंने युग-युगों से चली आई भारतीय नीति के उज्ज्वल तत्वों को पुनर्स्थापित किया और जहाँ तक उन्हें उचित लगा, यूरोपीय नीति के नैतिक तत्वों के साथ भारतीय नीति का समन्वय किया और युगानुकूल नये प्रत्यय निर्धारित किये।

(v) आधुनिक नैतिक चिन्तन—इसका प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों से माना जाता है। बीसवीं शताब्दी विज्ञान की चमत्कारी

खोजों का युग रही है। पश्चिम ने भौतिक जगत के नये-नये आयाम खोजे हैं। इन खोजों में भारतीय वैज्ञानिकों सर जगदीशचन्द्र बोस, सर वेंकटरमन, सर मेघनाथ साहा और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी अपनी प्रतिभा के चमत्कार दिखाये।

विज्ञान की अधुनातन खोजों ने सुख-सुविधा के इतने प्रचुर साधन उपलब्ध करके प्रसारित किये कि मानव सुख–सुविधावादी भोग-परायण और प्रदर्शनप्रिय बन गया।

अतः भारतीय त्यागप्रधान और मोक्षवादी नैतिक चिन्तनधारा को बहुत तीव्र आघात लगा। चिकित्सा और शृंगार-प्रसाधनों के लिए लोग हिंसा को विहित मानने लगे, धनोपार्जन के लिए अथवा उच्चपद प्राप्ति के लिए छल-कपट को आवश्यक और उचित ठहराया जाने लगा। संचय और परिग्रह तथा प्रदर्शन उच्च जीवन स्तर का आवश्यक तथा अनिवार्य घटक बन गया।

इस शताब्दी में महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, महामना मदन मोहन मालवीय श्री विनोबा भावे, किशोरदास मश्रुवाला, डा० राधाकृष्णन आदि भारतीय चिन्तकों ने पुनः भारतीय नैतिकता का उज्ज्वल पक्ष संसार के समक्ष रखा और विज्ञान से आवश्यक समन्वय करके भारतीय नीति को नया रूप दिया।

किन्तु इस नये रूप में भी भारतीय नीति के दया, क्षमा, मोक्ष, त्याग, दान, उदारता, अहिंसा, सहिष्णुता आदि आवश्यक अनिवार्य और सनातन घटक अक्षुण्ण रखे।

इन चिन्तकों ने विज्ञान से इतना ही समझौता किया कि जहां तक वैज्ञानिक खोजें, मानवीय स्वास्थ्य तथा स्वस्थ चिन्तन में सहायक हैं, वहां तक तो उन्हें अपनाया और जहां विज्ञान दानव बनता हुआ दिखाई दिया, मानवता के विकास में अवरोध पैदा करने वाला मालूम हुआ, वहां उन्होंने विज्ञान का मानव–जीवन में प्रवेश करना उचित न समझा।

इसीलिए गांधीजी बड़ी मशीनों के पक्षधर नहीं रहे क्योंकि इनके प्रयोग से मानव की कार्यक्षमता घटती है, मानव मशीनों का गुलाम बन जाता है और दासता स्वयं एक बहुत बड़ी अनैतिकता है।

इस प्रकार नीति—भारतीय नीति, भारतेतर और पश्चिमी नीति की संक्षिप्त विकासधारा का यह दिग्दर्शन है, जो प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान युग तक चली आई है।

□

३.

भगवान महावीर की नीति–अवधारणाएँ

जिसप्रकार धार्मिक जीवन का आधार आचार है, उसी प्रकार व्यावहारिक जीवन की रीढ़ नीति है और यह भी तथ्य है कि जिस प्रकार बिना नींव के मकान की रचना नहीं हो सकती वैसे ही बिना नैतिक जीवन के धार्मिक जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। नीति, धर्म का आधार है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक, धर्मोपदेशक और धर्म-सुधारक ने धर्म के साथ नीति का भी उपदेश दिया, जनसाधारण को नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा दी।

हाँ, यह अवश्य है कि धर्म, धर्म के मूल्य, धर्म के सिद्धान्त स्थायी हैं, सदा समान रहते हैं, उनमें देशकाल की परिस्थितियों के कारण परिवर्तन नहीं होता; जैसे 'अहिंसा धर्म है' यह संसार में सर्वत्र और सभी कालों में धर्म ही रहेगा। किन्तु नीति, समय और परिस्थिति-सापेक्ष है, इसमें परिवर्तन आ सकता है। जो नीति सिद्धान्त भारतीय परिस्थितियों के लिए उचित हैं, आवश्यक नहीं कि वे पश्चिमी जगत में भी मान्य किये जायें, वहां की परिस्थितियों के अनुसार नैतिक सिद्धान्त भिन्न प्रकार के भी हो सकते हैं।

नीति—व्यावहारिक जीवन से प्रमुखतया संबंधित होने के कारण नीति सिद्धान्तों में परिवर्तन आ जाता है।

जैन नीति के सिद्धान्त यद्यपि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा निश्चित कर दिये गये थे और वे दीर्घकाल तक चलते भी रहे थे; किन्तु उन सिद्धान्तों को युगानुरूप स्वरूप प्रदान करके भगवान महावीर ने निश्चित किया और

यही सिद्धान्त अब तक प्रचलित हैं। इसी अपेक्षा से उन सिद्धान्तों को 'भगवान महावीर की नीति' नाम से अभिहित करना समीचीन है।

भगवान महावीर

भगवान महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन क्षत्रियकुण्ड ग्राम में राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशलादेवी की कुक्षि से ईसा पूर्व ५९९ में हुआ था। आपने ३० वर्ष गृहवास में बिताये, तदुपरान्त श्रमण बने, साढ़े बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की, केवलज्ञान प्राप्त किया और फिर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। ३० वर्ष तक अपने वचनामृत से जगत जीवों के लिए कल्याण-मार्ग बताया और आयु समाप्ति पर ७२ वर्ष की अवस्था में कार्तिकी अमावस्या दीपावली के दिन निर्वाण प्राप्त किया।

आप जैन परम्परा के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर हैं। वर्तमान समय में उन्हीं का धर्मशासन चल रहा है।

भारतीय और भारतेतर सभी धर्म-प्रवर्तकों, उपदेशकों से भगवान महावीर का उपदेश विशिष्ट रहा है। उपदेश की विशिष्टता के कारण ही उनके द्वारा निर्धारित नीति में भी ऐसी विरल विशेषताओं का समावेश हो गया जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकतीं। इस अपेक्षा से भगवान महावीर की नीति अवधारणा को दो शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—

१. भगवान महावीर की विशिष्ट नीति—अवधारणा
२. भगवान महावीर की सामान्य नीति—अवधारणा

सामान्य नीति से अभिप्राय नीति के उन सिद्धान्तों से है, जिनके ऊपर अन्य दार्शनिकों, मनीषियों और धर्म सम्प्रदाय के उपदेष्टाओं ने भी अपने विचार प्रगट किये हैं। ऐसे नीति सिद्धान्त सत्य, अहिंसा आदि हैं। किन्तु इन सिद्धान्तों का युक्तियुक्त तर्कसंगत सूक्ष्म विवेचन जैन परम्परा में प्राप्त होता है। भगवान महावीर और उनके अनुयायियों ने इन पर गम्भीर चिन्तन किया है।

विशिष्ट नीति से अभिप्राय उन नीति सिद्धान्तों से है, जहां तक अन्य मनीषियों की दृष्टि नहीं पहुँची है। ऐसे नीति सिद्धान्त अनाग्रह, अनेकांत, यतना, समता, अप्रमाद आदि हैं। यद्यपि यह सभी नीति सिद्धान्त सामाजिक सुव्यवस्था तथा व्यक्तिगत व्यावहारिक सुखी जीवन के लिए उपयोगी हैं फिर भी यह अछूते रह गये। भगवान महावीर और उनके आज्ञा-

नुगामी श्रमणों, मनीषियों ने नीति के इन प्रत्ययों पर गम्भीर विचार किया है और सुखी जीवन के लिए इनकी उपयोगिता प्रतिपादित की है।

जैन नीति के मूल तत्व

उपरोक्त सामान्य और विशिष्ट नीति के सिद्धान्तों को भली भांति हृदयंगम करने के लिए यह अधिक उपयोगी होगा कि जैन नीति अथवा भगवान महावीर की नीति के मूल आधारभूत तत्वों को इनके हार्द को समझ लिया जाय।

जैन नीति के मूल तत्व हैं, पुण्य, संवर और निर्जरा। ध्येय है—मोक्ष और आस्रव, बन्ध तथा पाप अनैतिक तत्व हैं। जैन नीति का सम्पूर्ण भवन इन्हीं पर टिका हुआ है।

पाप अनैतिक है, पुण्य नैतिक, आश्रव अनैतिक है, संवर नैतिक, बंध अनैतिक है, निर्जरा नैतिक। इस सूत्र के आधार पर ही सम्पूर्ण जैन-नीति को समझा जा सकता है।

पाप और पुण्य शब्दों का प्रयोग तो संसार की सभी नीति और धर्म-परम्पराओं में हुआ है। सभी ने पाप को अनैतिक बताया और पुण्य की गणना नीति में की है। यह बात अलग है कि उनकी पाप पुण्य की परिभाषाओं में अन्तर है। इनकी परिभाषायें उन्होंने अपनी-अपनी परम्पराओं में बँधकर की है।

किन्तु आस्रव संवर और निर्जरा ये जैन नीति के विशेष शब्द हैं। इनका अर्थ समझ लेना अभीष्ट होगा।

आस्रव का नीतिपरक अभिप्राय है—वे सभी क्रियाएँ, जिनको करने से व्यक्ति का स्वयं का जीवन दुःखी हो, समाज में अव्यवस्था फैले, आतंक बढ़े, उग्रवाद पनपे, समाज के, देश के, राष्ट्र, राज्य और संसार के अन्य प्राणियों का जीवन उत्पीड़ित व दुःखी हो जाय, वे कष्ट में पड़ जायं।

जैन-नीति ने आस्रवों के प्रमुख पांच भेद माने हैं—

(१) मिथ्यात्व (गलत धारणा)

(२) अविरति (आत्मानुशासन का अभाव)

(३) प्रमाद (जागरूकता का अभाव—असावधानी)

(४) कषाय (क्रोध, मान, कपट, लोभ आदि मानसिक संक्लेश)

और—

(५) अशुभ योग (मन, वचन, काय्य की निन्द्य एवं कुत्सित वृत्तियां)

दूसरी अपेक्षा से भी पांच प्रमुख आस्रव है—(१) हिंसा (२) मृषा-वाद-असत्य भाषण (३) चौर्य (४) अब्रह्म-सेवन और (५) परिग्रह।

स्पष्ट है कि यह सभी आस्रव अनैतिक हैं, समाज एवं व्यक्ति के लिए दुःखदायी हैं, अशान्ति, विग्रह और उत्पीड़न करने वाले है।

इन आस्रवों को—अनैतिकताओं को—अनैतिक प्रवृत्तियों को रोकना, इनका आचरण न करना, संवर है—नीति है, सुनीति हैं।

हिंसा आदि पांचों आस्रवों को पाप भी कहा जाता है, इसीलिए पाप अनैतिक है। किसी का दिल दुखाना, शारीरिक मानसिक चोट पहुँचाना, झूठ बोलना, चोरी करना, धन अथवा वस्तुओं का अधिक संग्रह करना, आदि असामाजिकता है, अनैतिकता है।

आज समाज में जो विग्रह, वर्ग-संघर्ष, अराजकता आदि पनप गये हैं, इनका मूल कारण उपरोक्त अनैतिक आचरण और व्यवहार ही है। एक ओर धन के ऊँचे अम्बार और दूसरी निर्धनता एवं अभाव की गहरी खाई ने ही वर्ग संघर्ष और असन्तोष को जन्म दिया है, जिसके कारण देश में, संसार में विप्लव उठ खड़ा हुआ है।

इस पाप रूप अनैतिकता के विपरीत अन्य व्यक्तियों को सुख पहुंचाना, अभावग्रस्तों का अभाव मिटाना, रोगी आदि की सेवा करना, समाज में शान्ति स्थापना के कार्य करना, धन का अधिक संग्रह न करना, कटु शब्द न बोलना, मिथ्या भाषण न करना, चोरी हेरा-फेरी आदि न करना पुण्य है, नैतिकता है, नीतिपूर्ण आचरण है।

धर्मशास्त्रों के अनुसार बंध का अभिप्राय है—अपने ही किये कर्मों से स्वयं ही बंध जाना; किन्तु नीति के सन्दर्भ में इसका अर्थ विस्तृत है, व्यक्ति अपने कार्यों के जाल में स्वयं तो फँसता ही है, दूसरों को भी फँसाता है। जैसे मकड़ी जाला बुनकर स्वयं तो उसमें फँसती ही है; किन्तु उसकी नीयत मच्छरों को उस जाल में फँसाने की होती है और फँसा भी लेती है।

इसी तरह कोई व्यक्ति झूठ-कपट का जाल बिछाकर, लच्छेदार और खुशामद-भरी मीठी-मीठी बातें बनाकर अन्य लोगों को अपनी बातों में बहलाता है, भुलावा देकर उन्हें वाग्-जाल में फँसाता है, उन्हें वचन की डोरी से बाँधता है, जकड़ता है तो उसके ये सभी क्रिया-कलाप, वाग्जाल बंधनरूप होने से अनैतिक हैं।

नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से निर्जरा है—ऐसे वाग्-जालों में किसी को न फँसाना, झूठ-कपट और लच्छेदार शब्दों में किसी को न बाँधना, और यदि पहले कषाय आदि के आवेग में किसी को इस प्रकार बंधन में ले लिया हो तो उसे वचनमुक्त कर देना, साथ ही स्वयं भी उस बंधन से मुक्त हो जाना।

इसी बात को हेमचन्द्राचार्य ने इन शब्दों में कहा है—

आस्रवो भवहेतु स्याद् संवरो मोक्ष कारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्या प्रपंचनम्॥

—वीतराग स्तोत्र

—(आस्रव भव का हेतु है और संवर मोक्ष का कारण है। दूसरे शब्दों में आस्रव अनैतिक है तथा संवर नैतिक है। यह आर्हत (अरिहंत भगवान तथा उनके अनुयायियों की) दृष्टि है और सब इसी का विस्तार है।)

जैन दृष्टि के इन मूल आधारभूत तत्वों के प्रकाश में अब हम तीर्थंकर महावीर की नीति को समझने का प्रयास करेंगे।

श्रमण और श्रावक

तीर्थंकर के अनुयायियों का वर्गीकरण श्रमण और श्रावक इन दो प्रमुख वर्गों में किया जा सकता है। इन दोनों ही वर्गों के लिए आचरण के स्पष्ट नियम निर्धारित कर दिये गये हैं। पहले हम श्रमणों को ही लें।

श्रमणाचार में नीति

श्रमण के लिए स्पष्ट नियम है कि वह अपना पूर्व परिचय—गृहस्थ जीवन का परिचय श्रावक को न दे। सामान्यतया श्रमण अपने पूर्व-जीवन का परिचय श्रावकों को देते भी नहीं; किन्तु कभी-कभी परिस्थिति ऐसी उत्पन्न हो जाती है कि परिचय देना अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा श्रमणों के प्रति आशंका हो सकती है।

इसे एक दृष्टान्त से समझिये—

भगवान नेमिनाथ के शिष्य छह मुनि थे—अनीकसेन आदि। यह छहों सहोदर भ्राता थे, रूप-रंगवय आदि में इतनी समानता थी कि इनमें भेद करना बड़ा कठिन था। दो-दो के समूह में वह छहों अनगार देवकी के महल में भिक्षा के लिए गये।

देवकी के हृदय में यह शंका उत्पन्न हो गयी कि ये दो ही साधु मेरे घर भिक्षा के लिए तीन बार आये हैं। जबकि श्रमण नियम से एक दिन में दो बार भिक्षा के लिए नहीं जाता।

देवकी की इस शंका को मिटाने के लिए साधुओं ने अपना पूर्व-परिचय दिया,[1] जो कि उस परिस्थिति में अनिवार्य था।

इसीलिए भगवान ने साधु के लिए उत्सर्ग और अपवाद—दो मार्ग बताये हैं। उत्सर्ग (सामान्य) मार्ग में तो पूर्व-परिचय साधक देता नहीं, लेकिन अपवाद मार्ग (विशेष परिस्थिति)में यदि परिस्थिति उत्पन्न हो जाए तो दे सकता है।

यह अपवाद-मार्ग जैन साध्वाचार में नीति का द्योतक है।

इसी प्रकार केशी श्रमण ने जब गौतम गणधर से भ. पार्श्वनाथ की सचेलक और भ० महावीर की अचेलक धर्म-नीति के भेद के विषय में प्रश्न किया तो गणधर गौतम का उत्तर नीति का परिचायक है।[2] उन्होंने बताया कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की साधना ही मोक्षमार्ग है। वेष तो लोक-प्रतीति के लिए होता है।

इसी प्रकार के अन्य दृष्टान्त श्रमणाचार सम्बन्धी दिये जा सकते हैं, जो सीधे व्यावहारिक-नीति अथवा लोकनीति से सम्बन्धित हैं।

अब हम भगवान महावीर की नीति—विशिष्ट नीति का वर्णन करेंगे, जिस पर अन्य विचारकों ने बिल्कुल भी विचार नहीं किया है, और यदि किया भी है तो बहुत कम किया है।

भगवान महावीर की विशिष्ट नीति

भ० महावीर की विशिष्ट नीति के मूलभूत प्रत्यय हैं—अनाग्रह, यतना, समता, अप्रमाद, उपशम आदि।

अनाग्रह नीति

अनाग्रह का अभिप्राय है—अपनी बात का, धारणा का आग्रह न करना। भगवान महावीर तथा अन्य सभी तीर्थंकरों और भगवान महावीर के सभी अनुयायियों—श्रमण साधुओं की यह नीति रही है कि वे जिज्ञासु के सामने सत्य-तथ्य खोलकर रख देते हैं; तर्क, हेतु, आगम, प्रमाण

---

१ अन्तगड दशा सूत्र—

२ उत्तराध्ययनसूत्र २३/२९-३२.

आदि से वस्तु तत्व को समझा देते हैं; किन्तु जिज्ञासु से वह आग्रह नहीं करते कि वह उनकी बातों को स्वीकार कर ही ले। स्वीकार करना अथवा न करना, वे उस जिज्ञासु के विवेक पर छोड़ देते हैं।

इसीलिए भगवान महावीर ने एक सूत्र दिया—

पन्ना समिक्खए धम्मं।

अपनी प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करो।

धर्म को समझने के बाद जब कोई उसे स्वीकार करने के लिए भ० महावीर से पूछता है तो वे एक ही उत्तर देते हैं—

अहासुहं देवाणुप्पिया!

देवानुप्रिय, तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो।

धार्मिक जगत में अनाग्रह की यह नीति जितनी महत्वपूर्ण है, उतनी ही लौकिक जगत में भी है। आग्रह से व्यक्ति दबाव का अनुभव करता है, वह समझता है कि उसे अनुचित दबाया जा रहा है फिर उसके मन में इस क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, विरोधी भाव उत्पन्न होते हैं, विग्रह के बीज पड़ते हैं, परस्पर मन-मुटाव होता है। धीरे-धीरे बढ़कर यह परिवार और समाज में विशृंखलता उत्पन्न करता है।

आज संयुक्त परिवार टूट रहे हैं, भाई-भाई में विरोध हो रहा है, इस सबके मूल में आग्रह ही है।

और यदि आग्रह हठाग्रह अथवा कदाग्रह बन जाए तब तो स्थिति और भी विषम हो जाती है। आज संसार के सभी औद्योगिक देश दबाव समूहों (pressure groups) से संत्रस्त हैं। ये समूह अनुचित रूप से घोर आग्रहपूर्ण ढंग से दबाव द्वारा अपने हक माँगते (arrogation) हैं। उनकी यह नीति दुर्नीति है।

यदि आज संसार भ० महावीर की अनाग्रह की नीति अपना ले तो संसार में सुख-शांति की सरिता बहने लगे।

अनेकांत नीति

अनेकांत किसी भी वस्तु को सभी दृष्टिकोणों से जानने की, विचार करने की नीति है। बहुत-से लोग केवल अपने ही दृष्टिकोण से किसी घटना, तथ्य या वस्तु को देखते हैं और दूसरे के दृष्टिकोण की अवहेलना कर देते हैं। इसका परिणाम पारस्परिक विद्वेष के रूप में आता है।

बहू पति पर अपना अधिकार मानती है, वह सास के अधिकार को भूल जाती है। यदि वह अनेकांत नीति का आश्रय ले, सभी के अधिकारों को स्वीकार करे तो पारिवारिक शांति कायम रहे।

यही बात वर्ग-संघर्ष के लिए है। समाज, देश अथवा राष्ट्र का एक वर्ग अपने ही दृष्टिकोण से सोचता है, उसी को उचित मानता है तथा अन्यों के दृष्टिकोण को अनुचित। वह उनके दृष्टिकोण का आदर नहीं करता, इसी कारण पारस्परिक संघर्ष होता है।

आर्य स्कन्दक[1] ने भगवान महावीर से पूछा—लोक शाश्वत है या अशाश्वत, अन्तसहित है या अन्तरहित ?

इसी प्रकार के और भी प्रश्न किये। भगवान ने उसके सभी प्रश्नों का अनेकांत नीति से उत्तर दिया, कहा—

लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। यह सदाकाल से रहा है, अब भी है और भविष्य में भी रहेगा, कभी इसका नाश नहीं होगा। इस अपेक्षा से यह शाश्वत है। साथ ही इसमें जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा परिवर्तन होता है, उस अपेक्षा से अशाश्वत भी है।

इसी प्रकार भगवान ने स्कन्दक के सभी प्रश्नों के उत्तर दिये।

इस अनेकांत नीति से प्राप्त हुए उत्तरों से स्कन्दक सन्तुष्ट हुआ।

यदि भगवान अनेकांत नीति से उत्तर न देते तो स्कंदक भी संतुष्ट न होता और सत्य का भी अपलाप होता। सत्य यह है कि वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। वस्तु स्थिर भी रहती है और उसी क्षण उसमें काल आदि की अपेक्षा परिवर्तन होते भी रहते हैं।

आज का विज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार कर चुका है, तभी आईन्सटीन आदि वैज्ञानिकों ने अनेकांत नीति की सराहना की है, भ० महावीर की अनुपम देन माना है और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए इसे बहुत उपयोगी स्वीकार किया। आइन्स्टीन का Theory of Relativity तो स्पष्ट सापेक्षवाद अथवा अनेकांत ही है।

यतना नीति

यतना का अभिप्राय है—सावधानी। नीति के सन्दर्भ में सावधानी

---

१ भगवती २, १

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आवश्यक है। भगवान ने बताया कि सोते-जागते, चलते, उठते, बैठते, बोलते—प्रत्येक क्रिया को यतनापूर्वक[1] करना चाहिए।

सावधानीपूर्वक व्यवहार से विग्रह की स्थिति नहीं आती, परस्पर मन-मुटाव नहीं होता, किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता।

यतना का एक अर्थ है—यत्नपूर्वक, सावधान–एलर्ट–चौकन्ने होकर कार्य करो। दूसरा अर्थ है—यतना–उस कार्य में विवेक एवं संयम रखो, अपने आप पर सेल्फ कन्ट्रोल–आत्मनियंत्रण करके काम करो।

समता नीति

समता भाव अथवा साम्यभाव भगवान महावीर या जैन धर्म की विशिष्ट नीति है। आचार और विचार में यह अहिंसा की पराकाष्ठा है।

भगवान महावीर ने आचार-व्यवहार की नीति बताते हुए कहा—

अप्प समे मन्निज्ज छप्पिकाए

छह काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान समझो।

छह काय से यहाँ अभिप्राय मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, छोटे से छोटे कृमि और यहाँ तक कि जल, वनस्पति, पेड़-पौधे आदि से है।

जैन धर्म इन सभी में आत्मा मानता है और इसीलिए इनको दुःख देना, अनीति में परिगणित किया गया है तथा इन सबके प्रति समत्वभाव रखना रखना जैन नीति की विशेषता है।

क्रूर-कुमार्गगामी, अपकारी, व्यक्तियों के प्रति भी समता का भाव रखना चाहिए, यह जैन नीति है। भगवान पार्श्वनाथ पर उनके साधना-काल में कमठ ने उपसर्ग किया और धरणेन्द्र ने इस उपसर्ग को दूर किया। किन्तु प्रभु पार्श्वनाथ ने दोनों पर ही समता भाव रखा।

मनोविज्ञान और प्रकृति का नियम है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और फिर प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया। इस प्रकार यह क्रिया-प्रतिक्रिया का एक चक्र ही चलने लगता है। इसको तोड़ने का एक ही उपाय है—क्रिया की प्रतिक्रिया होने ही न दी जाय।

किसी एक व्यक्ति ने दूसरे को गाली दी, सताया, अपकार किया या दुष्टतापूर्ण व्यवहार किया, उसकी इस क्रिया की प्रतिक्रियास्वरूप वह दूसरा

---

१ दशवैकालिक ४।—जयं चरे जयं चिट्ठे....

व्यक्ति भी गाली दे अथवा दुष्टतापूर्ण व्यवहार करे तो संघर्ष की, कलह की स्थिति बन जाय और यदि वह समता का भाव रखे, समता नीति का पालन करे तो संघर्ष शांति में बदल जायेगा।

समाज व्यवहार तथा लोक में शांतिहेतु समता की नीति की उपयोगिता सभी के जीवन में प्रत्यक्ष है, अनुभवगम्य है।

समता नीति का हार्द है—सभी प्राणियों का सुख-दुःख अपने ही सुख-दुःख के समान समझना। सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई भी नहीं चाहता।[1] इसका आशय यह है कि ऐसा कोई भी काम न करना जिससे किसी का दिल दुखे और यह समता नीति द्वारा ही हो सकता है।

अनुशासन एवं विनय नीति

विनय एवं अनुशासन संसार की ज्वलन्त समस्यायें हैं। अनुशासन समाज में सुव्यवस्था का मूल कारण है और विनय जीवन में सुख-शांति प्रदान करती है।

यद्यपि विनय तथा अनुशासन को सभी ने महत्त्व दिया है किन्तु भगवान महावीर ने इसे जीवन का आवश्यक अंग बताया है। उन्होंने तो विनय को धर्म का मूल—'विणयमूले धम्मे' कहा है।

विनय का लोक-व्यवहार में अत्यधिक महत्त्व है। एक भी अविनयपूर्ण वचन कलह और क्लेश का वातावरण उत्पन्न कर देता है जबकि विनय-नीति के पालन से संघर्ष की अग्नि शांत हो जाती है, वैर का दावानल सौहार्दता में परिणत हो जाता है।

विनय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता की कुंजी है।

लेकिन विनय नीति का पालन वही कर पाता है जो अनुशासित (disciplined) हो; अनुशासन पाकर कुपित न हो। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा—

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा।[2]

अनुशासन में रहते हुए कुपित/क्षुभित न हो।

विणए ठविज्ज अप्पाणं।[3]

---

१ सव्वे जीवा सुहसाया ....दुक्ख पडिकूला—आचारांग।१।१

२ उत्तराध्ययन सूत्र १।९

३ उत्तराध्ययन सूत्र १।८

विनय में अपने को स्थिर रखे। विनय नीति का पालन करे।

गुरुजनों, माता-पिता आदि की विनय परिवार में सुख-शांति का वातावरण निर्मित करती है तथा मित्रों, सम्बन्धियों, समाज के सभी व्यक्तियों के प्रति विनययुक्त व्यवहार, यश-कीर्ति तथा प्रेम एवं उन्नति की स्थिति के निर्माण में सहायक होता है।

मैत्री नीति

मित्रता को संसार के सभी विचारक श्रेष्ठ नीति स्वीकार करते हैं किन्तु उनकी दृष्टि सिर्फ अपनी ही जाति तक सीमित रह गई, कुछ थोड़े-से आगे बढ़े तो उन्होंने सम्पूर्ण मानव जाति के साथ मित्रता नीति के पालन की बात कही।

किन्तु भगवान महावीर की मैत्री-नीति का दायरा बहुत विस्तृत है, वे प्राणीमात्र के साथ मित्रता की नीति का पालन करने की बात कहते हैं—

मित्ती भूएसु कप्पए।[1]

प्राणी मात्र के साथ मैत्री का—मित्रता की नीति का पालन करे।

भगवान की इसी आज्ञा को हृदयंगम करके प्रत्येक जैन यह भावना करता है—

मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणई।[2]

प्राणी मात्र के साथ मेरी मैत्री (मित्रता) है, किसी के भी साथ शत्रुता नहीं है।

मित्रता की यह नीति स्वयं को, और अपने साथ अन्य सभी प्राणियों को आश्वस्त करने की नीति है।

सामूहिकता की नीति

सामूहिकता अथवा एकता सदा से ही संसार की प्रमुख आवश्यकता रही है। बिखराव, अलगपने की प्रवृत्ति अनैतिक है और परस्पर सद्भाव, सौहार्द, मेल-मिलाप नैतिक है।

भगवान महावीर ने सामूहिकता तथा संघ ऐक्य का महत्त्व साधुओं को बताया। उनके संकेत का अनुगमन करते हुए साधु भोजन करने से

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र ६।२ २. आवश्यक सूत्र ५

पहले अन्य साधुओं को निमन्त्रित करता और कहता है कि यदि मेरे लाये भोजन में से कुछ ग्रहण करे तो मैं संसार सागर से तिर जाऊ।

साहू होज्जामि तारिओ।[1]

दशवैकालिक सूत्र के इन शब्दों में यही नीति परिलक्षित होती है। भगवान महावीर ने 'संविभागशील' समूह में बांटकर सबके साथ मिलकर रहने का आदेश/उपदेश किया है।

वैदिक परम्परा भी सामूहिकता अथवा संगठन का माहात्म्य मानती है। संघौ शक्तिः कलौयुगे—कलियुग में संगठन ही शक्ति है—इन शब्दों में सामूहिकता की नीति ही मुखर हो रही है।

आधुनिक युग में प्रचलित शासन प्रणाली—प्रजातन्त्र का आधार तो सामूहिकता है ही। ये शब्द प्रजातन्त्र का प्रमुख नारा (slogan) हैं—

United we stand, divided we fall.

(सामूहिक रूप में हम विजयी होते हैं और विभाजित होने पर हमारा पतन हो जाता है।)

सामूहिकता की नीति देश, जाति, समाज सभी के लिए हितकर है।

स्वहित और लोकहित

स्वहित और लोकहित नैतिक चिन्तन के सदा से ही महत्वपूर्ण पहलू रहे हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि यह दोनों परस्पर विरोधी प्रत्यय हैं। एक पूर्वोन्मुख है तो दूसरा पश्चिमोन्मुख।

विदुर[2] और चाणक्य[3] ने स्वहित को प्रमुखता दी है और कुछ अन्य नीतिकारों ने परहित अथवा लोकहित को प्रमुख माना है, कहा है—अपने लिए तो सभी जीते हैं जो दूसरों के लिए जीए, जीवन उसी का है।[4] यहां तक कहा गया है—जिस जीवन में लोकहित न हो उससे तो मृत्यु ही श्रेयस्कर है।[5] इस प्रकार की परस्पर विरोधी और एकांगी नीति-धाराएँ नीति साहित्य में प्राप्त होती हैं।

---

१. दशवैकालिक सूत्र ५।१२५ २ विदुर नीति १६

३ चाणक्य नीति १।६; पंचतंत्र १।३८७

४ सुभाषित—उद्धृत नीति शास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २०८

५ वही, पृष्ठ २०५

लेकिन भ० महावीर ने स्वहित और लोकहित को परस्पर विरोधी नहीं माना। इसका कारण यह है कि भगवान महावीर की दृष्टि विस्तृत आयाम तक पहुँची हुई थी। इन्होंने स्वहित और लोकहित का संकीर्ण अर्थ नहीं लिया। स्वहित का अर्थ स्वार्थ और लोकहित का अर्थ परार्थ स्वीकार नहीं किया। अपितु स्वहित में परहित और परहित में स्वहित सन्निहित माना। इसलिए वे स्वहित और लोकहित का सुन्दर समन्वय जनता जनार्दन और विद्वानों के समक्ष रख सके।

उन्होंने अपने साधुओं को स्व-परकल्याणकारी बनने का सन्देश दिया। इसी कारण जैन श्रमणों का यह एक विशेषण बन गया। श्रमणजन अपने हित के साथ लोकहित भी करते हैं।

भगवान की वाणी लोकहित के लिए है।[1] पाँचों महाव्रत सभी प्रकार से लोकहित के लिए है। अहिंसा भगवती लोकहितकारिणी है।[2] णमोत्थुणं सूत्र में तो भगवान को लोकहितकारी बताया ही है।[3]

भगवान स्वयं तो अपना हित कर ही चुके होते हैं किन्तु अरिहन्तावस्था की सभी क्रियाएँ, उपदेश आदि लोकहित ही हैं।

साधु जो निरंतर (नवकल्पी) पैदल ही ग्रामानुग्राम विहार करते हैं, उसमें भी स्वहित के साथ लोकहित भी सन्निहित है।

श्रमण साधुओं के समान ही श्रावक वर्ग और साधारण जनता भी जो भगवान महावीर की आज्ञापालन में तत्पर रहते हैं, वे भी स्वहित के साथ लोकहित को भी प्रमुखता देते हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भगवान महावीर द्वारा निर्देशित सिद्धान्तों में लोकहित को सदैव ही उच्चस्थान प्राप्त हुआ है और उनका अनुयायी वर्ग स्वहित के साथ-साथ लोकहित का भी अविरोधी रूप से ध्यान रखता है तथा इस नीति का पालन करता है।

भ० महावीर ने इन विशिष्ट नीतियों के अतिरिक्त सत्य, अहिंसा, करुणा, जीव मात्र पर दया आदि सामान्य नीतियों का भी मार्ग प्रशस्त किया तथा इन्हें पराकाष्ठा तक पहुँचाया।

---

१ प्रश्नव्याकरण सूत्र, स्कंध २, अ० १, सू० २१

२ प्रश्नव्याकरण सूत्र स्कंध २, अ० १, सू० ३

३ शक्रस्तव—आवश्यक सूत्र

नीति के सन्दर्भ में भगवान ने इसे श्रमण नीति और श्रावक नीति के रूप में वर्गीकृत किया।

श्रावक चूंकि समाज में रहता है, सभी प्रकार के वर्गों के व्यक्तियों से इसका सम्बन्ध रहता है, अतः इसके लिए समन्वय नीति का विशेष प्रयोजन है। साथ ही धर्माचरण का भी महत्त्व है। उसे लौकिक विधियों का भी पालन करना आवश्यक है। इसीलिए कहा गया है—

सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम् ॥

—सोमदेव सूरि : उपासकाध्ययन

(जैनों को सभी लौकिक विधियाँ उसी सीमा तक प्रमाण हैं, जब तक सम्यक्त्व की हानि न हो और व्रतों में दोष न लगे।)

अतः श्रावक व्रत रूपी सिक्के के दो पहलू होते हैं—(१) धर्मपरक और (२) नीतिपरक। श्रावक व्रतों के अतिचार[1] भी इसी रूप में संदर्भित हैं। उनमें भी नीतिपरक तत्त्वों की विशेषता है।

ठाणांग सूत्र में जो अनुकंपा दान, संग्रहदान, भयदान, कारुण्यदान, लज्जादान, गौरवदान, अधर्मदान, धर्मदान, करिष्यतिदान और कृतदान—यह दश प्रकार के दान[2] बताये गये हैं, वे भी प्रमुख रूप से लोकनीति परक ही हैं। उनकी उपयोगिता लोकनीति के सन्दर्भ में असंदिग्ध है।

इसी प्रकार ठाणांग सूत्र में वर्णित दस धर्मों[3] में से ग्रामधर्म, नगर-धर्म, राष्ट्रधर्म, कुलधर्म आदि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नीति से है।

---

१ श्रावक व्रत और उनके अतिचारों का नीतिपरक विवेचन इसी पुस्तक के 'नैतिक उत्कर्ष' अध्याय में किया गया है।

२ दसविहे दाणे पण्णत्ते, तंजहा—
अणुकंपा संगहे चेव, भये कालुणिये इ य।
लज्जाए गारवेण य, अहम्मे पुण सत्तमे।
धम्मे य अट्ठमे वुत्ते, काहीइ य कतंति य। —ठाणांग १०/७४५

३ दसविहे धम्मे पण्णत्ते तं जहा—
१. गामधम्मे २. नगरधम्मे ३. रट्ठधम्मे ४. पासंडधम्मे ५. कुलधम्मे ६. गणधम्मे ७. संघधम्मे ८. सुयधम्मे ९. चारित्तधम्मे १०, अत्थिकायधम्मे।
—ठाणांग, १०/७६०

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन नैतिकदृष्टि बिन्दु स्वहित के साथ-साथ लोकहित को भी लेकर चलता है। गृहस्थ जीवन में तो लोकनीति को स्वहित से अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ है।

भगवान के उपदेशों में निहित इसी समन्वयात्मक बिन्दु का प्रसारीकरण एवं पुष्पन-पल्लवन बाद के आचार्यों द्वारा हुआ।

आचार्य हरिभद्रकृत धर्मबिन्दु प्रकरण[1] और आचार्य हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र[2] में जो मार्गानुसारी के ३५ बोल[3] दिये गये हैं, वे भी सद्गृहस्थ के नैतिक जीवन से सम्बन्धित हैं।

प्रवचनसारोद्धार में श्रावक के २१ गुणों[4] में भी लगभग सभी गुण नीति से ही सम्बन्धित हैं।

इस प्रकार भगवान महावीर द्वारा निर्धारित नीति-सिद्धान्तों का लगातार विकास होता रहा, और अब भी हो रहा है। यद्यपि नीति के सिद्धान्त वही हैं, किन्तु उनमें निरन्तर युगानुकूल परिमार्जन और परिष्कार होता रहा है, यह धारा वर्तमान युग तक चली आई है।

महा वीर युग की नैतिक समस्यायें और भगवान द्वारा समाधान

भगवान महावीर का युग संघर्षों का युग था। उस समय आचार, दर्शन, नैतिकता, सामाजिक ऊँच-नीच, वर्ण व्यवस्था, दास-दासी प्रथा आदि अनेक प्रकार की समस्याएँ थीं। सभी वर्ग जिसमें भी समाज में उच्चता प्राप्त ब्राह्मणवर्ण अपने ही स्वार्थों में लीन था, मानवता पद-दलित हो रही थी, क्रूरता का बोलबाला था, नैतिकता को लोग भूल से गये थे। ऐसे कठिन समय में भगवान महावीर ने उस युग की समस्याओं को समझा, उन पर गहन चिन्तन किया और उचित समाधान दिया।

(१) **नैतिकता के दो दृष्टिकोणों का उचित समाधान**—उस समय ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित एक ओर हिंसक यज्ञ चल रहे थे तो दूसरी ओर

---

१ आचार्य हरिभद्र--धर्मबिन्दु प्रकरण १

२ आचार्य हेमचन्द्र—योगशास्त्र, १/४७-५६

३ मार्गानुसार १ के ३५ बोलों और श्रावक के २१ गुणों का नीति परक विवेचन इसी पुस्तक में आगे किया गया है।

४ प्रवचनसारोद्धार, द्वार २३९, गाथा १३५६-१३५८

देहदण्ड रूप पंचाग्नि तप की परम्परा प्रचलित थी। यद्यपि भ० पार्श्वनाथ ने तापस परम्परा के पाखंड को मिटाने का प्रयास किया किन्तु वे अभी तक निःशेष नहीं हुए थे।

भगवान महावीर ने यज्ञ-याग, श्राद्ध आदि तथा पंचाग्नि तप को अनैतिक (पापमय) कहा और बताया कि नैतिकता का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से है, इसमें पापकारी प्रवृत्तियाँ नहीं होनी चाहिए। उन्होंने विचार और आचार के समन्वय की नीति स्थापित की। उन्होंने प्रतिपादित किया कि शुभविचारों के अनुसार ही आचरण भी शुभ होना चाहिए तथा शुभ आचरण के अनुरूप विचार भी शुभ हों। यों, उन्होंने नैतिकता के बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दोनों पक्षों का समन्वय करके मानव के सम्पूर्ण (अन्तर्बाह्य) जीवन में नैतिकता की प्रतिष्ठा की।

(२) **सामाजिक असमानता की समस्या**—तत्कालीन युग में जाति एवं वर्ण के अनुसार मानव-मानव में तो भेद था ही, एक को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझा जाता था; किन्तु इस ऊँच-नीच की भावना में धन भी एक प्रमुख घटक बन गया था, धनी और सत्ताधीशों को सम्मानित स्थान प्राप्त था; जबकि निर्धन सत्ताविहीन लोग निम्नकोटि के समझे जाते थे। शूद्रों, दासों की स्थिति तो बहुत ही बुरी थी, वे तो पशु से भी गये बीते थे।

यह स्थिति सामाजिक दृष्टि से तो विषम थी ही, साथ ही इसने नैतिकता को भी निम्नतम स्तर तक पहुँचा दिया था। सही शब्दों में अनैतिकता का ही बोलबाला हो गया था।

भगवान महावीर ने इस अनैतिकता को तोड़ा। उन्होंने अपने श्रमण संघ में चारों वर्णों और सभी जाति के मानवों को स्थान दिया, तथा उनके लिए मुक्ति का द्वार खोल दिया।

चांडाल साधक हरिकेशी[1] की यज्ञकर्ता ब्राह्मण रुद्रदेव के समक्ष उच्चता दिखाकर नैतिकता को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इसी प्रकार चन्दनबाला[2] के प्रकरण में दासप्रथा को नैतिक दृष्टि से मानवता के लिए हानिकर सिद्ध किया। मगधसम्राट श्रेणिक[3] का निर्धन पूणिया के घर

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, १२वाँ हरिकेशीय अध्ययन
२ महावीर चरियं
३ श्रेणिक चरित्र

जाना और सामायिक के फल की याचना करना, नैतिकता की प्रतिष्ठा के रूप में जानी जायेगी, यहाँ धन और सत्ता का कोई महत्व नहीं है, महत्व है नैतिकता का, पूणिया के नीतिपूर्ण जीवन का।

इसी प्रकार एक मातंग (चांडाल) से विद्या सीखते समय श्रेणिक का सिंहासन से नीचे उतरकर उसे ऊँचा आसन देना धन व सत्ता पर ज्ञान एवं विद्या की प्रतिष्ठा को मुद्रांकित किया गया।

भगवान महावीर ने जन्म से वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त को नकार कर कर्म से वर्णव्यवस्था[1] का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और इस प्रतिपादन में नैतिकता को प्रमुख आधार रूप में रखा।

उस युग में ब्राह्मणवाद द्वारा प्रचलित यज्ञ के बाह्यस्वरूप को निर्धारित करने वाले लक्षण को भ्रमपूर्ण बताकर नया आध्यात्मिक[2] लक्षण दिया, जिसमें नैतिकता का तत्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

(३) **मानव की मानसिक जकड़न से मुक्ति**—उस युग का मानव दो प्रकार के निविड़ बन्धनों से जकड़ा हुआ था—(१) ईश्वरकर्तृत्ववाद और (२) सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक रूढ़ियाँ। इन दोनों बंधनों से ग्रस्त-मानव छटपटा रहा था। इन बंधनों का दुष्परिणाम यह भी हुआ कि नैतिकता का ह्रास हो गया और अनैतिकता के प्रसार को खुलकर खेलने का अवसर मिल गया।

अवतारवाद तथा ईश्वरकर्तृत्ववाद के सिद्धान्त का लाभ उठाकर ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने अपनी विशिष्ट स्थिति बनाली। साथ ही ईश्वर को मानवीय भाग्य का नियन्त्रक और नियामक माना जाने लगा। इससे मानव की स्वतन्त्रता का ह्रास हुआ, नैतिकता में भी गिरावट आई।

भगवान महावीर ने मानव को स्वयं अपने भाग्य का निर्माता बताकर मानवता की प्रतिष्ठा तो की ही; साथ ही मानवों में नैतिक साहस भी जगाया।

इसी प्रकार इस युग में स्नान (बाह्य अथवा जलस्नान) एक नैतिक कर्त्तव्य माना जाता था, इसे धार्मिकता का रूप भी प्रदान कर दिया गया था, जबकि बाह्यस्नान से शुद्धि मानना सिर्फ रूढ़िवादिता है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ० २५, गा० २७ आदि

२ उत्तराध्ययन सूत्र १२/४४

भगवान महावीर ने स्नान का नया आध्यात्मिक लक्षण[1] देकर इस रूढ़िवादिता को तोड़ा।

ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देना भी इस युग में गृहस्थ का नैतिक कर्त्तव्य बन गया था। इस विषय में भी भगवान महावीर ने नई नैतिक दृष्टि देकर दान से संयम को श्रेष्ठ बताया। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया कि प्रति मास सहस्रों गायों का दान देने से संयम श्रेष्ठ है।[2]

वस्तुतः भगवान महावीर दान के विरोधी नहीं हैं; अपितु उन्होंने तो मोक्ष के चार साधनों—दान, शील, तप और भाव में दान को प्रथम स्थान दिया है; किन्तु इस युग में ब्राह्मणों को दान देना एक रूढ़ि बन गई थी, इस रूढ़िग्रस्तता को ही भगवान ने तोड़कर मानव की स्वतन्त्रता तथा नैतिकता की स्थापना की थी। दान लेने वाला दीन व पुरुषार्थहीन न बने—इसी का ध्यान रखा गया है।

भगवान महावीर के वचन का अनुमोदन धम्मपद[3] में भी मिलता है और गीता के शांकर भाष्य[4] में भी।

उपसंहार

इस सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि भगवान महावीर ने नीति के नये आधारभूत सिद्धान्त निर्धारित किये। संवर, निर्जरा, अनाग्रह, यतना, समता आदि ऐसे घटक हैं जिन पर अन्य विद्वानों की दृष्टि न जा सकी। भगवान महावीर ने इन पर विस्तृत चिन्तन किया है।

उन्होंने अनाग्रह, अनेकांत, यतना, अप्रमाद, समता, विनय आदि नीति के विशिष्ट तत्व मानव को दिये। सामूहिकता को संगठन का आधार बताया और श्रमण एवं श्रावक को इसके पालन का संदेश दिया। संग्रह से दान को श्रेष्ठ बताया और दान से भी संयम (त्याग) को सर्वोत्तम कहा—यह महावीर का नया व स्वतन्त्र चिन्तन था।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र १२।४६

२ उत्तराध्ययन सूत्र ९।४०

३ धम्मपद १०६

४ देखिए, गीता ४।२६-२७ पर शांकर भाष्य।

सामान्यतया, सभी धर्मों ने धर्म तत्व को जानने के लिए मानव को बुद्धि प्रयोग की आज्ञा नहीं दी। यही कहा कि जो धर्म-प्रवर्तकों ने कहा है, हमारे शास्त्रों में लिखा है, उसी पर विश्वास कर लो। किन्तु भगवान महावीर मानव को अन्धविश्वासी नहीं बनाना चाहते थे, मानव स्वतन्त्रता के पक्षधर थे अतः 'पन्ना समिक्खए धम्मं' कहकर मानव को धर्म तत्व में जिज्ञासा और बुद्धि प्रयोग को अवकाश देकर उसके नैतिक धरातल को ऊँचा उठाया। आत्महित के साथ-साथ लोकहित का भी उपदेश दिया।

तत्कालीन एकांगी विचारधाराओं का समन्वय अनेकांतवाद का सिद्धान्त देकर किया। सामाजिक, धार्मिक दृष्टि से रसातल में जाते हुए नैतिक मूल्यों को ठोस आधार पर प्रतिष्ठा की।

इस प्रकार भगवान महावीर ने नीति के ऐसे दिशा निर्देशक सूत्र दिये, जिनका स्थायी प्रभाव हुआ और समस्त नैतिक चिन्तन पर उनका प्रभाव आज भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

□

४

नीतिशास्त्र की परिभाषा

प्राचीनतम जैन ग्रन्थों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि उस युग में 'नीति' शब्द जनसाधारण में प्रचलित था, इसलिए उसकी परिभाषा पर कभी किसी ने विचार ही नहीं किया। भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित हाकार आदि नीति को ही उस युग में नीति शब्द से जाना जाता था जिसमें राजनीति व समाजनीति का ही व्यापक अर्थ निहित था। बाद में नीति शब्द को मर्यादा, व्यवस्था और सामाजिक नियमों के अर्थ में समझा जाने लगा—'नीति मर्य्यादायाम्।।'[1] ज्ञातासूत्र में नीति के साम-दाम-भेद—ये तीन अंग बताये हैं—'तिविहा णीइ पण्णत्ता—सामे, दामे, भेए।'[2] इससे भी यही ध्वनित होता है कि तब तक नीति का मुख्य सम्बन्ध राजनीतिशास्त्र से ही रहा है।

'नीतिशास्त्र' शब्द–व्युत्पत्ति की दृष्टि से

'नीतिशास्त्र' शब्द दो शब्दों का संयोग है—नीति और शास्त्र।

व्याकरण की दृष्टि से नीति का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है—ले चलना। अर्थात कुमार्ग से सुमार्ग की ओर ले जाना—"नयनान्नीतिरुच्यते।"[3]

शब्द कोष के अनुसार—"निर्देशन, प्रबन्ध, आचरण, चाल-चलन, कार्यक्रम, शालीनता, व्यवहार कुशलता, योजना, उपाय, आचारशास्त्र आदि सभी नीति शब्द से जाने जा सकते हैं।"[4]

---

१ अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ४, पृ. २१५२

२ ज्ञाता सूत्र १।१

३ शुक्रनीति १/५६; तथा कामंदकीय नीतिसार २/१५

४ आप्टे : संस्कृत-हिन्दी कोष, देखें—नीति शब्द।

नीति का भाववाचक अर्थ है—'वे रीति-रिवाज और नियम, जो समाज द्वारा स्वीकृत हों और जिन पर चलने से व्यक्ति और समाज का सर्वाङ्ग एवं सनातन कल्याण साधन हो।[1]

'नीतिशास्त्र' में दूसरा शब्द है 'शास्त्र'। शास्त्र वह है जिससे शिक्षा दी जाती हो,[2] अथवा जो अज्ञान से रक्षा करता हो[3] अर्थात् कर्तव्य की शिक्षा देने वाला तथा अज्ञान के कारण दुर्दशा में गिरने से बचाने वाला परम सहायक तत्व शास्त्र है।

शास्त्र का एक अर्थ अनुशासनकर्ता भी है[4] जो व्यक्ति की इच्छाओं पर, भावनाओं पर, शासन/नियन्त्रण करता है अथवा जिससे नियन्त्रण होता है, वह शास्त्र है।

इस प्रकार शास्त्र शब्द के तीन अर्थ प्रतिफलित होते हैं—(१) शिक्षा देने वाला, (२) रक्षा करने वाला और (३) अनुशासन करने वाला।

नीतिशास्त्र की आदर्श परिभाषा

अतः जो ग्रन्थ नीति की, न्याय की शिक्षा देता है, अन्याय से रक्षा करता है, व्यक्ति की आत्म-विरोधी, परिवार-विरोधी, जाति-समाज-राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण अथवा अनुशासन रखता है; सभी प्रकार के विरोधों का शमन करता है, लोक-व्यवहार को सही–उचित ढंग से चलाने में सहायक होता है, मानव की उन्नति का पथ आलोकित करता है, वह है नीतिशास्त्र।

नीतिशास्त्र की यह आदर्श युक्त और सार्वभौम परिभाषा है—

नीतिविरोधध्वंसी, लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।

अर्थात्—परस्पर के सभी प्रकार के अन्तर् और बहिर् विरोधों का शमन करना तथा लोक व्यवहार को सही ढंग से चलाना, नीति है।

यही बात प्रसिद्ध यूनानी विचारक प्लेटो (Plato) ने भी कही है—

Morality is the effective harmony of whole.[5]

—सभी में प्रभावशाली समन्वय नैतिकता है।

---

१ डा० रामनाथ शर्मा : भारतीय नीतिशास्त्र, पृ० ४

२ शिष्यते, शिक्ष्यते अनेन इति शास्त्रम्। —अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ७, पृ० ३३२

३ शास्ति च त्रायते चेति शास्त्रम्। —न्याय कोष, पृ० ८७/८५

४ सासिज्जए तेण तहिं व नेयमायावतो सत्थं। —विशेषावश्यकभाष्य, १३८४

५ Quoted by, Will Durant : Story of Philosophy, p. 40

जैन दार्शनिकों द्वारा उपरोक्त दी गई परिभाषा की छाया प्लेटो के कथन स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। जैनाचार्यों की यह परिभाषा सभी क्षेत्रों में व्यापक है। मानव के आध्यात्मिक, मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक, सामाजिक एवं लौकिक व्यवहार सम्बन्धी सभी पहलुओं का इसमें समावेश हो जाता है।

नीति और धर्म का एकत्व-अनेकत्व

प्रारम्भ में नीति धर्म के साथ जुटकर ही चलती रही। भारत में धर्म का प्रभाव विशेष रहा। धर्म ने मानव-जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित और अनुशासित किया। कर्तव्य, चिन्तन, विचारधारा आदि सभी पर धर्म की छाप रही।

यही कारण है—भारत में समाजधर्म, राजधर्म, लोकधर्म, परलोक धर्म आदि धर्म के अनेक रूप और प्रकार प्रचलित हुए। धर्म का दायरा बढ़ता चला गया, जन्म से लेकर मरण तक की मनुष्य की सारी गति-विधियां धर्म के अन्तर्गत समा गईं। संसार-रचना, सृष्टि, परलोक, पुनर्जन्म आदि तो धर्म के हाथ में थे ही और गुप्त विद्याएँ, मंत्र-तंत्र आदि भी इसकी परिधि में थीं।

इस विस्तृत दायरे का परिणाम यह हुआ कि धर्म की समवायी विधा विभाजित हुई। ठीक उसी प्रकार जैसे एक पिता के पुत्र अपनी गृहस्थी लेकर अलग-अलग रहने लगते हैं। संयुक्त कुटुम्ब का स्थान एक-गृहस्थी का कुटुम्ब लेता है। यह विभाजन स्वाभाविक भी है और सुचारुता की दृष्टि से उचित एवं आवश्यक भी है।

ऐसा ही विभाजन धर्म का हुआ। सृष्टि सम्बन्धी बातें तत्व विद्या (Metaphysics) में समाहित हुईं। आचार सम्बन्धी नियम, उपनियम आचारशास्त्र (code of conduct) कहलाया और लोक-व्यवहार सम्बन्धी बातों का वर्गीकरण नीतिशास्त्र (ethics) कहलाया।

नीतिशास्त्र में व्यक्ति के सामाजिक जीवन को प्रमुखता मिली। पुरानी परिभाषा गौण हो गई और नीतिशास्त्र सम्बन्धी नई परिभाषाएँ प्रकाश में आईं। इन परिभाषाओं में सामाजिक चिन्तन प्रमुख था।

नीतिशास्त्र की समाजपरक परिभाषाएं (भारतीय चिन्तन)

जैसा पूर्व में बताया जा चुका है, शब्द कोष के अनुसार—निर्देशन,

प्रबन्ध, आचरण, चाल-चलन, कार्यक्रम, शालीनता, व्यवहार कुशलता, योजना, उपाय आदि सभी नीति शब्द से जाने जा सकते हैं।[1]

इसी सन्दर्भ को श्री भीखनलाल आत्रेय की परिभाषा व्यक्त करती है—

"नीति का अर्थ वे नियम हैं जिन पर चलने से मनुष्य का ऐहिक, आमुष्मिक और सनातन कल्याण हो, समाज में स्थिरता और संतुलन रहे, सब प्रकार से अभ्युदय हो और विश्व में शांति रहे अर्थात् जिन नियमों का पालन करने से व्यक्ति और समाज दोनों का ही श्रेय हो, वे नीति के अन्तर्गत हैं।"[2]

आत्रेयजी की परिभाषा में आध्यात्मिकता का भी पुट है। वे नीति शास्त्र को श्रेय अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में साधक मानना चाहते हैं। यह इन पर भारतीय संस्कृति में गर्भित आध्यात्मिकता की छाप है। इतना होने पर भी इनकी परिभाषा में समाजपरकता है। समाज और विश्व में शांति स्थापित रखना वे नीति का कार्य मानते हैं।

साथ ही इस परिभाषा में 'संतुलन' (समाज में स्थिरता और संतुलन) शब्द जैन आचार्यों द्वारा दी हुई "लोकव्यवहार वर्तकः सम्यक्" का पोषक है। यही शब्द उनकी नीति सम्बन्धी परिभाषा का हार्द है।

इस परिभाषा में व्यक्ति और समाज की पारस्परिक स्थिति का समतोलन और संतुलन रखा गया है।

शुक्रनीति में भी यही अभिप्राय दर्शित है, वहाँ कहा गया है—

"नीतिशास्त्र सभी का उपजीवक है, लोकस्थिति का व्यवस्थापक है। इसलिए वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रदायक है।[3]

शुक्रनीति की यह परिभाषा वैदिक परम्परा का अनुमोदन करती है। वैदिक परम्परा में मानव जीवन के लक्ष्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गए हैं; और इस परिभाषा के अनुसार नीतिशास्त्र इन चारों की प्राप्ति में ही सहायक होता है।

---

१ आप्टे : संस्कृत-हिन्दी शब्द कोष; देखें—'नीति' शब्द

२ भीखनलाल आत्रेय : भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० ६१२

३ सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकं।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः॥

—शुक्रनीति १/२

आध्यात्मिकता का पुट होते हुए भी इस परिभाषा का केन्द्रबिन्दु 'सामाजिक व्यवस्था' है। लोक अथवा समाज की व्यवस्था उचित रहे, वह नियम-उपनियमों से बँधा रहे, यह इस परिभाषा का मुख्य स्वर है।

शुक्रनीति में ही इस 'लोक (अथवा सामाजिक) व्यवस्था' पर जोर देते हुए कहा गया है—

"नीति के बिना लोक व्यवहार असम्भव है।[1]

यह निश्चित है कि लोक अथवा समाज की व्यवस्था, व्यवहार पर ही आश्रित है। व्यवहार यदि एक शब्द में कहा जाय तो व्यवस्था की रीढ़ (back bone) है। यदि समाज के सदस्यों का—मानवों का पारस्परिक व्यवहार उचित होगा तभी व्यवस्था भी रह सकेगी। इसीलिए इस परिभाषा में व्यवहार पर अधिक बल दिया गया है।

यहां आकर शुक्रनीति स्पष्टतः समाजपरक हो गई है, इसमें से आध्यात्मिकता का अंश निकल गया है।

हितोपदेशकार तो नीति को ही जगत का आधार मानते हैं। उन्होंने यहाँ तक कह दिया है—

"नीति के भंग होने पर समस्त जगत् नष्ट हो जाता है।"[2]

व्यवहार का अनौचित्य और दूसरे शब्दों में अनीति तथा दुर्नीति जब समाज पर—जगत पर हावी हो जाती हैं तो उसकी व्यवस्था भंग हो जाती है, अपराध बढ़ जाते हैं, धर्म के शब्दों में पाप बढ़ जाते हैं, और फिर परिणाम जगत का नाश ही होता है।

यह परिभाषा भी सामाजिकतापरक है। समाज की सुव्यवस्था ही इसका ध्येय है।

इसी प्रकार की परिभाषाएं अन्य अनेक भारतीय मनीषी विद्वानों ने दी हैं। इनमें आध्यात्मिकता का पुट होते हुए भी सामाजिकता और समाजपरकता प्रमुख रही है। समाज में सुव्यवस्था सभी का अभिप्रेत रहा है।

भारतीय चिन्तन के दृष्टिकोण से आत्मविरोधी, समाजविरोधी, परिवार-राज्य-राष्ट्रविरोधी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाना तथा सभी प्रकार

---

१ सर्वलोकव्यवहार स्थितिर्नीत्या बिना नहि। —शुक्रनीति १/११

२ विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सादति जगत्। —हितोपदेश २/७५

की—आध्यात्मिक, मानसिक, चारित्रिक, सामाजिक आदि—उन्नति में सहयोगपूर्ण वातावरण बनाना ही नीति तथा नैतिकता है और इस उन्नति में उपयुक्त सिद्धान्तों का प्ररूपण ही नीतिशास्त्र है।

क्योंकि भारत में नीति और धर्म का अविभाज्य सम्बन्ध रहा है, अतः यहाँ नीति का मुख्य कार्य व्यक्ति का—समाज का चारित्रिक सुधार है।

पाश्चात्य चिन्तन

किन्तु पश्चिम की विचारधारा में आध्यात्मिक पुट नहीं रहा। वहाँ नीति केवल समाजपरक ही रही। वहाँ नीतिशास्त्र की परिभाषाएँ तथा नीतिशास्त्रकारों के विचार बाह्य परिस्थितियों पर आधारित रहे। उनका मनोवैज्ञानिक, भौतिक दृष्टिकोण ही प्रमुख रहा। समाज की सुव्यवस्था तथा भौतिक उन्नति ही वहां एक मात्र लक्ष्य रहा।

आधुनिक पाश्चात्य चिन्तकों ने नीतिशास्त्र का कला और विज्ञान इन आधारों के रूप में अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है।

विज्ञान के भी वहां तीन प्रमुख भेद किये गये हैं—(१) नियामक विज्ञान (Normative Science) और (२) विधायक अथवा प्राकृतिक विज्ञान (Positive or Natural Science) और (३) व्यावहारिक विज्ञान (Practical Science)

भारतीय चिन्तन में जिसे शास्त्र कहा गया है, उसमें विज्ञान[1] भी गर्भित है, क्योंकि विज्ञान का शाब्दिक अर्थ विशेष ज्ञान होता है। जैसे—भारत में आयुर्वेद को शास्त्र कहा गया; किन्तु पश्चिमी विद्वानों ने इसका नाम चिकित्सा विज्ञान (Medical Science) दिया। इसी तरह जो ज्ञान भारत में ज्योतिष शास्त्र कहलाया उसे ही पश्चिमी विद्वानों ने अंतरिक्ष विज्ञान, ज्योतिष विज्ञान आदि नाम दिये। जबकि ज्योतिष शास्त्र में भी खगोल विद्या, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र की गति, उदय-अस्त, ग्रहण आदि का अध्ययन होता है और वही अध्ययन अन्तरिक्ष विज्ञान में भी किया जाता है।

यह भी यहां समझना भूल होगा कि भारत ने भौतिक, गणित आदि के क्षेत्र में विशेष रुचि नहीं ली, अतः यहाँ विज्ञान (भौतिक विज्ञानों के सन्दर्भ में) का विशेष विकास नहीं हुआ। भगवती सूत्र में पुद्गल परमाणु,

---

१. विशिष्य अनेन ज्ञानं, इति विज्ञानम्। —अमर कोष

स्कन्ध आदि के सम्बन्ध में विशेष सारगर्भित और गहन ज्ञान उपलब्ध है, उसे ही पश्चिम परमाणु विज्ञान (Atomic Science) कहता है।

इसी प्रकार की स्थिति शास्त्र और विज्ञान के सन्दर्भ में रही है। भारतीय मनीषियों ने जिसे शास्त्र कहा, उसे पश्चिमी लोगों ने विज्ञान नाम से अभिहित किया। इसीलिए श्री विल ड्यूरेन्ट ने विज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा कि जो विश्लेषण करे, वह विज्ञान है।[1]

किन्तु इतनी गहराई तक न पहुँचने वाले सामान्य लोग विज्ञान और शास्त्र में अन्तर मानते हैं। यह अन्तर सतही है; पर है तो सही।

विज्ञान का आधार निरीक्षण (observation) और प्रयोग (experiment) है जबकि शास्त्र का आधार अनुभव (experience) और योग है। निरीक्षण और प्रयोग के बाद ही अनुभव होता है, यह सार्वकालीन सत्य दिन के उजाले की तरह स्पष्ट है।

हाँ, यह अवश्य है कि पश्चिम में प्रयोगों के लिए प्रयोगशालाएँ (laboratories) बनी हुई हैं। किन्तु ये प्रयोगशाला परीक्षण भी सीमित जानकारी ही देते हैं, आखिर तो प्रयोग बाहर ही करने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, चिकित्सा विज्ञान में किसी नई औषधि का निर्माण प्रयोगशाला में किये प्रयोगों से हो सकता है, और होता है; किन्तु उस औषधि की गुणवत्ता का सत्यापन आदि तो जीवधारियों/मनुष्यों पर ही करके किया जा सकता है। तभी वे प्रयोगशाला-प्रयोग सत्य माने जाते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि 'विज्ञान' कहने का पश्चिमी लोगों में एक फैशन सा है। वे ज्ञान की प्रत्येक शाखा को विज्ञान कहते हैं और उसी रूप में प्रचारित भी करते हैं। स्वास्थ्य, कृषि, औषधि आदि यहां तक कि भोजन सम्बन्धी ज्ञान भी, उनकी शब्दावली में विज्ञान है। आत्मा और आत्मिक भावों को भी वे विज्ञान कहते हैं। यथा—spiritual science आदि। और उसी प्रवाह में भारतीय मानस भी बह रहा है। अस्तु,

यही कारण है कि पश्चिमी विद्वानों को विज्ञान के तीन विभाग करने पड़े—(१) विधायक विज्ञान (२) व्यावहारिक विज्ञान और (३) नियामक विज्ञान।

---

१ Science is an analytic description.
—Will Durant : Story of Philosophy, Introduction, p. xxvii.

इनमें से नीतिशास्त्र विधायक विज्ञान तो हो नहीं सकता क्योंकि इसके प्रयोगों के लिए यांत्रिक प्रयोगशाला (Instrumental laboratory) नहीं होती। प्रयोग का विषय (subject) भी निर्जीव नहीं होता; जिस पर मनमाने प्रयोग किये जा सकें। इसका विषय तो प्रबुद्ध चेतनाशील मानव है। उसके क्रिया-कलापों का अंकन करके केवल परिणाम निकाले जा सकते हैं, अथवा उसे आदर्श की प्रेरणा दी जा सकती है। इसीलिये अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान (यथा—समाज विज्ञान Social Science राजनीतिक विज्ञान Political Science आदि) यह एक नियामक अथवा आदर्श-मूलक विज्ञान ही माना गया। इसी रूप में नीतिशास्त्र को विज्ञान माना जा सकता है और माना जा रहा है।

Ethics शब्द की व्युत्पत्ति

अंग्रेजी में नीतिशास्त्र को Ethics कहा जाता है। Ethics शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द Ethos से हुई है। Ethos का शाब्दिक अर्थ है चरित्र (Character)। इस प्रकार नीतिशास्त्र को मनुष्यों के चरित्र का शास्त्र कहा जा सकता है। और यह भी सत्य है कि मनुष्य का चरित्र, उसके आचार, व्यवहार तथा आदतों का पुंज है। अतः नीतिशास्त्र को मनुष्यों के आचार, व्यवहार और आदतों का अध्ययन करने वाला विज्ञान कहा जा सकता है।

नीतिशास्त्र के लिए अंग्रेजी में दूसरा शब्द है Moral Philosophy. इसमें मॉरल (Moral) शब्द की व्युत्पत्ति लेटिन शब्द Mores से हुई है। Mores का प्रमुख अर्थ रीति-रिवाज, अभ्यास और आदत है तथा चरित्र इसका गौण अर्थ है।[1]

अतः पाश्चात्य विद्वानों के चिन्तन के अनुसार नीतिशास्त्र को मानव के चरित्र, आचार, व्यवहार, आदतों और समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों के पालन आदि का अध्ययन करने वाला विज्ञान कहा जा सकता है।

चूंकि समाज में प्रचलित रीति-रिवाज मनुष्य के चरित्र को ढालने में प्रमुख कार्य करते हैं, अतः वहाँ का नीतिशास्त्र समाजपरक हो गया।

---

1 The term 'moral', closely associated with ethics, comes from the latin word 'mores', which primarily stands for 'custom' or 'habit' and secondarily means 'character'.

—Muirhead, John H.

Quoted by, Dayanand Bhargava : Jaina Ethics, p. 1

रीति-रिवाजों का मानव के संस्कारों, मन (mind), व्यवहार आदि पर पूरा असर पड़ता है। जिन समाजों में मांस-भक्षण का प्रचलन होता है वहां मांस के प्रति घृणा नहीं पाई जाती है। इसके विपरीत जिन समाजों में मांस भक्षण का प्रचलन नहीं होता वहाँ घृणा पाई जाती है। यही स्थिति शराब, हिंसा, शिकार आदि के बारे में भी है। धर्म का व्यावहारिक पक्ष भी रीति-रिवाजों से प्रभावित होता है। अतः रीति-रिवाज मानव के जीवन-निर्माण और चरित्र-निर्माण के एक महत्वपूर्ण आवश्यक अंग हैं।

पाश्चात्य चिन्तकों की नीति सम्बन्धी परिभाषाएं

पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का आदि स्रोत यूनान रहा है। प्रथम यूनानी विचारक प्लेटो है। उसने नीतिशास्त्र की परिभाषा इन शब्दों में दी है—

"नैतिकता, सभी का प्रभावशाली समन्वय है।"[1]

यहाँ 'सभी' का अभिप्राय मानव की विभिन्न रुचियों, प्रवृत्तियों, समाज के सभी उच्च, नीच वर्ग तथा समाज में प्रचलित सभी रीति-रिवाजों से है।

इस परिभाषा में 'समन्वय' पर बल दिया गया है।

प्लेटो की नीति सम्बन्धी एक और परिभाषा न्याय के सम्बन्ध में है। वह कहता है—

"नीतिशास्त्र न्याय का विवेचन मात्र है।"[2]

किन्तु न्याय क्या है? यह प्राचीन युग से आज तक एक पेचीदा प्रश्न रहा है। न्याय की कोई स्पष्ट परिभाषा निश्चित नहीं की जा सकी है। परिभाषाएं सतत बदलती रही हैं। फिर 'न्याय का विवेचन'—यह और भी अस्पष्ट है।

सोफिस्टवादी (Sophist) थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) ने कहा है कि "न्याय शक्तिशाली के हितों का साधन मात्र है।" वह आगे तर्क देता

---

1 Will Durant : The Story of Philosophy, p. 40.

2 In The Republic justice is called the health of the soul and ethics are described as inquiry into justice.

—Erdmann : A History of Philosophy (Eng. translation) Vol. I p. 121

—उद्धृत—संगमलाल पाण्डेय : नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ. ३

हुआ कहता है कि 'सरकारें अपने हितों के अनुकूल कानून बनाती हैं और उन कानूनों के अनुसार न्यायाधीश न्याय करते हैं। तब न्याय कैसा ?"[1]

यही विचार एक अन्य विचारक ने कुछ और भी कटु शब्दों में व्यक्त किये हैं—

"न्याय, मानव के लिये नैतिकता नहीं अपितु निम्न अथवा दलित मानव (विवश कमजोर मानव) के लिए नैतिकता हो सकती है। यह दास-नैतिकता है, स्वाभिमानपूर्ण वीर नैतिकता नहीं है।[2]

बदलती हुई सरकारों, राजाओं, सत्ताधारियों के सन्दर्भ में ये सब बातें सत्य से परे नहीं हैं, दैनन्दिन अनुभव की बातें हैं।

इतने पर भी सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत न्याय, सामाजिक न्याय, न्याय का मानव-जीवन तथा समाज की व्यवस्था में महत्व और न्याय प्राप्त करने के उचित साधनों आदि का विवेचन नीति-शास्त्र का विषय बन सकता है।

सम्भवतः प्लेटो की भी यही मंशा थी। यदि न्याय सबको सुलभ हो सके तो सम्पूर्ण समाज में स्वयमेव ही समग्रता और समन्वय स्थापित रहेगा।

यूनानी दार्शनिकों का समय काफी पुराना है—ईसा से ५-६ शताब्दी पूर्व का। उसके बाद वहाँ ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में काफी लम्बा अन्तराल रहा। मध्ययुग, इस दृष्टि से अन्धकारपूर्ण रहा। उसके बाद ईसा की सत्र-हवीं शताब्दी में पुनर्जागरण (renaissance) हुआ और यूरोप—पश्चिमी जगत ने प्रगति की ओर कदम बढ़ाये। ज्ञान-विज्ञान का भी पुनर्जागरण हुआ। इसके बाद नीतिशास्त्र पर भी काम हुआ।

मैकेन्जी (Mackenzie) के अनुसार—"नीतिशास्त्र सत् (good) और शुभ (right) का अध्ययन है।"[3]

---

1 Will Durant : The Story of Philosophy, p. 16.

2 The justice is morality not for men but for footmen (oude gar andros all' andrapodou tinos) it is a slave-morality, not a hero morality —Gorgias 491
— Quoted by Will Durant : The Story of Philosophy, p. 87

3 Ethics may be defined as the study of what is Right or Good in conduct. —Mackenzie, J. S. : A Manual of Ethics, p. 1
—उद्धृत—डा० रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा. पृ० ३

(right) की व्युत्पत्ति लैटिन के शब्द (rectuh) से हुई है, जिसका अर्थ है, 'सीधा अथवा नियम के अनुसार' और (good) जर्मन शब्द (gut) का रूपान्तर है, जिसका अभिप्राय है—'परम शुभ के लिए उपयोगी।'

इस प्रकार मैकेन्जी की परिभाषा में दो तत्व हैं—नियम के अनुसार तथा परम शुभ के लिए उपयोगी। शुभ का प्रयोग साध्य के रूप में है और सत् का प्रयोग साधनों के रूप में। अभिप्राय यह है कि 'वह नियमानुसार आचरण जो परम शुभ की प्राप्ति में उपयोगी हो, नीतिशास्त्र का विषय है। इसे दूसरे शब्दों में नीतिशास्त्र का आधार भी कहा जा सकता है।

यह परिभाषा व्यक्तिपरक भी है और समाजपरक भी।

उस परम शुभ को प्राप्त करने के लिए मैकियावेली मनुष्य में सद्-गुणों का होना आवश्यक बताता है और "सद्गुणों को वह बुद्धि और शक्ति का समन्वित रूप मानता है।"[1]

सेथ (Seth) नीतिशास्त्र को शुभ के विज्ञान के रूप में 'आदर्श' और 'चाहिए' का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान मानता है।[2]

'शुभ' से सेथ का भी वही अभिप्राय है जो मैकेन्जी का है। वह भी शुभ को 'परम शुभ की प्राप्ति में उपयोगी' मानता है। 'आदर्श' और 'चाहिए' से उसका भी अभिप्राय नियमानुकूल आचरण से है।

वस्तुतः ये दोनों परिभाषाएँ समान अर्थ की द्योतक हैं।

कान्ट (Kant) नियमवादी है। वह कहता है—

"इस संसार के अन्दर और इससे बाहर भी, सदिच्छा को छोड़कर ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे बिना किसी शर्त के, शुभ कहा जा सके।"[3]

---

1 Virtue as intellect plus force. —Machiavelly

Cf. Gorgias, 491—the real virtues of a man are courage (andreia) and intelligence (phronesis).

Quoted by—Will Durant : The Story of Philosophy p. 17

2 As the science of the Good, It is the science par-excellence of the 'Ideal' and the 'Ought'—

—Seth, J. A. : Sudy of Ethical Principles, p. 37

3 There is nothing in the world, or even out of it, that can be called good without qualification except a good-will.

—Kant

नियमवादियों (Formalists) का अभिमत है कि नैतिक नियम स्वयं साध्य हैं, दूसरे शब्दों में आदर्श हैं। वे किसी अन्य आदर्श के लिए साधन नहीं कहे जा सकते।

अतः काण्ट ने 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य का सिद्धान्त' (Doctrine of duty for duty sake) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसके मतानुसार (goodwill) ही एक मात्र शुभ (good) है। उसका 'शुभत्व' परिणाम पर निर्भर नहीं है, अपितु वह स्वयं शुभ है। इसके अनुसार नैतिक नियम सहज प्रभुत्व सम्पन्न और सार्वभौम हैं।

किन्तु सहजज्ञानवादियों के अनुसार नीतिशास्त्र (Right) का विज्ञान है। सहजज्ञानवादियों (Intuitionists) के अनुसार नैतिक नियम बाध्य हैं, सभी परिस्थितियों में उनका पालन आवश्यक है। सत् ही नीतिशास्त्र का का मूल प्रत्यय (concept) है। नैतिक नियमों के अनुसार चलना ही शुभ है, कर्तव्य है और इनके विपरीत आचरण अशुभ तथा अकर्तव्य।

प्रयोजनवादियों (Teleologists) के मतानुसार 'शुभ' ही नीति शास्त्र का परम तत्व है। वे 'कर्तव्य कर्तव्य के लिए' न मानकर 'कर्तव्य नैतिक शुभ के लिए' मानते हैं। किसी कार्य के उचित-अनुचित का निर्णायक शुभ के मानदण्ड का प्रयोग ही हो सकता है।

इसके अनुसार सत् और नियम 'परम आदर्श अथवा साध्य' के साधन हैं। यह 'परम आदर्श' ही नीतिशास्त्र की खोज का विषय है।

प्रयोजनवादी नीतिशास्त्री बेन्थम (Bentham), मिल (Mill), हेनरी सिजविक (Henry Sidgwick) आदि कार्य का शुभत्व या अशुभत्व उसके परिणाम के आधार पर मानते हैं।

मैकेन्जी ने इन तीनों मतों के समन्वय का प्रयास किया है। वह नीतिशास्त्र को मानव-जीवन के आदर्शों का विज्ञान अथवा सामान्य अध्ययन[1] के रूप में स्वीकार करता है।

सिजविक ने नीतिशास्त्र को मानव-चरित्र की समस्याओं का क्रमबद्ध अध्ययन कहा है।[2]

---

1 Ethics, as the science or general study of the ideal involved in human life.

—Mackenzie, J. S.; A Manual of Ethics, p. 4

2 Ethics is the systematic study of the ultimate problems of right human conduct. —Sidgwick

यों नीतिशास्त्र की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। जितने विचारक उतने दृष्टिकोण और जितने दृष्टिकोण (view points) उतनी ही परिभाषाएँ। इसे जैन शब्दावली में नय (viewpoint) विचारधारा अथवा विषय-वस्तु को प्रगट करने का—प्रस्तुत करने का अपना-अपना तरीका कहना उपयुक्त होगा। किन्तु पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही प्रकार के मनीषियों की परिभाषाओं में एक तत्व सामान्य दृष्टिगोचर होता है, वह है—समाज की सुव्यवस्था/मर्यादा।

प्राचीन काल से आज तक यह अर्थ सार्थक रहा है। यदि भारत के अध्यात्मपरक चिन्तन को अलग रखकर विचार किया जाय तो नीतिशास्त्र का यह सामान्य तत्व माना जा सकता है।

अतः नीतिशास्त्र की आदर्श परिभाषा होगी—उन नियमों और उपनियमों का समूह जिनका पालन समाजगत और व्यक्तिगत सुव्यवस्था बनाए रखने में सक्षम हो तथा मानव की लौकिक और लोकोत्तर सभी प्रकार की उन्नति में सहायक बने।

दूसरे शब्दों में, समाज को स्वस्थ एवं संतुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को प्रेय तथा श्रेय की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए जिन विधि अथवा निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का विधान देश, काल और पात्र के सन्दर्भ में किया जाता है, वह नीति है और उन नियमों का संकलन नीतिशास्त्र कहलाता है।

भारतीय दृष्टिकोण

पाश्चात्य विचारकों ने नीतिशास्त्र को नियामक विज्ञान के रूप में स्वीकार किया है और उस पर विविध दृष्टियों से चिन्तन किया है। उनकी यह विचारणा तटस्थ दृष्टि से रही है। इसीलिए पश्चिमी चिन्तन जगत में इस पहलू से दो शब्द मिलते हैं, Moralist और Moral Philosopher.

Moral philosopher का अर्थ नीतिविज्ञानशास्त्री है और Moralist का अभिप्राय है नैतिकतावादी। नीति-दार्शनिक का काम केवल नीति-सम्बन्धी चिन्तन संसार के सामने रख देना है, यह आवश्यक नहीं कि वह इन सिद्धान्तों का स्वयं भी पालन करे।

लेकिन भारत में नीति का जीवन से/आचरण से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। यहाँ नैतिकतावादी और नैतिक विचारक जैसा भेद कभी मान्य नहीं रहा, कथनी और करनी का भेद यहाँ ढोंग माना गया। यहाँ नीति-

सम्बन्धी विचार करने का अधिकारी उसे ही माना गया है जिसका जीवन स्वयं नीति से अनुप्राणित हो। नीतिमान ही नीति पर विचार करता था।

चूंकि भारत में नीतिशास्त्र जीवन का अभिन्न अंग रहा अतः यहाँ इसका क्रमबद्ध चिन्तन नहीं प्राप्त होता। तटस्थ दृष्टि से उस पर विचार किया ही नहीं गया। भारतीय नीतिशास्त्र के रूप में जो कुछ भी प्राप्त है, वह जीवन का सत्य है। आचारशास्त्र का ही एक अंश है।

नीतिशास्त्र के रूप में कुछ सूक्तियाँ ही प्राप्त होती है, वह भी उपदेशात्मक रूप में जो जीवन-निर्माण की प्रेरणा देती हैं। किन्तु वे सूक्त्यात्मक वाक्य भी इतने प्रेरणाप्रद और जीवन-स्पर्शी हैं कि नीतिशास्त्र का सम्पूर्ण विषय उनमें सरलता से समाहित हो जाता है।

भ० महावीर के नीति वचन

भगवान महावीर के प्रवचनों में एक शब्द प्राप्त होता है—**णेआउयं मग्गं**।[1] इसका अभिप्राय है—दुःख क्षय करने का मार्ग, अथवा पार ले जाने वाला मार्ग। दूसरे शब्दों में सफलता का व न्याय युक्त मार्ग।

सफलता का मार्ग निश्चित रूप से न्याय-नीति का मार्ग है, अन्याय-अनीति के मार्ग से तो सफलता प्राप्त हो ही नहीं सकती। आध्यात्मिक और जागतिक दोनों ही क्षेत्रों में मनुष्य विफल हो जाता है।

इस न्याय (कल्याण अथवा शुभ good) मार्ग को सुनकर/पढ़कर/जानकर ही मानव कल्याण अथवा शुभ को जानता/पहचानता है।[2]

लेकिन वह शुभ का मार्ग इतना कठिन है कि बहुत से लोग इसे जान-सुनकर-समझकर भी इससे भ्रष्ट हो जाते हैं।[3]

---

१ (क) णयणसीलो णेआउयो —सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ४५५
(ख) नयनशीलो नेयाइयो मोक्षं नयतीत्यर्थः —सूत्रकृतांगचूर्णि पृ० ४५७
(ग) न्यायोपपन्नः इत्यर्थः —उत्तरा० बृहद्वृत्ति पत्र १८५
(यही अर्थ ल्यूमेन, पिशेल, हरमन जैकोबी आदि ने भी स्वीकार किया है। —उत्तरा. चार्ल्स सरपेन्टियर, पृ० २९२)
(घ) उत्तरा. ३/९; ७/२५

२ सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं। —दशवैकालिक ४/११

३ (क) सोच्चा णेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सइ। —उत्तरा० ३/९
(ख) सोच्चा णेआउयं मग्गं ज्जं.....। —उत्तरा० ७/२५

यही मार्ग (न्याय-नीति का मार्ग) ध्रुव (निश्चित व शाश्वत) है। किन्तु इस मार्ग पर चलना कठिन है। वीर (साहसी), संकल्प के धनी, पाप (बुराइयों—Evils) से दूर रहने वाले पवित्र मानव ही इस सिद्धि पथ (शुभ मार्ग—good) पर चल सकते हैं।[1]

भगवान महावीर के इन शब्दों में सम्पूर्ण नीति का समावेश हो गया है। नीति का आधार और लक्ष्य शुभ अथवा परम शुभ है और इसकी प्राप्ति का मार्ग—शुभ की ओर गति प्रगति है। शुभ की ओर प्रगति और परम शुभ की प्राप्ति केवल साहसी व्यक्ति ही कर सकते हैं। उसके साथ भी शर्त यह है कि उनके हृदय में सत्य और शुभ प्रतिष्ठित हो।

भारतीय और पश्चिमी सभी नीति-चिन्तकों ने सत् (right) और शुभ (good) को नीति-शास्त्र का आधार एवं लक्ष्य माना है। लौकिक रीति-रिवाजों का पालन, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि जितनी भी बातें हैं, वे सब इस सत् और शुभ की सहचरी मात्र हैं, 'चाहिए' (ought) भी उस सत्-शुभ की प्राप्ति में सहायक बनते हैं।

इस सम्पूर्ण विवेचन के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि—नीति-शास्त्र जीवन को सफलतापूर्वक जीने की कला सिखाता है। यह मानव-जीवन के भौतिक, सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक, आध्यात्मिक आदि सभी पक्षों को नियमबद्ध, संतुलित और व्यवस्थित रखने की कला है।

संक्षेप में यह जीवन का नियामक विज्ञान है और यह विचार समग्र रूप से सभी नीति-विचारकों को इष्ट है।

□

---

१ पणया वीरा महावीहिं सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं। —सूत्रकृतांग १/२/१/२१

५

नीतिशास्त्र की प्रकृति और अन्य विज्ञान

(NATURE OF ETHICS AND OTHER SCIENCES)

नीतिशास्त्र की प्रकृति (Nature of Ethics)

नीतिशास्त्र की प्रकृति क्या है ? वह कला है अथवा विज्ञान ? यदि वह कला नहीं है तो क्यों नहीं है ? और यदि वह विज्ञान है तो क्यों है ? और वह किस प्रकार का विज्ञान है ? इन बातों पर पश्चिमी चिन्तकों ने काफी ऊहापोह तथा चिन्तन-विवेचन किया है।

जैसाकि पिछले पृष्ठों में विवेचन किया जा चुका है कि पश्चिमी विचारक नीतिशास्त्र को नियामक विज्ञान मानते हैं, व्यावहारिक अथवा प्राकृतिक विज्ञान नहीं।[1] साथ ही वे इसे कला भी नहीं मानते।

वे अपने वचन के समर्थन में तर्क देते हुए कहते हैं कि चिकित्सा विज्ञान एक व्यावहारिक विज्ञान है। वह आदर्श स्वास्थ्य को अपना लक्ष्य नहीं बनाता, अपितु इस बात पर अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करता है कि रोग को कैसे मिटाया जा सकता है ? रोगी को कैसे आराम पहुँचाया जाय ?[2]

जबकि नीतिविज्ञान अपनी दृष्टि आदर्शों पर केन्द्रित रखता है। वह यह तो बताता है कि मानव-जीवन की आदर्श स्थिति क्या है, उसका

---

१ नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृष्ठ ५–६

२ अंग्रेजी में चिकित्सक के लिए यह कहावत प्रसिद्ध है—

A medical practitioner is he, who cures the diseace and not the patient.

चिकित्सक वह है जो सिर्फ रोग का निवारण करे, रोगी को पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ हो अथवा न हो।

चरम लक्ष्य क्या है ? किन्तु वह लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है, उन साधनों को नहीं बताता। वह सिर्फ आदर्श की व्याख्या करता है। यह सिर्फ साध्य 'चाहिए' (ought) पर विचार करता है, साधन (means) पर नहीं।

इसी कारण पश्चिमी विचारक नीतिशास्त्र को केवल नियामक विज्ञान (Normative Science—आदर्शात्मक विज्ञान) मानते हैं।

किन्तु भारतीय चिन्तन में ऐसी एकांगी विचारधारा नहीं है। यहां साध्य और साधन तथा कर्तव्य और कर्तव्योपाय को अभिन्न माना गया है, एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान।

नीतिशास्त्र भी, भारतीय चिन्तन के अनुसार, आदर्श स्थिति भी निरूपित करता है और साथ ही उस स्थिति तक पहुँचने के साधनों की भी विवेचना करता है। लक्ष्य और मार्ग दोनों का ही विवेचन भारतीय नीतिशास्त्र का इष्ट है। यही इसकी पूर्णता है।

भारतीय चिन्तन की स्पष्ट मान्यता है कि कर्तव्यबोध से ही मानव का कल्याण नहीं हो सकता, वह परम शुभ को प्राप्त नहीं कर सकता, इसके लिए तदनुकूल कर्म करना भी आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—अच्छे से अच्छा 'पोत' —जलयान भी हवा के बिना समुद्र को पार नहीं कर सकता, वैसे ही शास्त्रों का जानकार भी सत्कर्म किये बिना दुःखों से पार नहीं हो सकता है।[1]

'रोटी खाने से पेट भरता है' इस प्रकार का कोरा ज्ञान मनुष्य की क्षुधा को नहीं मिटा सकता; भूख तो तभी मिटेगी जब वह रोटी खायेगा। इसी प्रकार 'साध्य' का ज्ञान मात्र, साध्य तक नहीं पहुँचा सकता, सफलता प्राप्त नहीं करा सकता, सफलता के लिए तो साधनों को अपनाना ही पड़ेगा। इस ओर कर्तव्य करने पर ही व्यक्ति सफल होगा।

भगवान महावीर ने जीवन के परम शुभ तथा परम साध्य को प्राप्त करने के लिए दो उपाय बताये हैं—

विज्जाए चेव, चरणेण चेव।[2]

विद्या और आचरण से ही परम श्रेय को प्राप्त किया जा सकता है।

---

१ वाएण विणा पोओ न चएइ महण्णवं तरिउं—आवश्यक निर्युक्ति ९५-९६

२ स्थानांग सूत्र २/९०

इसी बात को दृष्टि में रखकर आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

अंगाणं किं सारो ? आयारो ।[1]

समस्त ज्ञान का सार क्या है ? आचरण ।

मनुस्मृति ने भी आचार को प्रथम धर्म बताया है—

आचारः प्रथमो धर्मः ।

इन सभी बातों का अभिप्राय एक ही है कि साध्य और साधन अथवा ज्ञान और क्रिया—दोनों का समन्वय ही श्रेय प्राप्ति में सहायक बनता है, इन दोनों का सम्मिलित रूप आवश्यक है।

ज्ञान के अभाव में आचरण नेत्रहीन है और आचरण के अभाव में ज्ञान पंगु।

एक विद्यार्थी को अपने पाठ्यक्रम का ज्ञान है, किस तरह पढ़ना चाहिए, यह भी वह जानता है, कालेज का पता भी उसे मालूम है किन्तु वह कालिज तक जाए ही नहीं, अध्ययन ही न करे तो क्या वह परीक्षा में उत्तीर्ण होकर डिग्री ले सकता है ? कभी नहीं।

वही स्थिति नीतिविज्ञान के बारे में है। सिर्फ आदर्शों का ज्ञान मानव के लिए किसी काम का नहीं है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए आचरण भी उतना ही जरूरी है।

पश्चिमी नीतिविज्ञानशास्त्री जो नीतिशास्त्र को एक नियामक विज्ञान मानकर उसके विवेचन में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं, यह उनका अपना दृष्टिकोण है।

किन्तु भारतीय चिन्तन इसमें सुधार करता है। वह आदर्श के ज्ञान के साथ-साथ आचरण पर भी उतना ही जोर देता है।

चिन्तन शैली के इसी मौलिक भेद के कारण पश्चिम में नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों पर अगणित पुस्तकें लिखी गईं। इसके कला अथवा विज्ञान होने पर खूब चर्चा हुई, इसकी प्रकृति के विषय में प्रभूत चिंतन हुआ; किंतु भारत में ऐसा चिन्तन नहीं हुआ, यहाँ के मनीषी इन विवादों में नहीं उलझे, यहाँ तो नीति के सिद्धान्त अथवा आदर्शों के विवेचन के साथ-साथ उसे प्राप्त करने के साधन भी बताये गये।

---

१ आचारांगनिर्युक्ति, गाथा १६

फिर भी यह मान लेने में कोई बाधा नहीं कि नीतिशास्त्र एक नियामक विज्ञान है। यह नीतिशास्त्र का एक सैद्धान्तिक पक्ष है। इस पक्ष के सन्दर्भ में इसके अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध की विवेचना सरलता से की जा सकती है।

नीतिशास्त्र का अन्य विज्ञानों से संबंध

(Relation of Ethics with other Sciences)

जैन दर्शन में आत्मा को ज्ञान-स्वभावी कहा गया है। समस्त ज्ञान आत्मा में केन्द्रित है। अतः ज्ञान-विज्ञान की कल्पना चेतनाशील आत्मा के बिना सम्भव ही नहीं है। विज्ञान चाहे आचार सम्बन्धी हो अथवा खोज सम्बन्धी, उनका परस्पर सम्बन्ध होता ही है।

'सापेक्षवाद' जैन दर्शन का सिद्धान्त तो है ही किन्तु आज का विज्ञान भी सापेक्षवाद (Theory of Relativity) को स्वीकार करता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि इस संसार में निरपेक्ष वस्तु कोई नहीं है। इसी तरह विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ अथवा विभिन्न प्रकार के विज्ञान परस्पर सापेक्ष हैं, इनका परस्पर एक दूसरे से सम्बन्ध है।

नीतिशास्त्र का भी अनेक विज्ञानों से सम्बन्ध है। विषय को स्पष्ट करने के लिए कुछ विज्ञानों से इसका सम्बन्ध किस प्रकार का स्थापित हो सकता है, यह बताना यहाँ आवश्यक है।

यह मान्यता सर्वत्र स्थापित है कि नीतिशास्त्र का सम्बन्ध मूल्यों (Values) से है और अन्य सामाजिक तथा भौतिक विज्ञानों का सम्बन्ध तथ्यों से (facts) से है। परन्तु मूल्यों का अध्ययन तथ्यों के अभाव में नहीं किया जा सकता। अतः नीतिशास्त्र को भी अन्य विद्वानों की सहायता अपेक्षित है।

नीतिशास्त्र का कार्य इस बात की खोज करना है कि मनुष्य के रूप में उसकी विशेषता दिखाने वाले कार्य कौन से हैं। यानी नीतिशास्त्र में उचित अनुचित के मानदण्ड का विवेचन किया जाता है।

जेम्स सेथ ने कहा है—नीतिशास्त्र, नैतिक चिन्तन के रूप में, मानव आदर्शों की व्यवस्थित परीक्षा करता है और उनका (मानव आदर्शों का)

मानवता के सच्चे और परम आदर्श के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है।[1]

अब कौन-सा आदर्श उचित है और कौन-सा अनुचित ? यह प्रश्न सामने आ जाता है। इस प्रश्न के समाधान के लिए नीतिशास्त्र को विभिन्न आदर्शों के उद्गम और आधारों का विवेचन/अध्ययन करना अनिवार्य है।

इस स्थिति में नीतिशास्त्र को मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, मानसशास्त्र और यहाँ तक कि जीवविज्ञान की सहायता भी अपेक्षित होगी।

मनोविज्ञान आदर्श के मूल प्रेरक कारणों को बतलाता है। समाजशास्त्र से यह ज्ञात होता है कि किस विशिष्ट समाज के लिए कौन से आदर्श हितकर हैं। मानसशास्त्र बतलाता है कि आदर्श किस प्रकार विकसित होते हैं। जीवविज्ञान मानव की प्रकृति और जैविकीय तथ्यों की विवेचना करके इस बात को निश्चित करता है कि कौन से आदर्श मानव की प्रकृति के अनुकूल हैं।

यदि इन तथ्यों की अवहेलना करके कोई आदर्श स्थापित कर भी दिया गया तो वह खोखला सिद्ध होगा, स्थायी नहीं रह सकेगा। इसी प्रकार आदर्शों की स्थापना में राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण भाग होता है और इनके अध्ययन के लिए राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र की सहायता भी अपेक्षित होती है।

वस्तुतः श्री डब्लू. एम. अरबन का यह कथन सत्य है—

नीतिशास्त्र 'क्या होना चाहिए' को निश्चित करने की चेष्टा करता है,किन्तु ऐसा वह 'क्या है' के विशद ज्ञान के आधार पर ही कर सकता है।[2]

और इस 'क्या है' (what is) के विशद ज्ञान के लिए नीतिशास्त्र को

---

1 Ethics, as moral reflection, institutes a systematic examination of human ideals and seeks to correlate them with the true or absolute ideal of humanity.

—James Seth : A Study of Ethical Principles, p. 12

2 Ethics seeks to determine 'what ought to be', but it can be so only on the basis of adequate knowledge of 'what is'.

—W. M. Urban : Fundamentals of Ethics, p. 16

अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध स्थापित करना ही पड़ता है। अन्य विज्ञानों के ज्ञान के अभाव में नीतिशास्त्री इन आदर्शों की स्थापना नहीं कर सकता। उसके स्थापित किये आदर्श बालू की दीवार ही सिद्ध होंगे।

जैन साहित्य में एक शब्द आता है—बहुसुय (बहुश्रुत)[1]। उत्तराध्ययन सूत्र में बहुश्रुत की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा गया है। धर्म, नीति, आचार आदि के अनेक सैद्धान्तिक, व्यावहारिक नियम बहुश्रुतों द्वारा ही निश्चित किये गये हैं।

यही बात उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होती है कि नीतिशास्त्र को अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध रखना आवश्यक है। नीतिशास्त्री एवं नैतिक पुरुषों को अन्य विज्ञानों—ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

कुछ प्रमुख विज्ञानों से नीतिशास्त्र का सम्बन्ध जानना उपयोगी है।

नीतिशास्त्र और भौतिक विज्ञान (Ethics and Physical Sciences)

भौतिक विज्ञान प्राकृतिक शक्तियों का अध्ययन करते हैं। ये प्राकृतिक विज्ञान (Natural Sciences) हैं। इनके अन्तर्गत भूमिति, प्राकृतिक पर्यावरणों, जल-वायु आदि का अध्ययन सम्मिलित है।

यों नीतिशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानों में प्रत्यक्ष रूप से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता; किन्तु इनका अपरोक्ष सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ—वन में जीवन यापन करने वाले एक भील के और शहर के सभ्य मानव के नैतिक आदर्श भिन्न हो सकते हैं। भील सिर्फ नवकार मन्त्र का स्मरण कर सकता है, जबकि शहरी मानव उसका ध्यान, जप आदि भी कर सकता है।

इसी तरह अधिक वर्षा वाले और कम वर्षा वाले, पहाड़ी और मैदानी भाग, गांव और शहर के निवासियों के नैतिक आदर्शों में भिन्नता हो सकती है। वनवासी भील न्याय द्वारा जीविका का उपार्जन कैसे करे? एक कारखाने का स्वामी यन्त्रपीलणिया कर्मादान का त्याग कैसे कर सकता है? अकाल, दुष्काल आदि की भी सूचना प्राकृतिक विज्ञानों में ही मिलती है। ऐसे समय में भी नैतिक आदर्श गड़बड़ा जाते हैं।

वस्तुतः भौतिक नियमों के ज्ञान से नैतिक आदर्शों में कोई सहायता नहीं मिलती; किन्तु विशिष्ट प्रकार की भौतिक परिस्थितियों में नैतिक

---

१ सभी शास्त्रों का व्यापक ज्ञान रखने वाले बहुश्रुत होते हैं।

जीवन कैसे जिया जा सकता है, इस बात में सहायता अवश्य मिलती है।

उदाहरणार्थ—चातुर्मास किसी विशेष क्षेत्र में कब शुरू होगा और कब समाप्त होगा अर्थात् वर्षा के समय का पूर्वज्ञान होने से मानव (साधक) जीवहिंसा से बच सकता है।

नीतिशास्त्र और जीवशास्त्र (Ethics and Biology)

मानव मूल रूप से एक जीव (Living being) है और जीवशास्त्र मानव का इसी रूप में अध्ययन करता है। जीव-जगत के नियम उस पर भी लागू होते हैं। डार्विन और उसके अनुयायियों ने 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (struggle for the existence) तथा 'योग्यतम की विजय' (survival of the fittest) जैसे जीवशास्त्रीय सिद्धान्तों द्वारा मानव जीवन की व्याख्या करने का भी प्रयास किया है।

ऐसा ही प्रयास हरबर्ट स्पेन्सर ने भी नीतिशास्त्र के क्षेत्र में अपनी पुस्तक (Principles of Ethics) में किया है। वह कहता है कि पशु-जीवन और मानव-जीवन के शुभाशुभ की कसौटी एक ही होती है। ऐसा कोई आदर्श नैतिक नहीं माना जा सकता, जिसके कारण जीवन ह्रासमान हो जाय।

किन्तु स्पेन्सर की यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती। जीव-शास्त्र का महत्व इतना ही है कि वह मानव-प्रकृति की व्याख्या करे। इसके आगे नीतिशास्त्र का काम है कि वह मानव प्रकृति के अनुकूल आदर्श स्थापित करे।

यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि पशु-जगत के नियम मानव-जगत में नहीं चल सकते। पशुत्व से ऊपर उठना ही मानवता है—नैतिकता है।

यदि विज्ञान की भाषा में ही कहा जाये तो मानव एक बौद्धिक पशु (Rational animal) है, अतः इसकी नैतिकता के नियम बुद्धि द्वारा ही निर्धारित किये जा सकते हैं, जैविकीय (Biological) आधार पर नहीं।

अतः नीतिशास्त्र से जीवविज्ञान का सम्बन्ध इतना ही माना जाना चाहिए कि जीवविज्ञान जो भी मानव प्रकृति के सम्बन्ध में खोज करे, उसका नैतिक आदर्श निर्धारण करने के लिए नीतिशास्त्र में उचित उपयोग कर लिया जाय।

नीतिशास्त्र और राजनीति (Ethics and Politics)

राजनीति और नीतिशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनीति को

एक प्रकार से नीतिशास्त्र का अंग ही कहा जा सकता है। श्री हाबहाउस के ऐसे ही विचार हैं, वह लिखता है—

"राजनीति को नीतिशास्त्र के अधीन ही होना चाहिए। हमें चाहिए कि हम नीतिशास्त्र को अंशों में न देखकर समग्र रूप में देखें।"[1]

प्लेटो, अरस्तु, स्पिनोजा, हेगेल आदि इसी विचारधारा के समर्थक हैं किन्तु हाब्स और बेन आदि विद्वानों का विचार है कि नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र की एक शाखा है। उनके अनुसार राजनैतिक नियम ही नैतिक नियम है।

मैकियावेली तथा उसके अनुयायी—'प्रेम और युद्ध में सब कुछ उचित है (Every thing is fair in love and war)' इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। अतः वे राजनीति और नीतिशास्त्र में किसी प्रकार का सम्बन्ध मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। उनका विचार है कि राज्य की आज्ञा ही नीति है। किन्तु इस मान्यता का समर्थन आधुनिक युग के विद्वान नहीं करते।

यद्यपि राजनीति और नीतिशास्त्र में कई अन्तर हैं, जैसे—राजनीति और नीति के लक्ष्यों की भिन्नता, विषय की भिन्नता आदि और सबसे बड़ा अन्तर है नियमों के स्वरूप का। राजनीति के नियम 'करना होगा' (must) के स्वरूप वाले हैं, जबकि नैतिक नियमों का स्वरूप है 'चाहिए' (ought) किन्तु इन दोनों शास्त्रों में समानताएँ अधिक हैं—

(१) दोनों ही शास्त्र मानवीय व्यवहारों से सम्बन्धित हैं।

(२) दोनों ही नियामक विज्ञान हैं।

(३) राजनीति, नैतिकता पर आधारित होनी चाहिए। प्लेटो, महात्मा गांधी आदि विचारक इस मान्यता के समर्थक हैं। इनका विचार है कि व्यक्ति से समूह, राष्ट्र, राज्य आदि यहाँ तक कि विश्व का निर्माण होता है अतः व्यक्तिगत नैतिकता का विशाल रूप ही राजनीति का आधार होना चाहिए।

किन्तु कुछ विचारक इस आदर्शवादी राजनीति के समर्थक नहीं हैं। तिलक, श्री अरविन्द आदि व्यवहारवादी राजनीति-विशारदों के विचार

---

१ Politics must be subordinate to Ethics and we must endeavour to see Ethics not in fragments but as a whole.

—Hobhouse, L. T. : The Elements of Social Justice, pp. 13-14.

दूसरे प्रकार के हैं। श्री तिलक ने लोकधर्म (लोकनीति) में व्यक्ति धर्म (व्यक्तिगत नैतिकता) से बहुत से अपवाद माने हैं।

इन दोनों मतों का समन्वय इस रूप में हो सकता है कि राष्ट्रों को अधिकाधिक नैतिक नियमों का पालन करना चाहिए किन्तु व्यवहार में राष्ट्र की नैतिकता और व्यक्ति की नैतिकता के मानदण्ड भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

व्यक्ति के लिए, समाज के सन्दर्भ में काण्ट के विचार उचित हैं—

"स्वयं सदा ही नैतिक पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, किन्तु ऐसे साधन जुटाने का प्रयास भी करना चाहिए जिससे अन्य लोग भी पूर्णता प्राप्त करने में सक्षम हो सकें; क्योंकि तुम्हारे लिए यह संभव नहीं है कि अन्य लोगों को पूर्ण बना सको।"[1]

फिर भी भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने पर राजनीति, नीति के विरुद्ध नहीं हो सकती। यद्यपि भारतीय राजनीति में साम, दाम, दण्ड और भेद स्वीकार किये गये हैं और इनमें दाम (भेंट आदि—जिसे सही शब्दों में रिश्वत (bribery) कहा जा सकता है) और भेद (फूट) दोनों ही नैतिकता की सीमा में नहीं आते; किन्तु इनके प्रयोग के लिए स्पष्ट विधान है कि अन्य सभी उपायों के विफल हो जाने पर तथा राज्य एवं प्रजा की रक्षा के लिए ही इन साधनों का प्रयोग किया जाय।

विशद दृष्टिकोण से तो राजनीति, नीति की एक शाखा ही है। नीति के अनुसार शासन व्यवस्था संचालन करने वाले राज्य को धर्मराज्य कहा जाता है; इसका कुछ रूप आधुनिक युग के कल्याणकारी राज्य (welfare state) की कल्पना में भी निहित है।

नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र (Ethics and Sociology)

समाजशास्त्र, सामाजिक सम्बन्धों, उनके प्रकारों आदि का अध्ययन करता है और नीतिशास्त्र, समाज की सुव्यवस्था किस प्रकार रहे, उन आदर्शों और कर्तव्यों को निर्धारित करता है, अतः स्पष्ट है कि समाज-

---

१ Try always to perfect thyself, and try to conduce to the happiness of others by bringing about favourable circumstances, as you cannot make others perfect.

—Kant

शास्त्र और नीतिशास्त्र में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। एक-दूसरे पर निर्भर ही कहे जा सकते हैं।

विचारकों ने इन्हें एक-दूसरे का पूरक कहा है।

फिर भी इन दोनों में कुछ अन्तर विचारकों ने बताये हैं—

(१) नीतिशास्त्र नियामक विज्ञान है; जबकि समाजशास्त्र विधायक विज्ञान है।

(२) समाजशास्त्र की अपेक्षा नीतिशास्त्र कम व्यावहारिक है।

(३) इन दोनों के क्षत्र अलग-अलग हैं तथा विधियों में भी अन्तर है।

इन दोनों में विशेष अन्तर यह है कि समाजशास्त्र मनुष्य के बाह्य-क्रिया-कलापों, व्यवहारों का ही अध्ययन करता है; जबकि नीतिशास्त्र व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष पर भी बल देता है।

लेकिन भारतीय दृष्टिकोण से नीतिशास्त्र समाज की उन्नति और सुव्यवस्था के आदर्श निश्चित करने के कारण एक प्रकार से समाजशास्त्र या नियामक विज्ञान ही है। इसके बिना, जैसाकि पंचतंत्रकार ने कहा है, सुव्यवस्थित समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान (Ethics and Psychology)

नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान में कुछ समानताएँ हैं तो कुछ अन्तर भी हैं। मनोविज्ञान यथार्थवादी विज्ञान है। वह सिर्फ संकल्पों की अवस्थाओं, मानव की मूल प्रवृत्ति आदि का वर्णन करता है; जबकि नीतिशास्त्र यह बताता है कि मानव को किस प्रकार के संकल्प करने चाहिए। यह आदर्शवादी विज्ञान है।

इन दोनों विज्ञानों के प्रकृति, क्षेत्र, दृष्टिकोण आदि में भी अन्तर है।

लेकिन मनोविज्ञान, एक प्रकार से, नीतिशास्त्र की पूर्वभूमिका तैयार करता है, वह बताता है कि मानव-मन में किस प्रकार के संकल्प उठते हैं और वे किन मूल प्रवृत्तियों से उद्भूत होते हैं तथा सामाजिक पर्यावरण एवं आनुवंशिकी से किस प्रकार प्रभावित होते हैं।

नीतिशास्त्र सामाजिक पर्यावरण, मानव-संकल्प एवं मूल-प्रवृत्तियों को सुधारात्मक रूप में नियमित करने के आदर्शों का निरूपण करता है। इन आदर्शों को तभी निर्धारित किया जा सकता है, जबकि मूल प्रवृत्ति और संकल्पों की प्रक्रिया का ज्ञान हो।

भारतीय दृष्टिकोण इस विषय में स्पष्ट है, वह कोरे यथार्थवाद को उचित नहीं मानता। भारतीय चिन्तन में मानवता का तकाजा यही है कि शुभ संकल्प ही किये जायें।

नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र (Ethics and Economics)

नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में गहरा सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र मनुष्य की आर्थिक धन-सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन करता है। आर्थिक संपन्नता एवं विपन्नता का अध्ययन भी अर्थशास्त्र का विषय है।

यद्यपि प्रकृति, दृष्टिकोण, क्षेत्र, निर्णय आदि विषयों में इन दोनों में अन्तर है किन्तु जहाँ तक मूल्य (value) का सम्बन्ध है, इन दोनों विज्ञानों में काफी साम्य है। अर्थशास्त्र के मूल्य नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं।

भारतीय दृष्टिकोण में तो नीति प्रमुख है और धन (अर्थ) गौण। आचार्य हेमचन्द्र तथा हरिभद्र सूरि ने मार्गानुसारी के ३५ बोलों में स्पष्ट कहा है कि मानव को न्याय नीति से धन का उपार्जन करना चाहिए तथा उसे नीति सम्पन्न होना चाहिए। अनीति अथवा नीति का त्याग करके उपार्जित किये हुए धन को भारतीय संस्कृति में निंद्य माना गया है।

यद्यपि प्राचीन अर्थशास्त्री और पश्चिमी अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ (Adam Smith) ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान (a Science of Wealth) बताया है किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इस परिभाषा से संतुष्ट नहीं हैं। वे अब अर्थशास्त्र में नीति के तत्वों का समावेश करना चाहते हैं। जैसा कि एक अर्थशास्त्री अपने विचार व्यक्त करता है—

"आधुनिक युग का अर्थशास्त्र केवल 'क्या है' का विज्ञान रहकर ही संतुष्ट नहीं है। वर्तमान समय में उपदेशों के बजाय सामाजिक तत्व पर अधिक बल दिया जाता है। अब अर्थशास्त्र के दर्शन की पुनः स्थापना की ओर प्रवृत्ति है इसका तात्पर्य मानव-जीवन के परम आदर्श की खोज से है, जहाँ तक कि वे आदर्श आर्थिक प्रक्रिया की सीमाओं में खोजे जाने संभव हो सकें।"[1]

---

1 "Present day Economics is not altogether content to remain a science of 'what is'. The current emphasis is less didactic and more social in character. The tendency now is in the direction of re-establishing a philosophy of Economics. And by this I mean a search for the ultimates of human life in so far as these can be discovered within the limits of economic process."

—E. W. Goodhue : Economics as Philosophy, International Journal of Ethics, Vol. xxxvi, No. 1.

यह आदर्श वे ही हैं जो नीतिशास्त्र निर्धारित करता है। अतः अर्थ-शास्त्र और नीतिशास्त्र कुछ मतभेदों के होते हुए भी परस्पर सम्बन्धित हैं।

नीतिशास्त्र और धर्म (Ethics and Religion)

धर्म और नीति का बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। नीति का निर्माण धर्म करता है और धर्म को तेजस्वी तथा प्रभावशाली बनाने में नीति पूर्णतया सहयोगिनी बनती है। इसे दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि धर्म भाई है और नीति बहन है। ये दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं।

जैन आचार्यों ने नीति को धर्म की अनुगामिनी बताया है—

णीइ धम्माणुगामिणी। धर्मविहीन नीति नीति नहीं कहलाती। और साथ ही **धम्माणुजोयणी**, धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाली भी माना है।

नीति का परम शुभ (ultimate good) वही है जो धार्मिक जीवन के व्यावहारिक पक्ष की पराकाष्ठा है। धर्म ने जिसे **सर्वभूतहितेरताः** कहा नीति ने उसी को परम शुभ कहा है। इसी को जैन विचारधारा ने स्वपर-कल्याण के रूप में व्याख्यायित किया।

कुछ पश्चिमी विचारक तो नीति को ही धर्म मानते हैं। मैथ्यू आरनाल्ड के शब्दों में—"धर्म, भावना से युक्त नैतिकता के अतिरिक्त कुछ नहीं है"[1]

यदि विशाल दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो नैतिकता और धर्म के व्यावहारिक पक्ष में कोई अन्तर नहीं है। नैतिक नियम वही हैं जो धार्मिक नियम हैं। हिंसा न करना, झूठ न बोलना, धोखा-फरेब आदि न करना—ये सभी नैतिक नियम भी हैं और धार्मिक नियम भी। नीति और धर्म दोनों में ही इनका समान महत्व है।

इसीलिए कहा गया है धर्म और नीति—दोनों ही तत्व जीवन निर्माण में आवश्यक हैं, इनके बिना जीवन मृत्यु तुल्य है।

अतः नीति और धर्म को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता, दोनों का जीवन में समान महत्व है, दोनों ही साथ-साथ समानांतर चलते हैं।

धर्म का लक्ष्य है—व्यक्ति को उत्तम सुखस्थान में पहुंचाना, और नीति का लक्ष्य है सामाजिक, वैयक्तिक आदि बाह्य परिस्थितियों का ऐसा निर्माण जिनसे व्यक्ति उस सुख-स्थान में पहुंच सके। इसीलिए जैनाचार्यों ने

---

1 Religion is nothing but morality touched with emotion.
—Matthew Arnold

धार्मिक जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में नैतिक जीवन को स्वीकार किया। दूसरे शब्दों में नैतिकता ही धार्मिकता की आधारशिला है।

नीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र (Ethics and Philosophy)

विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करने पर दर्शनशास्त्र इन पाँच विषयों का समन्वित रूप है—(१) प्रमाणशास्त्र (Epistemology), (२) सृष्टि विज्ञान (Cosmogony and Cosmology), (३) सत्ताशास्त्र (Ontology) (४) तत्वदर्शन अथवा तत्वविद्या (Metaphysics) और (५) ईश्वर तत्व दर्शन (Theology)।

इन पाँचों विषयों में से तत्वविद्या, आत्मदर्शन, ईश्वरदर्शन से नीति का सीधा सम्बन्ध है। नैतिक नियमों के पालन से ही मानव आत्मा शुभात्मा और परमात्मा के समीप पहुंचता है।

नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र की अनेक समस्याओं की विवेचना करता है। ऐसा भी है कि दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार नैतिक नियम भी प्रभावित होते हैं, बदलते हैं, परिवर्तित होते हैं।

जिन समाजों में आत्मा को अमर माना जाता है और उसके पुनर्जन्म सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है, वहीं नैतिक मूल्यों की स्थापना होती है। अन्यथा तो भारत के चार्वाक और यूनान के एपीक्यूरियनिज्म के अनुसार 'खाना, पीना और ऐश करना' ही मानव जीवन का ध्येय हो जाता है, फिर वहाँ कैसी नैतिकता ?

प्राचीन 'रायपसेणियसुत्त'[1] में वर्णन आता है। सावत्थी का राजा प्रदेशी पहले कट्टर नास्तिक था, वह न तो पुनर्जन्म मानता था न पूर्वजन्म। अपनी इस मान्यता के कारण वह क्रूर और नृशंस बन गया। प्रजा का उत्पीड़न तथा भोग-विलास में ही उसका जीवन बीत रहा था। किंतु केशी कुमार श्रमण के सत्संग से प्रदेशी राजा की विचारधारा बदल गई। वह परम आस्तिक व धार्मिक हो गया। उसने अपनी संपत्ति, शक्ति, व सत्ता को प्रजा के कल्याण में नियोजित कर दिया। विचारधारा बदलते ही उसका आचरण भी बदल गया। प्रजापीड़क शासक प्रजावत्सल बन गया। इससे सिद्ध होता है कि धार्मिकता के साथ नैतिकता का चोली-दामन का सम्बन्ध

---

१. प्रदेशी राजा का कथानक जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रसिद्ध है। देखें—रायपसेणिय सुत्त (जैन)

है। प्राचीन विपाकसूत्र में भी इस प्रकार के चरित्र परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

इसी प्रकार आत्मा के स्वरूप सम्बन्धी मान्यताओं के आधार पर नैतिक प्रत्यय भी बदल जाते हैं, नये-नये वाद खड़े हो जाते हैं। नीतिशास्त्र का सुखवाद आत्मा को वासनात्मक मानता है, बुद्धिपरकतावाद बौद्धिक और पूर्णतावाद बुद्धि और वासना दोनों को आत्मा के स्वरूप में सम्मिलित कर लेता है।

भारतीय उपनिषदों में भी कहीं आत्मा को वासनात्मक कहा गया है तो कहीं और मनरूप, कहीं उसको बुद्धि रूप भी स्वीकार किया गया है। जैसी दार्शनिक मान्यता होती है वैसे ही नैतिक सिद्धान्तों का निर्माण होता है।

अतः स्पष्ट है कि दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

इसी प्रकार सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) आदि अनेक विज्ञानों से नीतिशास्त्र का सम्बन्ध है। नैतिक प्रतिमानों (Norms) के अनुसार ही मनुष्य सौन्दर्य-असौन्दर्य की विवेचना/कल्पना करता है। वेशभूषा आदि को भी नैतिक धारणाएँ प्रभावित करती हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि नीतिशास्त्र एक नियामक विज्ञान है और इसका अन्य विज्ञानों से भी सम्बन्ध है। वस्तुतः नीतिशास्त्र की परिधि में मानव जीवन की अधिकांश क्रियाएँ तथा व्यवहार आ जाते हैं, अतः इसका अन्य विज्ञानों से सम्बन्धित होना स्वाभाविक ही है।

●

६

नीतिशास्त्र के विवेच्य विषय

नीतिशास्त्र मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू से जुड़ा हुआ है। मनुष्य के आचार-विचार, व्यवहार और क्रिया-कलाप इसकी परिधि के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं।

मानव, संसार के प्रत्येक भाग का मनुष्य, अपने चारों ओर के समाज को, अन्य व्यक्तियों को देखता है, उनके चाल-चलन और व्यवहार को देखता है, स्वयं भी उनसे व्यवहार करता है और प्रेमपूर्ण–सहज सम्बन्ध बनाने के प्रयास भी करता है।

लेकिन वह देखता है कि समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार की रुचि-प्रवृत्ति वाले मनुष्य हैं। कुछ लोग सहयोग और समन्वय में विश्वास करने वाले हैं तो कुछ विघ्नसंतोषी भी हैं।

ऐसी स्थिति में उसके सामने कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं, यथा—

(१) न्याय क्या है और इसे प्राप्त करने का तरीका क्या है ?

(२) कर्तव्य क्या है और साथ ही क्या अकर्तव्य है अर्थात् करणीय कार्य और अकरणीय कार्य क्या हैं ?

(३) श्रेय और अश्रेय ?

(४) सदाचार और दुराचार ?

और फिर वह यह भी सोचता है कि उसके जीवन में उपयोग आने वाले साधनों/वस्तुओं तथा आचार-विचारों का क्या मूल्य है ? यह मूल्य कैसे निर्धारित होता है, इन मूल्यों का जीवन में क्या महत्व है ?

ये सभी और इन जैसे ही अन्य अनेक प्रश्न बुद्धिशील मानव के

मस्तिष्क में सहज ही उठते हैं। इनका समाधान नीतिशास्त्र देता है। दूसरे शब्दों में यह सभी नीतिशास्त्र के विवेच्य विषय हैं।

न्याय का विवेचन

न्याय, मानव के सामाजिक जीवन की उन्नति का एक सुदृढ़ आधार है। यह सामाजिक व्यवस्थाओं और उनके सुचारु संचालन की नींव भी है। जिस समाज में व्यक्ति को उचित न्याय नहीं मिल पाता, वह समाज विशृंखलित होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। मानव का भी नैतिक पतन हो जाता है।

अतः नीतिशास्त्र में न्याय का विशेष महत्त्व है। न्याय क्या है, उसका सामाजिक जीवन में क्या महत्व है, व्यक्ति किन साधनों से न्याय प्राप्त कर सकता है, सामाजिक एवं वैयक्तिक न्याय में परस्पर क्या संबंध है? आदि सभी बातों का विवेचन नीतिशास्त्र का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।

प्लेटो ने तो अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' (Republic) में न्याय को ही प्रमुख विषय बनाया है और उपरोक्त सभी बातों का विवेचन किया है।[1]

तथ्य यह है कि यदि राज्य अथवा समाज की व्यवस्था समुचित और सर्वजनसुलभ न्याय पर आधारित नहीं होती तो वहाँ मत्स्य न्याय[2] अथवा जंगल-कानून (wild law) की प्रवृत्ति पनपेगी, जिसमें शक्तिशाली निर्धनों का शोषण करेंगे, उन्हें अनुचित तरीकों से दबायेंगे, उनके उचित अधिकारों का हनन करेंगे, ऐसी स्थिति में समाज में अव्यवस्था फैल जायेगी, व्यक्ति का जीवन भी सुरक्षित नहीं रह सकेगा।

इसीलिए नीतिशास्त्र न्याय का विवेचन करता है, न्याय पाने के सुगम तरीके बताता है तथा उन विधियों को भी सुझाता है, जिनसे न्याय सर्वसाधारण को सरलता से सुलभ हो सके।

---

१. In the Republic justice is called the health of the soul and ethics are described as the inquiry into justice.

—Erdmann : A History of Philosophy (Eng. Translation) Vol. I, p. 121

२. परस्परामर्षितया जगतो भिन्न वर्त्मनः।
दण्डाभावे परिध्वंसी मात्स्योन्यायः प्रवर्तते ॥ —कामन्दकीय नीतिसार २/४०

यही कारण है कि न्याय, नीतिशास्त्र का प्रमुख विवेच्य है।

कर्तव्य का विवेचन

कर्तव्य का सम्बन्ध न्याय के साथ घनिष्ट रूप से जुड़ा हुआ है। कर्तव्य के अभाव में न्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिस समाज के व्यक्ति कर्तव्यशील नहीं होंगे, वहाँ न्याय की व्यवस्था भी नहीं टिक सकेगी।

नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र कर्तव्य के साथ अधिकार का सम्बन्ध मानते हैं। उनके मत में कर्तव्य और अधिकार एक ही सिक्के के दो पहलू (two sides of the same coin) हैं। उन अधिकारों में वे न्याय का अधिकार भी सम्मिलित करते हैं।

नीतिशास्त्र की मान्यता यह है कि कर्तव्य और न्याय का अविनाभावी सम्बन्ध है और चूंकि कर्तव्यों का निर्धारण करना, नीतिशास्त्र का कार्य है[1] अतः वह न्याय के साथ कर्तव्यों का विवेचन भी करता है।

यह तथ्य है न्याय व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति के कर्त्तव्य निर्धारित होते हैं और कर्त्तव्यों का उचित परिपालन न्याय व्यवस्था का आधार है।

इनमें से कुछ कर्त्तव्य तो व्यक्ति के लिए सामान्य होते हैं, उदाहरणार्थ—सत्य बोलना, उचित व्यवहार करना, अपशब्द न बोलना आदि। और कुछ कर्त्तव्य ऐसे होते हैं जो समाज में व्यक्ति के पद के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं जैसे—गुरु और शिष्य के कर्त्तव्य। धनी-निर्धन, स्वामि-सेवक, पति-पत्नी आदि के कर्त्तव्य।

भारतीय समाज व्यवस्था में विभिन्न वर्ण, आश्रम, जाति आदि के आधार पर भी कर्त्तव्यों का निर्धारण हुआ है।

कर्तव्यों का आधार कुछ भी हो, किन्तु उनका परिपालन सामाजिक सुव्यवस्था के लिए आवश्यक है। नीतिशास्त्र भी इन कर्तव्यों का निर्धारण करता है और इनके परिपालन पर काफी बल देता है।

पश्चिमी मनीषी काण्ट तो नीतिशास्त्र को कर्त्तव्यशास्त्र ही मानता है। वह कर्त्तव्य (duty) और नैतिक नियम (moral laws) के प्रत्यय के

---

१. एवं कर्तव्यमेवं न कर्तव्यमित्यात्मको यो धर्मः सा नीतिः।
—द्याद्विवेद (नीतिमंजरी)

उद्गम विकास आदि पर गम्भीर विवेचन करता है। वह तो इसी आधार पर नीतिशास्त्र की सम्भाव्यता भी स्वीकार करता है।[1]

भगवान महावीर ने कहा है—

प्रत्येक व्यक्ति को नित्य प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम यह विचार करना चाहिए—मैंने क्या कर्त्तव्य किया है और क्या नहीं किया और क्या करना शेष है ? ऐसा कौन-सा कर्त्तव्य है, जिसे मैं कर तो सकता हूँ, मेरे लिए सम्भव है, किन्तु उस कर्त्तव्य का मैं पालन नहीं कर रहा हूँ। अपने आपसे इस प्रकार के प्रश्न करके व्यक्ति को स्वयं अपने कर्त्तव्य पथ—करणीय कर्त्तव्यों को स्पष्ट करके उनका आचरण करना चाहिए।[2]

कर्त्तव्य पथ को स्पष्ट करते समय तथा करणीय कर्त्तव्यों का निर्धारण करते समय कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य, करणीय तथा अकरणीय का निर्णय करना आवश्यक है। इस निर्णय के लिए विधि-निषेध के मानदण्ड भी निश्चित करने अनिवार्य हैं। साथ ही कर्त्तव्य के हेतु एवं साधन भी निश्चित करने पड़ेंगे और फिर फलाफल पर भी विचार करना पड़ेगा।

कर्त्तव्य सम्बन्धी यह सम्पूर्ण विवेचन नीतिशास्त्र का विषय है। इसीलिए नीतिशास्त्र को कर्त्तव्य का शास्त्र भी कहा गया है।

श्रेय का विवेचन

न्याय, व्यक्ति मात्र का अधिकार है और इस अधिकार का आधार है कर्तव्य। कर्त्तव्य करने वाले को ही अधिकार प्राप्त होता है। इस दृष्टि से अधिकार—न्याय की अपेक्षा कर्त्तव्य बड़ा है और कर्त्तव्य से भी आगे है—श्रेय।

न्यायपूर्ण आचरण क्यों किया जाय ? कर्त्तव्यों का पालन किसलिए करना चाहिए ? इन जैसे सभी प्रश्नों का उत्तर है—श्रेय; श्रेय प्राप्ति के लिए।

प्लेटो ने कहा है—न्याय और कर्त्तव्य पालन से समाज का हित या श्रेय होता है, इसलिए न्याय और कर्त्तव्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

---

१ Such a philosophy must be possible is evident from the common idea of duty and of the moral laws.
—Kant's Selection, Scribner's series, p. 268

२. से पुव्वरत्तावररत्त काले संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किच्चमकिच्च सेसं किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥
—दशवैकालिक चूलिका २/१२

और न्याय तथा कर्त्तव्य पालन की स्थिति श्रेय के प्रत्यय में है। इसीलिए नीतिशास्त्र श्रेय का विवेचन करता है।

श्रेय क्या है ? अश्रेय क्या है ? श्रेय की प्राप्ति कैसे और किस प्रकार हो सकती है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर नीतिशास्त्र देता है।

पश्चिमी विचारकों हेगेल तथा काण्ट ने न्याय तथा कर्त्तव्य को ही श्रेयमूलक माना है, किन्तु भारतीय विचारकों ने श्रेय को न्याय व कर्तव्य से श्रेष्ठ स्वीकार किया है।

भगवान महावीर ने कहा है—मनुष्य को धर्म सुनना इसलिए आवश्यक है कि उससे उसे श्रेय और अश्रेय का ज्ञान हो जाता है और श्रेय-अश्रेय को जानने के बाद जो श्रेय है, जीवन में हितकारी है उसका आचरण उसे करना चाहिए।[1]

कठोपनिषद् में भी श्रेय और प्रेय का विवेचन करने के बाद श्रेय के आचरण की प्रेरणा दी गई है।[2]

यहां विशेष ध्यान देने की बात यह है कि पश्चिमी नीतिशास्त्र न्याय एवं कर्त्तव्य का विवेचन श्रेय (good) के साथ करता है। 'कोई कार्य अथवा व्यापार श्रेय क्यों है ? क्योंकि यह न्यायमूलक है।' यह हेगेल की धारणा है और कांट किसी कार्य या क्रिया अथवा व्यापार को श्रेय इसी कारण मानता है कि वह कर्त्तव्य के अनुसार है।'

किन्तु भारतीय दर्शन, दूसरे शब्दों में नीतिशास्त्र, जब न्याय एवं कर्त्तव्य के क्षेत्र से आगे बढ़कर श्रेय के क्षेत्र में पहुँचता है तो वह धर्मशास्त्र बन जाता है। जहां न्याय एवं कर्त्तव्य में विरोध का आभास होता है वहां श्रेय उनका निर्णय करता है। इसीलिए श्रेय धर्मशास्त्र का प्रतिनिधि बनता है, और धर्म के क्षेत्र में आता है।

आचार्य जिनदास गणी ने कहा है—"सभी धर्म या कर्त्तव्य सिद्धि के साधन नहीं हो सकते, किन्तु जो जिसके योग्य अथवा श्रेय का अनुगामी है, वह साधन होता है।"[3]

---

१. जं सेयं तं समायरे। —दशवैकालिक ४/११

२. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥
—कठोपनिषद् २।१।२

३. धम्मो वि जओ सव्वो न साहणं किन्तु जो जोग्गो। —विशेषावश्यकभाष्य ३३१

श्रेय और शिव दोनों शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं, और वह है कल्याण। इस 'कल्याण' अथवा श्रेय का विवेचन करना नीतिशास्त्र का विषय है। 'सत्य' का विवेचन तर्कशास्त्र का विषय है और 'सुन्दर' का विवेचन सौन्दर्यशास्त्र का।

भगवान महावीर ने श्रावक का एक गुण बताया है—सेयट्ठी—श्रेयार्थी। यानी श्रावक अपने कल्याण की इच्छा करने वाला हो। नीतिशास्त्र इस श्रेय (ultimate good) की विवेचना करता है जो श्रावक के लिए आवश्यक है, क्योंकि श्रावक नीतिवान गृहस्थ होता है। उसका सम्पूर्ण जीवन-व्यवहार ही नीति द्वारा संचालित होता है।

अतः श्रेय नीतिशास्त्र का प्रमुख विवेच्य विषय है।

सदाचार का विवेचन

सदाचार, नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों का ही विवेच्य विषय है। नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र दोनों ही सदाचार की विवेचना करते हैं। किन्तु कौन-सा सदाचार नीतिशास्त्र का विषय है और कौन-सा धर्मशास्त्र का, इनके बीच में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना सम्भव नहीं है क्योंकि सत्य बोलना, किसी का दिल न दुखाना, अपशब्द न कहना, सरल निष्कपट व्यवहार करना आदि बातें नीतिशास्त्र के अन्तर्गत भी आती हैं और धर्मशास्त्र भी इन सभी बातों को अपना विवेच्य विषय बनाता है।

फिर भी कुछ विद्वानों ने, सदाचार के सम्बन्ध में, धार्मिक और नैतिक सदाचार कहकर सीमारेखा खींचने का प्रयास किया है। ऐसे विद्वानों ने अंग्रेजी शब्द ethics अथवा Ethos जिसका अभिप्राय रीति-रिवाज, आदत या परम्परागत देश-काल का—समाज का आचार[1] होता है, वहीं तक नीति शास्त्र की सीमा स्वीकार की है। वे लोग नीतिशास्त्र के अन्तर्गत सदाचार को समाजपरक मानते हैं।

---

1. Muirhead : The Eleme..ts of Ethics, p. 4.

तुलना करिये—

'कृतसंगः सदाचारैः (सदाचारी पुरुषों की संगति करे) प्रसिद्धं च देशाचारं समाचरन् (प्रसिद्ध देशाचार का पालन करे) अदेश कालचर्यां त्यजन् (देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करे)''''आदि

—हेमचन्द्राचार्य, योगशास्त्र १। ४७—५६ तथा

—आचार्य हरिभद्र कृत योगबिन्दु (श्रावक के ३५ बोल)

किन्तु भारत के सभी दार्शनिकों तथा धर्म के व्याख्याताओं ने मानव के समस्त चरित्र—आचार के विभिन्न पहलुओं पर विचार करके सदाचार पालन की विविध मर्यादाओं का विवेचन भी किया है। और यह समस्त विश्लेषण नीतिशास्त्र के अन्तर्गत ही समाहित है।

भारत में धर्म पालन—धर्म का व्यावहारिक आचरणीय रूप और सदाचार लगभग समानार्थक माने गये हैं। कहा गया है—**आचारः परमो धर्मः** आचार—सदाचार ही परम—प्रमुख धर्म है तथा **न धर्मो धार्मिकैः विना**[1]—धार्मिक व्यक्तियों के अभाव में धर्म नहीं टिक सकता। और धार्मिक वही व्यक्ति हो सकता है, जो सदाचारी हो। अतः सदाचार धर्म और नीति दोनों से ही सम्बद्ध है।

सदाचार के अन्तर्गत मानव का चरित्र (character) व्यवहार (conduct) और शील (virtue) तीनों ही समाहित होते हैं। इन सबकी व्याख्या, विवेचना और विश्लेषण करना, नीतिशास्त्र का कार्य है।

स्मृतियों आदि में जो मानव के सदाचार का वर्णन है, वह सब नीतिशास्त्र का ही विषय है।

जैनधर्म के आचारांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, उपासकदशांग आदि सूत्रों में भी मुख्यतः आचार का निर्देश है। आवश्यकचूर्णि भाष्य, व्यवहारभाष्य में भी सदाचार सम्बन्धी वर्णन है। योगबिन्दु, योगशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी श्रावकों के आचार का निर्देश है। यह सब एक दृष्टि से विचार किया जाय तो नीतिशास्त्र का ही विषय है।

जैन साहित्य में वसुनन्दी श्रावकाचार, रत्नकरंड श्रावकाचार आदि गृहस्थ के सदाचार की व्याख्या व निर्धारण करने वाले पचासों ग्रन्थ लिखे गये हैं।

सदाचार के अन्तर्गत मानव चरित्र क्या है? चरित्र का उद्देश्य तथा महत्व क्या है? सच्चरित्र, असच्चरित्र तथा दुश्चरित्र में क्या अन्तर है? इनको निर्धारित करने वाले मानदण्ड क्या हैं? समाज के सभी अथवा अधिकांश सदस्य किस प्रकार सच्चरित्री बन सकते हैं? सच्चरित्र के लिए कौन-से कार्य करणीय हैं और कौन-से अकरणीय? आदि सभी पहलुओं का विवेचन नीतिशास्त्र का कार्य है।

---

१. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरंड श्रावकाचार, श्लोक २६

सदाचार में दो शब्द समाहित हैं—सत् और आचार। कोई आचार जब व्यक्ति के, स्वयं के लिए तथा साथ ही समाज के लिए भी, सत् अर्थात् कल्याणकारी होता है, तभी वह सदाचार कहलाता है। और कल्याण (good) नीतिशास्त्र का विषय है, अतः नीतिशास्त्र को इस अपेक्षा से सदाचार-शास्त्र भी कहा जा सकता है।

मूल्य का विवेचन

'अमुक व्यक्ति सज्जन (gentle) है', 'अमुक दुष्ट (rude) है', 'गांधी जी राजनीतिक संत (political saint) थे', 'राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे', 'रावण पापी था'—इस प्रकार की धारणाएँ साधारणतया मनुष्य अन्य व्यक्तियों के प्रति बनाया करते हैं। इन धारणाओं को ही नीतिशास्त्र में मूल्यांकन कहा जाता है।

ये धारणाएँ, अनर्गल और अनायास नहीं बनतीं, इनका ठोस आधार होता है। यह आधार व्यक्ति के जीवन-चरित्र में व्याप्त और प्रगट विशेषताओं से सम्बन्धित होता है। व्यक्ति का नैतिक चरित्र और व्यावहारिक चरित्र कैसा है, यह इन धारणाओं से स्पष्ट होता है। नैतिक चरित्र, नैतिक मूल्यों पर आधारित होता है। इसीलिए नीतिशास्त्र में मूल्यों (values) का भी विवेचन किया जाता है।

न्याय, कर्तव्य और श्रेय के विवेचन को मनीषियों ने नीतिशास्त्र का दार्शनिक पहलू कहा है और सदाचार को धार्मिक तथा सामाजिक; किन्तु अरबन (Urban) जैसे कुछ आधुनिक नीतिशास्त्रियों ने नीतिशास्त्र को 'सुव्यवस्थित मूल्यांकन का विज्ञान'[1] माना है।

इस दृष्टि से, नीतिशास्त्र में नैतिक निर्णय का स्वरूप, कर्ता, विषय, मानदण्ड आदि का विवेचन अथवा नैतिक निर्णयों का अध्ययन किया जाता है। किसी व्यक्ति को बुरा (wrong—rude) अथवा भला (gentle—right) कहने का आधार क्या है? इसकी कसौटी क्या है? इन सभी नैतिक मूल्यों का विवेचन नीतिशास्त्र करता है।

---

1. Ethics is then, in the last analysis, just the science of systematized valuing, or otherwise expressed, the valuing activity of man made systematic.

— W. M. Urban : Fundamentals of Ethics, p. 8

भगवान महावीर से एक बार किसी जिज्ञासु ने जिज्ञासा की—

"भगवन् ! साधु तथा असाधु किसे कहना चाहिए, इसकी कसौटी क्या है ?

भगवान् ने कहा—

गुणेहि साहू, अगुणेहि असाहू
गिण्हाहि साहू, गुणमुंचऽसाहू[1]

अर्थात् जो गुणों को ग्रहण करता है, वह साधु (भला—सज्जन) है और जो गुणों (सत्य, शील, सदाचार आदि) का त्याग करता है वह असाधु (असज्जन—बुरा) है। गुण स्वीकार करने में साधुता है और गुणों का त्याग करने में असाधुता।

यहाँ साधु और असाधु का अर्थ व्यापक रूप से ग्रहण करना चाहिए। साधु का अभिप्राय है—सज्जन पुरुष, ऐसा व्यक्ति जिसमें सामाजिक, धार्मिक आदि सभी दृष्टिकोणों से उचित एवं नैतिक मूल्य हों, जिसका चरित्र श्लाघनीय हो। असाधु, इसके विपरीत नैतिक मूल्यों से रहित व्यक्ति होता है, जिसका जीवन और चरित्र उचित नहीं होता।

तो यह है कसौटी ! मूल्यांकन !

चाणक्य ने भी एक श्लोक में मनुष्य की कसौटी बताई है। वह कहता है—"जिस प्रकार घर्षण, छेदन, ताड़न और तापन—चार प्रकार से सोने की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार श्रुत, शील, कुल और कर्म द्वारा मानव की कसौटी अथवा परीक्षा की जाती है।"[2]

चाणक्य के इस कथन में मानवता के मानदण्ड (प्रतिमान) का, मूल्यांकन का स्पष्ट संकेत मिलता है।

इसी प्रकार मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा अपने द्वारा किये जाने वाले कार्यों का भी मूल्यांकन करता है, कर्तव्याकर्तव्य का सही निर्णय करता है। भोज प्रबन्ध में इस बात को इन शब्दों में प्रगट किया गया है—

---

१ दशवैकालिक ९/३/११

२ यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षणच्छेदन-ताप-ताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते, श्रुतेन-शीलेन-कुलेन-कर्मणा॥

"ऐसा करने से क्या होगा और न करने से क्या होगा ? इस प्रकार मानसिक चिन्तन-मनन पूर्वक किसी कार्य को करने या न करने का निर्णय बुद्धिमान पुरुष करते हैं।"[1]

इस कथन में भी मूल्यांकन का विचार स्पष्ट हो रहा है।

पश्चिमी जगत में जब अरस्तू ने मननशील जीवन (Contemplative life) को सर्वश्रेष्ठ जीवन कहा तो उसका अभिप्राय भी नैतिक मूल्यांकन अथवा मूल्यों की प्रतिष्ठा से था।

आधुनिक पाश्चात्य नीति वैज्ञानिकों ने मूल्यों पर कुछ अधिक गहराई से चिन्तन किया है। उन्होंने मूल्यों को दो प्रकार का माना है—(१) आन्तरिक या स्वतःप्रेरित (Intrinsic) और परतः प्रेरित (Extrinsic). ऐसा भी होता है कि एक ही वस्तु अथवा गुण, जैसे 'प्रसन्नता' में आन्तरिक और बाह्य—दोनों ही प्रकार के मूल्य होते हैं, साथ ही उसका स्वतन्त्र मूल्य भी होता है।

मूल्यों के विषय में विभिन्न विचारधाराओं में मतभेद हैं। सुखवादी (Hedonists) सुख की प्रतीति को शुभ मूल्य मानते हैं और दुःख की प्रतीति को अशुभ। भौतिकवादी विचारधाराएँ वस्तुओं में मूल्य मानती हैं, जबकि अध्यात्मवादी आत्मा की अन्तर्मुखी परिणति/प्रवृत्तियों में। उनका कथन है, विभिन्न परिस्थितियों में एक वस्तु मूल्यवान होती है जब कि वही वस्तु अमूल्य हो जाती है। जैसे सर्दियों में गर्म कपड़ों का मूल्य होता है, किन्तु गर्मियों में नहीं।

अध्यात्मशास्त्री सारे मूल्यों—शुभ (good) और अशुभ (evil) को आध्यात्मिक मानते हैं और भौतिकवादी इन्हें (मूल्यों को) वस्तुओं में ही स्वीकार करने का आग्रह रखते हैं। निष्पक्ष एकतत्ववादी (Neutral Monists) जगत को मूल्यशून्य मानते हैं। इसी प्रकार मूल्यों के मानदण्ड (Standards) के बारे में भी विभिन्न विचारधाराओं के अपने-अपने विचार हैं।

अतः पश्चिम के मनीषियों ने मूल्यों और अमूल्यों के परीक्षण के लिए एक नये मूल्य मीमांसा शास्त्र (Axiology) का ही निर्माण कर दिया और इसी शास्त्र के अनुसार नीतिशास्त्र के मूल्यों का शुभत्व, अशुभत्व, औचित्य,

---

१. भोज प्रबन्ध २३

अनौचित्य, श्रेय, प्रेय, सदाचार आदि के नियमों की मीमांसा करने लगे तथा नीतिशास्त्र को मूल्यांकन का विज्ञान ही निर्धारित कर दिया।

यद्यपि मूल्यांकन तो, विशेषरूप से अन्य व्यक्तियों के चरित्र सम्बन्धी मूल्यांकन तो, सभी करते हैं, यह सर्वत्र प्रचलित है, किन्तु इसका एक पृथक शास्त्र के रूप में, गहराई से विश्लेषण पश्चिमी मनीषियों की देन है। वे नीतिशास्त्र को मूल्यांकन का विज्ञान मानते हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है नीतिशास्त्र न्याय और अन्याय का विवेचन करता है, साथ ही न्याय किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, उन उपायों का भी संकेत करता है। इसी प्रकार कर्तव्य-अकर्तव्य, श्रेय-अश्रेय, सदाचार-दुराचार आदि भी इसके विवेच्य विषय हैं। विवेचन के साथ ही यह सदाचरण आदि के उपाय भी बताता है और इन उपायों को परमशुभ की प्राप्ति में आवश्यक मानता है। साथ ही मानव को परमशुभ की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है।

नीतिशास्त्र इन विवेच्य विषयों के साथ-साथ मानव के मूल्यांकन, चरित्र सम्बन्धी मूल्यांकन के लिए ठोस आधार प्रस्तुत करता है। सज्जन, दुर्जन, सदाचारी-दुराचारी, उपयोगी-अनुपयोगी आदि, कोई व्यक्ति किस प्रकार का है, समाज-राष्ट्र-परिवार आदि के लिए उपयोगी है अथवा नहीं—इन सब तथ्यों का विवेचन भी नीतिशास्त्र का विषय है।

नीतिशास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता है—वस्तुओं तथा व्यक्तियों—सजीव और निर्जीव का मूल्यांकन। इस मूल्यांकन का आधार है, परमशुभ की प्राप्ति में उपयोगिता।

अतः नीतिशास्त्र मानव-जीवन तथा समाज की सुव्यवस्था के लिए एक उपयोगी विज्ञान है और इसी दृष्टि से वह मानव के विभिन्न चारित्रिक गुणों की विवेचना करता है।

●

७.

नैतिक प्रत्यय
(MORAL CONCEPTS)

नैतिक प्रत्यय का तात्पर्य (Meaning of Moral Concept)

मनुष्य का अर्थ है—मननशील प्राणी। प्राणिजगत में वह सर्वाधिक विकसित चेतना का स्वामी है।

प्रबुद्ध और विकसित चेतना का स्वामी होने के कारण मानव अपने चारों ओर के परिवेश को बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से देखता है, घटित होने वाली घटनाओं पर विभिन्न दृष्टिकोणों से चिन्तन-मनन करता है, निष्कर्ष निकालता है और उन निष्कर्षों के आधार पर अपनी भावी योजना बनाता है।

ये निष्कर्ष सूक्ष्म होते हुए भी अभिकल्प अथवा प्रतिमान (Pattern) के रूप में होते हैं। मनोविज्ञान में इन्हें प्रत्यय (Concept) कहते हैं। वुडवर्थ ने प्रत्ययों को, घटनाओं, वस्तुओं और गुणों के उल्लेखनीय विचार बताया है। जेम्स रॉप ने इन्हें मस्तिष्कीय नमूना कहा है।

नतिक प्रत्ययों का आधार नीति सम्बन्धी विचार अथवा अवधारणा होते हैं। जैसाकि नीतिशास्त्र की विषयवस्तु से स्पष्ट है कि इसमें प्रचलित सामाजिक रीति-रिवाजों (mores) का समावेश प्रमुखतया होता है अतः रीति-रिवाजों को जब मानव मस्तिष्कीय नमूनों (mental pattern) के रूप में ग्रहण करता है तो वे नैतिक प्रत्यय बन जाते हैं।

अतः नैतिक प्रत्ययों को व्यवहार में आने वाली वस्तुओं, घटनाओं के प्रति मानव की मनोवृत्ति कहा जा सकता है। इस प्रकार नैतिक प्रत्यय आदेशात्मक विचार (normative ideas) हैं, जो व्यक्ति एवं समाज को व्यव-

हार के लिए धारण करने पड़ते हैं और इनके अनुरूप अपना पारस्परिक व्यवहार निश्चित करना पड़ता है।[1]

स्पष्ट है कि सामाजिक रीति-रिवाजों के अनुसार नैतिक प्रत्यय भी बन जाते हैं। उदाहरणार्थ, जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर अध्यात्मवादी के शब्दों में होगा—सभी प्रकार के दुखों से मुक्ति अथवा मोक्ष—अनन्त अव्याबाध सुख की उपलब्धि। जबकि भौतिकवादी शारीरिक सुखों के निराबाध भोग को ही जीवन का सर्वोत्तम या चरम लक्ष्य स्वीकार करेगा। इस प्रकार के उत्तर अन्य प्रश्नों के भी प्राप्त होंगे। यह दृष्टिकोण का अन्तर है, जो देश-काल, तथा सभ्यता और संस्कृति की भिन्नता को स्पष्ट प्रकट करता है।

नैतिक प्रत्ययों का विश्लेषण

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि नीतिशास्त्र का विषय सिर्फ नैतिक नियमों की बौद्धिक व्याख्या करना मात्र ही नहीं, अपितु उन नियमों के अनुसार जीवन-यापन करना, जीवन एवं व्यवहार की शुद्धि और सदाचार का परिपालन भी नीतिशास्त्र का विषय है।

किन्तु कुछ आधुनिक नीतिविज्ञानी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, श्रेय-प्रेय, उचित-अनुचित आदि नैतिक प्रत्ययों का बौद्धिक विश्लेषण ही नीतिशास्त्र का विषय स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में, न्याय-अन्याय आदि नैतिक प्रत्ययों का अर्थ-निश्चय ही, ये विद्वान, नीतिशास्त्र का कार्य मानते हैं।

अर्थ-निश्चय का इनका आधार हृदयगत भाव (feeling or emotions) है। किसी कार्य को देखकर सुखद अनुभूति होने को ये विद्वान अच्छाई (good) मानते हैं और दुखद अनुभूति को बुराई (evil)।

उदाहरणार्थ, किसी अन्धे व्यक्ति की लाठी पकड़कर उसे सही राह पर लगा देने से व्यक्ति के हृदय में जो सुखद अनुभूति (sensation) होती है, वही अच्छाई है और एक्सीडेण्ट में किसी व्यक्ति के घायल हो जाने पर उसे कराहता देखकर भी उसके प्रति जो लापरवाही; उपेक्षा अथवा निर्दयता के भाव आते हैं, वही बुराई (evil) है। इसी प्रकार न्याय-अन्याय के विषय में भी इन विद्वानों के विचार को प्रणाली है।

---

1. Moral concept is a normative idea which is conceived by individual and society and behaviour is determined accordingly.

—चटर्जी, शर्मा, दास : नीतिशास्त्र, पृ० ७८

अच्छाई-बुराई आदि सभी नैतिक प्रत्ययों को स्वीकार करने का इनका आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही है, आत्मा तक इनकी पहुंच नहीं है।

इस विचारधारा के प्रतिनिधि विद्वान इंग्लैण्ड के श्री ए० जी० एयर हैं। ये तो नैतिक प्रत्ययों (concepts) को प्रत्ययाभास (pseudo concepts) मानते हैं और कहते हैं कि इन प्रत्ययों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता; अतः इन प्रत्ययों का नीतिशास्त्र में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। ये तो मात्र भावनाएँ अथवा संवेग हैं जो मनोविज्ञान अथवा समाजविज्ञान के विषय हैं। तथा नीतिशास्त्र मनोविज्ञान अथवा समाजविज्ञान की एक शाखा मात्र है।[1]

इस प्रकार ये विचारक नैतिक आचरण की तो बात ही क्या उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को ही नकारते हैं। नीतिशास्त्र के क्षेत्र को इतना सीमित कर देते हैं कि वह अपना मूल्य ही खो बैठता है।

किन्तु भारत में यह विचारधारा कभी भी स्वीकार-योग्य नहीं रही। यहाँ तो धर्म और नीति का अभिन्न सम्बन्ध रहा है। साथ ही नीतिशास्त्र का कार्य नैतिक प्रत्ययों के निर्धारण के साथ-साथ उनके आचरण पर भी बल देना रहा है। दूसरे शब्दों में, नीतिविज्ञानी और नैतिक आचरण करने वाले मनुष्य ही नैतिक कहे जाते रहे हैं।

दुर्योधन के शब्दों में—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः

जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः

अनीति में परिगणित किये गये हैं।

ज्ञान और आचरण का समन्वय भारतीय संस्कृति का शाश्वत उद्घोष रहा है। यही बात नीतिशास्त्र के ज्ञान एवं आचरण के विषय में भी सत्य है। आचरणहीन ज्ञान यहाँ दम्भ का पर्याय माना गया है।

---

१ We find that ethical philosophy consists simply in saying that ethical concepts are pseudo-concepts and therefore unanalysable. The further task of describing the different feelings that the different ethical terms are used to express and the different reactions that they customarily provoke is a task for the psychologist....It appears, then, that ethics, as a branch of knowledge is nothing more than a department of psychology or sociology.

ए० जी० एयर—लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लाजिक, पृ० ११२

उद्धृत—संगमलाल पाण्डेय : नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० १०

इस प्रकार नैतिक प्रत्ययों के सम्बन्ध में पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोण का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अतः यहाँ नैतिक प्रत्ययों को पाश्चात्य और भारतीय इन दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

पाश्चात्य नैतिक प्रत्यय हैं—

(१) नैतिक शुभ (२) उचित और अनुचित, (३) नैतिक कर्तव्य, (४) नैतिक गुण और अवगुण, (५) पुण्य और पाप, (६) स्वतन्त्रता और (७) नियतिवाद।

भारतीय नैतिक प्रत्यय हैं—

(१) वर्ण व्यवस्था, (२) आश्रम व्यवस्था, (३) पुरुषार्थ, (४) ऋण विचार, (५) धर्म का पालन, (६) कर्मफल का सिद्धान्त, (८) पूर्व जन्म के संस्कार आदि।

यह वर्गीकरण स्थूल दृष्टि से है। पाश्चात्य प्रत्यय भारतीय प्रत्ययों की सीमा से बाहर नहीं है। भारतीय विचारधारा में इन सभी प्रत्ययों पर विचार किया जाता है। साथ ही उपरोक्त परिगणित प्रत्यय ही अन्तिम नहीं हैं, इसके अतिरिक्त भी नैतिक प्रत्यय हैं और हो सकते हैं, जो मानव के नैतिक जीवन को प्रभावित करते हैं।

नैतिक शुभ

नैतिक शुभ (moral good) का सम्बन्ध व्यक्ति के संकल्प से होता है। संकल्प ही शुभ होता है और अशुभ भी होता है। कष्टपीड़ित व्यक्तियों की व्यथा को दूर करने का संकल्प शुभ है और उनकी पीड़ा बढ़ाने का विचार अशुभ है। संक्षेप में, मानवधर्म का पालन करना, हृदय में उदारता रखना, नैतिक शुभ है।

नीतिशास्त्र परमशुभ (ultimate good) के प्रत्यय पर भी विचार करता है। परमशुभ का संकल्प ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है, जिसमें शुभत्व का चरमबिन्दु तो उपलब्ध होता ही है, साथ ही व्यक्ति में आत्म-सन्तुष्टि (self contentment) की भावना भी हिलोरें लेती है।

परमशुभ के उदाहरण, ईश्वरभक्ति, सभी प्राणियों की मंगलकामना और इससे भी बढ़कर प्राणीमात्र को अपनी आत्मा के समान समझना है।

जैनदृष्टि—भगवान महावीर ने जो कहा है—**अत्तसमे मन्नेज्ज**

छप्पि काए[1]—अपनी आत्मा के समान ही सभी प्राणियों को समझो तथा मित्ती मे सव्वभूएसु—सब प्राणियों के साथ मेरा मित्रभाव है—यह परमशुभ का दिशा निर्देशक सूत्र है।

इसके अतिरिक्त प्राणीमात्र की कल्याण कामना, माध्यस्थ्य भावना,[2] नैतिक शुभ है, जिसमें सभी व्यक्ति सुखी हों, "सुखी रहें सब जीव जगत के" ऐसी भावना करता है।

नैतिक उचित

नैतिक उचित (moral right) का अभिप्राय है—ठीक अथवा नियमानुसार। इसके विपरीत नैतिक अनुचित (moral wrong) होता है। अनुचित का अभिप्राय है, शुभ और अच्छे को तोड़ना, मरोड़ना, उसका अभिप्राय अपने स्वार्थ के अनुकूल लगाना।

यहाँ नियमानुसार का अभिप्राय नैतिक नियमों (moral codes) के अनुसार कार्य करना अथवा उसी के अनुरूप अपना व्यवहार ढालना है।

नैतिक नियम है कि किसी का शोषण न किया जाय। अतः श्रम करने वाले के कल्याण के कार्य उचित हैं, जबकि उनका शोषण अनुचित।

इस विषय में राजनीतिक और न्यायिक नियम—कानून (political and judicial laws) नैतिक नियमों से भिन्न हो सकते हैं। बहुत से ऐसे श्रमिक कल्याण के कार्य हैं, जिनके बारे में स्पष्ट कानून नहीं हैं। यथा—बेरोजगारी का भत्ता देना, किन्तु श्रमिक की कुछ समय के लिए छँटनी कर देना और उस समय का बेरोजगारी भत्ता न देना, नैतिक नियम के अनुसार अनुचित है।

इस दृष्टि से नैतिक नियम कानूनी नियमों की अपेक्षा अधिक विस्तृत हैं, इनका दायरा विशाल है।

नैतिक कर्तव्य

कर्तव्य एक बहुत ही विशाल शब्द है। इसीलिए इसका विभिन्न रूपों में प्रयोग किया जाता है, यथा—सामाजिक कर्तव्य, राजनीतिक कर्तव्य; जाति-देश-समाज-राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य। यहाँ तक कि कर्तव्य शब्द धर्म शब्द के पर्यायवाची रूप में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—पति की सेवा

---

१ दशवैकालिक सूत्र १०/५ २ अमितगतिद्वात्रिंशिका, श्लोक १

करना पत्नी का धर्म है। यहाँ धर्म से कर्तव्य ही सूचित होता है। पति की सेवा पत्नी का व्यवहाराश्रित आचरण है।

कर्तव्य का सम्बन्ध मनुष्य से ही है, पशु-जगत में यह शब्द कोई महत्व नहीं रखता। अतः कर्तव्य एक चेतन कर्म है, जिसका दायित्व मनुष्य पर ही है और वही कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक कर सकता है।

नैतिक कर्तव्य (moral duty) वह है जो व्यक्ति शुभ अथवा परमशुभ के विचार को हृदय में रखकर करता है। शुभ में क्योंकि व्यक्ति और समाज दोनों का हित निहित होता है, इसी अपेक्षा से नैतिक कर्तव्य के भी दो पहलू हैं—व्यक्ति के अपने हित से सम्बन्धित कर्तव्य और दूसरा समाज के हित के लिए कर्तव्य।

कुछ विद्वानों ने नैतिक कर्तव्य का एक भेद नैतिक बाध्यता (moral obligation) माना है। नैतिक बाध्यता से अभिप्राय उन नैतिक कर्तव्यों से है जो व्यक्ति को बाध्य होकर करने पड़ते हैं।

नैतिक बाध्यता सामाजिक, राजनीतिक, कानूनी कई प्रकार की हो सकती है, जैसे—चोरी न करना, हत्या न करना, शांति बनाये रखना आदि ऐसे कर्तव्य हैं, जिनको न करने पर व्यक्ति को दण्डित किया जा सकता है। समाज भी उसे तिरस्कृत कर सकता है।

किन्तु विशुद्ध नैतिक कर्तव्य वह हैं, जिन्हें मनुष्य स्वेच्छा से अपने ऊपर आरोपित करता है और उनका पालन करता है। ऐसे कर्तव्य व्यक्ति के स्वयं के व्यक्तित्व को उन्नत बनाते हैं। व्यक्ति इनका पालन अपनी अन्तरात्मा के आदेश से करता है। ऐसे कर्तव्य हैं—सदाचारी जीवन व्यतीत करना, दैनिक जीवन-व्यवहार शुद्ध रखना, नियमबद्ध जीवन बिताना, स्वस्थ, स्वच्छ और सात्विकतापूर्ण जीवन व्यतीत करना।

इनकी यह विशेषता है कि ऐसे नैतिक कर्तव्यों के पालन न करने पर व्यक्ति को किसी प्रकार का दण्ड नहीं मिलता। स्वयं अपनी इच्छा से पालन किये जाने के कारण यह विशुद्ध नैतिक कर्तव्य कहे जाते हैं।

भारतीय संस्कृति में इन सभी विशुद्ध नैतिक कर्तव्यों को एक शब्द 'सदाचार' द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

जैन दृष्टि—भगवान महावीर ने जो "उज्जुपन्ने उज्जुदंसी' विशेषण साधक को दिया है उसका अभिप्राय सरलमति, सरलगति और सरलशील सम्पन्नता है और हृदय की यह सरलता ही सदाचार का आधारबिन्दु है।

जैन आगमों के प्रसिद्ध भाष्यकार जिनदासगणि ने इस विषय में एक महत्वपूर्ण बात कही है कि—निषिद्ध कर्म क्या है और विहित कर्म क्या है, इसकी सबसे बड़ी कसौटी व्यक्ति का हृदय है। यदि व्यक्ति सच्चाई एवं प्रामाणिकता के साथ कर्म करता है तो वह विहित कर्म ही माना जायेगा—

कज्जे सच्चेण होयव्वं[1]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन्हीं शब्दों का पोषण किया गया है। वहाँ कहा गया है—

वृजनमनृतं दुश्चरितम्।
ऋजुकर्म सत्यं सुचरितम्॥

कुटिलतापूर्वक किया गया कर्म (कर्तव्य) अनाचार अथवा दुराचार है और सरलतापूर्वक (ऋजुपन से) किया गया कर्म सदाचार है।

सदाचार अथवा विशुद्ध नैतिक कर्तव्य को जाँचने-परखने की एकमात्र कसौटी व्यक्ति की स्वयं की प्रज्ञा और अन्तःकरण ही है। वही निश्चित कर सकता है कि उसका कौन सा कर्म सदाचार है और कौन-सा नहीं।

सद्गुण

विभिन्न नैतिक प्रत्ययों में सद्गुणों का भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। सद्गुण (virtue) का अभिप्राय है सद् (अच्छे) गुण। इसके विरोधी दुर्गुण (vices) होते हैं।

मानव स्वभाव की विचित्रता यह है कि इसमें सद्गुण और दुर्गुण दोनों ही पाये जाते हैं। कभी बाह्य निमित्त पाकर सद्गुण उभरते हैं तो कभी दुर्गुण प्रस्फुटित हो जाते हैं।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि जो दस प्रकार के धर्म बताये गये हैं, नीतिशास्त्र की दृष्टि से उनकी परिगणना सद्गुणों में होती है। इसके अतिरिक्त प्रमोद, कारुण्य, सर्वजनहितकारिता, अभावग्रस्तों को दान देना आदि भी सद्गुण ही हैं।

नैतिक प्रत्ययों की संकल्पना के अनुसार वे सभी भावनाएँ, गुण और कार्य सद्गुण हैं जो व्यक्ति के स्वयं के व्यक्तित्व को उन्नत बनाते हैं और परिवार, समाज आदि में सुव्यवस्था बनाए रखने में सहायक होते हैं।

---

१ निशीथभाष्य ५२४८

इनके विपरीत दुर्गुण वे अनैतिक भावनाएँ आचरण और कार्य हैं जो व्यक्ति को, समाज को विशृंखलित करते हैं।

सद्गुण तथा दुर्गुणों की विशिष्ट विशेषता यह है कि यह जन्मजात भी होते हैं और अर्जित भी। बाह्य परिस्थितियाँ इनमें बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। विपरीत परिस्थितियों अथवा लोमहर्षक घटना से सरल व्यक्ति भी दुर्गुणी बन जाता है, जैसे सरल-सीधा अर्जुनमाली[1] अपनी पत्नी के साथ हुए अत्याचार के प्रतिशोध के आवेग में बहक कर हत्यारा बन गया था और सद्गुणी अहिंसक सुदर्शन सेठ का निमित्त तथा बाद में भगवान महावीर का निमित्त पाकर स्वयं गुणी बना था। क्षमा गुण धारण करके मुक्त हो गया था।

इसी प्रकार चांडाल क्रोधी हरिकेशबल[2] ने देखा कि विषसहित सर्प को सभी लोग मारते हैं तथा निर्विष सर्प को कोई छेड़ता भी नहीं। इस निमित्त को पाकर उसने कटु भाषा एवं क्रोध रूपी दुर्गुण को त्याग दिया, क्षमाशील बनकर सद्गुणी हुआ और श्रेष्ठ तपस्वी बनकर उन्होंने परम शुभ-शुद्ध मुक्ति को प्राप्त कर लिया।

पुण्य और पाप

पुण्य (merit) का अभिप्राय धर्मशास्त्रों के अनुसार मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्ति और पाप (demerit) का अभिप्राय मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति है। नीतिशास्त्र में इन शब्दों का प्रयोग लगभग इसी अर्थ में होता है। लेकिन मैकेंजी जैसे नीतिशास्त्री इन शब्दों के लिए उचित-अनुचित का प्रयोग अधिक अच्छा मानते हैं।

किन्तु उचित-अनुचित समाज-सापेक्ष शब्द हैं, जबकि पुण्य-पाप आत्म-सापेक्ष। उचित-अनुचित की अवधारणा देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार भिन्न हो सकती है। जैसे—पश्चिम में मांस एवं मदिरा का सेवन अनुचित नहीं माना जाता, जबकि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के अनुसार यह सर्वथा अनुचित है, अनैतिक है।

पुण्य-पाप नीतिशास्त्र के प्रत्यय हैं, जो सार्वभौम हैं, पशुजगत तक भी

---

१. अर्जुनमाली की घटना के लिए देखें—अन्तकृद्दशा सूत्र, ५/३

२. हरिकेशबल की पूरी घटना के लिए देखें—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १२ की वृत्ति

इनका दायरा विस्तृत है। उदाहरण के लिए—विश्वासघात, कृतघ्नता आदि पाप हैं। पशु भी अपने विश्वासघाती को क्षमा नहीं करते, पशु स्वभाव के अनुसार कठोरतापूर्वक उसे मार डालते हैं।

इसी प्रकार परोपकार आदि पुण्य कार्य हैं। पशु भी अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञता के भाव रखते हैं।

नैतिक दृष्टि से पुण्य वे सद्कार्य हैं, जो सार्वभौम हैं और जिनको करने से स्वयं करने वाले को भी प्रसन्नता होती है और जिसके प्रति किये जाते हैं, उसे भी सुख-शांति मिलती है। यह कार्य दोनों के लिए हितकारी हैं, उनके जीवन को उन्नत बनाते हैं। दयालुता (piety), करुणा, दान, सेवा आदि सभी पुण्य कार्य हैं।

इसके विपरीत क्रूरता, कठोरता, निर्दयता, कृपणता, ठगी, जालसाजी, धोखा देना, विश्वासघात आदि सभी पाप प्रत्यय हैं। इनसे स्वयं की आत्मा तो पतित होती ही है, दूसरों का जीवन भी विषाक्त हो जाता है।

संकल्प की स्वतन्त्रता

संकल्प की स्वतन्त्रता (freedom of will) नीतिशास्त्र का महत्वपूर्ण प्रत्यय है, इसके बिना नीतिशास्त्र की संभाव्यता ही कल्पना मात्र है।

कान्ट का मत है कि स्वतन्त्रता अनुभव-पूर्व (a-priori) हैं, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। जब यह कहा जाता है—"तुम्हें यह करना चाहिए" तो हम व्यक्ति की संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लेते हैं। 'चाहिए' में ही यह स्वतन्त्रता निहित है।[1]

किन्तु स्वतन्त्रता में ही उत्तरदायित्व (responsibility) का प्रत्यय भी सन्निहित है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता असीमित (unlimited) नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता कि व्यक्ति मनमानी स्वतन्त्रता ले सके। यह तो स्वच्छन्दता (despot) हो जायेगी, अनैतिकता बन जायेगी।

राजा श्रेणिक के राज्य में ६ गोष्ठिकों (स्वच्छन्द युवकों) की असीमित स्वतन्त्रता, जो घोर अनैतिकता बन चुकी थी, उसने सीधे-सादे नाग-

---

१. (क) डा० रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ७१

(ख) चटर्जी, शर्मा, दास : नीतिशास्त्र, पृष्ठ ८४

रिक अर्जुनमाली को हत्यारा बना दिया, ११५५ स्त्री-पुरुषों की हत्या करवाई और सम्पूर्ण राजगृह नगरवासियों को विपत्ति में डाल दिया।

इसलिए नीतिशास्त्र में आत्मनियमितता (self-control) से नियंत्रित संकल्प की स्वतन्त्रता एक प्रत्यय के रूप में स्वीकार की गई है और साथ ही नैतिक उत्तरदायित्व (moral responsibility) का प्रत्यय भी इसके साथ जोड़ दिया गया है।

मनुष्य सदा ही पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है, वह अपनी इच्छा के अनुसार ही कार्य नहीं कर सकता। अपितु सत्य यह है कि मानव को अपने जीवन-व्यवहार में बाह्य परिस्थितियों का भी विचार रखना पड़ता है।

इन्हीं बातों पर विचार करके वेल्टन ने उत्तरदायित्व के लिए अपना आशय प्रकट करते हुए कहा है—हम ठीक उसी अनुपात में अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी हैं, जैसे वे हमारे व्यक्तित्व को प्रगट करते हैं। जहाँ तक वे, जो कुछ हम हैं, इसे प्रगट नहीं करते, हम उनके लिए उत्तरदायी नहीं हैं।"[1]

वेल्टन का यह कथन नैतिक उत्तरदायित्व के लिए सटीक है।

जैन दृष्टि—संकल्प की स्वतन्त्रता एवं उसके आचरण के लिए भगवान महावीर ने कहा है—जं सेयं तं समायरे[2]—जो श्रेष्ठ हो उसका आचरण करे। धार्मिक व्रत तथा नैतिक संकल्प लेने से पूर्व व्यक्ति अपनी इच्छा प्रकट करता है "इच्छामि णं भंते—भंते! मैं यह व्रत लेना चाहता हूँ। जिसके उत्तर में गुरु कहते हैं—जहा सुहं देवाणुप्पिया—देवानुप्रिय! आप जैसा उचित समझो वैसा करो।" इसमें संकल्प की पूर्ण स्वतन्त्रता व्यक्त की गई है।

मैकेंजी का मत है कि प्रत्येक नैतिक कार्य के लिए स्वतन्त्रता और आत्म-नियन्त्रण साथ-साथ रहते हैं। अन्य विद्वानों ने भी इस मत को स्वीकार किया है।

---

१ "We are responsible for our acts in exact proportion as they express our personalities. In so far as they do not express what we are, we are not responsible to them."

—Welton : Groundwork of Ethics, p. 44

२ दशवैकालिक ४, ११

काण्ट का कथन है कि नैतिक कार्य करने में व्यक्ति इच्छाओं के संघर्ष में स्वतन्त्र चुनाव करता है। इच्छाएँ—काम, क्रोध, लोभ आदि की होती हैं। इन पर विजय के लिए आत्म-नियन्त्रण ही एकमात्र प्रभावी साधन है। आत्म-नियन्त्रण से प्रभावित होकर ही व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक संकल्प करता है, यही नीतिशास्त्र में संकल्प की स्वतन्त्रता का प्रत्यय है।

नैतिक शब्द 'संकल्प' के अधिकतम निकट जैन दर्शन का शब्द है—दृष्टि (point of vision)। दृष्टि सम्यक् भी होती है और मिथ्या भी। सम्यक् दृष्टि नैतिक है और मिथ्या दृष्टि अनैतिक। सम्यक्दृष्टिपूर्वक किये गये विचार एवं कार्य नैतिक होते हैं; जबकि मिथ्या दृष्टि से प्रभावित कार्य अनैतिक। मिथ्यादृष्टिपूर्वक की गई सभी शुभाशुभ क्रियाओं और विचारों को 'बाल' शब्द से विशेषित करने में जैन तत्त्वद्रष्टाओं का यही भाव परिलक्षित होता है।

जेम्स सेथ के शब्दों में भी यही भाव दृष्टिगोचर होता है, जबकि वह कहता है—संकल्प का कार्य सृष्टि करना ही नहीं, अपितु नियन्त्रण और निर्देशन करना भी है।[1]

जेम्स सेथ का संकल्प विषयक यह कथन निश्चित ही जैन दर्शन द्वारा निर्धारित 'दृष्टि' को प्रतिबिम्बित कर रहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संकल्प की स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र का आधारभूत प्रत्यय है। इसके अभाव में नीतिशास्त्र की सम्भावना ही नहीं हो सकती। साथ ही इससे आत्म स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति होती है, जो भारतीय आचार एवं नीति का हार्द है। आचार और नीति के सभी सिद्धान्त आत्म-स्वातन्त्र्य के केन्द्रबिन्दु के ही चारों ओर घूमते हैं। इसीलिए संकल्प की स्वतन्त्रता को नीतिशास्त्र में आत्मा द्वारा नियन्त्रित स्वीकार किया गया है। आत्मा द्वारा अनियन्त्रित संकल्प को स्वतन्त्रता को नीतिशास्त्र में कोई स्थान ही नहीं दिया गया है।

अभी तक हमने नीतिशास्त्र के उन प्रत्ययों की विवेचना की जो सार्वभौम कहे जा सकते हैं, इनको पश्चिमी नीतिशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है। किन्तु अब हम ऐसे प्रत्ययों की विवेचना करेंगे जो भारतीय

---

1. James Seth : A Study ol Ethical Principles, p. 44.

संस्कृति-सभ्यता-समाज में पाये जाते हैं और भारतीय समाज पर जिनका प्रभाव है।

वर्णाश्रम व्यवस्था

वर्ण शब्द 'वृ' धातु से व्युत्पन्न हुआ, जिसका अर्थ है चुनना। इस दृष्टि से वर्ण का अर्थ है—व्यक्ति जिसे अपने स्वभाव और कर्म के अनुसार चुनता है।

वैसे वर्ण का अर्थ रंग भी होता है। ऋग्वेद (१/७३/७, २/३/५, ९/९७/१५) आदि स्थलों पर वर्ण शब्द का रंग के लिए प्रयोग हुआ है। इससे श्री पांडुरंग वामन काणे ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि वर्ण शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में गौरवर्ण आर्यों तथा कृष्णवर्ण दासों के लिए होता था।

नृजातिविज्ञान (Anthropology) में अब तक यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है—दक्षिणी अफ्रीका की जातियाँ कृष्णवर्णीय कही जाती हैं, भारतीयों को गौरांग अंग्रेज तिरस्कारपूर्ण शब्दों में ब्लैक मैन (Black men) कहते थे।

किन्तु नैतिक प्रत्यय के रूप में वर्ण शब्द से रंग ग्रहण नहीं किया जाता। यहां तो वर्ण स्तर (status) अथवा ऊँच-नीच की भावना को अभिव्यक्ति देता है।

भारतीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—यह चार वर्ण माने गये हैं। वैदिक साहित्य में इनकी बहुत ही विस्तृत चर्चा है। ऋग्वेद[1] से लेकर पुराण आदि इस चर्चा से भरे पड़े हैं। स्मृतियों में इनके कर्तव्य-अकर्तव्य की विस्तृत विवेचना है। गीता[2] में भी चार वर्णों की संरचना श्रीकृष्ण ने स्वयं की है, ऐसा उल्लेख मिलता है।

लेकिन प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था जन्म के अनुसार नहीं अपितु कर्म

---

१. (क) ऋग्वेद, पुरुष सूक्त १०/९०
   (ख) मनुस्मृति ८/४१३ आदि

२. (क) चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
   तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ —गीता ४/१३
   (ख) ब्राह्मण क्षत्रिय विशां शूद्राणां च परंतप!।
   कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणः॥ —गीता १८/४१

के अनुसार थी ऐसा उल्लेख गीता, शुक्रनीति[1] आदि ग्रन्थों से स्पष्ट होता है। इसी धारणा के अनुसार श्री भीखनलाल आत्रेय ने अपना मत अभिव्यक्त किया है—

प्राचीन वर्ण व्यवस्था कठोर नहीं थी, लचीली थी। वर्ण-परिवर्तन का अधिकार व्यक्ति के अपने हाथ में था क्योंकि आचरण के कारण वर्ण परिवर्तित हो जाता था। उपनिषदों में वर्णित सत्यकाम जाबाल की कथा इसका उदाहरण है।[2]

गीता में वर्ण व्यवस्था के पीछे मनोवैज्ञानिक आधार का समर्थन डा० राधाकृष्णन् और गैराल्ड हर्ड ने भी किया है।[3] वह आधार है—मानवीय स्वभाव का। मानवों में ज्ञानात्मकता अथवा जिज्ञासा वृत्ति, साहस या नेतृत्व वृत्ति, संग्रहात्मकता और सेवा भावना या शासित रहने की वृत्ति पायी जाती है। इसी आधार पर क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की संरचना हुई।

पंडित बनारसीदास[4] ने आध्यात्मिक दृष्टि से वर्ण व्यवस्था की व्याख्या करने का प्रयास किया है—(१) ब्राह्मण वर्ण में क्रोध की अधिकता होती है (शापादि देने की घटनाओं से इसकी पुष्टि होती है), क्षत्रियों में मान की, वैश्यों में लोभ की और शूद्रों में मायाचार अथवा कपट कुटिलता की प्रमुखता पाई जाती है।

आधुनिक विद्वानों ने वर्ण व्यवस्था को श्रम विभाजन (divison of labour) का प्राचीन सिद्धान्त माना है। इससे समाज की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही।

श्रम विभाजन की दृष्टि से डा० भगवानदास ने चार वर्ग या वर्ण बताये हैं—(१) विद्योपजीवी (२) शासक (३) व्यापारोपजीवी और (४)

---

१. न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव वा।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः॥ —शुक्रनीति

२. श्री भीखनलाल आत्रेय : भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास, पृ० ६२५

३. (क) श्रीमद्भगवत् गीता (राधाकृष्णन), पृ० ३५३
(ख) गीता १८/४८ की व्याख्या, गोरखपुर संस्करण में
(ग) गीता (शांकर भाष्य) १८/४१, ४८

४. बनारसी विलास

शारीरिक श्रमोपजीवी। यह क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाये।[1]

डा० भगवानदास और श्री गेराल्ड हर्ड एवं पंडित बनारसीदास का कथन स्वीकार कर लिया जाय तो वर्ण व्यवस्था मानव-स्वभाव से सम्बन्धित होकर विश्वव्यापी हो जायेगी। जबकि व्यवहार में ऐसी स्थिति है नहीं, भारत के अतिरिक्त अन्य किसी भी देश में वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त स्वीकृत ही नहीं हुआ।

नीतिशास्त्र भी वर्ण-व्यवस्था के प्रत्यय को इस विस्तृत रूप में स्वीकार नहीं करता, अपितु यह स्तर (status) के रूप में, ऊँच-नीच की भावना के रूप में स्वीकार करता है। और इसी रूप में यह प्रत्यय भारतीय समाज में व्यापक है तथा भारतीय जनों की नैतिक अवधारणा को प्रभावित किये हुए है।

इसी प्रकार जाति प्रथा भी भारतीय नैतिकता पर विशेष प्रभाव डाल रही है, यह भी भारतीय नीति का विशिष्ट महत्वपूर्ण प्रत्यय है।

भारत में जाति का प्रारम्भ भी पेशे के अनुसार हुआ। एक ही पेशे (occupation) के व्यक्ति एक जाति कहलाने लगे। शनैः-शनैः जाति भी जन्मना मानी जाने लगी, इसमें रूढ़ि तथा कठोरता आ गई।

जाति को परिभाषित करते हुए श्री कूले ने कहा है—

"When a class is somewhat strictly hereditary, we may call it a caste."

—Charles Cowley

(जब एक वर्ग पूर्णरूपेण वंशानुक्रम पर आधारित होता है तो हम उसे जाति कहते हैं।)

इसी प्रकार भारतीय नीति का एक अन्य प्रमुख प्रत्यय आश्रम व्यवस्था है। यह व्यवस्था वैदिक विचारकों द्वारा निर्धारित की गई है। इसमें मानव की आयु १०० वर्ष मानकर ४ विभागों अथवा आश्रमों में विभाजित की गई है—

(१) **ब्रह्मचर्याश्रम** (२५ वर्ष तक की आयु)—इस काल में ब्रह्मचर्य की साधना करता हुआ बालक शिक्षा प्राप्त करता है तथा स्वयं को भावी जीवन के लिए सक्षम एवं योग्य बनाता है।

---

१. चटर्जी, शर्मा, दास : नीतिशास्त्र, पृ० ६०

(२) गृहस्थाश्रम (२६ से ५० वर्ष तक की आयु)—शिक्षा प्राप्त करने के बाद युवक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। न्याय-नीति द्वारा जीविका उपार्जन करके कुटुम्ब का पालन पोषण, माता पिता आदि वृद्धजनों की सेवा, अतिथिसत्कार, दान आदि द्वारा जीवन सफल बनाता है। पुत्र-पुत्रियों को योग्य-शिक्षित बनाकर अपने गृहस्थ धर्म का सुचारु रूप से संचालन करता है।

(३) वानप्रस्थ आश्रम (५१ से ७५ तक की आयु)—इस आयु में पुत्र को घर-गृहस्थी का भार सौंप कर धर्म आराधना के लिए घर छोड़कर वन (ग्राम के बाहर की भूमि) में चला जाय। यदि पत्नी साथ रहना चाहे तो उसे भी रख सकता है, किन्तु मुख्य लक्ष्य धर्म-साधना का ही रहता है।

(४) संन्यासाश्रम (७६ से १०० वर्ष तक की आयु)—इस समय पत्नी को भी त्याग दे और सभी से ममत्व छोड़कर ईश्वर-भक्ति, तप-जप-साधना आदि में प्रवृत्त हो जाये।

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण मानव जीवन को सफल करे।

सौ वर्ष के जीवन की अवधारणा सामवेदोक्त 'जीवेम शरदः शतं' के आधार पर निर्मित की गई है। सौ वर्ष की नीरोग, स्वस्थ आयु अथवा जीवन की सीमा वैदिक युग के मानव की आकांक्षा एवं चरम अभिलाषा रही थी।

जैन दृष्टि—जहाँ तक वर्ण, जाति और आश्रम—वैदिक समाज के नैतिक प्रत्ययों का प्रश्न है, जैन दृष्टि में इनका कोई स्थान नहीं है। भ० महावीर ने जाति एवं वर्ण को पूरी तरह नकार दिया था। उन्होंने सम्पूर्ण मानवों की एक ही जाति स्वीकार की थी। वर्ण और जाति के आधार पर मानव-मानव में भेद करना जैन दृष्टि से अनुचित ही नहीं, अनैतिक भी है।

भगवान महावीर ने आचारांग में स्पष्ट उद्घोष किया—जो उपदेश धनवान अथवा उच्चकुल के व्यक्ति के लिए है, वही उपदेश निर्धन विपन्न और निम्नकुलोत्पन्न व्यक्ति के लिए है।[1]

यही कारण था कि भ. महावीर के श्रमणसंघ में चारों वर्णों के साधु थे। एक ओर ब्राह्मण वर्ण के वेदपाठी इन्द्रभूति गौतम थे तो चौदह हजार

---

१ जहा पुन्नस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुन्नस्स कत्थइ॥ —आचारांग सूत्र १/२/६/१०२

श्रमणों में उत्कृष्टाचारी धन्ना अणगार वैश्य कुल की शोभा थे। मेघकुमार, अभयकुमार आदि क्षत्रिय वंश के दीपक थे तो हरिकेशबल चांडाल कुल में उत्पन्न होकर भी सिद्ध-बुद्ध मुक्त हुए। यहां तक कि अनार्य देश में उत्पन्न आर्द्रककुमार मुनि ने भी मुक्ति प्राप्त की।

इससे स्पष्ट है कि वर्णों के अनुसार मानव-मानव में भेद जैन धर्म को स्वीकार नहीं है।

फिर भी भगवान महावीर ने कर्म के अनुसार वर्णों के नामकरण के सिद्धान्त को अपने प्रवचन में स्थान दिया—कर्म के अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते हैं।[1]

यद्यपि आगमिक युग में जैन विचारणा वर्ण और जाति व्यवस्था को नकारती है, किन्तु ईसा की ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के आचार्य श्री जिनसेन और कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र ने वर्णों और जातियों की उत्पत्ति भगवान ऋषभदेव द्वारा मानी है। कई ग्रन्थों में इस आशय के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[2]

भगवान ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन तीन वर्णों की स्थापना की।[3] यह वर्णन आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में भी मिलता है तथा अन्य ग्रन्थों[4] में भी प्राप्त होता है।

किन्तु यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भगवान ने इन वर्णों तथा जातियों की स्थापना कर्मानुसार और आजीविका के साधनों (पेशा) की दृष्टि से की थी, इनमें ऊँच-नीच की कोई भावना नहीं थी। साथ ही

---

१ कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥ —उत्तराध्ययन सूत्र २५/३३

२ देखिए, ऋषभदेव : एक परिशीलन—श्री देवेन्द्र मुनि

३ उत्पादितास्त्रयोवर्णाः तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रियाः वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः॥ —महापुराण १८३/१६/२६२

४ (क) कल्पलता : समयसुन्दर गणी, पृ० १६६
(ख) पउमचरियं : विमलसूरि उ० ३/११९—११६
(ग) पश्चाच्चतुर्वर्णस्थापनं कृतम्।
—कल्पद्रुमकलिका०, लक्ष्मी०, पृ० १४४

यह जन्मना नहीं थे, जैसाकि वैदिक परम्परा में है, अपितु यह परिवर्तनीय थे।

आश्रम व्यवस्था, यद्यपि जैन धर्म में स्वीकार की गई है, किन्तु समुचित रूप में, इसमें वैसी कठोरता (rigidity) नहीं है, जैसी वैदिक परम्परा में है। कठोरता का अभिप्राय यह है कि वैदिक परम्परा में चारों आश्रमों का पालन क्रमशः होता है—पहले ब्रह्मचर्य फिर गृहस्थ, तदुपरान्त वानप्रस्थ और जीवन के अन्त में संन्यास।

वैदिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मचर्य से व्यक्ति सीधा संन्यास नहीं ले सकता, उसका यह कार्य गर्हित और अनैतिक माना जाता है। वहाँ गृहस्थाश्रम पालन की अनिवार्यता 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'—'पुत्रहीन की गति नहीं होती, उसकी आत्मा प्रेतयोनि में ही भटकती रहती है', इन शब्दों में प्रख्यापित की गई है।

जबकि जैन दृष्टि आश्रमों के इस अनुल्लंघनीय क्रम को स्वीकार नहीं करती। जैनागमों में ९ वर्ष का बालक भी दीक्षा ले सकता है, इस बात का स्पष्ट विधान है। स्वयं भगवान महावीर ने ९ वर्ष के बालक 'अतिमुक्तक'[1] (अयवंता) को अपने कर-कमलों से दीक्षित किया था और उसने संसार के जाल को तोड़कर मुक्ति प्राप्त की थी।

भृगु-पुरोहित और उसके पुत्रों के संवाद में **अपुत्रस्य गतिर्नास्ति** के सिद्धान्त का खण्डन बड़े ही युक्तिपूर्ण ढंग से किया गया है।[2]

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भगवान महावीर ने गृहस्थाश्रम को बिल्कुल ही हेय बताया। अपितु सत्य यह है कि उन्होंने गृहस्थाश्रम को उचित महत्व दिया है, स्वयं अपने श्रीमुख से श्रावक (गृहस्थ) धर्म का उपदेश[3] दिया और श्रावकों के तत्वज्ञान[4] तथा सत्यनिष्ठा की प्रशंसा की।

---

१ (क) अन्तकृद्दशांग, वर्ग ६
(ख) भगवती, शतक ५, उ० ४

२ उत्तराध्ययन सूत्र, इषुकारीय १४वां अध्ययन

३ (क) उपासकदशांग सूत्र में भगवान द्वारा किया गया श्रावक धर्म का वर्णन है।
(ख) चरित्तधम्मे दुविहे, तं जहा—अणगार धम्मे चेव आगार धम्मे चेव।
—ठाणांग सूत्र, ठाणा २

४ उपासकदशांग सूत्र अ० १

भगवान के प्रथम शिष्य और सम्पूर्ण संघ के नायक श्री गौतम गणधर ने भी आनन्द श्रावक से क्षमा मांगकर सद्गृहस्थ का गौरव बढ़ाया।[1]

भगवान ने तो श्रावक को साधु के लिए माता-पिता के समान[2] बताया है और श्रावकों को साधुओं के लिए तथा उनकी मोक्ष-साधना के हेतु आधार-भूत कहा है।

स्पष्ट है कि जैन दृष्टि में भी गृहस्थ आश्रम के उचित महत्व का अस्वीकार नहीं है। ब्रह्मचर्य आश्रम के विषय में तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि यह जैनदृष्टि से स्वीकार्य है। पुराणों में बालकों का ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्या-कलाओं के अध्ययन का वर्णन आता है। भगवान ऋषभदेव ने सभी कलाओं, विद्याओं, शिल्प, लिपि, गणित इत्यादि की शिक्षा[3] दी। तब ब्रह्मचर्याश्रम के अस्वीकार का प्रश्न ही नहीं है।

जिसे वैदिक परम्परा में संन्यास कहा जा सकता है जैनधर्म में वही श्रमणत्व है और श्रमणत्व ही जैन धर्म का प्रधान अंग है, जैन संस्कृति का प्राचीन नाम ही श्रमणधर्म अथवा श्रमण संस्कृति है।

नैतिक प्रत्ययों के रूप में इन आश्रमों का विशिष्ट स्थान है। ब्रह्मचर्याश्रम विद्या-प्राप्ति की अवस्था है। उस समय विद्यार्थी के अनेक नैतिक कर्तव्य हैं। विद्यार्थी को चाहिए कि वह गुरु के अनुशासन (कठोर शब्दों) से कुपित[4] न हो, विनयपूर्वक[5] रहे, क्रूर व्यवहार न करे, व्यर्थ की बातों में

---

१ (क) उपासकदशांग, अध्ययन १
(ख) इन्द्रभूति गौतम, पृ० ७२—७४

२ चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा—अम्मापिउसमाणे····
—ठाणांग, ठाणा ४, सूत्र ३२१

३ देखिए—(क) आवश्यकनिर्युक्ति
(ख) आवश्यकचूर्णि
(ग) चउप्पन्न महापुरिसचरियं
(घ) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र पर्व १
(च) ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० १४४—१५०

४ अणुसासिओ न कुप्पेज्जा —उत्तराध्ययन सूत्र १।९

५ विणए ठवेज्ज अप्पाणं —उत्तराध्ययन सूत्र १।६

अपना अधिक समय बर्बाद न करे, उचित समय पर पाठ पढ़े।[1]

विद्यार्थी जीवन में अनुशासन आदि अनेक प्रकार की नैतिकताओं का मानव जीवन में समावेश हो जाता है और यह उसे जीवन भर नैतिक बनाये रखती हैं क्योंकि इस अवस्था के संस्कार स्थायी रूप से सम्पूर्ण जीवन में रहते हैं।

गृहस्थ का यह नैतिक दायित्व है कि वह अतिथि का सत्कार करे, दान दे, समाज में अपना व्यवहार उचित बनाए रखे, पुत्र-पुत्रियों को योग्य शिक्षा दिलवाये, माता-पिता वृद्धजनों की सेवा करे तथा अन्य समाज सेवा के कार्य करे।[2]

इसी प्रकार अन्य आश्रमों के भी विशिष्ट नैतिक कर्तव्य हैं जो नीतिशास्त्र की दृष्टि से नैतिक प्रत्ययों के रूप में मानव के दैनंदिन व्यवहार को प्रभावित और संचालित करते हैं।

त्रि-ऋण विचार

नीतिशास्त्र में ऋण प्रत्यय का अभिप्राय है—ईमानदारी से कुछ ऐसे कर्तव्यों को सम्पन्न करना, जो नैतिक दृष्टि से अनिवार्य हैं।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि मानव (१) देव-ऋण, (२) ऋषि ऋण और, (३) पितृ ऋण से दबा होता है, यानी इन तीनों का उस पर भार होता है और उसका नैतिक कर्तव्य है कि इन ऋणों से मुक्त होवे।

वहाँ इन ऋणों को चुकाने की विधि भी बताई गई है। देवऋण यज्ञ आदि से, ऋषिऋण विद्या पढ़ने से और पितृऋण (इसी में समाज-ऋण भी सन्निहित है) पुत्र उत्पन्न करने, समाज सेवा, सहायता, दान, त्याग आदि करने से उतरता है।

भगवान महावीर ने भी (१) माता-पिता, (२) स्वामी (पोषक) और (३) धर्माचार्य का ऋण मानव पर बताया है; किन्तु इन तीनों ऋणों

---

१ मा य चंडालियं कासी, बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता ..... ॥ —उत्तरा० १।१०

२ (क) आचार्य हेमचन्द्र : योगशास्त्र, १।४७-५६
(ख) जैन धर्म की हजार शिक्षायें : मधुकर मुनि, पृ० १०७-१०८

के चुकाने के उपाय में अन्तर है, कहा है—यदि इन्हें शुद्ध धर्म साधना की ओर उन्मुख कर दिया जाय तो व्यक्ति इनके ऋणों से मुक्त[1] हो सकता है।

यह तीनों ऋण मानव के नैतिक कर्तव्य हैं। यह नैतिक प्रत्यय इस रूप में हैं कि इनकी अवधारणा के फलस्वरूप मानव अपने पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों को नीतिपूर्ण ढंग से पूरा करता है, साथ ही अपने देव, गुरु, पिता आदि वृद्धजनों के प्रति उसके हृदय में सम्मान रहता है।

वस्तुतः यह तीनों प्रकार के ऋण उपकार के प्रति प्रत्युपकार हैं। माता-पिता, गुरु (शिक्षक) आदि मानव के जीवन को संस्कारशील और नैतिक बनाते हैं, तो इनके उपकार से उऋण होने के लिए उसे भी उनकी सेवा आदि करनी चाहिए।

समस्त नैतिकता का आधार परिवार, समाज और उचित शिक्षा है। इनके अभाव में नैतिकता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी-लिए त्रि-ऋण विचार को नैतिक प्रत्ययों में स्थान दिया गया है कि मानव का जीवन नैतिक बने, वह समाज के महत्व को स्वीकार करे और अपने व्यवहार से अन्य लोगों को भी नैतिकता की प्रेरणा दे।

पुरुषार्थ चतुष्टय विचार

पुरुषार्थ भारतीय नीतिशास्त्र का मौलिक प्रत्यय है। पुरुषार्थ का संधि-विग्रहजनित अर्थ होता है पुरुष का प्रयोजन (पुरुष+अर्थ) दूसरे शब्दों में मानव-मात्र का प्रयोजन। श्री आर. सी. पाठक ने इसी अर्थ को ध्वनित करते हुए पुरुषार्थ के लिए अंग्रेजी का समानार्थी एक वाक्यांश दिया है—objects of man's creation and existence.

पुरुषार्थ प्रत्यय चार प्रकार का है—(१) धर्म (२) अर्थ (३) काम (४) मोक्ष। यह चारों ही नैतिक मानव की सहज स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। इनमें से धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों को त्रिवर्ग भी कहा जाता है और इन्हें मोक्ष पुरुषार्थ का साधन बताया है।

साधन और साध्य की अपेक्षा करते हुए पं० सुखलाल जी संघवी[2] ने

---

१ ठाणांग, ठाणा ३, सूत्र १३५

२ पंडित सुखलालजी : तत्वार्थसूत्र Eng. Translation by K. K. Dixit, p. 1

धर्म और अर्थ को साधन माना है तथा काम और मोक्ष को साध्य। धर्म पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ का साधन है और अर्थ पुरुषार्थ काम पुरुषार्थ का साधन है।

जैन आगम ग्रन्थों के प्रथम व्याख्याकार आचार्य भद्रबाहु ने इस सम्बन्ध में बहुत ही समीचीन सन्तुलित विचार दिया है—धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर विरोधी नहीं हैं। किन्तु कुशल अनुष्ठान में लगने पर तीनों ही एक-दूसरे के पूरक व सहायक होते हैं। अपनी भूमिका के अनुसार विहित अनुष्ठानरूप धर्म, स्वच्छ आशय से प्रयुक्त अर्थ और समाज मर्यादा के अनुसार नियंत्रित/स्वीकृत काम—तीनों परस्पर अविरोधी हैं।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी मार्गानुसारी के गुणों के सन्दर्भ में कहा है—सद्गृहस्थ धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों वर्गों की परस्पर अबाधक रूप से साधना करे।[2] मधुकर मुनिजी ने धर्म से मर्यादित काम (अर्थ भी) को गृहस्थ साधक के लिए विहित माना है।[3]

धर्म पुरुषार्थ—पुरुषार्थ प्रत्यय की अपेक्षा धर्म का अभिप्राय समाज को आरम्भ करने वाले नियमों अथवा सिद्धान्तों से है।[4]

वैसे धर्म धृ—धारणे धातु से बना है। इसका अर्थ है धारण करना।

धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः।

धर्म की इस परिभाषा में भी प्रजा (समाज) को धारण करने वाला धर्म कहा गया है और यह धर्म नीतिशास्त्र का प्रत्यय है।

वस्तुतः मनुष्य का प्रयोजन है सुखी जीवन। धर्म का भी यही प्रयोजन है। नैतिक मानव अपने भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के जीवन को सुखी बनाना चाहता है। इस दृष्टि से कणाद मुनि ने धर्म का लक्षण इन शब्दों में दिया है—

---

१ दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथा २६२-६३-६४
—धम्मो अत्थो कामो भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता.....

२ अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपिसाधनम्। —योगशास्त्र १/५२

३ साधना के सूत्र, तृतीय आवृत्ति, सन् १९८४, पृ० २२८

४ डा० रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ८२

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः ।

धर्म मानव के अभ्युदय (worldy prosperity and happiness) तथा निःश्रेयस (spiritual prosperity and bliss) की सिद्धि (प्राप्ति) का हेतु (means of realisation) है ।

यह सुख मानव को नैतिक (विस्तृत अर्थ में धार्मिक) जीवन जीने पर ही प्राप्त हो सकता है । इसी कारण भारतीय नैतिक चिन्तन के अनुसार पुरुषार्थ चतुष्टय प्रत्यय में धर्म-पुरुषार्थ प्रत्यय को प्रथम और प्रमुख स्थान दिया गया है ।

धर्म मानव के नैतिक आदर्शों को, अर्थ भौतिक साधनों को, काम शारीरिक, मानसिक, प्राणात्मक (vital) इच्छाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं ।

अर्थ पुरुषार्थ—अर्थ पुरुषार्थ नीतिशास्त्र में धर्म के सहायक के रूप में ही स्वीकार किया गया है, न कि धन-संग्रह के रूप में । धन अथवा भौतिक साधनों का संग्रह तो अनैतिक है ।

धन तथा साधनों का सदुपयोग नैतिक है । दान आदि समाज में अनेक नैतिक कार्य धन से किये जाते हैं । इसीलिए उक्ति है—धनाद् धर्म ।

साथ ही मूल्य नियन्त्रण (price control), झूठे (false) माप-तोल (measurements and weights) को रोकना आदि भी भारतीय नीतिचिन्तक अर्थ पुरुषार्थ के नैतिक प्रत्यय से प्रभावी बनाने की अपेक्षा करते हैं ।

काम पुरुषार्थ—काम पुरुषार्थ इच्छाओं के नियंत्रण, असीमित इच्छाओं को सीमा में बांधने की दृष्टि से नैतिक प्रत्यय के रूप में मान्य है, न कि इच्छाओं को खुला छोड़ने के रूप में, क्योंकि अमर्यादित और अनियन्त्रित इच्छाएँ तो भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, लूट-मार आदि अनेक अनैतिकताओं को जन्म देती हैं ।

मोक्ष पुरुषार्थ—मोक्ष का अभिप्राय धर्मशास्त्रों में सभी प्रकार से मुक्ति, आत्मिक आनन्द की अवस्था माना गया है, जो निराबाध है, शाश्वत है ।

किन्तु ऐसी अवस्था इस जीवन के बाद आती है, यानी मोक्ष की प्राप्ति इस देह के छूटने के बाद होती है ।

लेकिन नैतिक प्रत्यय के रूप में मोक्ष पुरुषार्थ का यह अभिप्राय

संगत नहीं है, क्योंकि नैतिक प्रत्यय इस जीवन से ही सम्बन्धित होते हैं। दूसरी बात यह है कि धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण से मोक्ष एक आदर्श दशा है जबकि नीतिशास्त्र आदर्श को स्वीकारते हुए भी व्यवहार को—प्रत्यक्ष को अधिक महत्व देता है।

अतः वह मोक्ष पुरुषार्थ का इतना आदर्शात्मक एवं दूरगामी अर्थ स्वीकार करने की अपेक्षा नैतिक धरातल पर ही इसका अर्थ स्वीकारना अधिक संगत और युक्तियुक्त मानता है।

इस अपेक्षा से वह मुक्ति अथवा मोक्ष का लक्षण—**कषायमुक्तिः किल-मुक्तिरेव**—कषायों से मुक्ति ही मोक्ष है, इतना ही स्वीकार करना चाहता है। कषायों से मुक्ति का अभिप्राय यहाँ क्रोध, मान, कपट, लोभ की इतनी उपशांति लगाया जाना चाहिए, जिससे व्यक्ति न स्वयं दुःखी हो और न सम्पर्क में आने वालों को पीड़ित करे।

आचार्य शंकर ने जब यह कहा **वासनाप्रक्षयो मोक्षः**[1]—वासनाओं का क्षय होना ही मोक्ष है, तो उनका भी यही अभिप्राय माना जाना चाहिए कि मानव की वासनाएँ स्वयं उसके हृदय को उद्वेलित न करें और वह अन्य लोगों को भी उद्विग्न न करें, इतनी क्षीण अथवा शांत हो जायें; क्योंकि वे आगे कहते हैं—

देह का छूट जाना मोक्ष नहीं है, और न दण्ड-कमण्डल ही; हृदय की अविद्यारूपी ग्रन्थि का छूट जाना ही मोक्ष है।[2]

अतः नीतिशास्त्र के अनुसार मोक्ष इसी जीवन में प्राप्तव्य नैतिक प्रत्यय है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में से अर्थ और काम तो मानव के सभी क्रियाकलापों के प्रेरणा-बिन्दु हैं, धर्म भी मानव को शुभ कार्यों/नैतिक क्रिया कलापों की प्रेरणा का प्रमुख हेतु है। मोक्ष धर्मशास्त्रीय दृष्टि से एक ऐसी आदर्श स्थिति है, जिसे प्रत्येक अध्यात्मवादी मानव प्राप्त करना चाहता है।

---

१ विवेक चूड़ामणि, ३१८

२. देहस्य मोक्षो न मोक्षो, न दण्डस्य कमण्डलोः।
अविद्या-हृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः॥ —विवेक चूड़ामणि ५५६

लेकिन नीतिशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत है। इसमें अध्यात्मवादी—मोक्ष-वादी भी आते हैं और नास्तिक भी। नास्तिक मोक्ष की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते, ईश्वर को भी नहीं मानते, लेकिन नैतिकता को स्वीकार करते हैं, क्रोध, मान आदि कषायों को वे भी अनैतिक मानते हैं।

इसीलिए नीतिशास्त्र मोक्ष पुरुषार्थ को कषायों की उपशान्ति के रूप में स्वीकार करके इस प्रत्यय को इसी जीवन में प्राप्तव्य मानता है।

निवृत्ति-प्रवृत्ति प्रत्यय

भारतीय नैतिकता को प्रभावित करने वाले नैतिक प्रत्यय हैं—निवृत्ति और प्रवृत्ति। निवृत्ति का सीधा-सादा अर्थ माना जाता है किसी भी प्रकार की क्रिया न करना, इसी प्रकार प्रवृत्ति का अर्थ है—क्रिया-कलापों में संलग्न रहना, निष्क्रिय न रहना।

यह दोनों प्रत्यय बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। वेदों में प्रवृत्तिपरक सूत्रों की अधिकता है तो उपनिषदों में निवृत्तिपरक उपदेशों की बहुलता है। गीता में श्रीकृष्ण ने अनासक्त कर्मयोग का प्रतिपादन करके इन दोनों में समन्वय स्थापित किया है।

सामान्य दृष्टिकोण से प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रत्यय परस्पर एक-दूसरे के विपरीत मालूम पड़ते हैं, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए दोनों ही आवश्यक हैं।

एक व्यक्ति चलता ही जाये, कहीं रुके नहीं, विश्राम नहीं ले तो उसकी क्या दशा होगी, मूर्च्छित होकर बीच में गिर ही पड़ेगा, अपनी मन्जिल तक नहीं पहुँच सकेगा। दूसरा व्यक्ति गमन और विश्राम में उचित समन्वय करता हुआ चलेगा तो सुख से मंजिल पर पहुँच जावेगा।

इसी प्रकार नैतिक जीवन जीने के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति का उचित संयोग आवश्यक है।

नैतिक प्रत्यय के रूप में निवृत्ति है—अनुचित और अनैतिक कार्यों को न करना। कटुशब्द बोलना, व्यर्थ ही किसी को परेशान करना, धन-धान्य आदि का अत्यधिक संग्रह करना आदि सभी अनैतिक कार्य हैं। इनसे समाज में अव्यवस्था फैलती है, असन्तोष भड़कता है और अन्त में व्यक्ति स्वयं भी दुखी होता है। अतः ऐसे कार्यों को न करना ही नीतिशास्त्र के अनुसार निवृत्ति प्रत्यय है। इसे दूसरे शब्दों में निषेधात्मक प्रेरणाएँ भी कह सकते हैं।

प्रवृत्ति प्रत्यय का अभिप्राय है—शुभ में प्रवृत्ति अथवा उन कार्यों को करना जो स्वयं के और समाज के विकास में सहायक हैं। दूसरों की सेवा करना, परस्पर सहयोग, सत्याचरण, प्रामाणिकता आदि नैतिक कार्य हैं, अतः इन कार्यों को करना चाहिए।

भगवान महावीर ने नैतिक जीवन के लिए, प्रवृत्ति और निवृत्ति का रूप स्पष्ट करते हुए सुन्दर प्रेरणा दी है—

एक ओर से विरति (निवृत्ति) करनी चाहिए और दूसरी ओर प्रवृत्ति। असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए।[1]

नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में असंयम से अनैतिकता और संयम से नैतिकता का ग्रहण अपेक्षित है।

कर्म का प्रत्यय

भारतीय दर्शनों का कर्म सिद्धान्त नैतिक जीवन के लिए अति आवश्यक है। कर्मसिद्धान्त की स्थिति नीतिशास्त्र के लिए वैसी ही है जैसी विज्ञान के लिए कार्य-कारण सिद्धान्त की। विज्ञान किसी भी कार्य के लिए कारण आवश्यक मानता है, इसी तरह मानव के सुख-दुःख के कारण उसके स्वयं के किये हुए कर्म हैं।

कर्म सिद्धान्त का नीतिशास्त्र में महत्व बताते हुए डा० आर० एस० नवलक्खा कहते हैं—"यदि कार्य-कारण सिद्धान्त जगत के तथ्यों की व्याख्या को प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करता है तो फिर उसका नैतिकता के क्षेत्र में प्रयोग करना न्यायिक क्यों नहीं होगा।[2]

संसार के सभी मनुष्यों, चाहे वे मोक्षवादी—आस्तिक हैं अथवा भोगवादी—नास्तिक, उनकी यही धारणा है कि मानव के कर्म उसके साथ रहते हैं तथा उसे उनका फल भोगना पड़ता है।

इस धारणा का आधार भगवान महावीर के यह कथन हैं—'प्राणियों के कर्म ही सत्य हैं'[3] तथा 'कर्म सदा कर्त्ता के साथ चलते हैं,'[4] एवं 'किये

---

१. एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्ति च, संजमे य पवत्तणं॥ —उत्तराध्ययन सूत्र ३१/२

२. शंकर्स ब्रह्मवाद, पृ० २४८

३. कम्म सच्चा हु पाणिणा। —उत्तराध्ययनसूत्र ७/२०

४. कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं। —उत्तराध्ययनसूत्र १३/१३

हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता'।[1] इसी प्रकार शुभ कर्म शुभ (सुखप्रद) फल देते हैं और अशुभ कर्म दुःखप्रद फल देते हैं, जीव को दुःखदायी होते हैं।[2]

यह 'शुभ' और 'अशुभ' नीतिशास्त्र के प्रमुख प्रेरक तत्व और आधारभूत सिद्धान्त हैं। नीतिशास्त्र अशुभ और शुभ की विवेचना करके मानव को शुभ का मार्ग बताता है तथा उस शुभ को प्राप्त करने की प्रबल प्रेरणा देता है। यही नीतिशास्त्र का हार्द है।

कर्म-सिद्धान्त इसी रूप में नैतिक प्रत्यय है।

शिवस्वामी अय्यर[3] ने कर्म सिद्धान्त में तीन प्रधान तत्व बताये हैं—

(१) मनुष्य के प्रत्येक कर्म का फल होता है। यह फल भौतिक, मानसिक अथवा नैतिक किसी भी प्रकार का होता है। यह मनुष्य के स्वभाव, चरित्र और प्रवृत्तियों पर प्रभाव डालता है। मनुष्य को पिछले जन्मों के कर्मों का फल भी वासना और संस्कार के रूप में प्राप्त होता है।

(२) कर्म के लिए भावी जीवन (अगला जन्म तथा साथ ही पिछला जन्म भी) होना चाहिए क्योंकि मनुष्य को अपने सभी कर्मों का फल इस जीवन में नहीं मिल पाता।

(३) धनी-निर्धन, सुखी-दुखी, बुद्धिमान-मूर्ख आदि संसार में पाई जाने वाली विशेषताएँ पूर्वजन्मों के कर्मों का ही परिणाम हैं।

यह सामान्य सी बात है कि कोई भी मनुष्य निर्धन, दुखी और मूर्ख नहीं रहना चाहता, सभी सुखी, धनवान, बुद्धिमान बनना चाहते हैं और यह भी मानव जानता है कि अनैतिक कार्यों का फल दुःखप्रद होता है, जबकि नैतिक कार्यों का सुखप्रद।

---

१. कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। —उत्तराध्ययन सूत्र ४/३
और भी देखिए—'यह विश्वास कि कोई भी अच्छा या बुरा कर्म (बिना फल दिये) समाप्त नहीं होता, नैतिक जगत का ठीक वैसा ही विश्वास है जैसा कि भौतिक जगत में ऊर्जा की अविनाशिता के नियम का विश्वास है।
—(मैक्समूलर—थ्री लेक्चर्स ऑन वेदान्त फिलासफी, पृ० १६५)

२ सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवन्ति।
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला हवन्ति॥

३ उद्धृत—डा० रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ६२

इसी अपेक्षा से पाप कर्म—हिंसा, झूठ, चोरी आदि अनैतिक प्रत्यय और सत्य, प्रामाणिकता, पुण्य, सहनशीलता, सहयोग, सेवा, परोपकार आदि नैतिक प्रत्यय हैं।

मानव इन नैतिक प्रत्ययों का पालन तथा अनुगमन कर्म सिद्धान्त में विश्वास रखने के कारण अधिक लगनशीलता तथा गहराई और सावधानी से करता है। इसीलिए भारतीय नीतिशास्त्र में कर्म (सिद्धान्त) को अति प्रभावशाली नैतिक प्रत्यय माना गया है।

पुनर्जन्म : नैतिक प्रत्यय

पुनर्जन्म की अवधारणा (साथ ही पूर्वजन्म की भी) कर्म सिद्धान्त से ही संलग्न है। इस (पुनर्जन्म) का आधार भगवान महावीर का यह कथन है कि सुचीर्ण और दुश्चीर्ण (शुभ-अशुभ) कर्मों का फल इस जीवन में भी मिलता है और अगले जन्म में भी। इसी प्रकार पूर्व जीवन में किये हुए शुभ कर्म उस पूर्वजीवन में भी फल देते हैं और इस वर्तमान जीवन में भी।[1]

भारतीय दर्शनों, शास्त्रों और पुराणों में अनेक जन्मों का वर्णन हुआ है। बौद्धजातक, जिनमें बोधिसत्वों के रूप में, बुद्ध के पुनर्जन्मों की घटनाएँ संकलित हैं, स्पष्ट ही पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को प्रमाणित करती हैं। कौषीतकि उपनिषद के अनुसार आत्मा अपने कर्म और ज्ञान के अनुरूप कीड़े, मछली, पक्षी, व्याघ्र, सर्प आदि के रूप में जन्म धारण करती है।

भारत में विख्यात ८४ लाख जीव-योनियों में विश्वास आत्मा की अमरता के साथ पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का विश्वस्त प्रमाण है।

जैन दर्शन स्वयं भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर के कई पूर्वजन्मों का वर्णन पुनर्जन्म के प्रत्यय को कर्माधारित मानते हुए स्पष्ट प्रमाणित करता है।

---

१ इहलोगे दुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवन्ति,
इहलोगे दुच्चिणा कम्मा परलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवन्ति,
परलोगे दुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवन्ति,
परलोगे दुच्चिण्णा कम्मा परलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवन्ति।
(इसी प्रकार सुचीर्ण (शुभ) कर्मों का फल भी वर्णित है।)

—ठाणांग, ठाणा ४, सू० २८२

बुद्ध के पूर्वजन्म की घटनाओं को आधार बनाकर ही सम्पूर्ण जातक साहित्य की सर्जना की गई है। जातक कथाओं में ही पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मों को सुख-दुःख का कारण बताया गया है।

ईसाई और इस्लाम धर्म यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि मानव अपने नैतिक शुभाशुभ कर्मों का फल पूरा इस जीवन में नहीं भोग पाता, फिर भी ये पुनर्जन्म को स्वीकार नहीं करते। इनकी धारणा है कि शुभाशुभ कर्मों के अनुसार आत्मा (रूह–soul) को स्वर्ग अथवा नरक (जन्नत या दोजख Heaven or Hell) को ईश्वरीय (खुदा या God के) आदेश से भेज दिया जाता है।

किन्तु आधुनिक युग में हुई अनेक पुनर्जन्म की घटनाओं ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्थापित कर दिया है और कट्टर निरीश्वरवादी नीत्शे की अवधारणा को एक प्रकार से निरस्त कर दिया है।

वस्तुस्थिति यह है कि कर्मसिद्धान्त अनिवार्य रूप से पुनर्जन्म के प्रत्यय से संलग्न है, पूर्ण विकसित पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अभाव में कर्मसिद्धान्त अर्थशून्य है।[1]

नीतिशास्त्र के क्षेत्र में जितना प्रभावी कर्म प्रत्यय है, उतना ही प्रभावशाली पुनर्जन्म का प्रत्यय है।

पुनर्जन्म अथवा आगामी जन्म में सुख-प्राप्ति के लिए मानव नैतिक कर्तव्यों की ओर प्रेरित होता है। वह अपना व्यवहार इस प्रकार का रखने का प्रयास करता है, जिससे उसे आगामी जन्म में दुर्गति में जाकर दुःख न भोगने पड़ें।

स्वर्ग और नरक का प्रत्यय भी पुनर्जन्म के प्रत्यय के साथ ही संलग्न है। सभी धर्मों ने स्वर्ग-नरक के वर्णन से मानव को नैतिक जीवन जीने की ओर प्रेरित किया है।

यद्यपि यूनान में Epicureanism और भारत में चार्वाक भोगवादी विचारधाराएँ अस्तित्व में आईं। जिन्होंने पुनर्जन्म, नरक, स्वर्ग, आत्मा की अमरता, कर्म सिद्धान्त का खण्डन किया, किन्तु इन विचारधाराओं का जन-मानस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। ये विचारधाराएँ समय के महा-

---

१ Mohanlal Mehta : Jaina Psychology, p. 173

सागर (ocean of the time) में बुलबुले (bubble) के समान विलीन हो गईं।

पुनर्जन्म का प्रत्यय भारतीय नीतिशास्त्र का तो प्रमुख प्रत्यय है ही मार्टिन्यू, कांट तथा सेथ आदि भी पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं और उसे नैतिक प्रत्ययों में स्थान देते हैं।

संस्कार प्रत्यय

संस्कार हिन्दू धर्म का विशेष शब्द है। मनु ने इन्हें शरीर की शुद्धि बताया है। प्रमुख संस्कार १६ माने गये हैं। किन्तु नीतिशास्त्र की दृष्टि से, इनमें से उपनयन और विवाह उल्लेखनीय हैं।

उपनयन का अभिप्राय है—विद्या प्रारम्भ करना। विद्या ही विनय की जननी है। विनय और अनुशासन के रूप में बालक सर्वप्रथम नैतिकता का पाठ पढ़ता है। गुरु से प्राप्त ज्ञान तथा शिक्षा-कलाओं से स्वयं को भावी जीवन के लिए तैयार करते हुए जीवन में नैतिकता का महत्व समझता है।

विद्या समाप्त करने के बाद जब गुरु आशीर्वाद के रूप में **'सत्यं वद धर्मं चर'** का उपदेश देते हैं तो वह नैतिकता का ही पाठ है कि जीवन में सदा नीति का व्यवहार करना चाहिए।

विवाह को श्री वेलवलकर (Velvalker) ने व्यक्ति का समाजीकरण (socialization) कहा है। विवाह के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के साथ ही मानव पर समाज, जाति, राष्ट्र आदि सभी के उत्तरदायित्व आ जाते हैं।

माता-पिता एवं वृद्धजनों की सेवा, आश्रितों का उचित पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा एवं अन्य सभी प्रकार के कर्तव्यों को पूरा करते हुए वह नीतिपूर्वक जीवन यापन करता है।

गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए धन आवश्यक है अतः वह धन का उपार्जन तो करता है, किन्तु करता है नीतिपूर्ण उपायों से ही।

नैतिक प्रत्ययों के रूप में, भारतीय शास्त्रों में वर्णित, विद्यारम्भ तथा विवाह—इन दो संस्कारों का उल्लेखनीय महत्व है। विद्याप्राप्ति नैतिक जीवन व्यतीत करने की पूर्वभूमिका है, नींव है और विवाह के बाद

का सामाजिक, वैयक्तिक, पारिवारिक उत्तरदायित्वों का वहन विद्या से प्राप्त नैतिक सिद्धान्तों का क्रियान्वयन है।

उपसंहार

इस प्रकार नीतिशास्त्र के विविध प्रत्यय (concepts) हैं। यह एक प्रकार से प्रतिमान हैं। इन प्रत्ययों का प्रमुख कार्य मानव की रुचि, प्रवृत्तियों तथा स्वभाव का निर्माण करके नैतिक जीवन जीने का पुष्ट आधार प्रस्तुत करना है। जैसा कि श्री मैकेन्जी ने नैतिक जीवन के विषय में कहा है—

नैतिक जीवन का अर्थ ही चरित्र निर्माण अथवा निश्चित आदतों का निर्माण है।[1]

और यही कार्य ये विभिन्न नैतिक प्रत्यय करते हैं। यह व्यक्ति को विश्वासयोग्य तथा चरित्रवान बनाते हैं।

---

1 The moral life means the building up of character, i. e., it means the forming of definite habits of action.

—Mackenzie, J. S : A Manual of Ethics, p. 75

८.

नीतिशास्त्र की प्रणालियाँ और शैलियाँ

(METHODS AND MANNERS OF ETHICS)

प्रणालियाँ और शैलियाँ

प्रणालियाँ किसी विषय के अध्ययन का तरीका (methods) है और शैली (Manners) वक्ता के उस विषय का वर्णन करने का ढंग है। वक्ता अपनी रुचि के अनुसार अपने कथन को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने हेतु अथवा कथन में प्रेषणीयता लाने के लिए विषय का वर्णन गद्य, पद्य, सूक्तियों, अन्योक्तियों आदि किसी भी रूप में कर सकता है; जबकि प्रणाली विषय-वस्तु का अध्ययन करने के लिए पाठक अथवा विचारक द्वारा प्रयुक्त होती है।

यहाँ पहले हम नीतिशास्त्र की प्रणालियों—अध्ययन प्रणालियों—विषयवस्तु को समझने के तरीकों का वर्णन करेंगे और उसके बाद नीतिशास्त्र की शैलियों का।

नीतिशास्त्र की प्रणालियां

जैसाकि अध्याय ४ में किये गये विवेचन से स्पष्ट है—अधिकांशतः पाश्चात्य नीतिशास्त्रियों ने नीतिशास्त्र को विज्ञान—आदेशात्मक विज्ञान (Normative science) माना है और कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने इसे दर्शन-शास्त्र (Philosophy) से सम्बन्धित स्वीकार किया है।

उक्त दो विचारधाराओं के अनुसार नीतिशास्त्र के अध्ययन की पद्धतियाँ भी दो प्रमुख विभागों में विभाजित हो गईं—(१) वैज्ञानिक

प्रणाली (Scientific Method) और (२) दार्शनिक प्रणाली (Philosophical Method).

वैज्ञानिक प्रणाली भी और उपविभाजित हुई, जैसे—

(१) भौतिक और जैविकीय प्रणाली (Physical and Biological Method)

(२) ऐतिहासिक अथवा जननिक विधि (Historical or Genetic Method)

(३) मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक प्रणाली (Psychological and Analytic Method)

दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों में अन्तर

(१) **आधारगत भेद : परम सत्य तथा प्रत्यक्ष और अनुभव**—दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों में प्रमुख भेद सैद्धान्तिक आधार का है। दार्शनिक प्रणाली परम सत्य को आधार मानती है और उसी के अनुसार नैतिक आदर्शों का रूप निर्धारित करती है।

वैज्ञानिक प्रणाली का आधार अनुभव और प्रत्यक्ष है। जैसा अनुभव होता है और व्यक्ति एवं समाज में जिस प्रकार प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, वैज्ञानिक प्रणाली इन्हीं को आधार मानकर नैतिक आदर्शों को विकसित करती है।

(२) **वर्णनगत भेद**—दार्शनिक प्रणाली आलोचनात्मक (critical) है। इसमें चिन्तन का प्रमुख स्थान है। गम्भीर चिन्तन, विश्लेषण और अन्तर्-दृष्टि की सहायता से प्रदत्तों (dates)–प्रत्यक्ष तथ्यों का अर्थ समझाने का प्रयास किया जाता है।

लेकिन वैज्ञानिक प्रणाली वर्णनात्मक (descriptive) है। इसमें अनुभव और प्रत्यक्ष के आधार पर प्रदत्तों को एकत्रित करके उनका वर्गीकरण किया जाता है तथा सामान्य नियम निर्धारित किये जाते हैं। इस प्रकार यह प्रणाली तथ्यात्मक भी है।

(३) **विश्लेषण और समन्वय**—दार्शनिक प्रणाली समन्वय पर अधिक बल देती है जबकि वैज्ञानिक प्रणाली विश्लेषण पर। दार्शनिक प्रणाली विभिन्न प्रवृत्तियों का समन्वय करके नैतिक आदर्श स्थापित करती है; जबकि वैज्ञानिक प्रणाली उन प्रवृत्तियों के विश्लेषण के आधार पर नैतिक आदर्श स्थापित करने का प्रयास करती है।

दार्शनिक प्रणाली

दार्शनिक प्रणाली को तात्विक प्रणाली (Metaphysical Method) भी कहा जाता है। इसके समर्थक प्लेटो, अरस्तू, हेगेल, ग्रीन आदि प्रत्ययवादी (Idealist) दार्शनिक नीतिशास्त्री हैं।

इनके अनुसार नीतिशास्त्र तत्व दर्शन (Metaphysics) पर आधारित है। समस्त नैतिक आदर्श सद्वस्तु (Reality) से निगमन प्रणाली (deductive) द्वारा निकाले जाते हैं। वह सद्वस्तु की प्राप्ति मानव का परम लक्ष्य है और वह सम्पूर्ण मूल्यों (values) का भण्डार है। वही शाश्वत और वास्तविक है।

इस प्रणाली की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह आदर्श जगत में ही विचरण करती है, व्यावहारिक जगत, इसकी घटनाओं, देश-काल की स्थितियों, मानव के आवेग संवेगों, उसकी प्रतिक्रियाओं, रुचियों आदि की उपेक्षा कर देती है।

वैज्ञानिक प्रणालियां

(१) **भौतिक और जैविकीय प्रणाली**—इस प्रणाली के समर्थक हर्बर्ट स्पेन्सर आदि नीतिशास्त्री हैं। इन्होंने मानव के नैतिक आदर्शों को पशु जगत से निकालने (derive) की चेष्टा की है।

इनकी धारणा है कि नैतिक नियम समाजशास्त्रीय नियमों पर, समाजशास्त्रीय नियम मनोवैज्ञानिक नियमों पर, मनोवैज्ञानिक नियम जैविकीय नियमों पर और जैविकीय नियम भौतिक नियमों पर आधारित होते हैं। इसका कारण यह है कि यह सब विकास क्रम की अवस्थाएँ हैं।

यह प्रणाली चार्ल्स डारविन के विकासवाद से प्रभावित है।

(२) **ऐतिहासिक और जननिक प्रणाली**—यह ऐतिहासिक विकास क्रम तथा उत्पत्ति से नैतिक नियमों के विवेचन का प्रयास करती है, इसके समर्थक हर्बर्ट स्पेन्सर; लेस्ली स्टीफेन, अलैकजेन्डर आदि विकासवादी नीतिशास्त्री हैं। कार्ल मार्क्स ने भी मानव इतिहास की अर्थशास्त्रीय विवेचना करके नैतिक नियमों को भूत और वर्तमान काल की आर्थिक रचनाओं के परिणाम रूप में बताया है।

(३) **मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक प्रणाली**—उपयोगितावादी दार्शनिक, ह्यूम, बेन्थम, मिल आदि ने नैतिक नियमों को मनोविज्ञान के आधार

पर मानकर इस (मनोवैज्ञानिक) प्रणाली का समर्थन किया है। उनकी मान्यता है कि नैतिक नियमों की विवेचना के लिए मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होना चाहिए।

मानव-मन सुख पाना चाहता है, यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है, इसलिए उसे सुख की खोज करनी चाहिए, यह नैतिक आदर्श है। अतः नैतिक नियम मनोविज्ञान पर आधारित हैं।

मनोवैज्ञानिक प्रणाली को क्लार्क, शेफ्टसबरी जैसे सहजज्ञानवादियों (Intuitionists) ने भी अपनाया है। वे कहते हैं—मनुष्य में कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करने की एक सहज स्वाभाविक अन्तश्चेतना है।

कान्ट ने भी मनोवैज्ञानिक प्रणाली का अनुगमन करके कर्तव्य के निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperative) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

भौतिक और जैविक प्रणाली के समर्थकों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे पशु जगत को आधार मानकर मानव के नैतिक नियमों की व्याख्या करना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं कि पशु में नैतिक चेतना का विकास ही कहाँ हुआ है ? मानव में विकसित नैतिक चेतना होती है, अतः वही सभी नैतिक नियमों का आधार और केन्द्रबिन्दु है।

यह भूल ऐतिहासिक प्रणाली में है। मूल्य तथ्यों से उत्पन्न नहीं होते। उद्गम इतिहास से उनकी प्रामाणिकता (validity) सिद्ध नहीं होती। इस विषय में श्री बालफोर के शब्द द्रष्टव्य हैं—

'मुझे सच बोलना चाहिए', इसका यह अर्थ नहीं कि मैंने सच बोला है, बोलता हूँ अथवा बोलूंगा। वह उद्देश्य और विधेय में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध, सहअस्तित्व अथवा किसी क्रम के सम्बन्ध का द्योतक नहीं है।[1]

मनोवैज्ञानिक प्रणाली के समर्थक मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र के मौलिक अन्तर को भूल जाते हैं। नीतिशास्त्र आदर्शों का अध्ययन करता

---

1 I ought to speak truth, for instance, does not imply that I have spoken, do speak, or shall speak the truth, it utters no bond of causation between subject and predicate nor any coexistence nor any sequence.

—Balfour, A Defence of Public Doubt, Appendix, On the Idea of a Philosophy of Ethics, p. 336

है जबकि मनोविज्ञान तथ्यों का। इसी प्रकार नीतिशास्त्र के निर्णय आदेशात्मक और मनोविज्ञान के निर्णय वर्णनात्मक होते हैं। इन दोनों मूलभूत अन्तरों के कारण नीतिशास्त्र के अध्ययन में मनोवैज्ञानिक प्रणाली सफल नहीं हो सकती।

नीतिशास्त्र की वादात्मक प्रणालियां

सामान्यतः नीतिशास्त्र (साथ ही सभी कला तथा विज्ञानों की भी) के अध्ययन की दो प्रणालियाँ हैं—

(१) अनपेक्षात्मक और (२) अपेक्षात्मक।

(१) अनपेक्षात्मक प्रणाली में नीति के सिद्धान्त अटल और सनातन माने जाते हैं, देश-काल-मानव आदि किसी भी स्थिति परिस्थिति से अपरिवर्तनीय होते हैं, उनमें किसी प्रकार का बदलाव नहीं होता।

अंग्रेजी में इसे (Deductive Method) निगमनात्मक प्रणाली कहा जाता है। इस प्रणाली में पहले सिद्धान्त, नियम तथा आदर्श निश्चित कर लिए जाते हैं और बाद में उनका प्रयोग किया जाता है, यानी मानव उनका पालन करते हैं।

उदाहरणार्थ—'सत्य बोलना' नीति है। यह त्रिकाल पालनीय है, इसमें किसी भी परिस्थिति में परिवर्तन क्षम्य नहीं है, कोई अपेक्षा की गुंजायश नहीं है तो यह नीतिशास्त्र की अनपेक्षात्मक प्रणाली है। इसके अनुसार नियम कठोर (Rigid) दृढ़ और त्रिकालवर्ती होते हैं।

जैन दर्शन में इसे उत्सर्ग मार्ग कहा गया है।

(२) अपेक्षात्मक प्रणाली—इस प्रणाली के अनुसार नीति के नियम परिवर्तनशील होते हैं। नैतिक मूल्य पुरुष, प्रकृति परिस्थिति और काल सापेक्ष होते हैं। इस प्रणाली द्वारा विवेचन करते समय सामाजिक रीति-रिवाज, व्यक्तिगत आवेग-संवेग, आदत, देश-काल की परिस्थितियों का भी विचार किया जाता है।

इसे अंग्रेजी में अगमन प्रणाली (Inductive method) कहा जाता है। इस प्रणाली में पहले मानवों की आवश्यकताओं, उनकी परिस्थितियों से सम्बन्धित तथ्यों का संग्रह किया जाता है और फिर उनसे निष्कर्ष निकालकर नियम निर्धारित किये जाते हैं।

इस प्रणाली को एक अपेक्षा से जैन-दर्शन कथित अपवाद मार्ग कहा जा सकता है।

लेकिन अपवाद मार्ग और अगमन प्रणाली में एक विशेष अन्तर यह है कि अपवाद मार्ग उत्सर्ग मार्ग (सामान्य धर्म) को विस्मृत नहीं करता। उसकी दृष्टि तो उत्सर्ग पर ही रहती है, परिस्थितिवश व्यक्ति कुछ काल के लिए अपवाद मार्ग पर चलता है और उस परिस्थिति के समाप्त होते ही पुनः उत्सर्ग मार्ग पर चलने लगता है।

लेकिन अपेक्षात्मक प्रणाली अनपेक्षात्मक प्रणाली को कोई स्थान नहीं देती, शाश्वत नैतिक मूल्यों का इसकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं होता। यह सिर्फ बाहरी रीति-रिवाजों पर ही केन्द्रित रहती है, उन्हीं में नैतिक नियमों के निर्धारण के प्रयास में लगी रहती है। सामाजिक गति-विधियों को देखती है।

लेकिन यह संसार बहुत विशाल है। देश-काल की परिस्थितियाँ भी बहुत भिन्न हैं, जलवायु में भी बहुत अन्तर है और इन सब के कारण रीति-रिवाजों (mores), मानवों की वृत्तियों में भी जमीन-आसमान का अन्तर आ जाता है।

भारत में ही कुछ समाजों में मांसाहार बुरा नहीं माना जाता; जब कि कुछ लोग इसे छूना भी घृणित समझते हैं। कहीं विधवा-विवाह की परम्परा है और कहीं यह अनैतिक कार्य है। इसी प्रकार की स्थिति अन्य रीति-रिवाजों के बारे में भी है।

ऐसी स्थिति में अपेक्षात्मक प्रणाली किसी सार्वभौम शाश्वत नैतिक नियम को स्वीकार नहीं कर पाती।

यही इसका एकांगीपन है।

ऐसा ही एकांगीपन अनपेक्षात्मक प्रणाली में है। वह शाश्वत सिद्धान्तों को स्वीकार करके व्यवहार पक्ष को उपेक्षित कर देती है। प्रत्यक्ष परिस्थितियों का उसमें कोई भी स्थान नहीं है। उधर वह लक्ष्य ही नहीं देती।

जबकि नीतिशास्त्र मानव के आन्तरिक जगत से भी सम्बन्धित है और बाह्य जगत से भी। वह स्वहित के साथ लोकहित का भी विचार करता है। उसके सभी सिद्धान्त जितने व्यक्ति के स्वयं के लिए हितकारी हैं, उतने ही लोक के लिए भी।

अतः अनपेक्षात्मक और अपेक्षात्मक—दोनों ही प्रणालियाँ पृथक्-पृथक् नीतिशास्त्र के अध्ययन में सक्षम नहीं हैं।

समन्वयात्मक नैतिक प्रणाली

वास्तव में नीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक प्रणाली, दार्शनिक प्रणाली, अनपेक्षात्मक और अपेक्षात्मक आदि कोई भी प्रणाली एकांगी रूप में सक्षम नहीं है।

इसका कारण यह है कि नीतिशास्त्र न केवल विज्ञान है, न केवल दर्शनशास्त्र और न केवल तत्वविद्या तथा न केवल आचारशास्त्र; अपितु यह इन सबका समन्वित रूप है।

विज्ञान के रूप में यह आदर्शों और प्रत्यक्ष व्यवहार में तथा घटित घटनाओं का विश्लेषण करके कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करता है, दर्शनशास्त्र के रूप में यह नैतिक आदर्शों की संकल्पना करता है, तत्त्वविद्या के रूप में उन आदर्शों में निहित सिद्धान्तों की खोज करके उन्हें निश्चित करता है और आचारशास्त्र के रूप में उन आदर्शों को व्यावहारिक प्रयोग में लाता है।

अतः इसके (नीतिशास्त्र के) सम्पूर्ण अध्ययन के लिए **समन्वयात्मक प्रणाली** ही सक्षम हो सकती है।

समन्वयात्मक प्रणाली को ही पश्चिमी नीतिशास्त्रियों ने **समीक्षात्मक प्रणाली** कहा है। इसी प्रणाली का उपयोग यूनान के प्राचीनतम मनीषी सुकरात ने किया था। श्री जेम्स सेथ ने इस प्रणाली की प्रशंसा करते हुए कहा है—

"नीतिशास्त्र की सच्ची प्रणाली सुकरातीय प्रणाली है, जिसमें व्यवस्थित करने के दृष्टिकोण से मानव के यथार्थ नैतिक निर्णयों की सूक्ष्म और पूर्ण परीक्षा की जाती है।"[1]

वुण्ट के अनुसार, सच्ची नैतिक प्रणाली वैज्ञानिक और दार्शनिक

---

1 The true method of Ethics is the Socratic method of a thorough going a d exhaustive cross-examinations of men's actual moral judgements, with a view to their systemisation.

—Seth, J. : A Study of Ethical Principles p. 35

दोनों ही है। उसमें निरीक्षण भी है और अन्तर्दृष्टि भी, सामान्यीकरण भी है और चिन्तन भी, विश्लेषण भी है और मूल्यांकन भी, और अगमन (अपेक्षात्मक) भी है और निगमन (अनपेक्षात्मक) भी। इस प्रकार वह एक समन्वयात्मक प्रणाली है। उसमें वैज्ञानिक और दार्शनिक प्रणालियाँ परस्पर निर्भर हैं।

नीतिशास्त्र विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करता है, पर वहीं रुक नहीं जाता; बल्कि उससे उपर उठकर दर्शन के क्षेत्र में पहुँचता है। नैतिक चेतना मानव की विशेषता है जो उसे पशु और देवता से अलग करती है तथा पशुत्व से ऊपर उठाकर नैतिक मानव तक—नैतिकता की उच्चतम सीमा तक ले जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नीतिशास्त्र के अध्ययन की सर्वांगक्षम प्रणाली समन्वयात्मक प्रणाली है। इस बहुआयामी दृष्टिबिन्दु को जैन सिद्धान्त में अनेकांतवाद कहा है। इस अपेक्षा से समन्वयात्मक प्रणाली को अनेकान्तात्मक प्रणाली भी कहा जा सकता है; जहाँ प्रत्येक आयाम को उसका उचित महत्व प्रदान किया जाता है।

नीतिशास्त्र की शैलियाँ

नीति साहित्य की ऐसी विधा है, जिसमें प्रेषणीयता एक अनिवार्य तत्व है। जिस मनीषी, लेखक, कवि के कथन अथवा काव्य में जितनी ही अधिक प्रेषणीयता होगी, पाठक उतना ही अधिक प्रभावित होगा और उसके हृदय पर वह नीतिवाक्य सदा के लिए अंकित हो जायेगा, यदा-कदा उसके स्मृतिपटल पर गहराता रहेगा।

प्रेषणीयता के लिए भाषा का सरल और सुबोध होना अतिआवश्यक है; कठिन और दुर्बोध्य शब्दों में कही हुई बातें सामान्य जन न तो हृदयंगम कर पाते हैं और न उनकी स्मृति में ही वे शब्द रह पाते हैं, उन शब्दों को न समझने के कारण लोग न उनमें रस ले सकते हैं और न ही उचित अवसर पर उनका उपयोग कर सकते हैं।

अपने कथन को प्रभावशाली बनाने के लिए आवश्यक है कि कम शब्दों में अपनी बात कही जाय। दूसरी विशेषता है—उपमा द्वारा अपने कथन की पुष्टि जाय। तीसरी बात है—शब्द योजना चुभती और पैनी हो। चौथी बात है—चोट सीधी न हो, किसी को इंगित करके कही जाय।

इसी प्रकार की अन्य शैलीगत विशेषताएँ हो सकती हैं।

इन विशेषताओं के आधार पर नीति-कथनों की विभिन्न शैलियाँ प्रवर्तित हुईं।

सूक्ति शैली—यह शैली अत्यधिक प्राचीन है। इसमें कम शब्दों में नीति की बात कह दी जाती है।

भगवान महावीर के अनेक कथन इसके प्रमाण हैं। आचारांग, सूत्र-कृतांग तथा उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आदि प्राचीन आगमों में ऐसी अनेक सूक्तियां मिलती हैं। 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि"—जैसे सूक्ति वाक्य पाप तथा अनैतिक कर्मों से मानव को विरत करने के लिए काफी प्रभावशाली हैं।

उपमानों से पुष्ट शैली—उपमानों से पुष्ट सूक्ति वचन जैन भाष्य साहित्य में काफी मात्रा में उपलब्ध होते हैं। व्यवहारभाष्य पीठिका की एक ही गाथा इस संदर्भ में यथेष्ट होगी—

जा एगदेसे अदढा उ गडी, सीलप्पए सा उ करेइ कज्जं।
जा दुब्बला संठविया वि संति, न तं तु सीलंति विसण्णवारं॥

—व्यवहारभाष्य पीठिका, गाथा १८१

(गाड़ी का कुछ भाग टूटने पर तो उसे फिर सुधारकर काम में लिया जा सकता है, किन्तु जो ठीक करने पर भी बार-बार टूटती जाय और बेकार बनी रहे, ऐसी दुर्बल गाड़ी को कौन सँवारे? अर्थात् उसे सँवारने से क्या लाभ?)

असफल प्रयत्न से विरत करने की यह सूक्ति गाड़ी के सटीक उपमान से कितनी प्रभावशाली बन गई है।

सूक्ति शैली वेदों और उपनिषदों में मिलती है और फिर महाभारत जैसे महाकाव्य में श्लोकों द्वारा नीति शिक्षा दी गई है। इस प्रकार श्लोक शैली प्रचलित हुई।

श्लोक शैली में बृहस्पतिनीति, शुक्रनीति आदि अनेक नीतिग्रन्थों की रचना हुई। यह श्लोक शैली लोकप्रिय भी हुई किन्तु सूत्रशैली की अपेक्षा कम लोकप्रिय हुई।

श्लोक-शैली में ही भर्तृहरि का प्रसिद्ध नीति शतक लिखा गया। इसमें सभी श्लोक नीतिपरक हैं। एक श्लोक काफी होगा—

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये
स पश्चात्संपूर्णः कलयति धरित्रीं तृण समाम् ।
अतश्चानैकान्त्याद् गुरुलघुतयार्थेषु धनिना-
मवस्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥

—भर्तृहरि : नीतिशतक, ४५

जब मनुष्य दरिद्री होता है तो मुट्ठी (पस्सा) भर जौ (खाद्यान्न) की इच्छा करता है और धनी बनने पर वही मनुष्य संपूर्ण पृथ्वी को भी तिनके के समान समझता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की विशेष अवस्थाएँ ही पदार्थ में अपनी लघुता या गुरुता के कारण भिन्नता पैदा करती है;कभी उन वस्तुओं को फैलाती और कभी सिकोड़ती हैं।

वह श्लोक वस्तुगत तथा व्यक्तिगत अर्घ (value) के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डालता है, जो कि नीतिशास्त्र का एक प्रमुख प्रत्यय है। यह नीतिवचन श्लोक शैली में है।

श्लोकशैली संस्कृत भाषा में चली। इसी के समानांतर प्राकृत भाषा में गाथा-शैली में भी नीति की सुन्दर शिक्षाएँ दी गईं। एक-दो उदाहरण काफी होंगे।

विढ लोह संकलाण अन्नण पि विविह पास बंधाणं ।
ताणं चिय अहियअरं वाया बंधं कुलीणस्स ॥[1]

(दृढ़ लोहे की शृंखला तथा अन्य भी बहुत से बन्धन हैं,पर कुलीन के लिए वचन का बन्धन सबसे बड़ा है।)

इसी प्रकार की नीति शिक्षाएँ गाथा-शैली में पालि भाषा में भी दी गई हैं।

अन्योक्ति शैली—नीतिशास्त्र की यह शैली अधिक लोकप्रिय रही है। इसमें अन्य को लक्ष्य करके वक्ता अपनी बात कहता है। इससे श्रोता अथवा पाठक रस भी लेता है और सहज ही उसे नीति की शिक्षा भी मिल जाती है। मध्ययुग में इस शैली का प्रचलन अधिक रहा। प्राकृत भाषा की एक अन्योक्ति देखिए—

---

१. डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल : प्राकृत विमर्श, लखनऊ, सं० २००९, पृ० ६

वायस साण खराइ निवारिया, हु हवन्ति असुइरुइ ।
हंस करि सिंह पमुहा न कयावि पणुल्लयावि पुणो ॥[1]

(कौवा, कुत्ता, गधा आदि मना करने पर भी गंदगी की ओर जाते हैं किन्तु हंस, हाथी और सिंह प्रेरित करने पर भी उधर नहीं जाते ।)

यहाँ कौआ आदि दुर्जन के प्रतीक हैं और हंस आदि उत्तम प्रकृति वालों के । कौवा आदि तथा हंस आदि को लक्ष्य करके कही गई यह उक्ति क्रमशः निम्न प्रकृति वाले मानवों तथा उत्तम स्वभाव वाले व्यक्तियों के लिए है ।

इसी प्रकार की अन्योक्तियाँ संस्कृत नीति काव्य में भी हैं तथा हिन्दी नीतिकाव्य में भी बहुतायत से मिलती हैं ।

बिहारी की सतसई में इस शैली के बहुत ही प्रभावशाली उदाहरण मिलते हैं । देखिए—

को निकस्यो इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात ।
ज्यों-ज्यों सुरझि भज्यो चहति, त्यों-त्यों उरझत जात ॥[2]

यहाँ हिरन की ओर संकेत करके मानव को नीति की शिक्षा दी गई है कि जितना स्त्री के माया-जाल से सुलझकर निकलना चाहता है, उतना ही और अधिक उलझता जाता है ।

उदाहरण शैली—नीतिकारों ने अपने कथन को स्पष्ट और प्रभविष्णु बनाने के लिए उदाहरण अथवा दृष्टान्तों का सहारा भी लिया है । प्राकृत भाषा की एक सुभाषित गाथा देखिए—

मणवयकायहिं दय करहि जेम ण दुक्कइ पाउ ।
उरि सण्णाहे बद्धइण अवसि ण लग्गइ घाउ ॥[3]

(मन, वचन और काया से दया करो जिससे पाप न आये । हृदय (वक्षस्थल) पर कवच बाँधने से घाव नहीं लगता ।)

यहाँ कवच के उदाहरण से दया को पुष्ट किया गया है ।

---

१ वी. एम. शाह : प्राकृत सुभाषित संग्रह, १९३५, सूरत, पृ. ४९९

२ बिहारी सतसई

३ सावय धम्म, पृ. ६०

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण उत्तराध्ययन सूत्र से उद्धृत किये जा सकते हैं।

इसी शैली का एक दोहा रहीम का भी है—

रहिमन ओछे नरन ते, तजो बैर अरु प्रीति।
काटे-चाटे स्वान के, दुहू भाँति विपरीत॥[1]

यहाँ कुत्ते के चाटने और काटने का उदाहरण देकर क्षुद्रबुद्धि मानवों के साथ शत्रुता और मित्रता दोनों को ही त्यागने की नीति बताई गई है, कहा गया है इनका प्रेम और द्वेष दोनों ही बुरे हैं।

उर्दू में भी ऐसा ही एक शेर है—

कमीनों से तो बस साहब सलामत दूर की अच्छी।
न इनकी दोस्ती अच्छी न इनकी दुश्मनी अच्छी॥

उदाहरण शैली के उद्धरण संस्कृत साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं।

कथात्मक शैली—इस शैली में कथाओं द्वारा नीति की शिक्षा दी जाती है। जैन परम्परा के भाष्य और चूर्णि में कथाओं के माध्यम से उपनय द्वारा नीति की शिक्षा दी गई है।

ज्ञातासूत्र तथा उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार की बोधप्रद कथाओं द्वारा विविध शिक्षा दी गई है।

यही शैली बौद्ध जातक कथाओं में तथा रामायण एवं महाभारत महाकाव्यों में भी अपनाई गई है।

यहाँ तक कि शेखसादी के गुलिस्ताँ में भी यही शैली मिलती है। मध्ययुग में प्रचलित किस्सा तोता-मैना में भी तोता और मैना एक-एक कथा कहते हैं और फिर नीति की शिक्षा देते हैं।

प्रभविष्णुता की दृष्टि से यह नीति की सबसे सफल शैली कही जा सकती है; क्योंकि कथात्मकता होने से पाठक अथवा श्रोता की रुचि भी लगी रहती है और उसे जीवन-व्यवहारोपयोगी शिक्षा भी मिल जाती है।

पंचतंत्र इस शैली का सबसे सफल ग्रन्थ कहा जा सकता है।

उपदेशात्मक शैली—इस शैली में सीधा-सादा नीति का उपदेश दिया जाता है। संत, महात्मा तथा उपदेशकों ने अधिकांशतः इस शैली का उप-

---

१ रहीम ग्रन्थावली

योग किया है। संत, चूंकि सरलहृदय होते हैं; इसलिए वे सरल शब्दों में अपनी बात कह देते हैं; किन्तु इनकी सत्यपूत वाणी भी अमोघ होती है, श्रोताओं पर उसका यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। अतः नीति की यह शैली भी सफल है।

पाश्चात्य जगत में सूक्त्यात्मक शैली बाइबिल में मिलती है। इसमें ईसामसीह के उपदेश संकलित हैं। कुरान शरीफ भी हजरत मुहम्मद के उपदेशों का संकलन है। इन्होंने भी उपदेशों के माध्यम से नीति की शिक्षाएँ दी हैं।

प्राचीनतम पाश्चात्य मनीषी यूनानी चिन्तक सुकरात है। उसने विविध प्रकार के उपदेश दिये और सिद्धान्त निर्धारित किये। उसके विचारों को प्लेटो आदि ने गति दी। उसकी रचना Poetica आदि में भी नीति-वचन खोजे जा सकते हैं।

पाश्चात्य जगत में फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद जो पुनर्जागरण हुआ, इसके बाद ज्ञान-विज्ञान की प्रगति हुई, साहित्य में भी गतिशीलता आई। Chaucer ने Canterbury Tales तथा Shakespeare के सोनेट और नाटकों में नीति वचन मिल जाते हैं, उदाहरण के लिए—

Everything glitters is not gold. —Merchant of Venice
(प्रत्येक चमकने वाली वस्तु स्वर्ण नहीं होती)

Beauty provoketh thieves rather sooner than gold.
(सुन्दर स्त्री, स्वर्ण की अपेक्षा चोरों को शीघ्र आकर्षित करती है)
—As you like it.

Kindness is divine. —Merchant of Venice
(क्षमा दैवी गुण है)

Vanity is the last evil of greats. —Milton : Paradise Lost
(अभिमान महान व्यक्तियों की बुराई है।)

आदि नीति वचन महान् साहित्यकारों के साहित्य में उपलब्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार के नीतिवचन Longfellow, Shelley, Tennyson, Robert Browning, Wordsworth आदि कवियों की कविताओं में भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। किन्तु इन्होंने स्वतन्त्र रूप से नीति पर कोई चिन्तन नहीं किया।

नीति सम्बन्धी चिन्तन शापेनहावर, काण्ट, नीत्शे, फ्रोबेल, जॉन ड्यूई,

एडलर जुंग, सिजविक आदि विद्वानों ने प्रस्तुत किया। यह सभी नीति चिन्तक और नीतिशास्त्री हैं। नीति के स्वरूप पर इन्होंने गहरा विश्लेषण किया, उसके सिद्धान्त निर्धारित किये, नीतिशास्त्र कला है अथवा विज्ञान इस पर खूब विवाद किये, ग्रंथ लिखे; किन्तु इनमें से कोई भी नैतिक जीवन व्यतीत करने वाला न रहा, इनके जीवन में नैतिकता का समावेश नाम मात्र को था।

इन सभी की शैली विवेचनात्मक है। इनकी रचनाओं से पाठक का मस्तिष्क तो प्रभावित होता है, किन्तु हृदय प्रभावित नहीं होता, उसे नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा नहीं मिलती।

संक्षेप में भारतेतर तथा पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृतियों के प्राचीनतम ग्रंथों में, जो कि वास्तव में संतों तथा धर्मोपदेशकों के उपदेशों के संकलन हैं, उनमें तो नीति सम्बन्धी कथन उपदेशात्मक शैली में प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु सोलहवीं शताब्दी के बाद के लगभग सभी ग्रन्थ साहित्य की गद्य विधा और विवेचनात्मक शैली में लिखे गये हैं; इनमें नीति-सम्बन्धी ऊहापोह तो मिलता है; किन्तु नीति-कथन की शैलियों का अभाव सा ही दृष्टिगोचर होता है। जैसी नीति-शैलियाँ भारतीय संस्कृति में उपलब्ध होती हैं, वैसी भारतेतर साहित्य में बहुत ही अल्पमात्रा में प्राप्त होती हैं।

९.

नैतिक मान्यताएँ

मानव एक सामाजिक प्राणी है। उसके कर्तव्य ही नैतिक जीवन के आधार हैं। साथ ही नैतिक जीवन के भी कुछ आधारभूत तत्व हैं। जिनके बिना नैतिक जीवन को समझना अति कठिन होता है। इन आधारभूत तत्वों को 'नैतिक मान्यताएँ अथवा 'नैतिकता की मान्यताएँ' नीतिशास्त्रियों ने कहा है।

ये मान्यताएं हैं—(१) अमरता (२) स्वतन्त्रता और (३) ईश्वर-सत्ता की स्वीकृति। सर्वप्रथम काण्ट ने नैतिकता की इन तीन मान्यताओं की व्याख्या और पुष्टि की है।

काण्ट के अनुसार यह मान्यताएँ यद्यपि मानव के बौद्धिक ज्ञान का विस्तार नहीं करतीं, किन्तु व्यवहार में—व्यावहारिक जीवन में यह सामान्य रूप से विषयगत अस्तित्व प्रदान करती हैं। वास्तव में, ये ही अमरता, स्वतन्त्रता और ईश्वर सत्ता को प्रत्यय होने का अधिकार देती है, जिनकी सम्भावना भी अन्यथा स्थापित नहीं की जा सकती।[1]

---

१ The postulates are not theoretical dogmas, but suppositions practically necessary, while then they do not extend our speculative knowledge, they give objective reality to the ideas of speculative in general (by means of their reference to what is practical) and give it a right to concept the possibility even of which it could not otherwise venture to affirm.

—Kant's Selections (Scribners Series, p. 368)

वास्तव में, जैसा डीवी ने कहा है—नीतिशास्त्र आचरण का विज्ञान है। मानव जो कुछ भी क्रिया-कलाप अथवा आचरण करता है, चाहे व्यक्तिगत सन्दर्भ में अथवा सामाजिक व्यवहार के रूप में, यदि वह जन-जीवन के रीति-रिवाजों के अनुकूल हुआ तो उसे सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है, और उस आचरण को नैतिक मान लिया जाता है।

नैतिक आचरण का तात्पर्य सामाजिक मानदण्डों के अनुकूल आचरण है। यही बात 'निषिद्ध देशकाल चर्या का त्याग' इन शब्दों द्वारा आचार्य हेमचन्द्र ने कही है।[1]

अरबन ने कहा है—वस्तुतः नैतिकता की मान्यताएँ, वे सत्य हैं, जिनके सहारे मानव अपना जीवन व्यतीत करते हैं, और यदि कहीं ये मान्यताएँ (सत्य) मानव द्वारा भ्रम और भूल में परिणत हो जायँ (अथवा हम इन सत्यों के विषय में भ्रमित हो जायँ) तो हमारा जीवन ही, सही अर्थों में जीवन न रहे (हमारे जीवन की गतिविधियां और क्रिया-कलाप ही अव्यवस्थित हो जायें।[2]

इससे स्पष्ट है कि नैतिक मान्यताओं का जीवन में बहुत महत्व है। इन्हें अभ्युपगम (postulate) भी कहा जाता है।

अभ्युपगम अथवा नैतिक मान्यताओं के विषय में यह ज्ञातव्य है कि ये किसी भी समाज में बहुत पहले से प्रवर्तमान होती हैं। इनका उद्गम खोजना सरल नहीं है। ये समाज द्वारा स्वीकृत रीतियां, परम्पराएं, विश्वास और धारणाएँ हैं; उदाहरण के लिए उत्तराध्ययन में कहा गया है—

(आत्मा) ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से इन पर श्रद्धा करता है, चारित्र से (नवीन कर्मों के आश्रव का) निरोध करता है और तप से परिशुद्ध (पूर्व संचित कर्मों का क्षय) होता है।[3]

---

१. हेमचन्द्राचार्य : योगशास्त्र, प्रकाश १, श्लोक ५४

२ These (Postulates of Morality) are, in very truth, 'the truths men live-by' and for these truths to turn into error and illusion in our hands, is in a very real sense for us to cease to live.

—Urban : Fundamentals of Ethics, p. 357

३. नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र २८/३५

इस गाथा में आत्मा की अमरता, कर्मों द्वारा आत्मा का बन्धन, ईश्वर सत्ता, आत्मा की कर्म बन्धनों से स्वतन्त्र होने की शक्ति, तथा आत्म स्वातंत्र्य—यह सब अभ्युपगम अथवा पूर्व मान्यताएँ हैं। क्योंकि यदि आत्मा आदि की पूर्व धारणाएँ ही न हों तो इस कथन की संगति ही नहीं बैठ सकती।

इन पूर्व मान्यताओं की कुछ विशेषताएँ हैं—

(१) यह जीवन-व्यवहार को प्रभावित करती हैं।

(२) इनमें मानव की निष्ठा अनिवार्य होती है।

(३) यह परम्परासिद्ध होती हैं और प्रवर्तमान रहती हैं।

(४) बुद्धि द्वारा इनका खण्डन किया जा सकता है, किन्तु व्यवहार में इनका खण्डन सम्भव नहीं है। जैसे—नास्तिकवादी चार्वाक दर्शन ने बुद्धि और तर्क द्वारा आत्मा के अस्तित्व का खण्डन कर दिया, किन्तु व्यवहार में आत्मा का खण्डन न कर सका, आत्मा के बारे में जन-जीवन की निष्ठा को न हिला सका।

(५) यह बुद्धिवादी विवेचनायें नहीं हैं, अपितु नैतिकता का आधार हैं, व्यावहारिक जीवन के लिए आवश्यक हैं।

(६) लोग इनकी उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील होते हैं क्योंकि पूर्वमान्यताओं की सत्यता लोगों के मनोरथ और मनोकामनाएँ होने से बढ़ती हैं। जैसे—मुक्ति की सत्यता लोगों के इस ओर प्रयत्नशील होने से मानव हृदय में दृढ़ होती है।

(७) इनका अस्तित्व समाज की सुव्यवस्था और व्यक्ति की नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक है, क्योंकि यह चेतनाशील और विचारपूर्ण होती है।

(८) यह सत्कर्म और नैतिक व्यवहार का आधार होती है तथा इन (सत्कर्मों और नैतिक व्यवहार) के फल में कार्य-कारण भाव होता है; यथा—अच्छे कर्मों का फल शुभ होता है।

(९) यह अमूर्त मान्यताओं (जैसे आत्मा की, मोक्ष की मान्यता आदि) को वस्तुगत वास्तविकता—यथार्थता प्रदान करती हैं। इस कारण ये मानवों द्वारा दृढ़ता से धारण की जाती हैं।

(१०) यह पुष्ट दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित होती हैं।

यही कारण है कि पूर्व-मान्यताओं का नैतिक जीवन में इतना अधिक महत्व है।

जैसाकि उपर्युक्त पंक्तियों में कहा गया है कि यह अभ्युपगम पुष्ट दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं, इसीलिए आधुनिक नीतिशास्त्री नीतिशास्त्र के आधार रूप में दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं।

नीतिशास्त्र का दार्शनिक आधार

जितने भी दार्शनिक सिद्धान्त हैं, वे सभी नीतिशास्त्र के आधार माने जा सकते हैं। किन्तु यहां प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों का नीति के आधार के रूप में विवेचन अपेक्षित है।

१. हेतुवाद और फलवाद

इसे दार्शनिक शब्दों में कार्य-कारणवाद कहा जाता है। इसका अभिप्राय है जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। उदाहरणतः बुरे कार्य का परिणाम बुरा होगा, हिंसा का फल बुरा होगा। जैसाकि आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

हिंसा का फल लंगड़ापन, कोढ़ीपन, हाथ-पैर आदि अंगों की विकलता आदि के रूप में मिलता है।[1]

सामान्यतः ऐसा ही होता है।

हिंसा का सामान्य अभिप्राय किसी को मारना, त्रास देना, उसके अंगों-उपांगों का छेदन करना आदि है।

लेकिन डाक्टर भी रोगी की शल्य चिकित्सा करता है, उसके अंगोपांगों का छेदन-भेदन करता है, तो क्या यह भी हिंसा कही जायेगी? क्या डाक्टर को भी अशुभ फल भोगना पड़ेगा? यदि ऐसा है तो डाक्टर का कार्य अनैतिकता की श्रेणी में आ जायेगा। जबकि प्रत्येक दृष्टि से डाक्टर

---

१. पंगु-कुष्टि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसा फलं सुधीः।

—हेमचन्द्राचार्यः योगशास्त्र, प्रकाश २, श्लोक १९

का कार्य नैतिक माना जाता है और है भी। यदि शल्य क्रिया करते समय मरीज का प्राणान्त हो जाय तो भी उसका कार्य नैतिक है, शुभ है, रोगी के हित के लिए है, जीवन बचाने के लिए है।

वास्तव में, हेतुवाद का हार्द है भावना। भावों के अनुसार ही शुभाशुभत्व का निर्णय होता है और उसी के अनुसार शुभ अथवा अशुभ फल की प्राप्ति प्राणी मात्र को होती है।

ओघनिर्युक्ति में भी यही बात कही है—अहिंसकत्व का निर्णय अध्यात्म-विशुद्धि की दृष्टि से है, बाह्य हिंसा-अहिंसा की दृष्टि से नहीं।[1]

अतः हेतुवाद और फलवाद का आश्रय लेते हुए भी नीतिशास्त्र नैतिकता के निर्णय के लिए भावात्मक शुभ अथवा अशुभ का आधार लेता है, ठीक उसी तरह जैसे कि भगवान महावीर के वचन ओघनिर्युक्ति नामक ग्रंथ में संकलित किये गये हैं।

गीता में भी यही बात कही है—

न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात ! गच्छति।

(अच्छा कर्म करने वाले की दुर्गति नहीं होती।)

२. आत्मा की अमरता

हेतुवाद और फलवाद से यह सिद्धान्त फलित होता है कि कर्मों का फल आत्मा को भोगना आवश्यक है। यानी कर्मावस्था का कर्ता और फलावस्था का भोक्ता एक ही व्यक्ति—और सही शब्दों में वही आत्मा है।

इसका फलित यह है कि आत्मा अमर है। यदि आत्मा अमर न हो तो कर्म और फलभोग में अनवस्था हो जायेगी। कर्म कोई करेगा और फल किसी दूसरे को भोगना पड़ेगा।

बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद में आचार्य हेमचन्द्र ने यही सबसे बड़ा दोष बताया है।

यदि आत्मा अमर न हो तो विकास किसका होगा ?

नैतिक विकास (Moral Progress) की दृष्टि से काण्ट ने भी आत्मा की अमरता अथवा शाश्वतता को स्वीकार किया है। वह निःश्रेयस् को

---

१ अज्झत्थ विसोहीए; जीवनिकाएहिं संथडे लोए।
देसियमहिंसगत्तं, जिणेहिं तेलोक्कदरिसीहिं॥ —ओघनिर्युक्ति ७४७

नैतिकता का सर्वोत्तम लक्ष्य (Summum Bonum) स्वीकार करके कहता है कि यह अनन्त प्रगति केवल इस मान्यता पर सम्भव है कि मनुष्य के व्यक्तित्व और अस्तित्व की स्थिरता अनन्त है—आत्मा अमर है। इस प्रकार आत्मा की अमरता, नैतिक नियमों से अनिवार्यतः सम्बन्धित होने के कारण नीतिशास्त्र की एक व्यवसायात्मक बुद्धि की मान्यता है।

भगवान महावीर ने तो बहुत पहले ही कह दिया है कि आत्मा का कभी नाश नहीं होता—आत्मा अमर है।[1]

अन्य सभी आत्मवादी दर्शन आत्मा की शाश्वतता में विश्वास करते हैं।

अतः आत्मा की शाश्वतत का दार्शनिक सिद्धान्त नीतिशास्त्र का एक प्रमुख आधार है क्योंकि सम्पूर्ण नीति, नैतिक नियम, शुभ आदि—नीतिशास्त्र का पूरा का पूरा महल आत्मा की अमरता के सिद्धान्त पर ही टिका हुआ है, इस सिद्धान्त के अभाव में नीतिशास्त्र का महल ताश के पत्तों के समान बिखर जायेगा।

३. प्रगति की अनिवार्यता

प्रगति का अर्थ नैतिक विकास है। इस प्रगति के दो मानदण्ड हैं—सुख और श्रेय। यदि आज के मानव भूतकाल के मानवों से अधिक सुखी हैं और कल्याण पथ की ओर बढ़े हैं तो अवश्य ही नैतिक प्रगति हुई है। इसी प्रकार यदि भविष्य के मानव भी सुख और कल्याण के पथ पर बढ़ेंगे तो नैतिक प्रगति हुई मानी जायेगी।

प्रगति का सिद्धान्त गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के विपरीत है। गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु पृथ्वी की ओर—नीचे को ओर आती है; जबकि प्रगति का सिद्धान्त ऊर्ध्वमुखी है। प्रगति की अनिवार्यता नैतिकता के लिए अनिवार्य है।

अरबन ने कहा है—हमें इसकी (प्रगति की) अनिवार्यता में इस

---

१ (क) नत्थि जीवस्स नासो त्ति। —उत्तराध्ययन सूत्र २/२७
(ख) एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा.... —अमितगति द्वात्रिंशिका
(ग) एगो मे सासदो अप्पा.... —नियमसार ९९
(घ) णिच्चो अविणासी सासओ जीवो —दशवैकालिक, नि० भाष्य ४२
(च) अहं अव्वए वि, अहं अवट्ठिए वि —ज्ञाता सूत्र, १/९

कारण विश्वास करना पड़ता है कि हम जानते हैं, यदि यह न हो तो, सम्पूर्ण नैतिक प्रयत्न व्यर्थ और निरर्थक हैं।[1]

नैतिक प्रगति का यह सिद्धान्त भगवान महावीर के इस कथन पर आधारित है कि जीव क्रमशः उन्नति करता हुआ मुक्त होता है।

गीता में श्रीकृष्ण ने भी यही बात कही है कि—प्रयत्नपूर्वक साधना में लगा हुआ योगी अनेक जन्मों में थोड़े-थोड़े संस्कार एकत्र करके उन जन्मों में संचित कर्म से पापरहित होकर परम गति (निःश्रेयस्) को प्राप्त करता है।[2]

४. ईश्वर की सत्ता

सामान्यतः यह प्रश्न उठाया जाता है—नैतिक प्रगति की पराकाष्ठा कहाँ है? नीतिशास्त्र का उत्तर है—निःश्रेयस् प्राप्ति में। और यह निःश्रेयस् क्या है? इसका समाधान दर्शन देता है—वह समाधान है—ईश्वर बनने में अथवा ईश्वरत्व की प्राप्ति में।

इस प्रकार अन्ततोगत्वा नीतिशास्त्र ईश्वर की सत्ता स्वीकार करता है। काण्ट ने ईश्वरीय सत्ता के लिए दो प्रकार की नैतिक युक्तियाँ दी हैं—प्रथम, नैतिक जीवन के लिए सुख और श्रेय का समन्वय आवश्यक है, क्योंकि नैतिक कर्म श्रेय है और सुख उसका फल है।

द्वितीय, यदि निःश्रेयस् का अनुसंधान करना मानव का नैतिक कर्तव्य है तो इसे (निःश्रेयस् को) साध्य होना चाहिए और साथ ही ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण भी होने चाहिए जिन्होंने उस निःश्रेयस् को सिद्ध करके उत्तम सुख उपलब्ध किया है।

इसी प्रकार कर्तव्य के नियोग[3] और आत्म-विधायक विवेक[4] की युक्ति देकर काण्ट ने ईश्वरीय सत्ता की सिद्धि की है।

---

१ If we believe that progress is necessary, it is only because we know that if it is not, moral effort in the end meaningless and futile. —W. M. Urban : Fundamentals of Ethics, p. 436

२ श्रीमद्भगवद्गीता ६।४५

३ The categorical imperative lead direct to God and affords surety of this reality.
—Kant's selections from Opus postumum, Scribner's p. 372

४ God to the morally practical self-legislative reason.
—Opus postumum, quoted in Kant's selections, p. 373

अतः उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ईश्वरीय सत्ता की स्वीकृति नैतिकता का एक प्रमुख आधार है। इसका कारण यह है कि सुख की प्राप्ति नैतिकता का चरम लक्ष्य है और ईश्वरत्व में ही अनन्त तथा अव्याबाध सुख है। इसलिए ईश्वरीय सत्ता नैतिक आचार-विचारों की प्रेरणा नीतिशास्त्र का सर्वमान्य आधार है।

स्वतन्त्रेच्छा (इच्छा स्वातंत्र्य

नीतिशास्त्र के अनुसार ईश्वरीय सत्ता की स्वीकृति का यह अभिप्राय नहीं है कि मानव अथवा प्राणीमात्र ईश्वर के हाथ की कठपुतली है, ईश्वर की इच्छा से ही सारी मानवीय प्रवृत्तियां होती हैं। **ईश्वरेच्छा बलीयसी**—यह सिद्धान्त नीतिशास्त्र को मान्य नहीं है।

ईश्वरेच्छा की बजाय नीतिशास्त्र मानव की स्वतन्त्रेच्छा में विश्वास करता है। यदि मानव की इच्छा को स्वतन्त्र न माना जाय तो वह कैसे नैतिक आचरण कर सकेगा और फिर अनैतिक आचरण का उत्तरदायित्व भी उस पर कैसे डाला जा सकता है ?

पाणिनि ने 'स्वतन्त्रः कर्ता'[1] इस सूत्र द्वारा व्याकरणगत कर्ता को स्वतन्त्र माना है, इससे यह भी फलित होता है कि नैतिक दृष्टि से भी वे कर्ता (आत्मा) को स्वतन्त्र मानने के पक्षधर हैं।

भगवान महावीर[2] ने अनेक स्थलों पर आत्मा की स्वतंत्रता का उद्घोष किया और सुख-दुःख के लिए आत्मा को ही उत्तरदायी ठहराया है। यहां तक कि उन्होंने धर्म का निश्चय करने में भी आत्मस्वातंत्र्य अथवा आत्मा की इच्छा की स्वतंत्रता की उद्घोषणा की है।

भगवान महावीर के यह कथन धर्म-दर्शन-अध्यात्म की दृष्टि से जितने महत्वपूर्ण हैं, उससे भी अधिक इनका महत्व नीति के सन्दर्भ में है। कोई कर्म नैतिक है अथवा अनैतिक—इसका निर्णय भी मनुष्य का स्वविवेक

---

१ अष्टाध्यायी १।४।५४

२ (क) अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय सुपट्ठिओ॥ —उत्तरा २०।३७

(ख) कम्मी कम्मेहिं किच्चती। —सूत्रकृतांग ६।४

(ग) दुक्खे केण कडे, जीवेण कडे पमाएणं। —स्थानांग

तथा उसको स्वतंत्र इच्छा ही कर सकती है और इच्छा स्वातंत्र्य नैतिक कर्मों के लिए अनिवार्य आधार है।

मनोविज्ञान के अनुसार 'इच्छा-स्वातंत्र्य अपनी इच्छा के अनुसार निश्चय तथा कार्य करने की योग्यता क्षमता और स्वतन्त्रता है।'

दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार इच्छा-स्वातंत्र्य के तीन रूप हमारे समक्ष आते हैं—

(क) यदृच्छावाद, स्वच्छन्दतावाद या अनियतिवाद
(ख) अस्वच्छन्दतावाद या नियतिवाद
(ग) आत्मनियमितता अथवा आत्मनियंत्रणवाद।

यदृच्छावाद--संकल्प-स्वतंत्रता अथवा इच्छा-स्वातंत्र्य को पूर्ण स्वतंत्र मानता है। यह वाद प्रेरणाओं को नकारता है और स्थापित करता है कि मानव अनेक इच्छाओं में से किसी एक इच्छा, जो अधिक बलवती हो, को चुनकर उसके अनुसार अपनी प्रवृत्ति कर लेता है, ये कार्य क्षणिक आवेश में होते हैं।

इस सिद्धान्त का अनुसरण करने पर मानव के भावी क्रिया-कलापों के बारे में न कोई अनुमान लगाया जा सकता है और न ही किसी प्रकार की भविष्यवाणी की जा सकती है।

जब कि ऐसा होता नहीं, मानव के विषय में भविष्यवाणी की जाती हैं और वे सही भी निकलती हैं।

इस दृष्टि से यह सिद्धान्त अपूर्ण और एकांगी है।

नियतिवाद इच्छा-स्वातंत्र्य को पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं मानता अपितु इसकी धारणा है कि मानव के कर्म पहले से ही कार्य-अभ्यास, भावनाओं एवं स्थायीभावों के द्वारा सुगठित चरित्र द्वारा नियत होते हैं और मानव को चरित्र के प्रभाव से ही कार्य करने पड़ते हैं इसके अतिरिक्त वे मानव की संकल्प शक्ति को वंशपरम्परा (Heredity) और पर्यावरण (Environments) से भी प्रभावित मानते हैं।

इस सिद्धान्त से तो यह फलित होता है कि समान स्वभाव, विचार, वंशपरम्परा तथा वातावरण वाले व्यक्ति एक सा ही नैतिक या अनैतिक आचरण करेंगे जबकि प्रत्यक्ष में ऐसा देखा नहीं जाता। एक माता-पिता के युगल पुत्रों में से भी, सभी प्रकार की समानता होते हुए भी, एक का आचरण नैतिक और सभी के लिए सुखप्रद होता है, जबकि दूसरा घोर

अनैतिक आचरण करके अपने और परिवार तथा समाज के लिए त्रासदायी बन जाता है।

अतः यह सिद्धान्त भी अपूर्ण और एकांगी है।

आत्मनियमिततावाद या आत्मनियन्त्रणवाद—मध्यममार्गी है। यह इच्छा-स्वातंत्र्य को न नियत मानता है और न इसको असीमित स्वतंत्रता प्रदान करता है, अपितु संकल्प-स्वातंत्र्य को आत्मा द्वारा नियन्त्रित तथा नियमित स्वीकार करता है। नीतिशास्त्र में इसे आत्म-निर्धारणवाद (Self-determinism) कहा गया है।

आत्म-निर्धारण के दो तत्व हैं—(१) प्रतिषेधक और (२) विधायक। प्रतिषेधक का अर्थ बलात्कार या दबाव से रहितता है और विधायक आत्मा का अपना निजी निर्धारण है। दूसरे शब्दों में प्रतिषेधक तत्व पर की अपेक्षा से है और विधायक तत्व स्व की अपेक्षा से।

ज्यों-ज्यों चरित्र का विकास होता है, नैतिकता का स्तर उच्च से उच्चतर होता है त्यों-त्यों स्वतंत्र-इच्छा का—आत्म-निर्धारण का विधायक तत्व प्रबल होता जाता है और अन्य निर्धारण का तत्व क्षीणतर होता जाता है।

चूंकि आत्म-निर्धारण का विधायक तत्व स्वापेक्षित है तथा इस बात पर निर्धारित है कि आत्मा कितना अपने को अन्य निर्धारण से बचाती है; अतः अन्य निर्धारण की अपेक्षा से नीतिशास्त्र में इस प्रतिषेधक तत्व का अधिक महत्व है। व्यावहारिक होने से इस प्रतिषेधक तत्व के कई तारतम्य भी हैं।

स्वतन्त्रता का तारतम्य

प्रतिषेधक तत्व के अनुसार स्वतन्त्रता के कई अर्थ हैं और इन अर्थों में तारतम्य है। यह तारतम्य निम्न स्तर से उच्च स्तर तक है। नैतिक दृष्टि से कोई भी व्यक्ति उच्च स्तर पर तुरन्त स्वतन्त्र नहीं हो सकता; हाँ, निम्न स्तर पर स्वतन्त्र हो सकता है।

स्वतंत्रता के तारतम्य नीतिशास्त्रियों द्वारा निम्न प्रकार से निर्धारित किये गये हैं—

(१) **एक प्रेरणा के विषयों में चुनाव**—जब मनुष्य अपनी किसी प्रेरणा के विषय में चुनाव करता है तो उस समय अपनी स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग करता है। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति नया सूट सिलवाना चाहता है तो

किस रंग का कपड़ा पसन्द करे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। वस्तुतः यह स्वतन्त्रता है, अप्रियता से निवृत्ति।

(२) **प्रेरणाओं की तृप्ति में चुनाव**—जब दो विभिन्न प्रेरणाएँ व्यक्ति को एक ही समय अपनी-अपनी तृप्ति के लिए प्रेरित करती हैं, तो उनमें से एक को चुनने के लिए व्यक्ति स्वतंत्र होता है। जैसे—किसी महात्मा का प्रवचन सुनने जाय अथवा टी. वी. पर पिक्चर देखे—इन दोनों में से किसी एक को भी चुनने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र है।

(३) **प्रेरणा और बुद्धि की तृप्ति में चुनाव**—यहाँ प्रेरणा और बुद्धि के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। प्रेरणा अधिकतर संवेगों (instincts) द्वारा उत्पन्न होती है और बुद्धि विवेकजनित है। इसी अपेक्षा से बुद्धि को दैवी और प्रेरणा को आसुरी भी कह दिया जाता है। यहाँ बुद्धि का अर्थ सुबुद्धि ही ग्रहण करना चाहिए।

जब बुद्धि और प्रेरणा में संघर्ष होता है तो दोनों ही व्यक्ति से अपनी-अपनी तृप्ति की माँग करती हैं; तब व्यक्ति अनिश्चय की स्थिति में आ जाता है, मोह-विमूढ़ हो जाता है। उन दोनों में से किसी भी एक को चुनना व्यक्ति के लिए बहुत कठिन होता है।

धर्मशास्त्रों में इसे 'दैवी-आसुरी' संघर्ष कहा गया है।

अर्जुन के सामने यही स्थिति आ गई थी जब उसने रणभूमि में अपने शस्त्रास्त्र रख दिये थे। उसके सामने एक ओर गुरुजनों तथा अपने कुल-परिवार का मोह था तथा दूसरी ओर क्षत्रिय धर्म का पालन। श्रीकृष्ण के समझाने और यथार्थ स्थिति पर चिन्तन करने से उसने क्षत्रिय धर्म का पालन किया।

(४) **बुद्धिपरक जीवन**—बुद्धिपरक जीवन से अभिप्राय है—मानवता के अनुसार जीवन जीना। यद्यपि मानव पाशविक और मानवीय—दोनों में से किसी भी एक प्रवृत्ति को चुन सकता है किन्तु पाशवीय प्रवृत्ति अनैतिक होती है और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप से नीतिशास्त्र अनैतिकता को कोई स्थान नहीं देता। इसीलिए नीतिशास्त्र बुराई की स्वतंत्रता मानव को नहीं देता। इसके अनुसार मानव अच्छे कार्य करने में स्वतंत्र है।

अतः बुद्धिपरक जीवन का अर्थ नीतिशास्त्र के अनुसार सत्कर्म या शुभ कार्य करते हुए जीवन व्यतीत करना है।

(५) **बौद्धिक मांगों का चुनाव**—बुद्धिपरक जीवन जीने की स्वतंत्रता

भी पूर्ण स्वतंत्रता नहीं है। इसका कारण यह है कि बौद्धिक माँगें भी अनेक प्रकार की हैं। उन सभी को तृप्त करना असम्भव है।

उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति नैतिक जीवन व्यतीत करना चाहता है, इस बारे में वह धर्म ग्रन्थों—नीति सम्बन्धी ग्रन्थों का अवलोकन करता, धर्मोपदेशकों तथा नीतिशास्त्रियों में विचारों को सुनता है, पढ़ता है, मनन करता है तो उलझन में पड़ जाता है।

विभिन्न धर्मग्रन्थ और नीति संबंधी ग्रंथों में तो परस्पर विरोधी बातें तो मिलती ही हैं, स्वयं एक ही धर्मोपदेशक एक स्थान पर एक बात या आचरण को नीति या धर्म कहता है और वही दूसरे स्थान पर पहली बात के सर्वथा विपरीत और विरोधी बात कहता है या कार्य करता है।

ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अनेक बौद्धिक मांगों में से किसी एक माँग को चुनना पड़ता है। यथा—वैदिकी हिंसा (जिसको वेदों में अहिंसा—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" कहा गया है) और अहिंसा में से किसी को चुनना। यह स्वतंत्रता बौद्धिक मांगों में से किसी एक को चुनने की स्वतंत्रता है, जो नैतिक जीवन के लिए अनिवार्य है।

(६) पूर्ण स्वतन्त्रता—इसका अभिप्राय आचार, विचार और वचन को निर्धारित करके उनमें एकरूपता रखना है। ऐसा व्यक्ति सज्जन या महात्मा होता है। सज्जन का लक्षण ही है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।

सत्कर्म ही करना ऐसे व्यक्तियों का स्वभाव बन जाता है।

नीतिशास्त्र के अनुसार ऐसे व्यक्ति ही पूर्ण स्वतंत्रता के अधिकारी होते हैं। इनकी स्वतन्त्रता उच्चतर स्तर की होती है।

इन छह प्रकार की स्वतन्त्रता को क्रमशः (१) आत्मप्रियता (Self-pleasure), (२) आत्माभिव्यक्ति (self-assertion), (३) आत्मोपलब्धि (self-realisation) (४) आत्मसंयम या आत्मविजय (self-conquest) (५) आत्म-निर्धारण (self-determination) और (६) आत्म-पूर्णता (self-perfection) कहा जा सकता है।

इनमें से नीतिशास्त्र के अनुसार आत्मोपलब्धि को ही स्वतन्त्रता कहा जाता है; जिसके अनुसार व्यक्ति अपने कार्यों के लिए भी उत्तरदायी होता है।

आत्मप्रियता और आत्माभिव्यक्ति निम्न कोटि की स्वतन्त्रता है, जिसका नीतिशास्त्र में कोई विशेष स्थान नहीं है। ऐसे कार्य ऐच्छिक कार्य (Voluntary actions) होते हैं, जिनकी गणना नैतिकता में नहीं होती ऐसे व्यक्ति को नीति-निरपेक्ष (amoral) कहा जा सकता है।

आत्मसंयम, आत्मनिर्धारण और आत्मपूर्णता क्रमशः उच्च, उच्चतर और उच्चतम स्तर की नैतिक स्वतन्त्राएँ हैं।

इस विवेचन का सार यह है कि नीतिशास्त्र में स्वतन्त्रता—स्वतन्त्र इच्छा या संकल्प की स्वतन्त्रता के साथ उत्तरदायित्व का प्रत्यय भी जुड़ा हुआ है; यानी स्वतन्त्रता असीमित नहीं है।

सर्वोपरि आधार

स्वतन्त्रता, संकल्प अथवा इच्छा की स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र का सर्वोपरि आधार है। अन्य जितने भी दार्शनिक आधार हैं, यथा—हेतुवाद-फलवाद, आत्मा की अमरता, प्रगति की अनिवार्यता, ईश्वरीय सत्ता का स्वीकार आदि, इन सबकी सार्थकता स्वतन्त्रेच्छा में है।

यदि व्यक्ति में स्वतन्त्रता का तत्व ही स्वीकार न किया जायेगा तो नीतिशास्त्र द्वारा निर्धारित नैतिक कर्तव्यों के पालन के लिए मानव कैसे प्रस्तुत होगा, साथ ही अनैतिक कार्यों के लिए भी इसे कैसे उत्तरदायी ठहराया जा सकेगा।

इसीलिए कहा गया है—वास्तव में स्वतन्त्रता नैतिक नियम का अस्तित्व तत्व है और नैतिक नियम स्वतन्त्रता का ज्ञान तत्व है।[1]

इसका अभिप्राय यह है कि नैतिक नियमों का अस्तित्व ही स्वतन्त्रता पर निर्भर है और स्वतन्त्रता का ज्ञान ही नैतिक नियम है।

आशय यह है कि मानव अपनी स्वतन्त्रता को समझेगा, सही स्थिति को जानेगा तभी वह नैतिक नियमों का पालन कर सकेगा।

वस्तुतः नीति-पालन का ध्येय भी आत्म-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति ही है। क्योंकि भारतीय और भारतीयेतर सभी नीतिशास्त्री इस एक लक्ष्य पर सहमत हैं कि—नीति का उद्देश्य निःश्रेयस् और सुख की प्राप्ति है। और यह पूर्ण सुख आत्मा के सभी बन्धनों से मुक्त होने पर प्राप्त होता है।

अतः स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र का सर्वोपरि आधार है। □

---

1 Freedom is the ratio essendi of the moral law, while the moral law is the ratio cognoscendi of freedom.—Kant.

—See, Kant's selection, p. 339, footnote.

१०

नैतिक निर्णय

(MORAL DECISIONS)

जीवन एक यात्रा है। इस यात्रा में हर अगला कदम उठाने से पहले निर्णय लेना आवश्यक होता है। मानव अनिर्णय की स्थिति में अधिक देर तक रह नहीं सकता। उसे प्रतिदिन/प्रतिपल निर्णय लेने पड़ते हैं, उन निर्णयों में कुछ आत्मगत (Subjective) होते हैं और कुछ विषयगत (objective)। लेकिन निर्णय लेने की यह प्रक्रिया सरल नहीं, जटिल होती है। इसको अनेक तत्व प्रभावित करते हैं।

यद्यपि मानव के पास किसी विषय पर निर्णय लेने की क्षमता, बुद्धिशक्ति (Intelligence Power) है, वह तीव्र मेधाशक्ति (Keenest Intellect) का स्वामी है; किन्तु उसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि (practical reason) भी स्वतन्त्र रूप से काम नहीं कर पाती। उसे भी कई प्रकार के तत्व प्रभावित करते हैं।

जो तत्व मानव के निर्णयों को प्रभावित करते हैं, उनमें से कुछ प्रमुख तत्व हैं—

(१) मनोवैज्ञानिक अथवा मानसिक या संवेगात्मक
(२) सामाजिक रूढ़ियां तथा नैतिक परिस्थितियां
(३) प्रतिक्रिया—अन्य व्यक्तियों का व्यवहार
(४) नई वैज्ञानिक खोजें।

इन चारों को नीतिशास्त्र की भाषा में (१) मनोवैज्ञानिक (२) परिस्थित्यात्मक, (३) प्रतिक्रियात्मक, (४) वैज्ञानिक और (५) तार्किक कहते हैं।

इन्हीं पाँचों कारणों से नैतिक निर्णय की प्रक्रिया में बहुत अधिक जटिलता का समावेश हो जाता है।

नैतिक निर्णय पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव

नीतिशास्त्र वस्तुतः शुभ का शास्त्र है। वह हमारे समक्ष आदर्श रखता और उस आदर्श को प्राप्त करने की प्रेरणा भी देता है, लेकिन उन आदर्शों को प्राप्त करने के उपाय स्पष्ट रूप से नहीं बता पाता। इनके लिए मनोविज्ञान की—मानव की प्रवृत्तियों की जानकारी की आवश्यकता है और इसके लिए मनोविज्ञान का अध्ययन आवश्यक है।

नैतिक शुभ के प्रश्न को लेकर नीतिशास्त्र में दो प्रकार की प्रमुख विचारधाराएँ हैं—(१) सुखवादी और (२) बुद्धिवादी।

सुखवादियों के अनुसार मानव अनुभूतिप्रधान प्राणी है और बुद्धिवादी काण्ट मानव को विशुद्ध बौद्धिक प्राणी मानता है। वह मानव के नैतिक जीवन में अनुभूतियों तथा संवेगों को कोई स्थान ही नहीं देना चाहता; जबकि सुखवादी ह्यूम बुद्धि को वासनाओं (संवेगों) की दासी मानता है।[1]

सुखवाद और बुद्धिवाद के इस विवाद का समाधान मनोविज्ञान ही कर सकता है। इसलिए नीतिशास्त्र के लिए मनोविज्ञान का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक तो है ही, अनिवार्य भी है।

इसका कारण यह है कि मनुष्य वासनामय भी है, संवेगमय भी है और बौद्धिक भी है। उसमें ज्ञान, अनुभव, प्रेरणाएँ, संकल्प, अनुभूतियाँ आवेग आदि सभी मूल प्रवृत्तियां हैं।

अतः नैतिक निर्णय की प्रक्रिया को सही ढंग से समझने के लिए सम्पूर्ण मानव का अध्ययन आवश्यक है; और इस अध्ययन में मनोविज्ञान अपेक्षित सहायता करता है।

मनोविज्ञान, चूंकि मन का, मन की प्रवृत्तियों, विकृतियों, आवेगों-संवेगों का विज्ञान है, अतः पहले मन के बारे में समझ लें।

मानव मन

बौद्ध दर्शन मन को चेतन तत्व स्वीकार करता है और गीता[2] इसे त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न बताती है।

---

1. Reason is and ought to be the slave of passions —Hume
२. गीता ७।४, १३।५

जैन दर्शन[1] मन को जड़ और चेतन दोनों ही रूप में स्वीकार करता है तथा पौद्गलिक मन को द्रव्यमन तथा चेतनमन को भाव-मन कहता है।

विज्ञान इसे mind कहता है तथा इसे मस्तिष्क (brain) में अवस्थित मानता है। वैज्ञानिक मान्यता है कि शरीर के ज्ञानवाही तथा संवेदनावाही तन्तु विभिन्न प्रकार के अनुभवों को मस्तिष्क तक पहुँचाते हैं, मन अथवा मस्तिष्क सुखद या दुखद तदनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त करता है और शरीर तन्त्र इसके अनुसार कार्य करता है।

बौद्धों ने मन को हृदय प्रदेशवर्ती स्वीकार किया है और सांख्य परम्परा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त मानती है।[2]

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य-मन और भाव-मन दोनों ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं। द्रव्य मन तो पौद्गलिक है, भाव-मन आत्मरूप है चेतन है और चूंकि जैन दर्शन के अनुसार आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है इसलिए भाव-मन भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

मन की यह विशेषता है कि यही सम्पूर्ण इच्छाओं—वासनाओं का अवस्थान है। जैन दर्शन के इस सिद्धान्त से आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्री पूर्णरूप से सहमत हैं।

जैन दर्शन सम्मत भाव-मन और द्रव्य-मन का सम्बन्ध स्पष्टतया सुनिश्चित होने के उपरान्त ही मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का नीतिशास्त्रीय विश्लेषण और विवेचन सही ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में डा० कालघटगी का मत है कि—उनका (जैनों का) द्रव्यमन और भावमन का सिद्धान्त इस क्रिया-प्रतिक्रिया (मानसिक और शारीरिक क्रिया प्रतिक्रिया) की धारणा को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है। जैन दृष्टिकोण जड़ और चैतन्य के मध्य पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया को धारणा को संस्थापित करता है।[3]

इसका अभिप्राय यह है कि मन में अवस्थित इच्छाएँ आदि बाहरी परिस्थितियों, तत्वों, सामाजिक मान्यताओं, पारस्परिक व्यवहार आदि से

---

१. अभिधान राजेन्द्र कोष, खण्ड ६, पृ० ७४

२. पंडित सुखलालजी : दर्शन और चिन्तन, भाग १, पृ. १४०

३. Dr. Kalghatgi : Some Problems of Jaina Psychology p. 29

प्रभावित और उत्तेजित होती हैं। उदाहरणार्थ—किसी सुन्दर वस्तु को देखकर उसे लेने की मानसिक इच्छा बलवती हो उठती है। यहाँ इच्छा का अस्तित्व मन में पहले से ही था, किन्तु सुन्दर वस्तु की सुन्दरता ने उसे उत्तेजित कर दिया।

इस अपेक्षा से नैतिक चेतना में मन का महत्वपूर्ण स्थान है।

व्यवहार के मनोवैज्ञानिक प्रेरणा तत्व

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, मन ही समस्त इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं आदि का केन्द्र है। इसलिए मन ही मानव के समस्त व्यवहारों का मूल केन्द्र है और उसकी मूलप्रवृत्तियाँ आदि को व्यवहारों का प्रेरक तत्व स्वीकार किया जाता है।

इस विषय पर सभी पौर्वात्य और पाश्चात्य मनीषी एकमत है। इनमें अन्तर है तो मूलप्रवृत्तियों की संख्या और वर्गीकरण के सम्बन्ध में ही है।

फ्रायड काम को ही मूल प्रेरक तत्व मानते हैं, किन्तु अन्य पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक चिन्तकों ने १०० तक मूलप्रवृत्तियाँ स्वीकार की हैं। मैक्डूगल ने इन मूल प्रवृत्तियों का वर्गीकरण १४ भेदों में किया है—

(१) पलायन वृत्ति (भय)
(२) घृणा
(३) जिज्ञासा
(४) आक्रामकता (क्रोध)
(५) आत्म गौरव की भावना (मान)
(६) आत्महीनता की भावना
(७) वात्सल्य भावना (सन्तानोत्पति)
(८) सामूहिकता की भावना (समूह प्रवृत्ति)
(९) संग्रहवृत्ति (लोभ)
(१०) रचनात्मकता
(११) भूख (भोजन की गवेषणा)
(१२) कामतुष्टि की भावना
(१३) शरणागति
(१४) हास्य (मनोरंजन) की भावना।[1]

मैक्डूगल ने इन्हें मूलप्रवृत्ति कहा है और बताया है कि मानवीय व्यवहार के ये प्रेरक तत्व हैं।

---

१. Mcdougall : Psychology

जैन दर्शन का वर्गीकरण

जैन दर्शन में मूल प्रवृत्तियों के समकक्ष 'संज्ञा' शब्द को माना जा सकता है। वहाँ इसका (संज्ञाओं का) वर्गीकरण तीन रूप में मिलता है।

(१) प्रथम वर्गीकरण—(१) आहार संज्ञा (२) भय संज्ञा (३) मैथुन संज्ञा और (४) परिग्रह संज्ञा[1]

(२) द्वितीय वर्गीकरण—(१) आहार, (२) भय (३) मैथुन (४) परिग्रह (५) क्रोध (६) मान, (७) माया (८) लोभ (९) लोक और (१०) ओघ (सामान्य)।[2]

(३) तृतीय वर्गीकरण—(१) आहार, (२) भय, (३) मैथुन, (४) परिग्रह, (५) सुख, (३) दुःख, (७) मोह, (८) विचिकित्सा (घृणा), (९) क्रोध, (१०) मान, (११) माया, (१२) लोभ, (१३) शोक, (१४) लोक (१५) धर्म और (१६) ओघ।[3]

इन वर्गीकरणों में संसार के सभी जीवों (क्षुद्र कीट, पशु-पक्षी और मानव) इन सबकी शारीरिक, मानसिक सभी प्रेरणाओं का समावेश हो जाता है। मैक्डूगल द्वारा प्रतिपादित १४ मूलप्रवृत्ति और उनसे संलग्न सभी संवेग इनमें गर्भित हैं। मैक्डूगल जिसे समूह भावना कहता है, जैन दर्शन में उसे ओघ संज्ञा कहा है।

प्रथम वर्गीकरण में सिर्फ शारीरिक प्रेरक गिनाये गये हैं; जबकि द्वितीय और तृतीय वर्गीकरण में शारीरिक के साथ-साथ मानसिक-सामाजिक सभी प्रेरकों को समाविष्ट कर लिया गया है।

इस प्रकार जैन दर्शन का प्रेरकों का वर्णन अधिक वैज्ञानिक और सम्पूर्ण लगता है।

इन संज्ञाओं के साथ-साथ जैन दर्शन ने लेश्याओं[4] का भी वर्णन किया है। लेश्यायें ६ हैं—

(१) कृष्णलेश्या—अधिक क्रूर और क्लिष्ट मनोभावनाएँ।
(२) नीललेश्या—कृष्णलेश्या की अपेक्षा कम क्रूर तीव्र मनोभनाएँ।

---

१. समवायांग ४।४ २. प्रज्ञापना, पद ८
३ आचारांग, शीलांक वृत्ति, पत्रांक ११
४ उत्तराध्ययन सूत्र, लेश्या अध्ययन, ३४/२१-३२

(३) कापोतलेश्या—अशुभ मनोवृत्तियाँ, छल-कपट का मनोभाव।

(४) तेजोलेश्या—शुभ मनोवृत्ति, सुखापेक्षी मनोभाव।

(५) पद्मलेश्या—शुभतर मनोभाव—कषायों आदि की उपशांतता।

(६) शुक्ललेश्या—शुभतम मनोभाव, मृदु व्यवहार, मन-वचन-कर्म की प्रवृत्तियों में एकता, स्वकर्तव्य परिपालन, किसी को भी दुःखी न करने की प्रवृत्ति।

यह लेश्या सिद्धान्त मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। यह मन की प्रवृत्तियों की तो विवेचना करता ही है, साथ ही मानव की प्रवृत्तियों की नैतिक स्तरीयता का भी सर्वांगपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाला मानव तो प्रायः अनैतिक होता ही है, क्योंकि उसमें क्रोध, लोभ आदि कषायों की तीव्रता होती है, वह छल-कपट भी करता है।

तेजोलेश्या वाला मानव शुभ प्रवृत्ति वाला भी होता है, उसकी मनोवृत्तियाँ और क्रिया कलाप नैतिक होते हैं। नीतिशास्त्र के अनुसार उसे नैतिक मानव कहा जा सकता है। पद्म और शुक्ललेश्या की स्थिति नैतिक उच्चता के स्तर हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन दर्शन ने लेश्या और संज्ञाओं के रूप में जिन मनोवैज्ञानिक प्रेरक तत्त्वों का वर्णन किया है, उन्हें ही पाश्चात्य मनोविज्ञान शास्त्रियों ने 'मूलप्रवृत्ति' कहा है।

अब मनोविज्ञान के अनुसार नैतिक विवेचन किस प्रकार किया जाता है, यह जानना आवश्यक है।

नैतिक विवेचन की प्रकृति

नैतिक चेतना मानव की अपनी निजी विशेषता है। वह नैतिक चेतना ही शुभ-अशुभ और उचित-अनुचित का विवेचन कर के निर्णय करती है। इस निर्णय की प्रक्रिया में कई मनोवैज्ञानिक तत्त्व प्रभावशील होते हैं। यह तत्त्व हैं—

(१) विभिन्न इच्छाओं की चेतना (Consciousness of Various desires)

(२) परस्पर विरोधी इच्छाओं का संघर्ष (Conflict of mutually contradictory desires)

(३) इच्छाओं के परिणामों का नैतिक विश्लेषण (Moral analysis of the effects of desires)

(४) नैतिक निर्णय (Moral Judgment)

(५) चरित्र एवं आचरण (Character and Conduct)

(६) अभिप्रेरणा तथा अभिप्राय (Motivation and intention)

(१) **विभिन्न इच्छाओं की चेतना**—इच्छा, जैसा कि संज्ञाओं के वर्णन से स्पष्ट है, प्राणी मात्र को होती है। किन्तु पेड़-पौधों की इच्छा अव्यक्त है। ज्यों-ज्यों चेतना का स्तर विकसित होता जाता है, इच्छा भी व्यक्त होती जाती है। इस क्रम से मानव सर्वाधिक विकसित चेतना वाला प्राणी है अतः उसकी इच्छाएँ व्यक्त भी होती हैं और साथ ही विभिन्न प्रकार की भी होती हैं।

इच्छा, वास्तव में प्राणी की शारीरिक, मानसिक आदि किसी भी प्रकार के अभाव की अभिव्यक्ति है। प्राणी उस अभाव की कमी को पूरा करना चाहता है, इसके लिए वह प्रयास करता है और ज्यों ही वह कमी पूरी हुई कि उस इच्छा की संतुष्टि हो जाती है। इसी को इच्छाओं का पूर्ण अथवा सन्तुष्ट होना कहा जाता है।

इच्छापूर्ति से प्राणी को एक प्रकार के सुख की अनुभुति होती है। इच्छाओं की और इच्छातृप्ति से सुख की अनुभूति होती है और वह इच्छाओं की चेतना कही जाती है।

(२) **परस्पर विरोधी इच्छाओं का संघर्ष**—अन्य सभी प्राणियों की इच्छाएँ सामान्य होती हैं, सिर्फ आहार, भय, मैथुन, परिग्रह तक ही सीमित रहती है (जैसा कि संज्ञाओं के प्रथम वर्गीकरण में बताया गया है)। भूख लगी—आहार की इच्छा हुई, जैसा भी भोज्य पदार्थ मिला, उदरस्थ कर लिया; भय का कारण उत्पन्न हुआ, भाग गये, मैथुन की इच्छा हुई, पूरी कर ली। आदि....

पशु जगत तक यही क्रम है; किन्तु मानव की इच्छाएँ विभिन्न प्रकार की और असीमित[1] है। इसे भोजन के लिए भी स्वादिष्ट भोजन की इच्छा होती है और स्वादु भोजन से ही वह तृप्त होती है। इसी प्रकार अन्य इच्छाओं के बारे में भी कहा जा सकता है।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र ९/४८—इच्छा हु आगास समा अणंतिया।

जैसे नींद आने पर भी हवादार शान्त स्थान, आरामदायी बिस्तर तकिया आदि की भी इच्छा रहती है।

फिर मानव की इच्छाएं शारीरिक तो होती ही हैं, मानसिक और भावात्मक भी होती है। वह मैथुन सेवन के साथ-साथ भावात्मक प्रेम सम्बन्ध की भी इच्छा करता है। उसे विभिन्न प्रकार के संग्रह से भावात्मक संतुष्टि प्राप्त होती है। यदि कोई व्यक्ति धार्मिक वृत्ति वाला है तो उसे संत्सग शास्त्र वाचन आदि की इच्छा रहती है।

अनेक प्रकार की इच्छाओं के कारण उन इच्छाओं में संघर्ष होना अवश्यम्भावी है क्योंकि दो विरोधी इच्छाओं का एक साथ सन्तुष्ट होना असम्भव है। एक पौराणिक उदाहरण लीजिए—व्यक्तिगत रूप से राम सीता को वनवास देना नहीं चाहते थे; किन्तु लोकापवाद को शान्त करने की इच्छा भी उनके मन में थी। इन दो विपरीत इच्छाओं की पूर्ति असंभव थी। राम अन्तर्द्वन्द्व में फँस गये। आखिर उन्होंने सीताजी को वनवास देने का निर्णय किया।

मनोविज्ञान के अनुसार ऐसी परस्पर विरोधी इच्छाएँ मानव मन में उठा ही करती हैं, प्रत्येक इच्छा अपनी सन्तुष्टि चाहती है और इस रूप में इन इच्छाओं में संघर्ष होता रहता है।

(३) इच्छाओं के परिणामों का नैतिक विश्लेषण—मानव विकसित चेतना वाला प्राणी है। इच्छाओं के पारस्परिक संघर्ष में वह नैतिक दृष्टि से उन इच्छाओं के परिणामों का नैतिक विश्लेषण करता है, गुण-दोषों का विचार करता है, उनके उचित अनुचित परिणामों पर गहरी दृष्टि डालता है जैसाकि सीता को वनवास देने के निर्णय से पहले अन्तर्द्वन्द्व में फँसे श्रीराम ने किया।

(४) नैतिक निर्णय—अब तक की तीनों अवस्थाओं में तो मूल प्रवृत्तियों की प्रमुखता थी। तीसरी स्थिति में नैतिकता और मूल प्रवृत्तियों का संघर्ष रहा। किन्तु इस चौथी स्थिति में मानव किसी एक इच्छा की पूर्ति का निर्णय कर लेता है। यही निर्णय मानव को नैतिक अथवा अनैतिक के रूप में व्यक्त करता है। नैतिक मानव का निर्णय नैतिकतापूर्ण होता है और जो मूलप्रवृत्तियों के बहाव में बह जाता है, वह अनैतिक निर्णय भी कर सकता है। किन्तु ऐसा निर्णय नीतिशास्त्र की दृष्टि से अनुचित है।

नैतिक निर्णय लेते समय सर्वाधिक महत्व मूल्य का होता है। व्यक्ति अपनी इच्छाओं का मूल्य (value) निर्धारित करता है और जिस इच्छा

का मूल्य वह सर्वाधिक समझता है, उसके पक्ष में निर्णय कर देता है। श्रीराम ने लोक भावना को सर्वाधिक महत्व दिया, अतः उन्होंने सीता को वनवास देकर अपनी इसी लोक भावना को सन्तुष्ट किया।

(५) चरित्र और आचरण—चरित्र इच्छा और आदतों का संगठन है तथा आचरण से व्यक्ति के ऐसे कार्यों से तात्पर्य होता है, जिनके आधार पर व्यक्ति की नैतिक दृष्टि से प्रशंसा या निन्दा की जाती है।

व्यक्ति का आचरण ही धीरे-धीरे उसके चरित्र के रूप में परिणत हो जाता है, चरित्र बन जाता है।

नैतिक निर्णय का आधार व्यक्ति की इच्छा-शक्ति, संकल्प-शक्ति और अभिलाषाओं की मूल्यवत्ता है। निर्णय के बाद मनुष्य उसको आचरण में लाता है, क्रियान्वयन करता है।

अच्छे कार्यों के आचरण से व्यक्ति का चरित्र अच्छा बनता है, वह नैतिक कहलाता है और अशुभ (बुरे) कार्यों को करने से उसका चारित्रिक पतन होता है तथा समाज उसे अनैतिक मानता है।

(६) अभिप्रेरणा और अभिप्राय—अभिप्रेरणा शब्द द्विअर्थी है। इसका प्रथम अर्थ है—व्यक्ति को काम करने के लिए उत्तेजित करने वाली दशा या शक्ति। दूसरा अर्थ है—वह शक्ति या अवस्था जो व्यक्ति को अमुक कार्य के लिए आकर्षित करे।

अभिप्रेरणा को विद्युत शक्ति के उदाहरण से समझाया जा सकता है। विद्युत में प्रकाशत्व और चुम्बकत्व दोनों होते हैं। बल्ब में इसके प्रकाशत्व गुण की अभिव्यक्ति होती है और पंखे आदि में चुम्बकत्व गुण की।

विद्यार्थी के लिए विद्याध्ययन करने के लिए कालेज जाने हेतु उत्तेजित करना तथा शिक्षा प्राप्ति के प्रति आकर्षित करना—दोनों ही शिक्षा की अभिप्रेरणा के कार्य हैं।

नीतिशास्त्र में व्यक्ति इच्छा, भावना, आदर्श आदि का आकर्षण तथा तदनुरूप कार्य करने की उत्तेजना—दोनों ही अभिप्रेरण (Motivation) हैं।

सेन गुप्ता के शब्दों में—अभिप्राय कर्त्ता के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाली सभी निषेधात्मक और प्रतिषेधात्मक आदर्शात्मक शक्तियों

का योग है।[1]

इस दृष्टि से अभिप्राय की सीमा बहुत विस्तृत है। जो कुछ हम सोचते हैं और जो कुछ हमारे विचार में न भी हो, वह सब अभिप्राय के अन्तर्गत आ जाता है।

बेन्थम ने अभिप्राय के अन्तर्गत उन कार्यों को भी परिगणित कर लिया है जो न चाहते हुए भी व्यक्ति को करने पड़ते हैं। उदाहरणार्थ—माता-पिता बच्चे को दण्डित नहीं करना चाहते पर उसके सुधार के अभिप्राय से सजा देनी ही पड़ती है।

अभिप्राय में अभिप्रेरण अन्तर्निहित होता है, इसलिए यह दोनों परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

यह निश्चित है कि प्राणी मात्र का कोई भी कार्य बिना किसी अभिप्राय के नहीं होता। मनुष्य के तो सभी कार्य साभिप्राय होते हैं। अपराध शास्त्र का तो यह प्रमुख सिद्धान्त ही है—

Find the motive and you will get the culprit

(अभिप्रेरण—अभिप्राय को जान लो तो तुम अपराधी को पकड़ लोगे।)

नीतिशास्त्र में भी अभिप्राय का बहुत महत्व है। एक शब्द में कहा जाय तो यह नैतिकता का आधार बिन्दु है। डाक्टर को शल्य क्रिया करते हुए रोगी के मर जाने पर भी उसे नैतिक कहा जाता है और कसाई को अनैतिक—इस निर्णय का आधार अभिप्राय ही है; परिणाम एक-सा होने पर भी डाक्टर नैतिक कहलाता है और कसाई घोर अनैतिक।

संकल्प, चरित्र और आचरण

नैतिक विवेचन में संकल्प, चरित्र और आचरण का विशेष महत्व है क्योंकि मानव के नैतिक जीवन में इन तीनों की बहुत ही अविस्मरणीय भूमिका है।

संकल्प (will) मानव की विशेष शक्ति है। यह पशुओं में नहीं पाई जाती। पशुओं के सभी कार्य मूलप्रवृत्तियों के आधार पर होते हैं, दूसरे शब्दों में उनकी प्रेरक मूलप्रवृत्तियां हैं। इसी कारण पशु न तो अपनी

---

1. Intention is the sum total of all positive and negative ideal forces acting upon the mind of agent.

—I. B. Sen Gupta

इच्छाओं पर नियन्त्रण रख सकता है और न ही उसके लिए यह सम्भव हो पाता है कि वह अपनी इच्छाओं को अच्छी दिशा में मोड़ सके।

इसके विपरीत मानव में अपनी इच्छाओं; अभिलाषाओं पर नियंत्रण करने तथा उचित दिशा में मोड़ने की शक्ति है। इसी शक्ति का नाम संकल्प शक्ति है। 'संकल्प शक्ति का कार्य निर्देशन देना और नियन्त्रण करना है, यह केवल सर्जना या रचना का कार्य नहीं करती।' जेम्स सेथ के इन शब्दों का अभिप्राय यह है कि संकल्प मानव के सुनिश्चित भविष्य का मार्ग-निर्देशन करता है तथा लक्ष्य की ओर बढ़ने में सहायक बनता है।

चरित्र संकल्प से प्रभावित होता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में, जैसा संकल्प होता है, वैसा ही चरित्र बनता है। इसी तथ्य को नोवेलिस के यह शब्द अभिव्यक्त कर रहे हैं—'चरित्र एक पूर्णतया निर्मित संकल्प है।'

श्री बार्नन जोन्स चरित्र को आचरण से सम्बन्धित मानकर कहते हैं—'चरित्र आचरण को प्रगतिशील बनाने वाला है।'

वास्तव में चरित्र एक बहुत ही विस्तृत आयाम वाला शब्द है। यह मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बन्धित है। चरित्र-निर्माण समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र की प्रमुख पहेली रही है। प्रत्येक शिक्षक, समाज सुधारक, राजनीतिक और सामाजिक नेता चरित्र निर्माण के लिए पुकार लगाते रहते हैं।

अब देखें, किसी व्यक्ति का चरित्र निर्माण कैसे होता है? कौन-कौन से तत्व इसके निर्माण में साधक और बाधक होते हैं?

चरित्र निर्माण का प्रधान तत्व है—आत्म-गौरव का स्थायीभाव (Self regarding sentiment)। मानव में आत्म-गौरव की भावना सबसे प्रबल होती है। सुख-दुःख, दण्ड, पुरस्कार, निन्दा-प्रशंसा आदि की स्थितियों को पार करने के बाद, मानव अपने आत्म-गौरव का एक स्थायी-भाव निर्मित कर लेता है। इसमें सामाजिकता, देश-काल की परिस्थितियाँ, आदर्श, समायोजन आदि का भी विशेष हाथ होता है। धर्म एवं नैतिकता की भावना का भी सदाचरण में महत्व है और सदाचरण से ही नैतिक चरित्र का निर्माण होता है।

वास्तव में देखा जाय तो चरित्र मानसिक (Mental) संगठन की एक सुगठित क्रिया है अथवा चरित्र निर्माण एक सुगठित मानसिक (और व्यावहारिक भी) प्रक्रिया है।

आचरण चरित्र का व्यावहारिक पक्ष है। यह सभी को दिखाई देने वाला प्रगट बाह्य रूप है। मानव जो कुछ व्यवहार रूप में करता है, वह

उसका आचरण कहलाता है। चरित्र और आचरण का भेद स्पष्ट करने के लिए ही चरित्र के लिए अंग्रेजी में Character और आचरण के लिए Conduct शब्द आते हैं।

संकल्प, चरित्र और आचरण परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। संकल्प इच्छाओं आदि का नियन्त्रण और उनका मार्गान्तरीकरण करने वाली शक्ति है और साथ ही चरित्र का निर्माण करती है, और उसे प्रभावित करती है। चरित्र सुगठित मानसिक क्रिया है, यह मानव की आन्तरिक नैतिकता है और आचरण उस नैतिकता का प्रगट बाह्य रूप है।

मानव की नैतिकता के लिए यह तीनों ही समान रूप से उत्तरदायी होते हैं। शुभ संकल्प से सुन्दर चरित्र का निर्माण होता है और सुन्दर चरित्र वाला व्यक्ति ही शुभ आचरण कर सकता है।

भारतीय दर्शन की भाषा में इसे सत्यं शिवं सुन्दरं कहा जा सकता है। सत्संकल्प से ही कल्याणकारी चरित्र का निर्माण होगा और फिर जो भी आचरण होगा, शुभ होगा, सुन्दर होगा।

यह सभी नैतिक निर्णयों को प्रभावित करने वाले मनोवैज्ञानिक तत्व हैं। क्योंकि इन सभी का सीधा और गहरा सम्बन्ध मानव के मन-मस्तिष्क से है। ये मानव के अन्तरंग में उद्भूत होते हैं और उसके नैतिक निर्णयों को प्रभावित करते हैं।

परिस्थितियां और देश-काल की रूढ़ियां

नैतिक निर्णयों को प्रभावित करने वाले दूसरे तत्व हैं परिस्थितियाँ और सामाजिक रूढ़ियां।

मानव का जीवन अत्यन्त जटिल है। प्रत्येक निर्णय करने में उसे जटिल संघर्ष मे गुजरना पड़ता है। एक ओर उसे उसकी स्वयं की इच्छाएँ, वासनाएँ और निजी स्वार्थ अपनी ओर खींचता है तो दूसरी ओर बुद्धि तर्क करती है, परार्थ जोर मारता है।

यह स्वार्थ और परार्थ का संघर्ष ही ऐसी जटिल स्थिति उत्पन्न कर देता है जो उसके नैतिक निर्णय को प्रभावित कर देती है।

संक्षेप में, नैतिक परिस्थिति वह विषम दशा है जिसमें व्यक्ति के सामने क्या करना उचित है और क्या नहीं करना उचित—इसका निर्णय उसे करना पड़ता है।

यह परिस्थिति कभी-कभी इतनी जटिल हो जाती है कि मानव मोह विमूढ़ होकर रह जाता है। ऐसी ही परिस्थिति महाभारत युद्ध के समय

अर्जुन के समक्ष आई थी। उसने मोह-विमुग्ध होकर अस्त्र-शस्त्र रख दिये थे, स्व-कर्तव्य से विरत हो गया था। उस समय श्रीकृष्ण के समझाने से उसके मन-मस्तिष्क से मोह का परदा हटा और वह स्वकर्तव्य पालन के लिए तत्पर हुआ।

नैतिक परिस्थिति का लक्षण

नैतिक परिस्थिति क्या है? इसको समझने के लिए नीतिशास्त्र मनीषियों ने तीन लक्षण बताये हैं—

(१) नैतिक चेतना (Moral Consciousness)—इसका तात्पर्य मानव की बुद्धि और अहं (Intellect and Ego) का जाग्रत रहना है। जटिल परिस्थिति में भी मानव बुद्धि से ही काम लेता है। उसे शुभ-अशुभ और उचित-अनुचित का ज्ञान रहता है। इस ज्ञान को नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से नैतिक चेतना कहा गया है।

(२) नैतिक संकल्प (Moral Alternatives)—किसी एक समस्या के समाधान के लिए एक से अधिक विकल्पों का होना। उदाहरणार्थ—स्वार्थ और परार्थ का विकल्प। नैतिक चेतना इन विकल्पों की ओर संकेत करती है और व्यक्ति इनमें से किसी एक विकल्प को साध्य के रूप में चुनता है।

(३) स्वतन्त्र विकल्प (Free will)—यद्यपि मानव निर्णय करने में स्वतन्त्र होता है किन्तु उसकी स्वतन्त्रता असीमित नहीं होती, इसमें उत्तरदायित्व का तत्व भी जुड़ा होता हैं, उसे लोक स्वतन्त्रता अर्थात् दूसरों की आजादी, सुविधा का भी ध्यान रखना पड़ता है। अतः वह आत्म-स्वातन्त्र्य और लोक स्वातन्त्र्य का समन्वय करके ही निर्णय लेता है तभी उसका निर्णय नैतिक बन पाता है।

नैतिक निर्णय की प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार है—नैतिक परिस्थिति—समस्या का विवेचन—नैतिक विकल्प—नैतिक मूल्यांकन—नैतिक संकल्प। इस प्रक्रिया से गुजरते हुए ही मानव नैतिक निर्णय करके उसका कार्यान्वयन कर पाता है।

सामाजिक रूढ़ियां

नैतिक निर्णय को सामाजिक रूढ़ियां भी प्रभावित करती हैं। भारतीय समाज में मृत्युभोज, जातिप्रथा आदि सैकड़ों रूढ़ियां प्रचलित हैं। कोई व्यक्ति इन रूढ़ियों में विश्वास नहीं करता, किन्तु किसी सम्बन्धी की मृत्यु

पर, समाज में सम्मान बनाए रखने की दृष्टि से मृत्यु भोज देने का निर्णय उसे करना पड़ता है। इसी प्रकार की अन्य रूढ़ियों के पक्ष में उसे निर्णय करना पड़ता है।

यद्यपि नीतिशास्त्र की दृष्टि से ऐसे निर्णय नैतिक नहीं है, किन्तु सम्मान का मूल्य अधिक होने से वह इन निर्णयों को करने के लिए विवश हो जाता है।

किन्तु अपने स्वतन्त्र संकल्प पर ठेस लगने से वह घोर अन्तर्द्वन्द्व में फँस जाता है।

ऐसी जटिल स्थिति से त्राण पाने के लिए जैनाचार्यों ने एक नैतिक मार्ग सुझाया है—

जैनियों को सभी लौकिक विधियाँ (रूढ़ियाँ) उसी सीमा तक मान्य हैं, जब तक सम्यक्त्व की हानि न होती हो और व्रतों में दूषण (किसी भी प्रकार का दोष) न लगे।[1]

प्रस्तुत मार्ग का अनुसरण करने से व्यक्ति को नैतिक परिस्थितियों और सामाजिक रूढ़ियों की जटिलताओं से भी उचित विकल्पों और साधनों की प्राप्ति हो जाती है। वह अपनी समन्वयात्मक तथा ऋतम्भरा सत्यग्राहिणी) प्रज्ञा से उचित एवं नैतिक निर्णय ले सकता है तथा उसे बिना किसी को ठेस पहुँचाए कार्यान्वित कर सकता है।

प्रतिक्रिया : अन्य जनों का व्यवहार

प्रकृति का यह नियम है कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। आप जितनी शक्ति से गेंद को किसी दीवार पर फेंकेंगे, टकराकर वह उतने ही वेग से वापिस लौटेगी।

प्रकृति का यह सिद्धान्त मानव समाज और मानव मन पर भी लागू होता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसका अन्य व्यक्तियों से सम्पर्क रहता है, अतः अन्य व्यक्तियों के व्यवहार की प्रतिक्रिया मानव मन पर होती है तथा मानव जैसी भी क्रिया अन्य व्यक्तियों के साथ करता हैं, उसकी प्रतिक्रिया अन्य व्यक्तियों पर होती है।

---

११. सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणं॥
—सोमदेव सूरि—उपासकाध्ययन

क्रिया, प्रतिक्रिया, अनुक्रिया (action, reaction, response) यह चक्र सतत चलता रहता है।

समाज के अन्य व्यक्तियों ने किसी एक व्यक्ति के प्रति सद्व्यवहार किया तो उसके मन में उचित प्रतिक्रिया होगी। मानव स्वयं भी नैतिक बनेगा और समाज में भी नैतिकता का प्रसार होगा।

चोर, डाकू, लुटेरे बनने का एक कारण यह भी है कि समाज इन व्यक्तियों के साथ अनैतिकता का व्यवहार करता है, उनकी उचित बात को भी अनुचित मानकर प्रताड़ित, तिरस्कृत, अपमानित करता है, परिणामतः सीधे सादे व्यक्ति भी समाज से विद्रोह कर बैठते हैं और चोर, डाकू, हत्यारे, अपराधी बन जाते हैं।

नैतिक निर्णय में इसीलिए समाज के अन्य व्यक्तियों का व्यवहार भी प्रमुख भूमिका अदा करता है।

वैज्ञानिक प्रभाव

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। आज का मानव वैज्ञानिकों द्वारा कही बात को सत्य मानता है। विज्ञान ने खगोल, भूगोल, आहार, आदि सभी विषयों में विस्मयकारी खोजें की हैं और सप्रमाण इन्हें मानवों के समक्ष रखा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि शास्त्र और प्राचीन मान्यताओं से मानव की आस्था डगमगा गई है। नीति सम्बन्धी मान्यताओं में भी बहुत परिवर्तन आ गया है।

कुछ समय पहले तक किसी दूसरी जाति, वर्ण अथवा देश की कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध अनैतिक माना जाता था, किन्तु आजकल इसमें अनैतिकता की तो बात ही क्या, प्रगतिशीलता मानी जाने लगी है। विधवा विवाह आदि के बारे में भी ऐसा ही है।

गमनागमन, आहार आदि की नैतिक मान्यताओं में भी परिवर्तन आ रहा है।

आचार और व्यवहार के बारे में भी इसी प्रकार की स्थिति है।

भौतिक, रसायन और जीवविज्ञान की नई खोजों ने मानव की पुरानी नैतिक मान्यताओं को काफी परिवर्तित कर दिया है।

इन सभी बातों से नैतिक निर्णय प्रभावित हुए हैं। यद्यपि मानव स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का धनी है, वह उसी के आधार पर निर्णय करता है पर अभिलाषाओं का मूल्यांकन करने के कारण वैज्ञानिक उपलब्धियों से

प्राप्त विशिष्ट साधन और ज्ञान का उपयोग भी करता ही है। इसी रूप में वैज्ञानिक अनुसन्धान उसके नैतिक निर्णय को प्रभावित करते हैं।

तार्किक

तर्क बुद्धि का कार्य है। बुद्धि ऊहापोह करने की क्षमता को कहा जाता है। सद्-असद्, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित आदि का निर्णय बुद्धि ही करती है। इस प्रकार नैतिक निर्णय में बुद्धि का विशेष हाथ रहता है।

किन्तु मानव सिर्फ बुद्धि के आधार पर चलने वाला प्राणी नहीं है। उसमें संवेग, भावनाएँ, इच्छाएँ आदि भी होती हैं। उन इच्छाओं की प्रेरणा और मूल्य भी होता है। उन्हें संतुष्ट करना भी मानव के लिए अवश्यम्भावी है। अतः मानव का नैतिक निर्णय बुद्धि और संवेगों के समन्वय के आधार पर होता है।

नैतिक निर्णय की विशेषताएं

अन्य निर्णयों की अपेक्षा नैतिक निर्णयों की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो इनका पृथक स्वरूप निर्धारित करती हैं। ऐसी कुछ विशेषताएँ निम्न हैं –

(१) मूल्यात्मकता—अन्य प्रकार के निर्णय तथ्यात्मक होते हैं जैसे—सूर्य पूर्व दिशा से निकलता है; किन्तु नैतिक निर्णय मूल्यात्मक होते हैं, यह व्यक्ति के चरित्र का मूल्यांकन करते हैं। उदाहरणार्थ—यह कहना कि अमुक व्यक्ति चरित्रवान है अथवा अमुक व्यक्ति दुश्चरित्र है, यह उन व्यक्तियों के चरित्र का मूल्यांकन है। संक्षेप में, नैतिक निर्णय किसी व्यक्ति अथवा कार्य की अच्छाई-बुराई का विश्लेषण करने वाली एक मानसिक क्रिया होती है।

(२) नियामकता—नैतिक निर्णय नियामक, आदर्शात्मक अथवा आदेशात्मक होते हैं। आदर्श इस रूप में कि व्यक्ति निर्णय करते समय किसी भी प्रकार का आदर्श अपने मस्तिष्क में रखता है और उस आदर्श के अनुरूप क्रिया का आदेश अपने स्नायुतंत्र को देता है।

म्यूरहैड के शब्दों में—

यह आचरण पर निर्णय से सम्बन्धित है, यह निर्णय कि इस प्रकार का आचरण उचित है या अनुचित। .....वह न्यायात्मक निर्णय के

विषय के रूप में आचरण से संबंध रखता है।[1]

(३) कार्यपरकता—नैतिक निर्णय करते समय किसी नैतिक मान-दण्ड का आधार लेकर किसी कार्य विशेष के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय किया जाता है। मैकेंजी के शब्दों में इसका अभिप्राय यह है—'किसी भी कार्य के अच्छ-बुरे होने का निर्णय करने वाला एक दृष्टिकोण।[2]' यह दृष्टिकोण ही नैतिक निर्णय का मान-दण्ड है।

इस प्रकार मूल्यात्मकता, नियामकता और कार्यपरकता नैतिक निर्णय की वे विशेषताएँ हैं, जो इसे अन्य प्रकार के निर्णयों से भिन्न स्वरूप प्रदान करती हैं और एक विशिष्ट उपलब्धि देती हैं।

निर्णय-कर्ता

नैतिक निर्णय का इतना विवेचन और विश्लेषण हो चुकने पर एक प्रमुख प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि इस नैतिक निर्णय को करने वाला कौन है ?

विभिन्न नीतिशास्त्रियों ने इसके उत्तर विभिन्न प्रकार से दिये हैं। शेफ्ट्सबरी इसे नैतिक समीक्षक (Moral Connoisseur) कहता है, आदम स्मिथ इसे तटस्थ द्रष्टा (Impartial Spectator) नाम देता है।

संत पाल इसे ईसा (Christ) कहता है और महात्मा गांधी ने इसकी अभिधा राम दी है। समस्त धार्मिक संतहृदय व्यक्तियों ने इसे अपने-अपने इष्ट देवों के नाम से पुकारा है।

आदम स्मिथ के शब्दों में—जब मैं स्वयं अपने आचरण की जाँच करने की चेष्टा करता हूँ तो मानो अपने को दो व्यक्तियों में विभाजित कर देता हूँ। परीक्षक और न्यायाधीश के रूप में मैं उस दूसरे व्यक्ति से भिन्न

---

1 It is concerned with the judgment upon conduct, the judgment that such and such conduct is right or wrong...It deals with the conduct as the subject of the judicial judgment....

—Muirhead, J. H. : The Elements of Ethics, p. 19

2 The point of view from which an action is judged to be good or bad.

—Mckenzie, J. S. : A Manual of Ethics, p. 112

का प्रतिनिधित्व करता हूँ जिसके आचरण की जाँच हो रही है। प्रथम द्रष्टा है, दूसरा कर्ता है। प्रथम निर्णायक है, दूसरा निर्णीत व्यक्ति है।[1]

यहाँ यही विचार करना है कि वह कौन सी शक्ति है जिसे शेफ्ट्सबरी ने 'नैतिक समीक्षक', 'आदम स्मिथ' ने 'तटस्थ द्रष्टा' कहा और अन्य संतों ने अपना-अपना इष्टदेव बताया।

सामान्य भाषा में इसे अन्तःकरण कहा जा सकता है और विशेष रूप में अन्तरात्मा। अन्तरात्मा के सांख्यदर्शन में चार भेद माने गये हैं—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार। इन सबका सम्मिलित रूप ही अन्तःकरण है।

नीतिशास्त्र का दृष्टिकोण भी लगभग ऐसा ही है। वह संकल्प, इच्छा बुद्धि, संवेग, आवेग आदि का अधिष्ठान आत्मा को स्वीकार करता है। इन सब पर आत्मा की एक विशिष्ट शक्ति शासन करती है, उसका नाम है विवेक (Reason)। मानव का विवेक ही नैतिक निर्णय का कार्यकर्ता है।

जैनदर्शन के अनुसार 'विवेगे धम्ममाहिए—विवेक ही धर्म का निर्णायक है। इसे ही अन्तःप्रज्ञा 'पन्ना' कहा गया है, इसे ही 'अप्पा—आया-आत्मा' कहा गया है।

नैतिक निर्णय के विवेक की अवधारणा जैन-दर्शन को भी स्वीकार्य है। उसके अनुसार भी निर्णय विवेक के आधार पर ही होना चाहिए। और विवेकपूर्ण निर्णय वही है जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, वासना, स्वार्थ आदि आवेगों की गन्ध भी न हो, सामाजिक रूढ़ियों के परिपालन के लिए न्याय का गला न घोंटा जाय, व्यक्ति को दुखी न किया जाय और उसे पतन के लिए विवश न किया जाय।

हानिकारक प्रथाओं को तोड़ना

प्राचीन काल में एक प्रथा प्रचलित थी उत्तराधिकारीविहीन सम्पत्ति का स्वामी राजा होता था और स्त्री का (चाहे वह पत्नी, माँ, अथवा बहन कोई भी क्यों न हो) पुरुष (पति, पिता, भाई) की संपत्ति में कोई अधिकार नहीं माना जाता था। इस प्रथा का आधार राजाओं की स्वार्थभावना थी

---

१. उद्धृत, डा० रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ६६

क्योंकि इसके कारण उनका राजकोष भरता था। लेकिन यह प्रथा व्यभिचार[1] कलह[2] का कारण बन गई तथा इसने निःसंतान स्त्रियों की दशा बहुत ही पतित कर दी।

जैन धर्म में प्रारम्भ से ही इस नीति के विरोधी स्वर मिलते हैं। जब भृगु पुरोहित अपनी पत्नी और दोनों पुत्रों के साथ श्रामणी दीक्षा ग्रहण करने को तत्पर हो जाता है, तब इस परम्परा के अनुसार राजा इषुकार के राजकोष में जमा करने के लिए पुरोहित का सारा धन लाया जाता है। उस समय रानी कमलावती इसे वमन किया हुआ धन[3] बताकर इसकी निन्दा करती है।

इस निन्दा से भी राजाओं की स्वार्थवृत्ति के कारण यह कुत्सित परम्परा बन्द नहीं हुई अपितु व्यभिचार, कलह आदि की वृद्धि करती हुई वृद्धिगत होती रही। स्थिति बहुत ही भंयकर हो गई। तब एक घटना के फलस्वरूप आचार्य हेमचन्द्र ने व्यवस्था[4] दी—

पति यदि पतित हो गया हो, कहीं चला गया हो, विक्षिप्त हो गया

---

१. एक वृद्धा सेठानी ग्राम सीमा पर सोते हुए कयवन्ना शाह को अपने चाकरों द्वारा सिर्फ इसलिए उठवा ले आती है कि उसका पुत्र अपुत्री ही मर गया है और कयवन्ना उसकी चार पुत्रवधुओं से पुत्र उत्पन्न करे, जिससे उसके धन को राजा न हड़प सके। (पूरी घटना के लिए देखिए—कथा कोष प्रकरण, धर्मोपदेश विवरण तथा जैन कथाएं भाग ४६ उपाध्यायश्री पुष्कर मुनि जी कृत)

२. दो विधवा स्त्रियाँ एक पुत्र के लिए लड़ती हुई आईं और एक शिशु को अपना-अपना पुत्र बताने लगीं। इस कलह का कारण भी यही दुर्नीतिपूर्ण परम्परा थी। इसका न्याय भगवान सुमतिनाथ की माता सुमंगला ने किया।
ऐसी ही कथा King Solomen's Justice में मिलती है।
—देखिए उपाध्याय पुष्करश्री मुनि जी कृत : जैन कथाएं भाग १०१

३. उत्तराध्ययन सूत्र, १४वां इषुकारीय अध्ययन, गाथा ३८

४. नष्टे भ्रष्टे च विक्षिप्ते पतौ प्रव्रजिते मृते।
तस्य निश्शेषवित्तस्याधिपा स्याद्वरवर्णिनी॥
कुटुम्बपालने शक्ता ज्येष्ठा या च कुलांगना।
पुत्रस्य सत्वेऽसत्वे च भर्तृवत्साधिकारिणी॥
—अर्हन्नीति, दायभाग प्रकरण, श्लोक ५२-५३, पृ० १२८

हो, प्रव्रजित हो गया हो अथवा मृत्यु को प्राप्त हो गया हो तो उसकी संपत्ति की अधिकारणी उसकी स्त्री होती है।

आगे उन्होंने कहा कि उस स्त्री के पुत्र हो अथवा न हो, इसका उस के संपत्ति के स्वामित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इस व्यवस्था के मूल में घटना इस प्रकार थी—

एक बार पाटणनरेश कुमारपाल ने रात्रि के समय किसी स्त्री का रुदन स्वर सुना। वे उसके पास पहुँचे। उस समय वह आत्महत्या करने को तैयार हो रही थी। कुमारपाल ने रुदन और आत्महत्या का कारण पूछा तो उस स्त्री ने बताया—मेरे पति मुझे निपुत्री ही छोड़कर स्वर्ग पधार गये हैं। देश की परम्परा के अनुसार प्रातःकाल ही मेरा सारा धन राजकोष में जमा कर दिया जायेगा और मैं दाने-दाने को मोहताज होकर दर-दर भटकती फिरूँगी।

इस बात को सुनकर कुमारपाल का हृदय द्रवित हो गया। उन्हें इस बीभत्स प्रथा से घृणा हो गई जो एक कुलीन स्त्री को इतना पतित व विवश कर दे।

कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्र के समक्ष अपने मन की उलझन रखी और इसका उचित समाधान चाहा। आचार्यश्री के परामर्श पर राजा ने सभासदों, मंत्रियों, कोषाध्यक्ष के प्रबल विरोध के बावजूद भी इस प्रथा को बन्द कर दिया, और दृढ़ स्वर में कह दिया—स्त्रियों को आत्महत्या पर विवश कर देने वाली इस कुत्सित प्रथा से प्राप्त धन मुझे किसी कीमत पर नहीं चाहिए।[1]

इस व्यवस्था के बाद भी इस कुत्सित प्रथा का अस्तित्व बना रहा जो लार्ड डलहौजी की हड़प नीति के रूप में सामने आया। उसने भी, जो राजा निःपुत्री मर गये उनके राज्य को कम्पनी शासन के अन्तर्गत लेने का कुचक्र चलाया, यहाँ तक कि हजारों वर्षों से प्रचलित और मान्यता प्राप्त दत्तक पुत्रों को भी उत्तराधिकारी स्वीकार करने से इनकार कर दिया।

अपनी इस हड़प नीति के अनुसार कम्पनी सरकार ने झांसी आदि अनेक राज्यों को हड़प लिया। यह प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ।

---

१. युवाचार्य श्री मधुकर मुनि : जैन कथामाला, भाग १७, पृ० ४३ का सार-संक्षेप
२. देखिए, आधुनिक भारत—लार्ड डलहौजी की हड़प नीति।

इस प्रकार यह प्रथा एक भयंकर दुर्नीति के रूप में समाज और राज्य तथा व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन के लिए व्यभिचार, क्लेश, कलह, संघर्ष का कारण बनी।

विवेक के आधार पर निर्णय लेने वाले नैतिक व्यक्ति को ऐसी हानिकारक रूढ़ियों को तोड़ने का निश्चय करना पड़ता है और उसका यह निश्चय पूर्ण रूप से नैतिक होता है।

जटिल परिस्थितियों में विवेकपूर्ण निर्णय

कभी-कभी मनुष्य के सामने ऐसी स्थिति समुत्पन्न हो जाती है, जो स्पष्टतः अधार्मिक, अनैतिक दिखाई देती है। स्पष्ट परिलक्षित होता है कि अमुक व्यक्ति ने निश्चित ही पापाचार किया है।

ऐसी दशा में गम्भीर व्यक्ति का भी मानस खलबला उठाता है, हृदय क्रोध के आवेग में भर जाता है, वह तुरन्त ही उस व्यक्ति को कठोर से कठोर दण्ड सुना देता है, मृत्यु दण्ड भी दे देता है, उस व्यक्ति को बोलने तक का अवसर नहीं देता है।

लेकिन नैतिकता का तकाजा है कि चाहे स्पष्टतः व्यक्ति अपराधी ही दृष्टिगत हो रहा हो, फिर भी आवेगों में बहकर कभी कोई निर्णय नहीं करना चाहिए, अन्यथा वह धर्मानुमोदित दिखाई देने वाला निर्णय भी अनैतिक और पापपूर्ण बन जाता है।

ऐसी ही स्थिति अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह के सामने समुपस्थित हो गई थी जिसमें नैतिक निर्णय की प्रमुख भूमिका एक महान जैनाचार्य ने वहन की। घटना इस प्रकार है—

बादशाहों के रनिवास तो बड़े होते ही हैं। उनके रनिवास में उनकी स्त्रियों (बेगमों) की संख्या अधिक होती है, और लड़कियाँ भी बहुत होती हैं।

बादशाह बहादुरशाह की अनेक पुत्रियों में से एक कुंवारी युवा पुत्री गर्भवती हो गई। यह सूचना प्राप्त होते ही बादशाह एकदम तिलमिला गये। उनकी आंखों से अंगारे बरसने लगे। बिना विशेष छानबीन किये और मामले को गहराई से समझे बिना ही आदेश दे दिया—

"ऐसी पापिनी कन्या का मुंह भी देखना पाप है, उसे जल्दी से जल्दी खत्म कर दिया जाय।"

जोधपुरनरेश अजीतसिंह जी के प्रधान खींवसी जी भंडारी ने यह

आदेश सुना तो वह इस युवा कन्या से मिले, भांति-भांति के प्रश्न किये लेकिन उन्हें वह लड़की दुराचारिणी नहीं मालूम हुई। उन्होंने बादशाह को बहुत समझाया किन्तु वह अपने कठोर निर्णय से टस से मस न हुआ।

उस समय जैनाचार्य श्री अमरसिंह जी म. दिल्ली में ही विराजमान थे। खींवसीजी भंडारी उनके दर्शन करने गये तो उनके मुंह पर उदासी थी। आचार्यश्री के पूछने पर उन्होंने अपनी उलझन प्रकट की—कन्या निर्दोष मालूम पड़ती है फिर भी बादशाह उसे दोषी मानकर मृत्युदण्ड देने पर उतारू है। आचार्यश्री ने उन्हें बताया कि पांच कारणों से स्त्री पुरुष-सहवास के बिना भी गर्भवती हो सकती है—

१. पुरुष वीर्य से संसृष्ट स्थान को अपने गुह्य स्थान से आक्रान्त कर बैठी हुई स्त्री के योनि-देश में शुक्र-पुद्गलों का आकर्षण होने पर

२. शुक्र-पुद्गलों से संसृष्ट वस्त्र के योनि-देश में अनुप्रविष्ट होने पर

३. पुत्रार्थिनी होकर स्वयं अपने ही हाथों से शुक्र-पुद्गलों को योनि-देश में अनुप्रविष्ट कर देने पर

४. दूसरों के द्वारा शुक्र-पुद्गलों को योनि-देश में अनुप्रविष्ट किये जाने पर

५. नदी, तालाब आदि में स्नान करती हुई स्त्री के योनि-देश में शुक्र-पुद्गलों के अनुप्रविष्ट हो जाने पर।[1]

किन्तु ऐसे गर्भ से जो पिंड उत्पन्न होता है उसमें पुरुष प्रदत्त अंग अस्थि आदि नहीं होते और वह पिंड बुलबुले के समान कुछ ही क्षणों में स्वयं विनष्ट हो जाता है।

बादशाह ने खींवसीजी भंडारी से यह संपूर्ण रहस्य जानकर मृत्युदण्ड का आदेश स्थगित कर दिया और उस कन्या के चारों ओर कड़ा पहरा लगवा दिया। उस कन्या के गर्भ से जो पिंड निकला वह थोड़ी ही देर में बुलबुले के समान विनष्ट हो गया।

बहादुरशाह प्रभावित हुआ। उसने आचार्यश्री से जीव-वध न करने और मांस न खाने के नियम ग्रहण किये।[2]

---

१. स्थानांग सूत्र, स्थान ५, सूत्र ४१६

२. लेखक की जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य, प्रकाश २, पृ० २३-२६ का सार संक्षेप

सामान्य दृष्टि से बादशाह का क्वारी कन्या को इस स्थिति में मृत्यु-दन्ड देना उचित ही कहा जाता, इसे सभी धर्मानुमोदित और नैतिक ही कहते, कोई भी इसे अनैतिक न कहता।

किन्तु नीति अथवा नैतिक निर्णय सामान्य दृष्ट्या नहीं लिए जा सकते। बहुत बार ऐसे निर्णय अनैतिक भी हो जाते हैं।

इसीलिए दण्ड निर्णय के विषय में और विशेष रूप से मृत्युदण्ड के निर्णय के विषय में आधुनिक न्याय की भी यही मान्यता है कि मृत्युदण्ड या तो दिया ही न जाए और यदि देना ही पड़े तो बहुत ही छान-बीन के बाद ही दिया चाहिए; क्योंकि यदि बाद में ऐसे तथ्य (facts) सामने आते हैं, जिनसे वह व्यक्ति निर्दोष प्रमाणित होता है तो उसका जीवन लौटाने में न्याय सक्षम नहीं है।

न्याय के इस सिद्धान्त के अनुरूप ही नीति का विवेक-निर्णय का सिद्धान्त है। इसका हार्द यही है कि सतही तौर पर किसी भी बात का निर्णय नहीं करना चाहिए अपितु बहुत ही गहराई से छान-बीन कर ठोस जानकारी के आधार पर यथातथ्य निर्णय करना आवश्यक है अन्यथा नैतिक लगने वाले निर्णय भी घोर अनैतिक बनते देर नहीं लगती।

विवेकपूर्ण नैतिक निर्णय के लिए नीति का यह श्लोक पूर्णतया सटीक है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥

कोई काम सहसा नहीं करना चाहिए। अविवेक ही बड़ी-बड़ी आपत्तियों का कारण है। सोच-विचारकर कार्य करने वाले के पास संपदाएँ स्वयं ही चली आती हैं।

कुछ कार्य नीति से परे भी

सभी मानवीय क्रियाएँ नीतिशास्त्र के अन्तर्गत नहीं आतीं कुछ ऐसी भी क्रियाएँ हैं जो नीतिशास्त्र की सीमा से परे हैं। इस अपेक्षा से मानवीय क्रियाओं को दो भागों में विभाजित किया गया है—

(१) ऐच्छिक कार्य (Voluntary Actions)

(२) अनैच्छिक कार्य (Non-Voluntary Actions)

ऐच्छिक कार्य वे हैं, जिन्हें व्यक्ति इच्छापूर्वक करता है, इनमें मूल-प्रवृत्तियों, संकल्प, संवेग आदि की भी प्रेरणा रहती है। इन्हीं कार्यों की

की अपेक्षा व्यक्ति को नैतिक अथवा अनैतिक कहा जाता है और इन्हीं कार्यों पर नैतिक निर्णय लागू होता है।

अनैच्छिक कार्य वे होते हैं जो स्वतः ही होते रहते हैं। इनमें व्यक्ति को किसी प्रकार की इच्छा, संकल्प, आदि करने की आवश्यकता ही नहीं होती, इनमें किसी प्रकार के संवेग भी नहीं होते।

इनको स्वतः चालित (automatic) तथा गत्यात्मक (motory) क्रियाएँ कहा जाता है। यह सहज क्रियात्मक होते हैं।

पाचन क्रिया, श्वासोच्छ्वास क्रिया, आदि ऐसी सभी क्रियाएँ अनैच्छिक कार्य हैं।

इन क्रियाओं का उत्तरदायित्व कर्ता पर नहीं होता। अतः यह नीति शास्त्र और यहाँ तक कि धर्मशास्त्र, आचारशास्त्र आदि सभी शास्त्रों की सीमाओं से परे हैं, बाहर हैं।

ईर्यापथिकी क्रिया और सांपरायिकी क्रिया के रूप में जैन दर्शन ने भी इसी प्रकार की दो क्रियाएँ मानी हैं। ठाणांग,[1] सूत्रकृतांग,[2] उत्तराध्ययन[3] तत्वार्थसूत्र[4] में क्रियाओं का वर्णन हुआ है। यद्यपि क्रियाओं की संख्या १३, २५, ३९ आदि विभिन्न अपेक्षाओं से है किन्तु प्रमुख वर्गीकरण ईर्यापथिक और सांपरायिक यह दो प्रकार का ही है, इसी में सभी क्रियाएँ समाविष्ट हो जाती हैं।

नीतिशास्त्र की सीमा में आने वाली सभी क्रियाएँ सांपरायिक क्रियाएँ हैं, जिनके लिए कर्ता उत्तरदायी है। इन्हीं से व्यक्ति को नैतिक-अनैतिक कहा जाता है। क्योंकि यह क्रियाएँ राग-द्वेष, कषाय आदि से अनुरंजित, अनुप्राणित और प्रेरित होती हैं। यही Voluntary actions हैं।

ईर्यापथिकी क्रियाएँ मन-वचन काय योग के परिस्पन्दन मात्र से सहज होती हैं। इनमें राग-द्वेष, संकल्प आदि का अंश नहीं होता, इसीलिए कर्म-बंधन भी नहीं होता। चूंकि कर्ता इन क्रियाओं के लिए उत्तरदायी नहीं

---

१. (क) ठाणांगसूत्र स्थान २ (ख) प्रज्ञापना पद २२

२. सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, दूसरा अध्ययन

३. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ३१, गाथा १२

४. तत्वार्थसूत्र, अध्याय ६, सूत्र ५

होता, इसीलिए ऐसी क्रियाएँ जिन्हें नीतिशास्त्र में अनैच्छिक क्रियाएँ (Non-Voluntary actions) कहा गया है, नीतिशास्त्र की सीमा में नहीं आतीं।

जैन दर्शन के अनुसार ईर्यापथिकी क्रिया अरिहन्तों (जीवनमुक्त परमात्मा) को लगती है, इसीलिए वे भी नीति से परे हैं।

उपसंहार—इस प्रकार नैतिक निर्णयों को मनोवैज्ञानिक, संवेगात्मक, सामाजिक, परिस्थित्यात्मक अनेक तत्व प्रभावित करते हैं; लेकिन इनमें सबसे अधिक प्रभावशाली तत्व हैं—राग-द्वेष, कषाय, संज्ञा आदि। जिनका प्राणीमात्र के जीवन में सतत सद्भाव बना रहता है। इनके बहाव में बह जाने पर निर्णय अनैतिक हो जाते हैं और जो व्यक्ति इन पर नियन्त्रण रखता है, इन्हें नियमित, परिसीमित कर देता है उसके निर्णय नैतिक होते हैं।

●

खण्ड २

जैन नीति के विभिन्न आयाम

PART II

Different Dimensions of Jaina Ethics

१. जैन नीति का आधार : सम्यग्दर्शन
२. सम्यग्दर्शन का स्वरूप और
नैतिक जीवन पर उसका प्रभाव
३. नैतिक आरोहण का प्रथम चरण
व्यसनमुक्त जीवन
४. जैन दर्शन सम्मत—
व्यावहारिक नीति के सोपान
५. नैतिक उत्कर्ष :
श्रावक की आचार नीति
६. नैतिक चरम :
श्रमणाचार
७. आत्म-विकास की मनोवैज्ञानिकनीति :
गुणस्थान

१

जैन नीति का आधार : सम्यग्दर्शन

(RIGHT FAITH : BASE OF JAINA ETHICS)

सम्यग्दर्शन का अर्थ

सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व और सम्यग्दृष्टि—ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दर्शन का अर्थ है—सत्यदृष्टि, यथार्थदृष्टि। सामान्य शब्दों में इसे 'उचितता, यथार्थता,' भी कहा जा सकता है। सम्यक्त्व का अर्थ तत्वरुचि[1] भी है। नीतिशास्त्र की दृष्टि से यह अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस अर्थ से 'सत्य की अभिरुचि' यह अभिप्राय द्योतित होता है।

यों सत्यदृष्टि तथा सत्य की ओर अभिरुचि—सम्यक्त्व के ये दोनों ही अभिप्राय नीति के मूल आधार हैं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यथार्थदृष्टि अथवा सत्यदृष्टि क्या है? और साथ ही आनुषंगिक प्रश्न यह भी है कि क्या दृष्टि अयथार्थ भी होती है? और यदि वह होती है तो उसका नाम और लक्षण क्या है, जिसको त्यागने से सत्यदृष्टि की उपलब्धि होती है।

जैन परम्परा में अयथार्थ दृष्टि को मिथ्यात्व अथवा मिथ्यादृष्टि[2] कहा गया है।

---

१ अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ५

२ (क) बौद्धदर्शन में भी मिथ्यात्व कहा गया है, देखिए अंगुत्तरनिकाय १/१०-२०
(ख) गीता में अज्ञान कहा है। द्रष्टव्य गीता ५/१४-१५, १४-८, १६-१०, १६/१५, १८/२२ आदि

मिथ्यात्व के जैन शास्त्रों में २५ प्रकार गिनाये गये हैं। उनमें से दस भेद तो ठाणांग में है और शेष १५ भेद यत्र-तत्र शास्त्रों में बिखरे हुए हैं।

ठाणांग में उल्लिखित मिथ्यात्व के १० भेद हैं—

(१) धर्म में अधर्म संज्ञा	(२) अधर्म में धर्म संज्ञा
(३) मार्ग में कुमार्ग संज्ञा	(४) कुमार्ग में मार्ग संज्ञा
(५) जीव में अजीव संज्ञा	(६) अजीव में जीव संज्ञा
(७) साधु में असाधु संज्ञा	(८) असाधु में साधु संज्ञा
(९) मुक्त में अमुक्त संज्ञा	(१०) अमुक्त में मुक्त संज्ञा[1]

संज्ञा का अर्थ यहाँ समझ—समझना अथवा आग्रह रखना है। यह सब विपरीत अभिनिवेश और बुद्धि विपर्यय के परिणाम हैं।

मिथ्यात्व के अन्य ५ भेद यह हैं—

(११) एकान्त मिथ्यात्व—वस्तु को अनेकान्तदृष्टि से अनन्तधर्मात्मक न मानकर एकान्त रूप से एक धर्मात्मक मानना, शेष धर्मों का अपलाप कर देना।

—(ग) पाश्चात्य दर्शन में भी मिथ्यात्व का उल्लेख प्राप्त होता है। वहां चार मिथ्या धारणाओं का उल्लेख है—

(१) सामाजिक संस्कारों से प्राप्त—जातिगत मिथ्या धारणाएँ (Idola Tribus)

(२) व्यक्ति द्वारा स्वयं बनाई गई मिथ्या धारणाएँ (Idola Specus) इन्हें सामान्य शब्दों में पूर्वाग्रह (Prejudices) कहा जा सकता है।

(३) असंगत अर्थ आदि (Idola Fori)—इसे बाजारू मिथ्याधारणा अथवा विश्वास के नाम से अभिहित किया गया है।

(४) मिथ्या सिद्धान्त अथवा मान्यताएँ (Idola Theatri)

पश्चिमी दर्शनकारों की यह मान्यता है कि इन मिथ्या धारणाओं अथवा पूर्वाग्रहों से मुक्त होने के उपरान्त ही ज्ञान को यथार्थ और निर्दोष रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

—थिली : हिस्ट्री आफ फिलासफी, पृ० २८७

(उद्धृत—सागरमल जैन : जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग २, पृ० ४२ साभार।

३ ठाणांग, ठाणा १०

(१२) वैनयिक मिथ्यात्व—परम्परागत धारणाओं को ज्यों की त्यों बिना ऊहापोह किये स्वीकार कर लेना।

(१३) संशय मिथ्यात्व—संदेह की स्थिति में पड़े रहना, तथ्य का निर्णय न करना।

संशय और जिज्ञासा में अन्तर है। संशय में लक्ष्य-विमुखता होती है, जबकि जिज्ञासा में सरलता और लक्ष्याभिमुखता होती है। जिज्ञासा में तत्व का निश्चय करने की भावना रहती है जबकि संशय अनिश्चय की अवस्था—दोलायमान स्थिति है।

(१४) विपरीत मिथ्यात्व—वस्तु को उसके स्वभाव के विपरीत रूप में जानना, समझना और वैसा ही निश्चय करना।

(१५) अज्ञान मिथ्यात्व—शुभाशुभ, तत्त्वातत्त्व के निर्णय की क्षमता का अभाव अज्ञान मिथ्यात्व है।

स्थानांग सूत्र में इन्हीं पाँचों मिथ्यात्वों को (१) अनाभिग्रहिक (परंपरागत धारणाओं को बिना समीक्षा के स्वीकार करना), (२) आभिग्रहिक (किसी के उपदेश से या प्रभाव में आकर सत्य तत्व को अस्वीकार करते रहना), (३) आभिनिवेशिक (असत्य मान्यता को भी अहंकार-वश हठपूर्वक पकड़े रहना), (४) सांशयिक (संशयशील बने रहना, तत्व का निश्चय न करना) और (५) अनाभोगिक (विवेक या ज्ञान क्षमता का अभाव) कहा गया है।

(१६) लौकिक मिथ्यात्व—लोकरूढ़ि में अविचारपूर्वक बँधे रहना।

(१७) लोकोत्तर मिथ्यात्व—पारलौकिक उपलब्धियों के निमित्त स्वार्थवश धर्माचरण अथवा नैतिकता का आचरण करना अथवा उन धारणाओं से ग्रस्त रहना।

(१८) कुप्रावचनिक मिथ्यात्व—मिथ्या दार्शनिक विचारणाओं को स्वीकृत करना।

(१९) न्यून मिथ्यात्व—पूर्ण सत्य या तत्वस्वरूप को आंशिक सत्य समझना या न्यून मानना।

(२०) अधिक मिथ्यात्व—आंशिक सत्य को उससे अधिक पूर्ण सत्य समझ लेना।

(२१) विपरीत मिथ्यात्व—वस्तु तत्व को उसके विपरीत रूप में समझना।[1]

(२२) अक्रिया मिथ्यात्व—आत्मा को एकान्त रूप से अक्रिय मानना अथवा सिर्फ ज्ञान को महत्व देकर क्रिया (चारित्र) की उपेक्षा करना।

(२३) मूढ़दृष्टित्व—मूढ़ावस्था, जिसमें जीव को तत्व का निर्णय करने की क्षमता नहीं होती।

(२४) अविनय मिथ्यात्व—पूज्यजनों तथा सत्य तत्वों के प्रति असम्मान का भाव रखना, उनकी आज्ञा न मानना।

(२५) आशातना मिथ्यात्व—पूज्यवर्ग की आलोचना, निन्दा करना।[2]

मिथ्यात्व का अभिप्राय विपरीत ज्ञान और ज्ञान का अभाव दोनों ही हैं। साथ ही एकांत अथवा निरपेक्ष ज्ञान भी मिथ्यात्व ही है। इसका कारण यह है कि वस्तु सापेक्षात्मक तथा अनन्तधर्मात्मक होती है—उदाहरणतः अग्नि में पाचकता, प्रकाश, ताप आदि अनेक गुण धर्म होते हैं, उनमें से एक गुण को स्वीकार करके अन्य गुणों का अपलाप करना दृष्टि विपर्यास अथवा ज्ञान की न्यूनता होने से वस्तु को पूर्णतः न समझना है।

मिथ्यात्व का प्रत्यय आत्मनिष्ठ (subjective) और वस्तुनिष्ठ (objective) दोनों ही प्रकार का होता है।

मिथ्यात्व वस्तुतः तत्व के प्रति अविश्वास, गलत विश्वास है। इस विश्वास के परिणामस्वरूप ज्ञान में मलिनता आती है और ज्ञान की मलिनता के कारण निर्दोष आचरण नहीं हो पाता। ऐसे व्यक्ति (मिथ्यात्वी) का सदोष आचरण स्वयमेव ही अनैतिक बन जाता है।

इस प्रकार मिथ्यात्व अनैतिकता का प्रारम्भ बिन्दु है। यह सम्पूर्ण जीवन को अनैतिक बना देता है तथा इसकी चरम परिणति आचरण की अनैतिकता के रूप में व्यक्त होती है।

मिथ्यात्व के विपरीत सम्यक्त्व का अभिप्राय है वस्तु के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण—विश्वास। यथार्थ विश्वास से ज्ञान में निर्मलता आती है, परिणामस्वरूप आचरण भी निर्दोष होता है। इसीलिए जैन दर्शन ने

---

१ विपरीत मिथ्यात्व १४वें क्रम में भी आ चुका है। अतः यहाँ इसका अभिप्राय मिथ्या अभिनिवेश समझना चाहिए। जिसमें विपरीतता का आवेश अथवा हठ रखा जाता है, इस मिथ्यात्व में अहंकार की प्रधानता होती है। —लेखक

२ श्री अशोक मुनि—सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन, पृष्ठ ४४३-४४९।

सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दर्शन को नैतिकता—नीतिपूर्ण आचरण का मूल आधार माना है, तथा इसी के आधार पर नैतिक प्रगति होती है।

सम्यग्दर्शन का नीतिशास्त्रीय महत्व

आचार्य जिनभद्रगणि ने तत्वरुचि को सम्यक्त्व कहा है और उत्तराध्ययन सूत्र में भी दस प्रकार की रुचि को सम्यक्त्व के भेद माने हैं। तत्वरुचि की अपेक्षा सम्यक्त्व का अभिप्राय सत्य की उत्कृष्ट इच्छा है। नीतिशास्त्र में सम्यक्त्व का यह अभिप्राय बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस अपेक्षा से नैतिक साधना में सम्यक्त्व को स्वयं ही अति विशिष्ट स्थान प्राप्त हो जाता है।

कारण यह है कि सत्य की प्रकृष्ट रुचि ही नैतिकता की साधना को गति देने वाला प्रमुख प्रेरक तथा आधार है। जब तक मानव में सत्य-रुचि जागृत नहीं होगी, वह नैतिकता की ओर उन्मुख ही नहीं होगा। सत्य-रुचि वह आधारभूत तत्व है जो व्यक्ति को नैतिकता की ओर बढ़ने के लिए, नैतिक जीवन जीने के लिए प्रबल प्रेरणा प्रदान करती है। इस अपेक्षा से जैन-दर्शन में सम्यक्त्व को नीति का—नैतिक जीवन का—नैतिक प्रगति का आधार माना गया है, जो उचित है और उन्नत, विशुद्ध नैतिक आचरण के लिए अनिवार्य है।

जैन धर्म में सम्यक्त्व का स्वरूप

जैनधर्म में मोक्ष-साधना[1] का प्रवेश-द्वार सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दर्शन है। इस पर कई अपेक्षाओं से विचार किया गया है तथा विभिन्न प्रकार से

---

१ मोक्ष-साधना की अपेक्षा से सम्यक्त्व का महत्व बौद्ध और वैदिक दोनों परम्पराओं ने स्वीकार किया है—

(क) सम्यक् दृष्टिकोण निर्वाण का किनारा है। —अंगुत्तरनिकाय १०/१२

(ख) सम्यग्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को कर्मबन्धन नहीं होता। —मनुस्मृति ६/७४

[नोट—मनुस्मृति का यह कथन आचारांग (१/३/२/३७५) के **'सम्मत्तदंसी न करेइ पावं'** इस वचन की ही पुष्टि करता है।

(ग) श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम् —गीता ४/३९

(घ) सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है तथा वह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उसका स्वरूप है (वैसा ही वह बन जाता है।) —गीता १७/३

वर्गीकरण भी किया गया है। बड़े ही प्रभावशाली ढंग से सम्यक्त्व का महत्व बताकर मानव को इसे ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

जैन धर्म में सम्यग्दर्शन अत्यधिक चर्चित विषय रहा है। अतः इसके लक्षण भी विविध नयों और अपेक्षाओं से दिये गये हैं। किन्तु व्यवहार दृष्टि से इसका सर्वसम्मत लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

पदार्थों का दुरभिनिवेश रहित यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।[1]

दुरभिनिवेश का अर्थ कदाग्रह है, जिसका अभिप्राय है अपनी मिथ्या-धारणा के प्रति अहंकारपूर्वक हठ करना।

आगमसम्मत व्यावहारिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन का लक्षण दो प्रकार से प्राप्त होता है—(१) देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा[2] और (२) सात अथवा नौ तत्वों का श्रद्धान।[3]

देव का यहाँ सच्चे देव से अभिप्राय है—जिसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—जो सर्वज्ञ हो, रागद्वेष आदि विकारों को जिसने जीत लिया हो, जो तीनों लोकों द्वारा पूज्य हो और यथार्थ वस्तु स्वरूप का कथन करने वाला हो, ऐसे अरिहंत परमेष्ठी ही सच्चे देव हैं।[4]

गुरु का लक्षण है—पाँचों इन्द्रियों को वश में करने वाले, नौ प्रकार की ब्रह्मचर्य गुप्तियों को धारण करने वाले, चार प्रकार के कषायों से मुक्त तथा पंच महाव्रतों के पालक, ज्ञानादि पाँच प्रकार के आचार को पालन

---

१ जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, पृ० १०५

२ अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इइ समत्तं मए गहियं॥ —आवश्यक सूत्र

३ तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसेणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥
—उत्तराध्ययन सूत्र २८/१५

४ सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः॥ —योगशास्त्र २/४

करने में समर्थ, पंच समिति और त्रिगुप्ति से युक्त—यों ३६ गुणों के धारक त्यागीजन मेरे गुरु हैं।[1]

जिन (वीतराग-अरिहंत परमेष्ठी) द्वारा कहा हुआ तत्व ही धर्म है। तथा यह अहिंसा, संयम और तप रूप होता है।[2] वह धर्म भवसागर (संसार समुद्र) में डूबते हुए प्राणियों को बचा लेता है।[3] दुर्गति में गिरते हुए प्राणियों को धारण करके रखता है[4], ऊपर ही उठाये रखता है तथा उत्तम सुख—यानी मुक्ति में पहुँचा देता है।[5] वह धर्म अपनी आत्मा के अनुकूल होता है, समभाव रूप होता है।[6] किसी अन्य को दुःखकारी नहीं होता[7], मैत्री आदि भावनाओं से युक्त होता है[8] और यह अहिंसा भावना (कर्म से भी) से परिपूर्ण होता है।

ऐसा धर्म वीतराग आप्त पुरुष के द्वारा उपदिष्ट होता है।

अतः सच्चे देव, सच्चे गुरु तथा सच्चे धर्म पर हृदय तथा आत्मा की गहराइयों से श्रद्धा अथवा विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।

---

१ पंचिन्दिय संवरणो तह नवविह बंभचेर गुत्तिधरो।
चउविहकसायमुक्को, इअ अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो॥
पंचमहव्वयजुत्तो पंचविहायारपालण समत्थो।
पंच समिओ तिगुत्तो छत्तीसगुणो गुरुमज्झ॥ —आवश्यक सूत्र

२ धम्मो मंगलमुक्किट्ठ अहिंसा संजमो तवो।
—दशवैकालिक सूत्र १/१

३ सो धम्मो जो जीवं धारेइ भवण्णवे निवडमाणं।
—उपाध्याय यशोविजय : धर्मपरीक्षा

४ दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः।
— दशवै० हारि० वृत्ति १

५ धरत्युत्तमे सुखे। —रत्नकरण्ड श्रावकाचार

६ समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए। —आचारांग १।८।३

७ (क) जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
(ख) जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
जं इच्छं परस्स वि य, एत्तियगं जिणसासणं॥
—उद्धृतः जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. १०८

८ वचनाद्यनुष्ठानमविरुद्धाद् यथोदितं।
मैत्र्यादिभावसंयुक्तं तद्धर्म इति कीर्त्यते। —धर्मबिन्दु प्रकरण १

नव तत्त्व

व्यवहार सम्यग्दर्शन का दूसरा लक्षण नव तत्वों की यथार्थ श्रद्धा किया गया है। अतः यह जान लेना आवश्यक है कि जैन धर्मानुमोदित नौ तत्व कौन से हैं, जिन पर श्रद्धा करने से जीव को सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है।

नौ तत्वों के नाम हैं—१ जीव २ अजीव ३ बंध ४ पुण्य ५ पाप ६ आस्रव ७ संवर ८ निर्जरा और ९ मोक्ष[1]।

तत्वार्थ सूत्र[2] में ७ तत्व ही माने हैं, पुण्य-पाप की गणना तत्वों में नहीं की है तथा वहाँ क्रम भी भिन्न है—१ जीव २ अजीव ३ आस्रव ४ बंध ५ संवर ६ निर्जरा और ७ मोक्ष। किन्तु ७ और ९ की गणना अपेक्षा-भेद मात्र है, इससे स्वरूप चिन्तन में कोई अन्तर नहीं आता। यद्यपि तत्वार्थ सूत्रकार ने भी आस्रव के दो भेद पुण्य और पाप[3] माने हैं। लेकिन सिर्फ आस्रव के भेद पुण्य-पाप मान लेने से काम नहीं चलता क्योंकि पुण्य और पाप का बंध भी होता है तथा इनका फल भी जीव को भोगना पड़ता है।

फिर नीतिशास्त्र की दृष्टि से तथा आचार की अपेक्षा भी पुण्य-पाप का महत्व अधिक है तथा इनका विशिष्ट स्थान है; क्योंकि पुण्य नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से शुभ—नैतिक शुभ है और पाप है नैतिक अशुभ। अतः नौ तत्वों की गणना ही अधिक उचित है।

(१) जीव तत्व

जीव का लक्षण—जीव शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार जीव का लक्षण बताया गया है—जो जीवित रहता है, प्राण धारण करता है, वह जीव है।[4]

---

१ जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो सन्तेए तहिया नव ॥ —उत्तरा० २८/१४

२ जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। —तत्वार्थ सूत्र १/४

३ कायवाङ्मनः कर्मयोगः ।१। स आस्रवः ।२। शुभः पुण्यस्य।३। अशुभः पापस्य।४। —तत्वार्थसूत्र ६/१-४

४ जीवति प्राणान् धारयतीति जीवः। —आचार्य श्री आत्माराम जी—जैन तत्व कलिका, पंचम कलिका, पृष्ठ ८१, टिप्पण

जैन धर्म में जीव का लक्षण उपयोग[1] बताया गया है, जिसमें चेतना तथा प्राण-धारण भी गर्भित है।

चेतना, यह जीव का मुख्य लक्षण है, अन्य किसी भी तत्व में यह नहीं पाई जाती। चेतना का अभिप्राय जीव की जानने, देखने और अनुभव करने की शक्ति है। इस शक्ति के कारण ही जीव सुख-दुख का वेदन करता है तथा आनन्द का अनुभव करता है।

जीवित रहने के लिए प्राण धारण करना आवश्यक है। जैन धर्म में प्राण अन्तरंग और बाह्य—निश्चय तथा व्यवहार दृष्टि से माने गए हैं। जीव के अन्तरंग ४ प्राण हैं—१ ज्ञान, २ दर्शन ३ सुख और ४ वीर्य तथा बाह्य प्राण १० दस हैं—

१ श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण, २ चक्षु इन्द्रिय बल प्राण ३ घ्राण इन्द्रिय बल प्राण ४ रसना इन्द्रिय बल प्राण ५ स्पर्शन इन्द्रिय बल प्राण ६ मन बल प्राण ७ वचन बल प्राण, ८ कायबल प्राण, ९ श्वासोच्छ्वास बल प्राण १० आयु बल प्राण।

जीवों के दो प्रमुख भेद हैं—संसारी और मुक्त। संसारी कर्मबंधनों से युक्त हैं तथा मुक्त जीव इन बंधनों से मुक्त। संसारी जीवों में भी एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के जीव (वृक्ष, कीट आदि) तथा पंचेन्द्रिय जीवों में पशु-पक्षी आदि नीति की सीमा से परे हैं। सिर्फ मानव ही नीति की सीमा में आता है।

जीव के विषय में भगवती सूत्र में कहा गया है—

जीवो अणाइ अनिधणो अविनासी अक्खओ धुवो निच्चं

अर्थात्—जीव अनादि है,अनिधन है,अविनाशी है, अक्षय है, ध्रुव है और नित्य है।

व्यावहारिक दृष्टि से जीव के यह लक्षण हैं—

१ जीव परिणामी है २ कर्ता है ३ अपने किये कर्मों के फल का भोक्ता है ४ और स्वदेह परिमाण है।

---

१ (क) जीवो उवओग लक्खणो। —उत्तराध्ययन सूत्र २८/१०
(ख) उवओग लक्खणे जीवे। —भगवती सूत्र, शतक २, उद्देशक १०
(ग) उपयोगो लक्षणम्। —तत्वार्थ सूत्र २/८

नीतिशास्त्र में जीव के कर्तापन और भोक्तापन का अधिक महत्व है। कर्तृत्व शक्ति तथा प्रवृत्ति होने से जीव अपने किये हुए कर्मों तथा आचरणों के लिए उत्तरदायी होता है, उसे नैतिक अथवा अनैतिक की संज्ञा दी जाती है तथा भोक्ता होने से उसे अनैतिक आचरणों का दुष्फल और नैतिक कार्यों का शुभफल मिलता है। दण्डनीति, सामाजिक भर्त्सना आदि की व्यवस्था अशुभ अनैतिक कार्यों एवं प्रवृत्तियों को रोकने के लिए ही की गयी है तथा प्रशंसा, पुरस्कार, सत्कार आदि नैतिक शुभ एवं नैतिक प्रगति को गति प्रदान करते हैं।

अजीव तत्व

अजीव तत्व को भली भांति समझने के लिए जीव और अजीव में जो भेद हैं, उन्हें जानना उपयोगी होगा। जीव के लक्षण उपरोक्त पंक्तियों में दिये जा चुके हैं। यहाँ हम जीव और अजीव की पारस्परिक विभिन्नताओं की चर्चा करेंगे।

जीव और अजीव की विभाजक रेखा—इस संसार में जीव कहीं भी शुद्ध रूप में नहीं पाया जाता, सर्वत्र वह पुद्गल से संबन्धित ही दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि उसके साथ शरीर लगा हुआ है, जो पौद्गलिक है—अजीव है; इसलिए भी विभाजन को समझना अति आवश्यक है अन्यथा जीव तत्व और अजीव तत्व के स्वरूप के विषय में भ्रान्ति होने की संभावना है।

जीव	अजीव
१ प्रजनन शक्ति (संतति उत्पादन)	नहीं
२ वृद्धि (स्वयमेव) (Growth)	नहीं
३ आहार-ग्रहण	नहीं
४ विसर्जन (नीहार)	नहीं
५ जागरण, नींद, परिश्रम, विश्राम	नहीं
६ आत्मरक्षा हेतु प्रयास	नहीं
७ भय त्रास	नहीं

आधुनिक जीव विज्ञान ने जीव के यह लक्षण स्वीकार किये हैं, तथा इन लक्षणों का अभाव जिसमें हो, उसे अजीव संज्ञा दी है।

यह तथ्य है कि कोई भी मशीन अपनी जैसी दूसरी मशीन नहीं बना सकती, अपना आकार स्वयं ही नहीं बढ़ा सकती, वह नींद भी नहीं ले सकती, और न ही वह आत्मरक्षा हेतु प्रयत्न भी कर सकती है।

विज्ञान द्वारा निर्मित आधुनिकतम मशीन सुपर कम्प्युटर है। उसमें

जितने शब्द भर दिये जाते हैं, उतने ही रहते हैं, वह स्वयमेव ही नये शब्दों की रचना नहीं कर सकता। उसे कार्य करने के लिए मानवीय निर्देश एवं विद्युत ऊर्जा की आवश्यकता होती है।

जैन दर्शन ने भी उन द्रव्यों को जिनमें जीवत्व (जीव के गुण उपयोग, चेतना आदि) नहीं है, उनको अजीव कहा है। अजीव द्रव्य के प्रमुख भेद दो हैं—(१) रूपी और (२) अरूपी।

रूपी का अभिप्राय है, जिनमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण—यह चार गुण हों, ऐसा द्रव्य पुद्गल है। इसे अँग्रेजी में Matter कहा जाता है।

अरूपी द्रव्य वे हैं जिनमें स्पर्श, गंध, रस और वर्ण नहीं हैं। ऐसे द्रव्य ४ हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय और, (४) काल।

अधर्मास्तिकाय जीव-पुद्गल के ठहरने में उदासीन रूप में सहायक होता है, जैसे वृक्ष की छाया, धर्मास्तिकाय मछली के लिए जल के समान उदासीन गति सहायक का कार्य करता है। आकाश सबको अवगाहन अथवा स्थान देता है और काल समय बताता है, वस्तु को नई-पुरानी आदि दर्शाता है, परिवर्तन और परिणमन का निमित्त बनता है।[1]

अन्य तत्व

जीव और अजीव के अतिरिक्त सात तत्व और हैं।

आस्रव कर्मों का जीव में आगमन है, बंध उन कर्मदलिकों का आत्मा के साथ एकाकार हो जाना है। पुण्य आत्मा की शुभ प्रवृत्ति है और पाप अशुभ प्रवृत्ति है। संवर आस्रव का विरोधी अथवा कर्मों के आगमन का रुकना है तथा निर्जरा पूर्व में बँधे हुए कर्मों का झड़ जाना, आत्मा से पृथक हो जाना है। मोक्ष तत्व का अभिप्राय सर्वथा कर्म मुक्त अवस्था है, इस दशा में जीव के साथ किसी भी प्रकार का कर्म नहीं रहता, यह आत्मा की शुद्ध-विशुद्ध दशा है।

मोक्ष स्वरूप की प्राप्ति ही जैन नीति का लक्ष्य है।

नव तत्वों में हेय (त्यागने योग्य), ज्ञेय (जानने योग्य) और उपादेय (आदरने योग्य)—यह तीन प्रकार की योजना की गई है। जीव और अजीव—यह दो तत्व जानने योग्य हैं; आस्रव, बंध, पाप यह तीन तत्व

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २८/७-१०

छोड़ने योग्य हैं, संवर, निर्जरा, पुण्य और मोक्ष ये चार तत्व आदरने योग्य उपादेय हैं। मुक्ति प्राप्ति की दृष्टि से पुण्य तत्व भी एक सीमा तक आदर के योग्य है।

आस्रव, बंध और पाप हेय क्यों ?

आस्रव, बंध और पाप को हेय बताया गया है, इसका कारण इनका मुक्ति-प्राप्ति ने बाधकत्व तो है ही; सांसारिक, सामाजिक, पारिवारिक, व्यक्तिगत जीवन में भी यह संघर्ष, दुख आदि की सृष्टि करते हैं, इस कारण यह नैतिकता में भी बाधक हैं, व्यक्ति को अनैतिक बनाते हैं।

आस्रव के पांच भेद हैं—(१) मिथ्यात्व आस्रव, (२) अविरति आस्रव, (३) प्रमाद आस्रव, (४) कषाय आस्रव और (५) अशुभ योग आस्रव।

मिथ्यात्व तो किसी भी वस्तु के प्रति अयथार्थ दृष्टिकोण ही है। इस बुद्धि विपर्यय से अनेक विप्लव खड़े होते हैं। (मिथ्यात्व का विशद विवेचन इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है।)

बंध का जैन कर्म सिद्धान्त के प्रमुख कर्मग्रन्थों आदि में प्रकृति बन्ध आदि के रूप में विस्तृत विवेचन किया गया है; किन्तु नीति की अपेक्षा बंध का अभिप्राय आत्मा के सद्गुणों के प्रगट होने में रुकावट अथवा प्रतिबन्ध अर्थ अधिक उपयुक्त है। जैसे—किसी को दुःख देने से असातावेदनीय का बन्ध होता है तो इसके फलस्वरूप आत्मा को भी दुःख भोगना पड़ता है।

किसी को दुःख देना, ज्ञान प्राप्ति में विघ्न डालना, प्राणों का हनन करना यह सब अशुभ बन्ध के कारण तो होते ही हैं साथ ही नैतिक दृष्टि से भी यह अशुभ तथा हानिकारक हैं।

पाप के अठारह स्थान बताये गये हैं (१) हिंसा, (२) मिथ्या भाषण, (३) स्तेय (४) अब्रह्म (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग—सांसारिक पदार्थों पर राग।[1] (११) द्वेष (पदार्थों के प्रति

---

१ राग के तीन उत्तरभेद हैं—(क) कामराग—अपनी कामना/इच्छा पूरी होने पर होने वाला राग—(ख) स्नेहराग—स्नेहीजनों से अनुकूल प्रतिक्रिया प्राप्त होने पर होने वाला राग, (ग) दृष्टिराग—अपनी मान्यताओं—विश्वासों के प्रति होने वाला राग।

ईर्ष्या, घृणा आदि)[1] (१२) कलह-क्लेश, (१३) अभ्याख्यान (मिथ्यादोषारोपण), (१४) पैशुन्य (चुगली, (१५) परपरिवाद (दूसरों की निन्दा), (१६) रति (भोगों में प्रीति) और अरति (संयम-आत्मानुशासन-सदाचार से उद्वेग), (१७) मायामृषा (कपट सहित झूठ बोलना, जो सुनने वाले को सत्य प्रतीत हो किन्तु वास्तव में हो असत्य), (१८) मिथ्यादर्शन (मिथ्या, अथवा गलत धारणा)।

स्पष्ट ही यह सब अनैतिक प्रत्यय हैं, दुराचरण हैं, सदाचार और नैतिकता को हानि पहुँचाने वाले हैं। इसीलिए आस्रव, बंध और पाप इन तत्वों को त्यागने योग्य कहा गया है।

संवर, निर्जरा और पुण्य उपादेय क्यों ?

संवर तत्व आस्रव का विरोधी है। पाँच प्रकार के आस्रवों के विपरीत ५ प्रकार के संवर हैं—१ सम्यक्त्व संवर २ विरति संवर ३ अप्रमाद संवर ४ अकषाय संवर और ५ शुभयोग संवर।

मिथ्यात्व अनीतिपूर्ण आचरण का मूल कारण है इसलिए यह तो स्पष्ट अनैतिक है ही। इसके विपरीत यथार्थ दृष्टिकोण शुभ है, नैतिक है। सांसारिक और इन्द्रियों भोगों से विरक्ति न होना अविरति है तथा विरक्त होना विरति है। इन्द्रिय और सांसारिक भोगों की उद्दाम लालसा अनैतिकता की जननी है, यह सर्वविदित और स्वीकृत तथ्य है। विरति संवर इस लालसा को सीमित करता है, रोकता है, अतः यह नैतिक है, शुभ है।

इसी प्रकार प्रमाद—आलस्य, असावधानी, जागरुकता की कमी से अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं, फिर प्रमाद तो मानव के शरीर में रहा हुआ हुआ, परम शत्रु[2] कहा गया है, इसीलिए प्रमाद को हेय और अप्र-

---

१ द्वेष के तीन उत्तरभेद हैं—(क) कामद्वेष—अपनी कामना पूरी न होने पर होने वाला द्वेष, (ख) स्नेहद्वेष—स्नेहीजनों द्वारा प्रतिकूल प्रतिक्रिया व्यक्त करने पर होने वाला द्वेष (ग) दृष्टिद्वेष—अपनी मान्यता के प्रतिकूल मान्यता वालों तथा अपनी मान्यता का विरोध करने वालों पर होने वाला द्वेष।

२ आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपु।
नास्त्युद्यम समो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥

—भर्तृहरि : नीतिशतक, श्लोक ८७

माद को उपादेय बताया गया है। अप्रमाद नैतिक प्रगति के लिए अनिवार्य है।

कषाय का अभिप्राय है—क्रोध, अहंकार, कपट और लोभ। काम (वासना-कामना) को भी कषाय के अन्तर्गत माना गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब नैतिक आचरण, सदाचार और शील के विघातक हैं। इसके विपरीत अकषाय संवर नैतिक है, सदाचारमय है, क्योंकि यह कषाय को रोकता है।

इसी प्रकार मन, वचन, काय के शुभ योग श्लाघनीय हैं—सामाजिक, व्यक्तिगत व राष्ट्रीय सभी दृष्टियों से। इस कारण ही नैतिक शुभ होने से यह उपादेय हैं, ग्रहण करने योग्य हैं।

निर्जरा का अभिप्राय है जिन कर्मों ने आत्मिक सद्गुणों को प्रतिबन्धित कर रखा था, अथवा जिन आवरणों के कारण आत्मिक शक्तियां प्रगट नहीं हो पा रही थीं, उन्हें दूर कर देना, हटा देना, पृथक कर देना यही निर्जरा का लक्षण है।

आत्मिक शक्तियों का—सद्गुणों का प्रगटीकरण और संपूर्ण विकास ही नीति का चरम लक्ष्य है; नैतिक आचरण किया ही इसलिए जाता है कि मानव के सद्गुणों का विकास हो, वृद्धि हो, प्रसार हो।

इस दृष्टि से निर्जरा नैतिक प्रत्यय है, नीति का लक्ष्य है और एक शब्द में वह सब कुछ (summum bonum) है जो नीति पाना चाहती है, जो नीति का आधार है और उद्देश्य भी है।

पुण्य तत्व के ९ प्रकार[1] बताये गये हैं—

(१) अन्न पुण्य—भूखे को शुभ भावना पूर्वक भोजन देकर संतुष्ट करना।

(२) पान पुण्य—प्यासे की सद्भाव के साथ तृषा शांत करना।

(३) लयन पुण्य—स्थान प्रदान करना।

(४) शयन पुण्य—विश्राम हेतु शयन सामग्री देना।

(५) वस्त्र पुण्य—जरूरतमन्द को वस्त्र दान देना।

(६) मन पुण्य—मन से शुभ संकल्प करना, मन से दूसरों का हित चाहना।

---

१ स्थानांग सूत्र, स्थान ९

(७) वचन पुण्य—वचन से गुणीजनों का कीर्तन करना; हित, मित, प्रिय, तथ्य, सत्य और पथ्य वचन बोलना।

(८) काय पुण्य—शरीर का शुभ व्यवहार, दूसरों की सेवा करना, दूसरों का दुःख दूर करना, जीवों को सुख-शांति देना।

(९) नमस्कार पुण्य—बड़ों के प्रति आदर सत्कार और सभी के साथ विनम्रतापूर्ण मधुर व्यवहार करना।

पुण्य के यह सभी प्रकार नैतिक दृष्टि से शुभ हैं, इनका समाज, परिवार और पड़ौस पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, अन्य लोगों को भी नैतिक जीवन जीने की प्रेरणा प्राप्त होती है, नीति और नैतिकता का प्रसार होता है।

इस प्रकार जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित नव-तत्व योजना धर्म दर्शन की अपेक्षा तो महत्वपूर्ण है ही; नीति, नैतिक प्रगति, सदाचार तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सुख शांति पहुँचाने वाली है।

सम्यग्दर्शन का तो यह प्रमुख आधार ही है। इन तत्वों की यथार्थ श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। □

२

सम्यग्दर्शन का स्वरूप और नैतिक जीवन पर उसका प्रभाव

सम्यक्त्व की उत्पत्ति

जैन-दर्शन में सम्यक्त्व के दो रूप माने गये हैं—स्व-अपेक्षा और पर-अपेक्षा। 'स्व' का अभिप्राय आत्मा के अपने परिणाम और पर का अर्थ है—कर्म, कर्म की प्रकृतियाँ।

सम्यक्त्व का अवरोध करने वाली ७ कर्म प्रकृतियाँ हैं—(१—४) अनन्तानुबन्धी (अत्यन्त प्रगाढ़) क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रकृति और (५) मिथ्यात्वमोह, (६) सम्यग्मिथ्यात्व-मिश्रमोह और (७) सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व—सम्यक्त्वमोह। इन सात प्रकृतियों के (१) सर्वथा विनष्ट हो जाने (क्षय) (२) अथवा कुछ विनष्ट एवं कुछ उपशमित होने और (३) उपशमित हो जाने पर जीव को सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। दूसरे शब्दों में, तथ्य स्वरूप भावों के सद्भाव में भावपूर्वक श्रद्धा होती है।

सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण

सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण तीन शैलियों से किया गया है—

(क) निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व।[1]

---

१ (क) निसग्गसम्मद्दंसणे चेव अभिगमसम्मद्दंसणे चेव।
—स्थानांग सूत्र २, उद्देशक १ सूत्र ७०

(ख) तन्निसर्गादधिगमाद्वा। —तत्त्वार्थ सूत्र १/३

(ग) प्रज्ञापना, प्रथम पद, सूत्र ३७

(I) निसर्गज सम्यग्दर्शन—निसर्गज का अर्थ स्वभाव, प्रकृति अथवा पर-सहायनिरपेक्षता है। यह सम्यग्दर्शन पर की सहायता के बिना स्वयमेव ही आत्मा से स्फूर्त होता है। इसमें गुरु आदि के उपदेश, धर्मश्रवण, शास्त्र स्वाध्याय आदि किसी की भी अपेक्षा नहीं होती, व्यक्ति सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं करता। जिस प्रकार नदी प्रवाह में लुढ़कता हुआ पत्थर स्वयमेव ही गोल और चिकना हो जाता है, उसी प्रकार संसार में भटकते हुए जीव को परिणामों की सहज विशुद्धि के कारण अनायास ही इसकी उपलब्धि हो जाती है।

(II) अधिगमज सम्यक्त्व—यह गुरु आदि के उपदेश से जीव को उपलब्ध होता है, धर्मश्रवण, शास्त्र स्वाध्याय आदि भी निमित्त बन सकते हैं।

(ख) द्रव्य और भाव सम्यक्त्व

(I) द्रव्यसम्यक्त्व—विशुद्ध रूप में परिणत किये मिथ्यात्व के पुद्गल, द्रव्यसम्यक्त्व कहलाते हैं।

(II) भावसम्यक्त्व—उन पुद्गलों के निमित्त से होने वाली तत्व-श्रद्धा, भावसम्यक्त्व कहलाती है।[1]

(ग) निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन

(I) निश्चयसम्यग्दर्शन—आत्मा की शुद्ध रुचि निश्चयसम्यग्दर्शन है।[2] इसमें जीव और अजीव के भेदविज्ञान की प्रमुखता है। सम्यग्दर्शन का धारक जीव स्व-स्वरूप में रमण को मोक्ष का हेतु मानता है और पर-पदार्थों

---

१ प्रवचनसारोद्धार, द्वार, १४६ गाथा ६४२ टीका।

२ शुद्ध जीवास्तिकायरुचिरूपस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य।

—नियमसार गाथा ३ की पद्मप्रभ टीका

और भी देखें—

आत्ममात्ररुचिः सम्यग्दर्शनमोक्षहेतुकम्।
तद्विरुद्धमतिर्मिथ्यादर्शनं भवहेतुकम् ॥

एक मात्र आत्मभाव में रुचि ही सम्यग्दर्शन है और वही मोक्ष का हेतु है। इसके विपरीत भाव में—अनात्मभाव में रुचि मिथ्यादर्शन है और वह संसार परिभ्रमण का हेतु है।

—(अन्तर्नाद) अमर भारती, अगस्त ७२ पृ० १

में आसिक्त को बंधन। अतः उसके भीतर राग-द्वेष-मोह की वृत्तियाँ अल्प हो जाती हैं, देह में रहते हुए भी देहाध्यास छूट जाता है।

(II) व्यवहारसम्यग्दर्शन—नौ तत्व तथा देव-गुरु-धर्म का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन—व्यवहारसम्यग्दर्शन है।

रुचि की अपेक्षा दस विध वर्गीकरण

उत्तराध्ययन सूत्र[1] में रुचि की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के दस प्रकार बताये हैं—

(१) निसर्ग रुचि—स्वभाव से ही, परोपदेश के बिना, स्वयं के ही यथार्थ बोध से जीव, अजीव आदि तत्वों की श्रद्धा निसर्ग रुचि है।

अथवा जिन भगवान के दृष्ट एवं उपदिष्ट भावों में तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (इन चार निक्षेपों) से विशिष्ट पदार्थों के विषय में 'यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है' ऐसी जो स्वतः स्फूर्त श्रद्धा है, वह निसर्ग रुचि है।

(२) उपदेशरुचि—अरिहन्त भगवान तथा आचार्य, मुनि आदि के उपदेश से होने वाली तत्व श्रद्धा रूप रुचि, उपदेश रुचि है।

(३) आज्ञा रुचि—जिनके राग-द्वेष, मोह और अज्ञान नष्ट हो गये हैं ऐसे जिनेश्वरदेव की आज्ञा से उनमें रुचि रखना।

(४) सूत्र रुचि—अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत के अवगाहन से होने वाली तत्वश्रद्धारूप रुचि।

(५) बीज रुचि—जैसे जल की सतह पर तेल की बूंद फैल जाती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के एक पद के तत्व बोध से अनेक पदों में फैल जाने वाली तत्व श्रद्धा रूप रुचि, बीज रुचि है।

(६) अभिगम रुचि—अभिगम अथवा अधिगम का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान, उसके निमित्त से तत्व श्रद्धा रूप रुचि अभिगम रुचि कहलाती है।

अंग, उपांग, प्रकीर्णक तथा आगमानुसारी ग्रंथों का अध्ययन करने से रुचि अथवा श्रद्धा का उत्पन्न होना अभिगम रुचि है।

(७) विस्तार रुचि—प्रमाण और नयों से द्रव्यों तथा भावों को जानने से उत्पन्न हुई तत्वश्रद्धा रूप रुचि, विस्तार रुचि है।

(८) क्रियारुचि—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय आदि के अनुष्ठानों में भाव से रुचि उत्पन्न होना, क्रिया रुचि है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २८/१६—२७

(९) संक्षेप रुचि—जो आर्हत प्रवचन में प्रवीण नहीं है, साथ ही जिस ने अयथार्थ दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं किया, कदाग्रही भी नहीं है, अल्प-बोध से ही जो जीवादि तत्वों पर श्रद्धा रखता है, ऐसे व्यक्ति की श्रद्धा संक्षेप रुचि है। अथवा अल्पज्ञान से ही तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा रखना संक्षेप रुचि है।

(१०) धर्म रुचि—वीतराग भगवान द्वारा कहे हुए अस्तिकाय—छह द्रव्य के गुणधर्म तथा श्रुत और चारित्र धर्म में श्रद्धा करना धर्मरुचि है।

सम्यक्त्व का पंचविध वर्गीकरण

सम्यक्त्व का पाँच प्रकार से वर्गीकरण कर्म प्रकृतियों के आधार पर किया गया है। इनमें कर्म प्रकृतियों के क्षय, उपशम, क्षयोपशम आदि की अपेक्षा से सम्यक्त्व का विचार प्रस्तुत हुआ है।

(१) क्षायिक सम्यक्त्व—इस सम्यक्त्व की उपलब्धि उपर्युक्त वर्णित ७ कर्म प्रकृतियों (१-४) अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ (५) मिथ्यात्व, (६) सम्यक्मिथ्यात्व तथा (७) सम्यक्त्वमोह के संपूर्ण रूप से क्षय—नष्ट हो जाने पर होती है।

ऐसा सम्यग्दर्शन चिरस्थायी होता है, एक बार उत्पन्न हो जाने पर फिर कभी नष्ट नहीं होता और जीव अधिक से अधिक ३ अथवा ४ जन्म धारण करके मुक्त हो जाता है।

(२) औपशमिक सम्यक्त्व—इस सम्यक्त्व की उपलब्धि उपर्युक्त ७ कर्म प्रकृतियों के उपशम से होती है।

उपशम का अर्थ है, नीचे दब जाना; जैसे मिट्टी मिले पानी से भरे गिलास को यदि किसी स्थान पर स्थिर रखा जाय तो मिट्टी गिलास की तली में बैठ जाती है, और पानी स्वच्छ नजर आता है, और फिर जरा सा धक्का लगते ही मिट्टी उभर आती है तथा संपूर्ण पानी पुनः गंदला हो जाता है, वही स्थिति इस सम्यक्त्व की है; जब तक सातों कर्म प्रकृतियाँ उपशांत रहती है, तब तक तो सम्यक्त्व गुण प्रगट रहता है और जैसे ही कर्म प्रकृतियाँ उभरती हैं, सम्यक्त्व गुण भी मलिन होकर विलीन हो जाता है।

इस सम्यक्त्व का अधिक से अधिक समय (कालमान) ४८ मिनट है। उसके उपरान्त या तो जीव पतित होकर मिथ्यात्वी (अयथार्थ श्रद्धा वाला)

हो जाता है, अथवा मिश्रित श्रद्धा वाला (कुछ यथार्थ और कुछ अयथार्थ श्रद्धा) या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी बन जाता है।

(३) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—जीव जिस समय उपर्युक्त ७ कर्म प्रकृतियों में से चार, पांच, छह का क्षय करे और सम्यक्त्वमोह का उपशम करता है, उस समय जो सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। इस सम्यक्त्व का अधिक से अधिक समय छियासठ (६६) सागर है।

(४) सास्वादन सम्यक्त्व—जिस समय औपशमिक सम्यक्त्व से जीव के भाव पतनोन्मुखी होते हैं, वह मिथ्यात्व गुणस्थान (मिथ्या दृष्टिकोण) की ओर गिरता है, इस पतन की अवस्था में जो सम्यक्त्व गुण अवशिष्ट रहता है, सम्यक्त्व का आस्वाद जीव को आता है, उसे सास्वादन सम्यक्त्व कहा जाता है।

(५) वेदक सम्यक्त्व—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से ऊपर उठकर जीव जब क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अग्रसर होता है, उस काल में सम्यक्त्वमोह के दलिकों (सूक्ष्म अंश) का वेदन करके उनका क्षय करता है, उस वेदन की अपेक्षा इस सम्यक्त्व को वेदक सम्यक्त्व कहा गया है। इसके उपरान्त जीव निश्चित रूप से क्षायिक सम्यक्त्वी बन जाता है।

सास्वादन और वेदक—यह दोनों मध्य की अवस्थाएँ कही जा सकती हैं। सास्वादन सम्यक्त्व पतनोन्मुखी है और वेदक सम्यक्त्व उन्नतोन्मुखी। इन दोनों सम्यक्त्वों का काल भी अत्यल्प है।

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की रुचियों तथा प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है।

(१) कारक सम्यक्त्व—इस सम्यक्त्व (यथार्थ—सत्य दृष्टि) की प्राप्ति के साथ ही जीव सदाचरण (सम्यक्चारित्र) की ओर उद्यत हो जाते हैं। कारक का अर्थ है कर्ता, सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक्चारित्र की ओर स्वयं प्रवृत्त होने वाला तथा अन्यों को प्रेरित करने वाला सम्यग्दर्शी।

(२) रोचक सम्यक्त्व—इस सम्यक्त्व का धारक आत्मा सम्यग् तत्वबोध के प्रति रुचि व जिज्ञासा रखता है, वह चाहे प्रवृत्ति न करें किन्तु तत्व ज्ञान की रुचि जरूर रखता है।

(३) दीपक सम्यक्त्व—ऐसा व्यक्ति दूसरों को तत्वबोध और सदा-

चरण की प्रेरणा देकर इनके कल्याण में निमित्त तो बन जाता है किन्तु स्वयं अपना कल्याण नहीं कर पाता। सम्यक्त्व की प्रभावना करना ही इसका लक्षण है।

यद्यपि सम्यक्त्व प्रत्यय ही नीति का आधार और प्रेरणाबिन्दु है; किन्तु कारक, रोचक और दीपक—इन तीन प्रकार के सम्यक्त्वों का नीति से सीधा सम्बन्ध है।

कारक सम्यक्त्व वाले मानव पूर्णरूप से नैतिक होते हैं, इनका दृष्टिकोण भी यथार्थ होता है, ये शुभ और अशुभ को जानते हैं तथा शुभ का आचरण भी करते हैं।

रोचक सम्यक्त्व वाले मानव यथार्थ को जानते हुए भी शुभ का आचरण नहीं कर पाते, उनकी अपनी मानसिक दुर्बलताएँ इतनी प्रबल होती हैं जो नैतिकतापूर्ण व्यवहार करने ही नहीं देतीं। ऐसे मानवों का आचरण उनके निजी स्वार्थ के कारण अनैतिक भी हो जाता है। अतः इन व्यक्तियों को अनैतिक कहा जा सकता है, यह अशुभ का आचरण करते हैं।

दीपक सम्यक्त्व ऐसे व्यक्तियों का उदाहरण पेश करता है जो दूसरों को तो उपदेश देते हैं, नीति और सदाचार की प्रेरणा देते हैं, लेकिन स्वयं सदाचरण का पालन नहीं कर सकते।

सन्त तुलसीदासजी के शब्दों में—पर उपदेश कुशल बहुतेरे,
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण

किसी व्यक्ति को सम्यक्त्व है या नहीं, इसकी पहचान के लिए कुछ बाह्य लक्षण बताये गये हैं। नीतिशास्त्र की दृष्टि से, यह भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति की आन्तरिक नैतिकता उसके बाह्य व्यवहार एवं आचरण में प्रगट होती है। उसी को दृष्टि में रखते हुए अन्य व्यक्ति उसके नैतिक होने अथवा न होने का निर्णय करते हैं।

आध्यात्मिक विज्ञान का अटल सिद्धान्त है कि आन्तरिक भावनाओं का बाह्य जीवन में प्रगटीकरण होता ही है। मनोविज्ञान भी इस सिद्धान्त से सहमत है। उसकी मान्यता है कि हृदयगत गुप्त मनोभाव व्यक्ति के जीवन व्यवहार में किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं।

जैन आगमों में सम्यक्त्व के पांच बाह्य लक्षण बताये हैं।

(१) सम—प्राकृत के 'सम' शब्द के संस्कृत भाषाविदों ने तीन रूप

माने हैं—सम, शम और श्रम। तथ्यतः प्राकृत का 'सम' शब्द इन तीनों शब्दों के अर्थ को अपने अन्दर समाए हुए है।

'सम' समानता अर्थ का द्योतक है। इसका अभिप्राय है—प्राणिमात्र को अपने समान समझना। जैन शास्त्रों में कहा गया है—अप्प समे मनिज्ज छप्पिकाए (सभी जीवों को अपने समान समझना) इसी भावना को उपनिषदकारों ने 'आत्मतुल्य सर्वभूतेषु' शब्दों में व्यक्त किया है।

सम्यक्त्वी मानव, चूंकि जीव आदि तत्वों का स्वरूप भलीभाँति हृदयंगम कर लेता है, अतः उसकी निश्चित धारणा बन जाती है कि जैसी मेरी आत्मा है, वैसी ही कीट-पतंगों, वृक्षों आदि में भी है। अतः वह किसी भी जीव को तनिक भी दुःखी करने की भावना नहीं रखना।

'शम' का वाच्यार्थ शमन है। यहां इसका अर्थ क्रोध, मान, आदि कषायों तथा लोभ संग्रह वृत्ति रूप वासनाओं की उपशांति है।

'श्रम' का अभिप्राय मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने का श्रम अथवा प्रयास करना, इस ओर उद्यम करना।

नीतिशास्त्र की दृष्टि से नैतिक व्यक्ति में यह तीनों गुण आवश्यक हैं। यदि वह सभी प्राणियों को अपने समान न मानेगा तो अन्य लोगों के प्रति अनैतिकता का क्रूर आचरण करने में भी न चूकेगा। शोषण, हिंसा, आदि अनैतिक प्रवृत्तियों का मूल कारण समानता की भावना में कमी ही है।

साथ ही जो व्यक्ति हानि-लाभ, सुख-दुःख अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में मानसिक संतुलन न बनाये रख सकेगा, वह असंतुलित दशा में अनैतिकतापूर्ण आचरण करने लगे, इस बात की भी बहुत संभावना है।

कषायों और वासनाओं के आवेग तो अनैतिक आचरण के मूल प्रेरक ही हैं। जो व्यक्ति अपनी आत्मोन्नति के लिए श्रम करेगा, वह अनैतिक आचरण कर ही नहीं सकता, क्योंकि अनैतिक आचरण से आत्मा पतित होती है।

(२) संवेग—सामान्यतः संवेग शब्द का अर्थ अनुभूति होता है। इस रूप में इसका अर्थ होगा—आत्मानुभूति, स्वानुभूति।

जैन दर्शन में इसका अर्थ मोक्ष की तीव्र आकांक्षा है। इस तीव्र इच्छा से व्यक्ति अयथार्थता, कषाय आदि को क्षय करके मुक्ति की ओर बढ़ता चला जाता है।[1]

नीति के दृष्टिकोण से संवेग को सत्य की अभीप्सा के रूप में लिया

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २९/२

सकता है। सत्य नीति का प्रमुख प्रत्यय और विषय है। सत्य के अभाव में नैतिकता की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

(३) निर्वेद—शब्द शास्त्र की दृष्टि से निर्वेद का अर्थ—वासना-हीनता है। यहाँ वासना का व्यापक अर्थ अपेक्षित है। वासना अर्थात् तीव्र इच्छा संसार की, सांसारिक विषय भोगों की। और निर्वेद उसी सांसारिक वासना को अल्प, अल्पतम करने की वृत्ति है।

निर्वेद से जीव काम-भोगों से विरक्त, उदासीन होता है, आरंभ-परिग्रह का त्याग (अथवा अत्यल्प) करता है और अपने दृढ़ कदम मुक्ति मार्ग की ओर बढ़ाता है।[1]

नीतिशास्त्र की अपेक्षा निर्वेद से अनासक्ति अर्थ ग्रहण करना अधिक उचित है। अनासक्ति—काम-भोगों से, सांसारिक सुखों से। जब व्यक्ति इन भौतिक सुखों के प्रति अनासक्त होकर फलाकांक्षा के बिना सत्कर्म करेगा तभी वह नैतिकता की ओर अग्रसर होगा; क्योंकि आसक्ति या फलाकांक्षा तो नैतिकता को ही बढ़ावा देने वाली है।

(४) अनुकम्पा—अनुकम्पा का अभिप्राय किसी दुःखी, पीड़ित, अभावग्रस्त प्राणी की पीड़ा से अपना हृदय कम्पित हो जाना, उसके दुःख की अनुभूति अपने मन में करना है। इसका परिणाम दया के रूप में सामने आता है। दया यानी उस प्राणी के अभाव, दुःख व पीड़ा को मिटाने की भावना और तदनुसार क्रिया करना।

अनुकम्पा अथवा दया का नैतिक जीवन में प्रमुख स्थान है जो अन्य व्यक्तियों के दुःख से द्रवित नहीं होगा, वह उनके दुःख को मिटाने का प्रयास भी नहीं करेगा। और ऐसा प्रयास न करना पहले दर्जे की अनैतिकता है। एक मनीषी के शब्दों में—नीति का हार्द ही है—जीव मात्र का विपत्ति से रक्षण करना, मनुष्य का सर्व प्रधान कर्तव्य है। और कर्तव्य का नीति में कितना स्थान है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं है।

(५) आस्तिक्य—जैन विचारणा के अनुसार लोक-परलोक, पुनर्जन्म, कर्मसिद्धान्त, आत्मवाद, अस्तिकाय, नव तत्व आदि के स्वरूप में दृढ़ आस्था अथवा विश्वास आस्तिक्य है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २९/३

नीति की दृष्टि से लोकवाद, पुनर्जन्म आदि सभी सिद्धान्त काफी महत्वपूर्ण हैं, ये नीति के प्रत्यय भी हैं। कर्मवाद यानी कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा, यह धारणा मानव को नैतिक बनाये रखती है। इसके विपरीत यदि उसे विश्वास हो जाय कि कर्म के फलभोग को नहीं भोगना पड़ेगा तो उसे नैतिक आचरण की ओर प्रेरित करने वाला कोई सबल प्रेरक ही नहीं रहेगा।

अतः यह स्पष्ट है कि सम्यक्त्व के यह पांचों लक्षण नैतिक आचरण के भी सबल प्रेरक हैं और नीति में इनका विशिष्ट महत्व है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

जिस प्रकार मानव शरीर के आठ प्रमुख अंग होते हैं और वह इनकी प्रमाणोपेतता, सुन्दरता और सुगठितता से सुशोभित होता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भी आठ प्रमुख अंग हैं और वह इनसे सुशोभित होता है। इन आठ अंगों को आचार भी कहा गया है और दर्शनाचार के रूप में ग्रंथों में वर्णित किये गये हैं।

इन आठ अंगों के नाम हैं—(१) निःशंकता (२) निष्कांक्षता (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढ़दृष्टित्व (५) उपबृंहण (६) स्थिरीकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।[1]

इन आठों अंगों का परिपालन करना सम्यग्दर्शन की विशुद्धि और उसके संवर्द्धन के लिए अति आवश्यक है।

---

१ (क) निस्संकिय—निक्कंखिय—निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूहण—थिरीकरणे—वच्छल्ल—पभावणे अट्ठ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र, २८/३१

(ख) प्रज्ञापनासूत्र, पद १

(ग) णिस्संकिद णिक्कंखिद—णिव्विगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ॥
—मूलाचार २०१

और भी देखें—सर्वार्थसिद्धि ६/२४, राजवार्तिक ६/२४, वसुनन्दी श्रावकाचार ४८, पंचाशक (उत्तरार्ध) ४७६-८०, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार सर्ग ४, श्लोक ३२ से ६१ तक, रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ११-१८ आदि

(१) निःशंकता—शंका[1] अथवा संशयशीलता का एक ही अभिप्राय है—संदेह। धर्म अधर्म आदि जो सत्य तत्त्व हैं, उन तत्त्वों के स्वरूप एवं फल में शंका न करना, उन पर दृढ़ आस्था रखना निःशंकित अंग है।

कुछ आचार्यों ने शंका का अर्थ भयवाची मानकर निःशंकता का अर्थ निर्भयता स्वीकार किया है। और एक आचार्य ने सन्देहरहितता तथा निर्भयता—दोनों का ही निशंकित अंग में समन्वय कर लिया है।

नीति की दृष्टि से निर्भयता और निःसंशयशीलता—दोनों ही नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। संशय तो सर्व कार्यविराधक है ही। गीता के शब्दों में संशयात्मा विनश्यति—संशयशील व्यक्ति विनष्ट हो जाता है, दूसरे शब्दों में उसके सभी सद्गुण समाप्त हो जाते हैं। संशयशील व्यक्ति चाहे जितना ऊंचा चिन्तक/विचारक हो, अन्त में उसका पतन होता है।

इसी प्रकार नैतिक आचरण के लिए निर्भयता भी आवश्यक है। अनेक व्यक्ति जीवन के भय से अनैतिक आचरण करते हैं तो बहुत से मरण तथा वेदना-पीड़ा के भय से। आजीविका के भय से तो अनैतिकता की प्रवृत्ति आज सामान्य बात हो गई है। फिर अत्राणभय से भयभीत मानव धन संग्रह में त्राण मानता है और अनैतिक साधनों से तथा शोषण आदि अनैतिक आचरण से धन एकत्र करता है।

अतः नैतिक आचरण के लिए व्यक्ति को शंका रहित तथा साथ ही निर्भय भी होना आवश्यक है।

(२) निष्कांक्षता—अपनी आत्मा के शुद्ध परमात्मरूप आनन्दस्वरूप में लीन रहना तथा परभाव की आकांक्षा न करना, निष्कांक्षता है।

---

१ (क) तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहि पवेदित। —आचारांग १/५/५/१६३

(ख) शका का अर्थ आचार्य कुन्दकुन्द ने भय किया है। देखें—

सम्मदिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥

—समयसार, गाथा २२८

(ग) श्रुतसागर सूरि ने दोनों ही अर्थ स्वीकार किये हैं—

तत्रशंका—यथा निर्ग्रन्थानां मुक्तिरुक्ता तथा सग्रंथानामपिगृहस्थादीनां किं मुक्तिर्भवतिइति शंका। अथवा भय प्रकृतिः शंका।

—तत्वार्थ ७/२३ वृत्ति

(घ) मूलाचार २/५२-५३

जप-तप आदि धर्मक्रियाओं से लौकिक सुखों की प्राप्ति की इच्छा को भी कांक्षा[1] कहा गया है, ऐसी कांक्षा न करना, निष्कांक्षा है। अथवा अन्य एकान्तिक[2] मिथ्यावादियों के विलासमय जीवन को देखकर भी उनकी ओर आकर्षित न होना, उस मत को ग्रहण करने की मन से भी इच्छा न करना निष्कांक्षता है।

कांक्षा, जिस व्यक्ति की प्रबल होती है, उसे नैतिक जीवन जीने में कठिनाई आती है, कांक्षाएँ उसे अनैतिक आचरण के लिए प्रेरित करती हैं? और निष्कांक्ष व्यक्ति सात्विक/नैतिक जीवन सरलता से जी लेता है।

सूत्रकृतांग में कहा गया है—

से हु चक्खु मणुस्साणं जे कंखाए अन्तए।

—जिसने कांक्षाओं का अन्त कर दिया, वह मनुष्यों के लिए नेत्र के समान पथ प्रदर्शक है।

निष्कांक्षता गुण को धारण करने वाला स्वयं तो नैतिक प्रगति करता ही है, अन्य लोगों के लिए भी वह प्रेरणा-प्रदीप बन जाता है।

(२) निर्विचिकित्सा—चिकित्सा शब्द के दो अर्थ होते हैं—(१) धर्म-करणी के फल में सन्देह और (२) घृणा का भाव। अतः निर्विचिकित्सा का अभिप्राय है—अपनी धर्मकरणी के फल में सन्देह न करना और साथ ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना में लीन रहने वाले तपस्वी साधकों के मलिन वेश तथा देह से घृणा न करना।

नीति के अनुसार किसी से भी घृणा करना अनैतिक प्रत्यय है और सन्देह तो अनैतिकता है ही।

अंग्रेजी में कहावत है—Hate begets hate (घृणा, घृणा को जन्म देती है)। वस्तुतः घृणा ऐसा मानसिक छूत का रोग है जो बड़ी तीव्र गति से फैलता है। एक व्यक्ति दूसरे से घृणा करता है, दूसरा तीसरे से, इस तरह यह चक्र फैलता ही जाता है और सारे मानव समाज में व्याप्त हो जाता है और इस कुप्रवृत्ति से मानव षड्यन्त्रों, दुरभिसन्धियों के जाल में फँस जाता है, उसका नैतिक पतन हो जाता है।

घृणा से कितने संघर्ष और युद्ध हुए, अनेक उन्नत संस्कृतियाँ रसातल को चली गईं, मानव इतिहास इसका बोलता प्रमाण है।

---

१ रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १२

२ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २३

(४) अमूढ़दृष्टित्व—मूढ़ता का अर्थ—अज्ञान, भ्रम, मिथ्या, विपर्यास है और दृष्टि का अर्थ है विश्वास। अमूढ़दृष्टित्व का अभिप्राय हुआ—ऐसा गुण जिसमें भ्रम तथा विपरीतता न हो।

दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे।[1]

—सम्यग्दृष्टि सदा अमूढ़ रहता है,वह कभी मूढ़ताओं के चक्कर में नहीं फँसता।

मूढ़ताएँ कई हैं, उनका स्वरूप जानना उपयोगी होगा।

(१) देवमूढ़ता (रागी-द्वेषी देवों की उपासना), (२) लोकमूढ़ता (नदी स्नान आदि से आत्मशुद्धि मानना) (३) समयमूढ़ता (शास्त्र व धर्म के विषय में भ्रान्त धारणा) (४) गुरुमूढ़ता (निन्द्य आचरण वाले पाखंडी साधुओं को साधु मानना (५) समाजमूढ़ता (समाज में प्रचलित अनर्गल रूढ़ियों को धर्मानुमोदित परम्परा के रूप में स्वीकार करना)

इसी प्रकार और भी हजारों प्रकार की मूढ़तायें हो सकती हैं।

सम्यक्त्वी इन मूढ़ताओं के चक्कर में नहीं फँसता, इसका कारण यह है कि उसका विवेक जागृत रहता है, वह धर्म-अधर्म, देव-कुदेव, शास्त्र-कुशास्त्र, गुरु-कुगुरु आदि के भेद को भलीभाँति समझता है और सुधर्म, देव आदि को स्वीकार करने में निर्भय वृत्ति वाला होता है।

नैतिक दृष्टि से भी मूढ़ता हेय है। मूढ़ व्यक्ति नैतिक और अनैतिक के भेद के विषय में भ्रमित रहता है, स्पष्ट निर्णय नहीं कर पाता तो इससे नैतिक आचरण की आशा भी नहीं की जा सकती। ऐसे व्यक्ति तो गतानुगतिक प्रवाह में बहने वाले होते हैं। वे अपने आचरण को नीति की दृष्टि से समीक्षा करने में सक्षम नहीं होते।

(५) उपबृंहण—प्राकृत के 'उवऊह' शब्द का संस्कृत रूप है उपबृंहण। इसका अर्थ वृद्धि करना अथवा पोषण करना है। सम्यक्त्व के अंग के रूप में इसका अर्थ है अपने सद्गुणों में वृद्धि करना तथा सम्यक्-चारित्र का—सदाचार का पालन करने वाले गुणीजनों की प्रशंसा करके उनके चरित्रपालन में सहयोग देना।

इसमें एक अर्थ और भी सन्निहित है, वह है ढाँकना, छिपाना। इस

---

१ दशवैकालिक सूत्र १०/७

रूप में उपगूहन शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका आशय है—अन्य लोगों के दुर्गुणों को चर्चा का विषय न बनाना।

नीति में इन दोनों ही आशयों का महत्व है। सद्गुणों की प्रशंसा करने से समाज में उनका प्रसार होगा, समाज नैतिक बनेगा तथा किसी को उसकी भूल अकेले में बताई जाय तो वह सुधार भी लेगा और यदि ढिंढोरा पीटकर उसे बदनाम कर दिया जाय तो वह हठाग्रही बन जायेगा, उसके सुधार की आशा ही समाप्त हो जायेगी।

अतः नीति के प्रसार के लिए सद्गुणों की प्रशंसा जितनी आवश्यक है उतनी ही आवश्यकता है दूसरों की भूलों अथवा दोषों का ढिंढोरा न पीटने की। दूसरों की निंदा करने की वृत्ति समाजघाती है। अतः इन दोनों ही प्रवृत्तियों से व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में नैतिकता का प्रवेश होता है।

(६) स्थिरीकरण—स्थिरीकरण का अभिप्राय है—विचलित होते हुए को पुनः स्थिर करना।

स्व की अपेक्षा अपनी आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म से विचलित होने पर पुनः रत्नत्रयरूप धर्म में—आत्मभावों में स्थिर करना। इसे निश्चय अथवा स्वलक्ष्यी दृष्टि कहा जाता है।

व्यवहार अथवा पर की अपेक्षा से अन्य व्यक्तियों को, जो किसी कारणवश धर्म से विचलित हो रहे हैं, पुनः धर्ममार्ग में स्थिर करना, उन्हें उचित और जैसी अपेक्षा हो, सहयोग देना।

साधु को तो सम्यक्त्वी श्रावक वचनों द्वारा सहयोग दे सकता है अथवा संयम के लिए उपयोगी वस्तुओं का अभाव हो तो उनकी पूर्ति कर सकता है।

किन्तु गृहस्थ श्रावक की अनेक समस्याएँ हो सकती हैं; जैसे—निर्धनता, असहायता, रोगग्रस्तता, अन्यतीर्थिकों द्वारा फुसलाया जाना, प्रलोभन आदि। यह भी हो सकता है कि उनके वैभव और ऐश्वर्यमय जीवन से वह व्यक्ति स्वयं ही आकर्षित होकर स्वधर्म से च्युत हो रहा हो।

इस दशा में सम्यक्त्वी श्रावक का कर्तव्य है कि धन से, सेवा से, शब्दों से अथवा जिस किसी प्रकार से संभव हो, उसकी सहायता तथा सहयोग करके दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म में पुनः स्थिर करे।

नीति के अनुसार स्थिरीकरण के दोनों ही रूपों का महत्व है। व्यक्ति

का कर्तव्य है कि आवेगों-संवेगों से अपनी आत्मा और मानसिक वृत्तियों को उद्वेलित न होने दे, मस्तिष्कीय संतुलन बनाये रखे। यदि मस्तिष्क का संतुलन न रहा तो वह कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय न कर सकेगा और परिणामस्वरूप अनैतिक आचरण भी कर सकता है।

व्यक्ति अकेला नहीं है, उसका संपूर्ण जीवन-व्यवहार समाज सापेक्ष है। यदि समाज के अन्य व्यक्ति अनैतिक आचरणों में प्रवृत्त हो जायेंगे तो वह स्वयं भी नैतिक रहने में सक्षम न हो सकेगा। अतः सहयोग देकर अन्य व्यक्तियों को नैतिक बनाये रखना उसका नैतिक कर्तव्य है। इसी नैतिक कर्तव्य की ओर 'स्थिरीकरण' द्वारा संकेत किया गया है।

(७) वात्सल्य—वात्सल्य 'वत्स' शब्द से बना है। वत्स का अर्थ होता है पुत्र-प्रेम। माता-पिता, जिस प्रकार प्रतिफल की इच्छा किये बिना अपने पुत्र से विशुद्ध प्रेम करते हैं, संकटों-रोगों से उसकी रक्षा करते हैं, उसके हित के लिए सचेष्ट रहते हैं, उसके जीवन-निर्माण के लिए अपने सुखों का त्याग करते हैं, धन का व्यय करते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्वी श्रावक भी अपने साधर्मी बन्धुओं के हित आदि में सचेष्ट रहे।

सम्यक्त्वी श्रावक का वात्सल्य भाव बहुत विस्तृत होता है,वह संसार के सम्पूर्ण प्राणियों की हित-कामना करता है, सभी को सुखी देखना चाहता है। उसका यह गुण विश्वमैत्री का सूचक है। उसके हार्दिक उद्‌गार इन शब्दों में व्यक्त होते हैं—मित्ती से सव्वभूएसु[1] मेरा संसार के सभी जीवों —प्राणियों के साथ मैत्री भाव है।

मैत्री का भाव नैतिकता का आदर्श है। यह वैर-विरोध, संघर्ष आदि का शमन करके सुख-शांति की सरिता प्रवाहित करने में सक्षम होता है।

(८) प्रभावना—प्रभावना का अभिप्राय है—ऐसे कार्य करना जिससे धर्म संघ की उन्नति हो, महिमा बढ़े, कीर्ति का प्रसार हो, तथा समाज के अन्य व्यक्ति भी धर्म-मार्ग से प्रभावित हों, धर्म-पालन के लिए प्रेरित हों।

ऐसी प्रभावना कई प्रकार से की जा सकती है। जैन परम्परा में ८ प्रकार के प्रभावक माने गये हैं—१ प्रावचनिक २ धर्मकथिक ३ वादी ४ नैमित्तिक ५ तपस्वी ६ विद्यासिद्ध ७ रसादिसिद्ध और ८ कवि।

वास्तव में धार्मिक व्यक्ति का जीवन सुगन्धित सुमन के समान होता

---

१ आवश्यक सूत्र

है जो अपनी सौरभ से स्वयं तो महकता ही है, अन्य लोगों का जीवन भी सुगन्धित कर देता है।

नैतिक जीवन में यह सभी गुण विशिष्ट भूमिका अदा करते हैं, इन को धारण करने से नैतिक जीवन में चमक आती है, नैतिकता की प्रगति होती है, सद्गुणों का विकास होता है, जीवन सुखी होता है।

सम्यक्त्व के अतिचार

अतिचार का अर्थ है दोष; ऐसा दोष जो सामान्य हो, मामूली हो तथा भूल से लग जाय। सम्यक्त्व के ऐसे ५ अतिचार हैं—१ शंका, २ कांक्षा ३ विचिकित्सा, ४ मिथ्यादृष्टिप्रशंसा ५ मिथ्यादृष्टिसंस्तव[1]।

इन पांचों अतिचारों को सम्यक्त्व का मल भी कहा गया है। मल का अभिप्राय है जो सिर्फ मलिन करे, नष्ट न करे; जिस प्रकार वस्त्र पर लगा मल वस्त्र को सिर्फ मलिन ही करता है, उसे नष्ट नहीं करता; उसी प्रकार अतिचारों से भी सम्यक्त्व में सिर्फ मलिनता ही आती है, वह नष्ट नहीं होता। फिर भी ये अतिचार सिर्फ जानने योग्य है, आचरण करने योग्य नहीं है।[2]

इनमें से शंका, कांक्षा और विचिकित्सा—यह तीन अतिचार तो उपरिवर्णित सम्यक्त्व के आठ अंगों में से प्रथम तीन अंग निश्शंकिता, निष्कांक्षता और निर्विचिकित्सा के विरोधी हैं। जो स्वरूप अंगों का बताया गया है, उससे विपरीत इन दूषणों का स्वरूप होता है।

इनके अतिरिक्त मिथ्यादृष्टिप्रशंसा और मिथ्यादृष्टिसंस्तव मूढ़ता के परिणाम हैं। प्रशंसा का अर्थ मानसिक श्लाघा तथा संस्तव का अर्थ

---

१ (क) शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा सम्यग्दृष्टेरतिचाराः।
—तत्वार्थसूत्र ७/१८

(ख) संका, कंखा, विदिगिछा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवा।
—प्रतिक्रमण सूत्र, उपासक दशांग १/७

[नोट—परपाखंड, अन्यदृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि—तीनों शब्दों का अभिप्राय समान है। यहाँ मिथ्यादृष्टि शब्द नीति की अपेक्षा 'अयथार्थ दृष्टि-कोण' अभिधेयार्थ की अपेक्षा करके रखा गया है। —लेखक]

२ जाणियव्वा न समायरियव्वा। —प्रतिक्रमण सूत्र

वचन द्वारा उनके विद्यमान अथवा अविद्यमान गुणों का उत्कीर्तन अथवा स्तुति है।[1] संस्तव का एक अर्थ परिचय भी है।[2]

इन दोनों अतिचारों का अभिप्राय है—परपाखंडियों की न प्रशंसा करनी योग्य है और न उनका अति परिचय ही करना चाहिए।

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा का अनैतिकत्व तो सम्यक्त्व के प्रथम तीन अंगों के सन्दर्भ में बताया जा चुका है। मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा, तथा अतिपरिचय भी अनैतिक ही है।

अयथार्थ दृष्टिकोण ही मिथ्यादृष्टि है। जिन व्यक्तियों का दृष्टिकोण जीवन, समाज तथा कर्तव्याकर्तव्य के बारे में यथार्थ नहीं होता, जो समाज एवं देश-काल की परिस्थितियों का यथार्थ मूल्यांकन नहीं कर पाते, अपने स्वार्थ को ही प्रधान मानते हैं, ऐसे व्यक्ति चाहे धर्म के, समाज के, राज्य के कितने भी उच्च पदों पर आसीन क्यों न हों, उनकी प्रशंसा करने का परिणाम घातक ही होता है, आतंक, संघर्ष, विप्लव, हिंसा जैसी घोर अनैतिकताओं को ही जन्म देता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

इसी प्रकार अयथार्थ दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों का अति-परिचय भी हानिकारक होता है। नीति का ही एक वाक्य है—संसर्गजाः दोष गुणा भवन्ति संसर्ग अथवा संगति से गुण भी दोष बन जाते हैं। फल यह होता है कि यथार्थदृष्टि वाले मानवों की उचित दृष्टि भी संगति के दोष से प्रभावित होकर मलिन हो जाती है।

उपसंहार

जैन विचारणा में सम्यक्त्व को चिन्तामणि रत्न से भी अधिक मूल्यवान कहा गया है। यह आत्मा की ज्योति है, आत्म-ज्योति को प्रगट करने वाला है, आत्म शक्ति को अभिव्यक्ति प्रदान करता है, समता की मुद्रा है, भव-परम्परा का उच्छेद करता है। इसका सबसे बड़ा गुण है मानसिक तथा भावनात्मक अन्धकार को विनष्ट करके सद् ज्ञान का आलोक जगाना।

---

१ मिथ्यादृष्टीनां मनसा ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, विद्यमानानामविद्यमानां मिथ्यादृष्टि गुणानां वचनेन प्रकटनं संस्तव उच्यते।

—तत्वार्थसूत्र श्रुत सागरीया वृत्ति ७/२३

२ तैर्मिथ्यादृष्टिभिरेकत्र संवासात्परस्परान्नपानादि जनितः परिचयः संस्तवः।

—योगशास्त्र २/१७ वृत्ति, पत्र ६७

अन्धकार आत्मा को, आत्मिक शक्तियों को, आत्मिक सद्गुणों को तिरोहित करता है, बुद्धि को मलिन करता है, हृदय को क्रूर और कठोर बनाता है और इन सबका व्यावहारिक परिणाम होता है, दुराचरण तथा अनैतिक आचरण। मानव मन से, वचन से,शारीरिक चेष्टाओं से अनैतिक बन जाता है।

नीति की अपेक्षा से सम्यक्त्व इसी अन्धकार को नष्ट करने के लिए सहस्ररश्मि दिनकर के समान तेजपुंज है। यह यथार्थ दृष्टिकोण की आत्म-ज्योति को प्रगट करता है, उद्दीप्त करता है और संपूर्ण जीवन-व्यवहार में चमक भर देता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से यह मुक्ति का अधिकार पत्र है तो नैतिक दृष्टि से नीतिपूर्ण जीवन का आधार भी है। यह आध्यात्मिक नैतिक जीवन का प्राण है इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व जीवन दृष्टि है, जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण है, विचारणा की एक निश्चित गति है, जिससे आचार में प्रगति होती है।

वैचारिक और आचार सम्बन्धी गति-प्रगति का आधार है—अनासक्ति और समत्व भाव है—राग-द्वेष आदि की अल्पता, अहं-मम तथा मेरे-तेरे की भावना का विसर्जन, कषायों का उपशमन, चित की वृत्तियों का शोधन, लालसाओं का परिसीमन।

यह सब सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दर्शन के प्रभाव से होता है, वही एक ऐसी जीवन दृष्टि देता है जो न्यायपूर्ण, उचित होती है,कर्तव्याकर्तव्य, शुभाशुभ आदि का विवेक करने में सक्षम बनाती है तथा शुभतम आचरण की ओर मानव को प्रेरित करती है।

वस्तुतः सम्यक्त्व प्रदत्त विवेकदृष्टि सुमन की महक के समान होती है। जैसे सुमन स्वयं अपनी सुगन्धि से तो सुरभित रहता ही है, अन्यों के जीवन को—वातावरण को भी सुवासित कर देता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व भी सम्यक्त्वी के जीवन को आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टि से उन्नत बनाता है तथा अन्य संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को भी उन्नत जीवन की प्रेरणा देता है।

यही सम्यक्त्व का नीतिशास्त्रीय महत्व है कि यह निश्चिन्त, तनाव रहित, शान्त और समत्व पूर्ण जीवन जीने की सही दिशा निर्धारित कर देता है।

सम्यग्दर्शन का सबसे बड़ा कार्य है—ज्ञान में यथार्थता का समावेश करके उसे सम्यग्ज्ञान बना देना।

बहुत से पढ़े लिखे मानव भी यथार्थ दृष्टिकोण वाले नहीं होते, नैतिकता अनैतिकता का विभेद करने में सक्षम नहीं हो पाते।

सम्यक्त्व यथार्थश्रद्धा द्वारा सत्य दृष्टिकोण प्रदान करता है, जिससे ज्ञान भी यथार्थग्राही बन जाता है।

इसका परिणाम यह होता है कि ज्ञान पर पड़ा अयथार्थता का आवरण हट जाने से वह अपने विचारों तथा आचरण के दोषों को समझने, उन का यथार्थ विवेचन विश्लेषण करने में सक्षम हो जाता है। स्वयं के सुधार की इच्छा जागृत होने लगती है।

इस सुधार-इच्छा का फल आध्यात्मिक तथा नैतिक प्रगति के रूप में सामने आता है।व्यक्ति अधिक से अधिक नैतिकता की ओर झुकता जाता है और अपने आचरण में अपेक्षित सुधार लाकर नैतिक जीवन जीने के लिए प्रयत्नशील होता है।

□

३

नैतिक आरोहण का प्रथम चरण

व्यसनमुक्त जीवन

संस्कृत की एक प्रश्नोत्तरी में जीवन का रहस्य बताया गया है—

किं जीवनं ? (जीवन क्या है ?)

दोषविवर्जितं यत् (दोषरहित—व्यसनमुक्त जीवन ही वास्तव में जीवन है।)

यथार्थ दृष्टि (सम्यग्दर्शन) और यथार्थ बोध (सम्यग्ज्ञान) प्राप्त होते ही मानव की जीवन-शैली परिवर्तित हो जाती है। उसे अपनी जीवन-चादर पर लगे दोष स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। उन दोषों से वह भविष्य के लिए दूर होना चाहता है और पिछले धब्बों को धोने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

दोषों को दूर करके जीवन को निर्दोष बनाने के लिए वह जो पहला चरण बढ़ाता है, वह है—व्यसनों का त्याग।

व्यसन क्या है ?—

'व्यसन' शब्द संस्कृत भाषा का है, जिसका अर्थ है कष्ट। जिन प्रवृत्तियों का परिणाम कष्टप्रद हो, उन्हें व्यसन कहा गया है।

एक संस्कृत कवि ने व्यसन को मृत्यु से भी अधिक कष्टप्रद कहा है। वह कहता है—व्यसनी नीचे गिरता जाता है, उसका जीवन पतित होता जाता है, जबकि अव्यसनी का जीवन ऊंचा उठता है, मृत्यु के उपरान्त भी व्यसनी की अधोगति होती है जबकि निर्व्यसनी को उच्चगति—स्वर्गादि की प्राप्ति होती है।[1]

---

१. व्यसनस्य मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति, स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥

व्यसन का सीधा अर्थ भी यही है। यह शब्द दो शब्दों के मेल से बना है—वि+असन। असन का अर्थ भोजन है। पूरे व्यसन शब्द का अर्थ हुआ—विकृत भोजन, विकृत वस्तुओं, आदतों को ग्रहण करना, उनमें लिप्त हो जाना।

प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक ने व्यसन को बुरी आदतों में लिप्त हो जाना (Addiction to evil habits) कहा है और इसके लिए debauchery[1] शब्द दिया है। इस शब्द का वाच्यार्थ है—ऐसी आदतें जो व्यक्ति को शारीरिक रूप में अक्षम बनाती हैं, मानसिक कमजोरी लाती हैं, धन की हानि करती है और सद्गुणों का विनाश करती हैं।[2]

---

१. William Geddie : Midh-twentith Century Version, p. 269

२. (क) जूअं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि चोर परयारं।
दुग्गइ गमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार में सप्तव्यसन पर प्रथम श्लोक

(ख) द्यूतं च मांसं च सुरा च वेश्या, पापर्द्धि चौर्ये परदारसेवा।
एतानि सप्त व्यसनानि लोके, पापाधिके पुंसि सदा भवन्ति ॥

(ग) वैदिक परम्परा में अठारह प्रकार के व्यसन माने गये हैं, जिनमें से १० कामज हैं और ८ क्रोधजन्य हैं।
कामज व्यसन हैं—(१) मृगया (शिकार), (२) अक्ष (जूआ) (३) दिवा-स्वप्न—असंभव कल्पनाओं में उलझे (डूब) रहना (४) परनिन्दा (५) परस्त्री सेवन (६) मद (७) नृत्यसभा (८) गीतसभा (९) वाद्य की महफिल (१०) व्यर्थ भटकना।
क्रोधज व्यसन हैं—(१) पैशुन्य (चुगली) (२) अतिसाहस (३) द्रोह (४) ईर्ष्या (५) असूया (६) अर्थदोष (७) वाणी से दण्ड और (८) कठोर वचन (परुषत)

दशकाम समुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि यत्नेन परिवर्जयेत् ॥
मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाऽट्या च कामजो दशको गणः ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥

वस्तुतः व्यसन वे विष वृक्ष हैं जो चारों ओर के वातावरण को जहरीला बना देते हैं। यह कीचड़ वाले ऐसे गड्ढे हैं जो आकर्षक पुष्पों से ढके हुए हों, और जैसे ही कोई व्यक्ति लालायित होकर उन पुष्पों के पास जाता है तो दल-दल में ऐसा गहरा फँस जाता है कि उसका निकलना कठिन हो जाता है। अमरबेल के समान व्यसन जिस पुरुष रूपी वृक्ष से लिपटते हैं उसका सर्वनाश कर देते हैं।

व्यसनों के सात प्रकार—

जैनाचार्यों ने सात व्यसन बताये हैं—(१) जूआ खेलना, (२) मांसाहार, (३) मदिरापान, (४) वेश्यागमन, (५) शिकार, (६) चोरी, (७) परस्त्रीसेवन।

इन सात व्यसनों के समान ही आधुनिक युग में कामोत्तेजक अश्लील पुस्तकों का पठन-पाठन, रोमांटिक-जासूसी उपन्यास, चलचित्रों के अश्लील दृश्य, बीड़ी सिगरेट, हैरोइन, ब्राउन सुगर, कोकीन आदि नशीली वस्तुएँ भी अत्यन्त हानिप्रद हैं। नवयुवकों में तो इन नशीले पदार्थों की आदत व्यसन की सीमा तक पहुँच गई है।

वस्तुतः कोई भी आदत व्यसन तभी बनती है, जब व्यक्ति उसमें आकंठ निमग्न हो जाता है, डूब जाता है, लिप्त हो जाता है, उसे पाये बिना वह तीव्र बेचैनी अनुभव करता है।

ऐसी दशा मनुष्य के लिए बहुत भयंकर होती है।

अब हम जैन नीति में वर्णित सात व्यसनों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

जूआ

जूआ, अल्प परिश्रम से अधिक धन प्राप्ति की इच्छा से जन्मा हुआ दोष है। मानव इसकी ओर इसी कारण आकर्षित होता है किन्तु यह ऐसी विषवेल है कि मानव के सत्व को ही चूस जाता है, उसे निर्धन बना देता है, घर परिवार, समाज मित्र वर्ग की दृष्टि में गिरा देता है।

जूआ अनेक रूपों में खेला जाता है। प्राचीनकाल में यह पासों (अक्ष) चौपड़ आदि के रूप में, मुगल काल में शतरंज के रूप में खेला जाता था तथा आधुनिक युग में यह ताश के पत्तों द्वारा खेला जाता है।

रेस, लाटरी, सट्टा आदि भी जूए के ही विभिन्न रूप हैं। जूआ घोर

अनैतिक कृत्य है, ऋग्वेद[1] तथा सूत्रकृतांगसूत्र[2] में इसे त्याज्य बताया है। एक पाश्चात्य चिन्तक ने भी इसे लोभ का पुत्र और फिजूलखर्ची का जनक जननी[3] कहा है।

जूए से धन का नाश[4] होता है।

जूआ अनैतिक इसलिए है कि सर्वप्रथम यह जूआ खेलने वाले व्यक्ति की मानसिक शांति को भंग कर देता है, जुआरी का मन-मस्तिष्क सदा अशान्त, उद्विग्न और चिन्तामग्न रहता है। उसके अपने परिवारीजनों, स्वजनों—सभी के साथ सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। धन की लालसा में वह नैतिकता को भूल जाता है।

जुआरी लोकनिंद्य कार्य करने से भी नहीं चूकता। वह चोरी जैसे अनैतिक कार्य करने से भी नहीं हिचकता। उसके हृदय की कोमल भावनाएँ विनष्ट हो जाती हैं। माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि के प्रति क्या कर्तव्य हैं वे विस्मृति के गर्भ में चले जाते हैं।

कर्तव्य-अकर्तव्य, शुभ-अशुभ जितने भी नैतिक प्रत्यय हैं, उनकी ओर वह ध्यान ही नहीं देता, अपने शब्दों की वह कीमत ही नहीं समझता, उसे सिर्फ एक धुन रहती है, वह है द्यूत—क्रीड़ा की। उस समय वह इतना वह विवेकान्ध हो जाता है कि पत्नी को भी दाँव पर लगा देता है।

नैतिक, सामाजिक, मानवीय, पारिवारिक सभी प्रकार से जुआरी का पतन हो जाता है। उसके शतमुखी नैतिक पतन को क्षत्र चूड़ामणि काव्य में चित्रित करते हुए कहा गया है—

व्यसनों में जिनका चित्त आसक्त है, उनका कौन-सा ऐसा गुण है जिसे व्यसन नष्ट नहीं कर डालता ? उनमें न विद्वत्ता रह पाती है, न मनुष्यता; न कुलीनता ही शेष रह पाती है, न सत्यवाणी ही।[5]

---

१. अक्षैर्मादिव्यः। —ऋग्वेद १०/३४/१३

२. अट्ठावए न सिक्खेज्जा। —सूत्रकृतांग ९/१०

३. Gambling is the child of avarice, but the parent of prodigality.

४. जूए पसत्तस्स धणस्स नासो। —गौतम कुलक

५. व्यसनासक्तचित्तानां, गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥

जूआ छूत की बीमारी के समान बड़ी तेजी से फैलता है और यहाँ तक कि संपूर्ण देशवासियों को भी अपनी गिरफ्त में ले लेता है, उनका नैतिक पतन कर देता है।

जुआ खेलने की आदत व्यक्ति को आलसी, बिना श्रम किये रातोंरात लखपति बनने की बुरी भावना जगाती है। जुए का धन व्यक्ति को शराब, मांसाहार, पर-स्त्रीगमन, आदि बुरी आदतों की तरफ ढकेलता है।

इसीलिए यथार्थ दृष्टि प्राप्त होने के बाद नैतिकता की ओर कदम बढ़ाता हुआ मानव सर्वप्रथम द्यूत को तिलांजलि देकर अपने जीवन को निर्दोष बनाता है।

मांसाहार

मांसाहार भी द्यूत के समान ही एक व्यसन है। व्यसनों के क्रम में यह दूसरा व्यसन है।

मांस पंचेन्द्रिय प्राणियों के वध से उत्पन्न होता है। यह मानव का भोजन नहीं है। मानव-शरीर की रचना शाकाहार के लिए उपयुक्त है। शाकाहार ही मानव को स्फूर्ति, बल, वीर्य आदि प्रदान करता है और उसे प्रत्येक कार्य करने में सक्षम बनाए रखता है। शाकाहार से बुद्धि, मन और शरीर क्रियाशील बने रहते हैं। मन-मस्तिष्क में उत्तेजना व्याप्त नहीं होती, उसका जीवन सहज, सरल व नैतिक रहता है।

जबकि मांसाहार अनैतिक है, अनैतिक इसलिए कि यह वैर परम्परा को बढ़ाने वाला है। आचार्य मनु ने मांस शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है—मांस का अर्थ ही यह है कि जिसका मैं मांस खा रहा हूँ, वह अगले जन्म में मुझे खाएगा। मां और स इस प्रकार मांस शब्द को अलग अलग लिखने से इसका अर्थ होता है वह (स) मुझे (मां) खायेगा।[1] इस प्रकार मांसाहार अनेक जन्मों तक वैर परम्परा बढ़ाता है।

शत्रुता अथवा वैर अनैतिक है, इससे अनैतिकता का ही प्रसार होता है। इसके अतिरिक्त यह दया, प्राणिरक्षा, अहिंसा भावना आदि सभी मानवीय

---

१ मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्व, प्रवदन्ति मनीषिणः।

—मनुस्मृति ५।५५

गुणों और नैतिक प्रत्ययों का नाश करके मानव को अनैतिक बनाता है, उस के हृदय में कठोरता का वास हो जाता है, क्रूर बन जाता है, प्राणियों की रक्षा के स्थान पर उनका भक्षण करने लगता है। परिणाम-स्वरूप मानव श्रेष्ठता के आसन से गिरकर निकृष्ट बन जाता है; दुराचरण, हिंसा उसके जीवन के अंग बन जाते हैं। हृदय की क्रूरता उसे घोर अनैतिक तथा पतित बना देती है, नैतिकता का नाम-निशान भी नहीं रहता है।

नीति में जिसे अनैतिकता कहा गया है, उसे ही धर्मशास्त्रों में पाप की संज्ञा दी गई है। 'पाप' का परिणाम पतन ही है, इसीलिए स्थानांग सूत्र[1] में मांसाहार का फल नरक गमन बताया है।

मांसाहारी मानव अपराधी होता है। अपराधी, उन पशुओं के प्रति जिनका हनन और भक्षण वह करता है। चाहे, यह अपराध-बोध उसे न हो किन्तु अपराध तो अपना काम करता ही है, उसकी अपराधिनी आत्मा पतित होती है, उसकी प्रवृत्तियाँ निम्न से निम्नतम स्तर तक गिरती हुईं पाप पंक में निमग्न हो जाती हैं।

नैतिकता की दृष्टि से यह मानव के घोर पतन की—घोर अनैतिकता की स्थिति है। इसीलिए मांसाहार अनैतिक है, अपवित्र है और मानवता की दृष्टि से घृणास्पद है।

इसी कारण इसे सभी विवेकीजनों ने त्याज्य बताया है।

मद्यपान

वे सभी द्रव्य (पेय पदार्थ) जो बुद्धि को लुप्त कर देते हैं, ढक देते हैं, मद्य कहलाते हैं।[2] इनमें मदिरा (wine) तो प्रमुख है ही किन्तु भाँग, गांजा, अफीम, चरस, ताड़ी आदि की भी गणना मद अथवा नशीले पदार्थों में की जाती है। आजकल तो और भी नशीले पदार्थ प्रचलित हो गये हैं, जैसे—हैरोइन, ब्राउन सुगर, कोकीन आदि।

इन सभी पदार्थों की यह विशेषता है कि मानव को कल्पना लोक में

---

१. चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—
महारम्भयाते, महापरिग्गहयाते, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं।
—स्थानांग, स्थान ४

२. बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

पहुँचा देते हैं, यथार्थ जगत से उसका सम्बन्ध तोड़ देते हैं और उसकी चेतना किसी दूसरे लोक की सैर करने लगती है।

मदिरा तथा अन्य सभी नशीले पदार्थ मानवीय सद्गुणों को नष्ट कर देते हैं। सत्य का तो सत्यानाश[1] हो ही जाता है; विवेक, ज्ञान, सत्य, शौच, दया, क्षमा आदि सभी सद्गुण आग की चिन्गारी से घास के ढेर के समान जलकर भस्म हो जाते हैं[2] बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है[3] सोचने-समझने की शक्ति समाप्त हो जाती है और क्रोध आदि अनेक संवेग तथा विभ्रम उत्पन्न हो जाते हैं,[4] व्यक्ति पागलों का सा प्रलाप करता है।

एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है— जब मनुष्य मद्यपान करता है तो मदिरा के अन्दर जाने के साथ ही बुद्धि बाहर निकल जाती है।[5]

Seneca ने तो स्पष्ट ही कह दिया कि मद्यपान स्वेच्छया अपनाए हुए पागलपन के सिवाय कुछ नहीं है।[6]

शराब का सबसे बुरा असर मस्तिष्क और हृदय पर पड़ता है, शरीर तो जर्जरित हो ही जाता है।

शास्त्रों[7] में शराब के अनेक दुर्गुण और दोष बताए हैं, किन्तु इस

---

१. मद्यपस्य कुतः सत्यम् ? —जीवनसुधार, पृ० ४०

२. विवेकः संयमो ज्ञानं, सत्यं शौचं दया क्षमा।
मद्यात् प्रलीयते सर्वं, तृष्णा वन्हिकणादिव ॥ —योगशास्त्र ३/१६

३. मद्यपानाद् मतिभ्रंशो, नराणां जायते खलु। —जीवन सुधार पृ० ३१

४. मद्यपाने कृते क्रोधो, मानं, लोभश्च जायते।
मोहश्च मत्सरश्चैव दुष्टभाषणमेव च ॥ —मनुस्मृति

५. When drink enters, wisdom departs

६. Drunkenness is nothing else, but a voluntary madness.

७. वैरूप्यं व्याधिपिण्डः स्वजन परिभवः कार्यकालातिपातो।
विद्वेषो ज्ञाननाशः स्मृतिमतिहरणं विप्रयोगश्च सद्भिः ॥
पारुष्यं नीच सेवा कुल-बल-विलयो धर्मकामार्थहानिः।
कष्टं वै षोडशैतेनिरुपचयकरा मद्यपानस्य दोषाः ॥
—आत्मा को पतित करने वाले मद्यपान के १६ कष्टदायक दोष हैं—
(१) वैरूप्य (शरीर का बेडौल और कुरूप हो जाना) (२) व्याधिपिण्ड (शरीर का रोगों का घर हो जाना) (३) स्वजन परिभव-(परिवार में तिरस्कार)

—

का सबसे बड़ा दुर्गुण यह है कि शराबी प्रत्येक प्रकार का अपराध करता है,[1] वह अपने होशो-हवास में नहीं रहता, अतः मार-पीट, दंगा-फसाद, चोरी, बलात्कार आदि सभी प्रकार के पाप कर सकता है, करता है।[2]

मदिरा से मतवाले मानव को उचित-अनुचित के विवेक की तो बात ही दूर रही, वह साधु-संन्यासियों-तपस्वियों का भी अपमान कर देता है। द्वारका जैसी समृद्ध नगरी के विनाश का कारण मदिरापान ही था। न यादव कुमार मदिरा के नशे में मतवाले होकर द्वीपायन ऋषि का अपमान करते, उन्हें पत्थर-ढेले मारते और न द्वीपायन ऋषि द्वारका भस्म करते।[3]

इसी प्रकार रोम और यूनान की शक्तिशाली सभ्यताएं मदिरा की भेंट चढ़ गईं। और भी कई देश मदिरा की तरल आग में भस्म हो गये। देश में आज हिंसा, आतंक, हत्या और लूट खसोट का जो भयावह त्रास-दायी वातावरण बना हुआ है, उसका सबसे बड़ा मानसिक कारण शराब, मद्यपान है। प्रसिद्ध विचारक बेकन ने सच ही कहा है—संसार की समस्त सेनाएँ भी मानव-जाति को इतना नष्ट नहीं करती और न सम्पत्ति को बरबाद करती हैं, जितना कि मदिरापान नष्ट करता है और संपत्ति को बरबाद करता है।[4]

मदिरापान घोर अनैतिक है। यह मानव का सभी प्रकार से पतन करता है। अपराध का जनक होने से यह समाजनीति, धर्मनीति आदि

---

(४) कार्य करने में उचित समय चूक जाना, (५) विद्वेष उत्पन्न होना (६) ज्ञान का नाश (७) बुद्धि का नाश (८) स्मृति का नाश (९) सज्जनों से अलगाव (१०) वाणी में कठोरता (११) नीच पुरुषों की सेवा (१२) कुल की कीर्ति का नाश (१३) बल का नाश (१४-१५-१६) धर्म-अर्थ तथा काम की हानि। —हारिभद्रीय अष्टकटीका

१. Habitual intoxication is the epitome of every crime.
—Gerrold.

२. He, that is drunkard, qualified for all vices. —Quarles

३. त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, नेमिनाथ चरित्र, जैन महाभारत आदि

४. All the armies on earth do not destroy so many of the human race, nor alienate human property as drunkenness. —Bacon

की दृष्टि से त्याज्य है। मद्यपी के जीवन में कभी नैतिकता का प्रवेश नहीं हो सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा विद्वान हो, उच्चकोटि की शिक्षा-प्राप्त हो, सामाजिक अथवा राजनीतिक नेता हो।

नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र तथा आचारशास्त्र सभी दृष्टियों से मदिरा व्यसन सर्वथा अनैतिक है पाप है, दुराचरण है। यह ऐसा दीवालिया बैंक है, जहाँ से बरबादी ही प्राप्त होती है। इससे जीवन सन्निपात के रोगी के समान हो जाता है, उसकी सारी प्रवृत्तियां अनर्गल होती हैं, वह अनुचित बोलता है, पागलों जैसे प्रलाप करता है।

मद्यपी व्यक्ति को सभी ओर से तिरस्कार, दुत्कार ही प्राप्त होते हैं। वह अनैतिकता के गर्त में समा जाता है।

वेश्यागमन

वेश्या एक दीपशिखा के समान है, जिस पर पुरुष रूपी पतंगे मंडराते हैं और अपना धन, मान-मर्यादा आदि सब कुछ स्वाहा कर देते हैं और सभी प्रकार के साधन नष्ट हो जाने पर पंखरहित शलभ के समान भूमि पर गिर पड़ते हैं।

प्रेम नाम की वस्तु वेश्या के हृदय में होती ही नहीं। उसका मात्र ध्येय धन-दोहन है। इसके साथ ही पुरुष के बल-शक्ति-इज्जत आदि का शोषण भी करती है और फिर उसे चूसे हुए आम की तरह सड़कों के कचरे पर फेंक देती है।

यद्यपि वेश्याएँ अनेक दुर्गुणों की खान हैं फिर भी कुछ पाश्चात्य विचारक (सेंट एक्वीनस, बालजाक, शापेनहावर, लेकी आदि) उनका पक्ष लेते हुए कहते हैं—एक महल को जैसे स्वच्छ रखने के लिए नाली की जरूरत होती है, उसी प्रकार समाज को विशुद्ध रखने के लिए भी गणिकाओं (वेश्याओं) की जरूरत है।

किन्तु यह बहुत ही भ्रामक तर्क है। मोंटीकार्लो, जोजिया टाउन आदि नगर—जहाँ वेश्याओं के निवास हैं, वहीं सबसे अधिक अपराध होते हैं। बाल-अपराधों एवं अपराधी बालकों का जन्म वेश्यालयों के आस-पास ही होता है।

यूरोप एवं एशिया आदि सभी देशों में वेश्यालय अनैतिकता व सामाजिक-आर्थिक अपराधों के अड्डे माने जाते हैं। तस्करी एवं जासूसी

में भी इनका सबसे अधिक प्रयोग होता है।[1]

वेश्या समाज के लिए कलंक है और वेश्यागमन अनेक प्रकार की अनैतिकताओं को जन्म देता है। हत्या आदि अधिकांश अपराध वहीं सबसे अधिक होते हैं।

वेश्यागामी व्यक्ति, चूंकि उसे वेश्या को प्रसन्न करने के लिए धन की अनिवार्य आवश्यकता होती है, ठगी, जालसाजी आदि अनैतिक कार्यों से धनोपार्जन करता है, चोरी भी करता है और इस प्रकार उसका जीवन अनैतिक बन जाता है, साथ ही वह समाज में भी अनैतिकता ही फैलाता है।

वेश्या के सम्पर्क से वेश्यागामी व्यक्ति को कई प्रकार के यौन रोग लग जाते हैं, वे ही रोग उसकी संतानों में आते हैं और इस प्रकार उसका वंश ही रोगी हो जाता है, रोग के कष्ट से वह दुखी और पीड़ित होता है।

आज के संसार में सबसे भयावह प्राणघाती रोग 'एड्स' का सबसे मुख्य कारण वेश्यागमन ही है।

इन्ही सब कारणों से वेश्यागमन पाप है, अनैतिक मार्ग है।

शिकार

क्रूरता का जघन्यतम रूप शिकार है। यह इन्सान के भीतर छिपा जंगलीपन है। यह मानव की क्रूरतम वृत्ति का विज्ञापन है। इसमें उसकी कठोरता ही उजागर होती है।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि शिकारी वीर पुरुष होता है, वह सिंह आदि पशुओं का शिकार करके अपनी वीरता प्रदर्शित करता है। किन्तु पाश्चात्य विचारक सिनेका कहता है—

समस्त क्रूरताएं और कठोरताएँ दुर्बलता में से जन्म लेती हैं।[2]

फिर शिकारी वीर होता ही कहाँ है, वह तो कायर होता है। वह छिपकर पशु पर अपने शस्त्र-अस्त्रों से घात करता है, बन्दूक से गोली दागता है। जो छिपकर घात करे वह कायर ही तो होता है।

---

१ अभी कुछ समय पूर्व ही समाचार पत्रों में पढ़ा कि लन्दन में १३ वर्ष की लड़कियाँ भी वेश्यावृत्ति करने लगी हैं, वे स्कूल में पढ़ती हैं और फिर अड्डों पर जाकर वेश्यावृत्ति करती है, क्या यह सभ्यता व संस्कृति के घोर पतन का मार्ग नहीं है ?

२ All cruelty springs from hard-heartedness and weakness.

—Seneca

कुछ व्यक्ति शिकार को मनोरंजन कहते हैं। किन्तु यह कैसा मनोरंजन कि दूसरे प्राणियों के प्राण ही ले लें। मनोरंजन तो वह है कि आप स्वयं भी प्रसन्न हों और दूसरों को भी खुशी बाँटें।

शिकारी जैसा व्यवहार अन्य पशु-पक्षियों के प्रति करता है वैसा ही व्यवहार यदि कोई उसकी सन्तान के साथ करे तो उसे पता चलेगा कि शिकार मनोरंजन का साधन है या बर्बादी का।

शिकार स्वयं के लिए भी बड़ा दुःखदायी होता है। अगले जन्मों की बात जाने भी दें तो इस जन्म में भी शिकारियों को कटु परिणाय भोगने पड़े हैं। न राजा दशरथ तीर से श्रवणकुमार के प्राण लेते और न उन्हें पुत्र-वियोग में तड़प-तड़पकर प्राण छोड़ने पड़ते। कर्मयोगी श्रीकृष्ण के देहावसान का कारण भी जराकुमार की शिकारी वृत्ति थी।

कितना अनर्थ किया है मानव की इस शिकार-लिप्सा ने।

यह अनर्थकारी, घोरहिंसक, दूसरों को प्राणान्तक पीड़ा देने वाला शिकार व्यसन घोर अनैतिक है, पाप है।

आचार्य वसुनन्दी के शब्दों में—मद्य, मांस आदि का दीर्घ काल तक सेवन करने वाला जितने महान पाप का संचय करता है उतने सभी पापों को शिकारी एक दिन शिकार करके संचित कर लेता है।[1]

इसी कारण नैतिकता की ओर कदम बढ़ाने वाला व्यक्ति शिकार-व्यसन का त्याग कर देता है।

चोरी

चोरी, एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो सभी समाजों में, चाहे वे सभ्य हों अथवा असभ्य, निन्दनीय मानी गई है। चोर को सर्वत्र दुत्कार, तिरस्कार ही मिलता है।

चोरी के विभिन्न रूप

चोरी, मालिक की आज्ञा अथवा अनुमति के बिना उसकी नजर बचाकर, किसी चीज को उठा लेना, अपने अधिकार में कर लेना, लूट-मार, उठाईगीरी, राहजनी, गाँठ काटना, ताला तोडना, डाकेजनी आदि सभी

---

१ महुमज्जमंससेवी पावइ पापं चिरेण जं घोरं।
तं एगदिणे पुरिसो लहेइ पारद्धिरमणेण॥

—वसुनन्दी श्रावकाचार ६९

चोरी के ही विभिन्न रूप हैं। वस्तुओं, दस्तावेजों, महत्वपूर्ण संधिपत्रों आदि को विभिन्न देशों में पहुँचा देना, अथवा उन देशों से छिपे रूप में अपने यहाँ मँगवा लेना तस्करी है। किसी वस्तु के क्रय-विक्रय में खरीददार को बताये बिना धन ले लेना भी चोरी है।

आज चोरी का मीठा नाम—रिश्वत, कमीशन या सुविधाशुल्क हो गया है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र[1] में चोरी के ३० सार्थक नाम गिनाये हैं, उनमें दूसरों के धन से अनुचित लाभ उठाना, पराये धन में आसक्ति रखना, खुशामद करके दूसरों से धन ले लेना आदि भी सम्मिलित हैं। इसे अनार्य व्यवहार और प्रियजनों में भेद उत्पन्न करने वाला बताया है। इससे स्पष्ट है कि चोरी का क्षेत्र कितना व्यापक है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ चोरियों के नये-नये रूप सामने आ रहे हैं। सफेदपोश और सभ्य-शिक्षित जन भी चोरी के धंधे में लगे हैं।

वस्तुओं में मिलावट, सैम्पिल में बढ़िया माल दिखाकर घटिया सप्लाई का देना, असली के बजाय नकली (duplicate) वस्तु दे देना, सरकारी टैक्स बचाने के लिए बही खातों (acconut books) में हेरफेर कर देना आदि सभ्य और सफेदपोश चोरियाँ हैं। ब्लैक (black) काला धन्धा, वास्तविक उचित मूल्य से अधिक मूल्य लेना, कृत्रिम अभाव (artificial shortage) दिखाकर कीमतों में बेतहाशा वृद्धि कर देना तो अब सामान्य बात ही हो गई है। अस्पष्ट किन्तु आकर्षक भाषा में विज्ञापन छपवाकर लोगों को प्रभावित करके उनको ठगने का नया तरीका चल पड़ा है।

तरीके कितने ही हों, नये अथवा पुराने किन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर यह चोरी के ही विभिन्न रूप हैं जो हर युग में बदलते रहे हैं और नये से नये अस्तित्व में आते रहे हैं।

चोरी के कारण

आधुनिक विद्वानों ने चोरी के प्रमुख ६ कारण बताये हैं—(१) बेकारी, (२) निर्धनता, (३) फिजूलखर्ची, (४) यशकीर्ति की लालसा, (५) स्वभाव या कुसंस्कार और (६) अराजकता।

---

१ प्रश्नव्याकरण सूत्र, अदत्तादान आश्रव द्वार, सूत्र १०

यद्यपि इन बाह्य कारणों से इन्कार नहीं किया जा सकता किन्तु चोरी का प्रमुख कारण है—लोभ, लालसा की उत्कट सीमा तक बढ़ा हुआ लोभ, ऐसा लोभ जो सन्तोष को पूर्णतया नष्ट कर चुका होता है।

लोभ के कारण ही मनुष्य चोरी करता है। जो अपनी बुद्धि-कुशलता और श्रमशीलता से धन कमाना नहीं चाहता अथवा कमा नहीं सकता, तथा विषयों में अतृप्त और परिग्रह के संग्रह में आसक्त है ऐसा ऐसा व्यक्ति ही चोरी जैसा बुरा कर्म करता है।[1]

चोरी का व्यसन सभी प्रकार से बुरा है। नैतिक शास्त्रों में इसे जघन्यतम बुराई (most evil concept) कहा गया है। यह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को ही बरबाद कर देता है। चोरी का प्रभाव समाज, परिवार, राष्ट्र और सम्पूर्ण मानवता पर पड़ता है। सभी का चारित्रिक पतन हो जाता है, मानवता और सभी मानवीय गुण खतरे में पड़ जाते हैं।

अतः स्वयं अपने जीवन तथा मानवीयता की रक्षा के लिए चोरी का व्यसन त्याग देना चाहिए।

परस्त्रीसेवन

पर-स्त्री का अभिप्राय है पराई—दूसरे की अथवा दूसरी स्त्री। पर-स्त्री का अर्थ समझने के लिए आवश्यक है कि स्व-स्त्री के स्वरूप को समझ लिया जाय। स्व-स्त्री विधिवत् विवाहित स्त्री को कहा जाता है। जिसके साथ पंच-साक्षी या अग्नि साक्षी में पाणिग्रहण संस्कार हुआ है, वह स्व-स्त्री और उसके अतिरिक्त सबकी सब पर-स्त्रियां हैं, चाहे वे कुमारी हों, विधवा हों, अथवा उनका पति जीवित हो। ऐसी किसी भी स्त्री के साथ भोग-सम्बन्ध रखना पर-स्त्रीसेवन व्यसन है। यह व्यसन धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और स्वास्थ्य सभी दृष्टियों से हानिकारक, अनुचित, निन्दनीय और गर्हित है।

किन्तु पश्चिमी भोगवादी संस्कृति और सभ्यता में स्वच्छन्द और

---

१. सव्वे अतित्ते य परिग्गहंमि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं॥
—उत्तराध्ययन सूत्र ३२।२९

मुक्त यौनाचार की प्रवृत्ति चल रही है। उसका प्रभाव भारत के भी कुछ स्वच्छन्दतावादी, पश्चिमी सभ्यता में रंगे लोगों पर पड़ रहा है। वे मुक्त यौनाचार के पक्ष में तर्क देते हैं कि विवाह से तो पुरुष और स्त्री दोनों ही बन्धन में पड़ जाते हैं, अनेक उत्तरदायित्वों का बोझ उन्हें जीवन भर ढोना पड़ता है, जबकि मुक्त यौनाचार में किसी प्रकार का बन्धन नहीं है, स्वेच्छा से किसी भी स्त्री के साथ इच्छा तृप्ति की जा सकती है। इस विचारधारा के अनुसार आजकल काल गर्ल, रखैल (Kept) आदि की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

किन्तु यह तर्क और प्रवृत्ति अत्यन्त घातक हैं। पर-स्त्री और स्व-स्त्री में जमीन आसमान का अन्तर है। पर-स्त्रीसेवन में पुरुष और स्त्री का स्वार्थ ही प्रधान होता है, जबकि विवाहित स्त्री में प्रेम एवं सामाजिक दायित्व की भावना अधिक होती है, सेवा-भावना होती है, दोनों एक-दूसरे के सुख-दुःख के साथी होते हैं, स्त्री को मातृत्व का और पुरुष को पिता का गौरवपूर्ण पद प्राप्त होता है, बच्चों का उचित पालन-पोषण होता है और उन्हें धार्मिक-नैतिक सुसंस्कार माता-पिता द्वारा मिलते हैं।

फिर पत्नी धर्म-सहायिका होती है, वह घर की लक्ष्मी होती है, उसको उचित सम्मान और आदर मिलता है, वह संकट एवं विपत्ति की घड़ियों में पति का साहस बढ़ाती है, उचित सलाह देती है, नीतिपूर्ण आचरण और कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर करती है, पति की प्रेरणा बनती है और जीवन भर उसका साथ देती है।

यह सब बातें परस्त्री में कहां? स्वच्छन्द यौनाचार से काम तृप्ति तो सम्भवतः मिल भी जाय किन्तु जीवन की सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। फिर पर-स्त्रीसेवन तो कामाग्नि को और भी उद्दीप्त कर देता है, ठीक उसी तरह जैसे तट विहीन नदी। किनारों को तोड़कर बहती हुई नदी जिस प्रकार आस-पास के क्षेत्र में प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देती है, उसी प्रकार पर-नारी भी पुरुष के जीवन में प्रलय मचाकर उसे बरबाद कर देती है, पुरुष के जीवन में हाहाकार शेष रह जाता है।

इसीलिए वाल्मीकि ऋषि ने पर-नारी से अनुचित सम्बन्ध रखने को सबसे बड़ा पाप बताया है और कवि कालीदास ने इसे अनार्य व्यवहार कहा है तथा आचार्य मनु ने इसे पुरुष के आयुष्य बल को क्षीण

करने वाला कहा[1] है। तथा अन्य मनीषियों ने भी निन्दा की है।

सामाजिक तथा नैतिक दृष्टि से परस्त्री-गमन घोर अनैतिकता तथा सामाजिक अपराध है। इससे परिवार टूट जाते हैं।

पर-स्त्री सेवन के दोष और हानियां

सूत्रकृतांग सूत्र में बताया गया है कि पर-स्त्रीगामी के (समाज एवं राज द्वारा) हाथ-पैर काट दिये जाते हैं, उसकी चमड़ी उधेड़ दी जाती है, उसे जलाया जाता है और जले पर नमक छिड़का जाता है।

यद्यपि प्राचीन युग के समान इतना कठोर दण्ड आज नहीं दिया जाता तो भी स-परिश्रम कारावास की सजा तो दी ही जाती है।

यह तो राजकीय दण्ड है। इसके अतिरिक्त सामाजिक दृष्टि से भी पर-स्त्रीगामो को सर्वत्र प्रतारणा, धिक्कार और तिरस्कार ही प्राप्त होते हैं। अब भी पर-स्त्रीगामियों को काला मुंह करके सार्वजनिक रूप से अपमानित करने की घटनाएँ समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिल जाती हैं।

परस्त्रीगमन के दोष से पुरुष अविश्वसनीय हो जाता है, कोई भी उस पर विश्वास नहीं करता, अपने घर में नही आने देता। यहां तक कि उस की स्वयं की स्त्री भी उस पर विश्वास नहीं करती। अपने ही बच्चों की दृष्टि में वह सन्दिग्ध हो जाता है और उनका भी चरित्र पतित हो जाता है। पूरे परिवार का ही सामाजिक तिरस्कार होता है।

धन और बल की हानि तो होती ही है, लेकिन सबसे बड़ी हानि स्वास्थ्य की होती है। अधिक और चाहे जिस स्त्री के साथ कामसेवन का परिणाम शरीर का सत्व निचुड़ जाने के रूप में सामने आता है, शरीर की रोग निरोधक क्षमता अल्प से अल्पतर होती हुई समाप्त हो जाती है। आज जो पश्चिमी देशों में ऐड्स (Accumulation of Immunity Deficiency) नाम का रोग फैला हुआ है, उसका लक्षण ही शरीर की रोग निरोधक क्षमता का नष्ट हो जाना है। इसमें कोई औषधि काम ही नहीं करती।

---

१. (क) परदाराभिशात्तुं नान्यत् पापतरं महत्।
—वाल्मीकि रामायण ३३८।३०

(ख) अनार्यः परदार व्यवहारः। —अभिज्ञान शाकुन्तलम्

(ग) नहीदृशमनायुष्यं लोके किंचित् दृश्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ —मनुस्मृति ४।१३४

और यह स्वच्छन्द सहवास के कारण एक दूसरे को लगता है, छूत-रोग के समान फैलता है।

इसी भाव को प्रगट करते हुए हिन्दी के एक दोहे में कहा गया है—

पर-नारी पैनी छुरी, तीन ठौर ते खाय।
धन नाशै जोवन हरै, मरे नरक ले जाय॥

परस्त्रीसेवन के कारण

आधुनिक समाजशास्त्रियों ने परस्त्रीसेवन पाप के द्रुत गति से फैलने के १२ कारण बताए हैं—(१) क्षणिक आवेश (२) अज्ञानता (३) अश्लील और विकृत साहित्य (४) कुसंसर्ग (५) आर्थिक तंगी (६) धार्मिक अन्ध-विश्वास (७) सहशिक्षा (८) अश्लील चलचित्र (९) बाल विवाह, अनमेल विवाह, वृद्धविवाह (१०) नशीली वस्तुओं का सेवन (११) एकान्तवास और (१२) नई नई स्त्रियों के साथ सम्बन्ध बनाने की अदम्य इच्छा।

यद्यपि यह सभी कारण परस्त्रीसेवन के लिए उत्तरदायी हैं, किन्तु इनमें पहला तथा अन्तिम कारण विशेष उत्तरदायी माने जाते हैं।

परस्त्रीगमन के साथ ही पर-पुरुषगमन भी सन्निहित है। दोनों का ही जोड़ा है। यदि स्त्री पर-पुरुषगमन न करे तो पुरुष परस्त्रीसेवन कर ही नहीं सकता। इसलिए पुरुष के लिए परस्त्रीसेवन व्यसन जितना त्याज्य है, उतना ही स्त्री के लिए पर-पुरुषगमन भी। क्योंकि जितना पाप, अनाचार, अनैतिकता परस्त्रीसेवन से होता है उतना ही पर-पुरुषसेवन से भी होता है।

वास्तव में पुरुष के लिए परस्त्री और स्त्री के लिए पर-पुरुष विष के समान है। ऐसा विष जो सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक सभी दृष्टियों से हानिकारक है, मानव को बरबाद कर देता है।

नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से परस्त्रीगमन घोर अनैतिकता है। यह पुरुष को राक्षस की कोटि में पहुँचा देता है तो स्त्री को भी राक्षसी के स्तर तक पतित कर देता है। ऐसे पुरुषों तथा स्त्रियों में नैतिकता की गंध भी नहीं होती, कर्तव्य का उन्हें भान भी नहीं रहता, सिर्फ काम और स्वार्थ-पूर्ति की लालसा ही उनके मन-मस्तिष्क में हर समय समाई रहती है। वे अवैध पापाचार करके परिवार एवं समाज का वातावरण विषाक्त बनाते हैं तथा संपूर्ण मानव समाज में अनैतिकता का ही प्रसार करते हैं।

उपसंहार

जूआ, मांसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन, शिकार, चोरी और परस्त्री-

सेवन—यह सातों व्यसन प्रत्येक दृष्टि से हेय हैं, त्याज्य हैं। इनसे शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय—सभी प्रकार की हानि होती है। जूए से धन-नाश, मानसिक चिन्ता और मांसाहार से सभी सद्गुणों का नाश होता है। इसी प्रकार अन्य व्यसन भी अनैतिकता को बढ़ावा देते हैं।

वास्तव में सुखी और शांत जीवन के लिए मनुष्य को सात्विक और व्यसनमुक्त जीवन अपनाना चाहिए। व्यसनमुक्त जीवन ही सात्विक जीवन होता है। ऐसा जीवन जीने वाला मानव ही शुभ दिशा—नैतिकता—नैतिक जीवन की ओर अग्रसर होता है।

वर्तमान युग में आधुनिकता का प्रसार हो रहा है। इस आधुनिकता को एक शब्द में कहें तो फैशनपरस्ती कह सकते हैं।

फैशन के बहाने नित नये व्यसनों की बाढ़ सी आ गई है। वेशभूषा, सौन्दर्य प्रसाधन, पहनने-ओढ़ने के ढंग, चित्रपटों के द्विअर्थी संवाद, कामुक नृत्य आदि जन-जीवन पर हावी होते जा रहे हैं। फैशनपरस्ती अथवा आधुनिकता व्यसनों की सीमा तक जा पहुँची है। ऐसे-ऐसे फैन्सी शो आयोजित किये जाते हैं, जहाँ वेश-भूषा से स्त्री-पुरुष की पहचान ही कठिन हो जाती है।

सौन्दर्य-प्रसाधन क्रीम स्नो पाउडर आदि जीवन की अनिवार्यता बनते चले जा रहे हैं। जूए के भी नये नये रूप सामने आ रहे हैं। शराब का प्रचलन दिनोंदिन बढ़ रहा है। अण्डे को आधुनिकता के रंग में रंगे लोग मांस मानने को तैयार नहीं है। चोरी, रिश्वत, कमीशन आदि समाज में नीचे से ऊपर तक फैल गये हैं। on (ऑन) की बीमारी सर्वत्र व्याप्त हो चली है; न किसी को लेने में झिझक, न देने में।

कहा जा सकता है फैशनपरस्ती और व्यसन में गंठ-जोड़ सा हो गया है। सादा जीवन, उच्च विचार का आदर्श केवल कहने भर को रह गया है; आचरण के लिए नहीं।

अतः व्यसनमुक्त जीवन के लिए फैशनपरस्ती से भी बचना आवश्यक है तभी मानव नैतिकता की ओर अपने चरण बढ़ाने में सफल होगा।

□

४

जैन दृष्टि सम्मत–व्यावहारिक नीति के सोपान

यह एक निश्चित तथ्य है कि व्यावहारिक जीवन की प्रामाणिकता, दक्षता, कुशलता ही आध्यात्मिक जीवन के लिए आधारभूत नींव बनती है। जिस व्यक्ति का व्यावहारिक जीवन दीर्घदृष्टि, अक्रूरता, सौम्यता आदि गुणों से ओत प्रोत नहीं होता उसके आध्यात्मिक जीवन में आत्मिक सद्गुणों के सुमन भी नहीं खिल सकते। उसके जीवन में न सुरभि का संचार हो पाता और न ही तेजस्विता और चमक आ पाती है।

अतः धार्मिक अथवा नैतिक बनने के लिए व्यावहारिक अथवा सामाजिक बनना व्यक्ति के लिए पहली शर्त है।

जैन आचार्यों ने इस तथ्य को बहुत पहले ही समझ लिया था। इसीलिए उन्होंने व्यावहारिकता को कभी उपेक्षित नहीं किया। उन्होंने धर्म साधना में और यहाँ तक कि मोक्ष साधना में भी व्यवहार को उचित एवं महत्वपूर्ण स्थान दिया।

वास्तविकता यह है कि नीति का सीधा और प्रत्यक्ष संबंध भी व्यवहार से ही है। यद्यपि यह सत्य है कि नीति का संचालन आत्मा[1] से होता है, किन्तु प्रतिफलित वह व्यवहार में होती है, इसका प्रकट रूप मानव के व्यावहारिक जीवन में होता है।

---

१. फ्रायड ने इसे आत्म या नैतिक मन (Super Ego) कहा है। विद्वानों ने इसकी तुलना अंतःकरण से की है। फ्रायड के अनुसार यह आत्म अथवा नैतिक मन अहम् (Id) पर शासन करता है। इसमें कठोर नैतिकता की भावना रहती है। यह अहम् को अनैतिक मार्ग पर जाने से रोकता है।
—मूल प्रवृत्तियों का सामाजिक जीवन में स्थान, पृ० १५७

जैन आगम[1] साहित्य में भी नीति संबंधी कुछ उल्लेख तथा विविध सूत्र मिल जाते हैं; किन्तु बाद में जैन आचार्यों ने इन्हें व्यवस्थित रूप दिया। उन्होंने ऐसे सूत्र बताए जिनके आचरण से मानव का व्यावहारिक जीवन सुखी हो, उसकी चित्तवृत्तियाँ शान्त हों और वह धर्म तथा अध्यात्म की ओर बढ़ने में समर्थ हो सके।

जैन धर्म के अनुसार सम्यक्त्व प्राप्ति के अनन्तर चारित्रधर्म का प्रारम्भ अणुव्रत साधना से होता है। किन्तु अणुव्रतों की साधना से पूर्व भी योग्य पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है। उस मार्ग (अणुव्रतों) का अनुसरण करने की पूर्वभूमिका के रूप में आचार्य हेमचन्द्र[2] ने ३५ गुण बताये हैं और इन्हें मार्गानुसारी के गुण कहा है। तथा धर्ममार्ग का अनुसरण करने से पहले व्यक्ति में इन गुणों का विकास होना आवश्यक बताया है।

यह ३५ गुण व्यक्ति के नैतिक जीवन से संबंधित हैं। अतः इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ उपयोगी रहेगा।

(१) न्यायसंपन्न विभव

यह मार्गानुसारी का पहला गुण है। उसका प्रथम कर्तव्य है कि न्याय-नीतिपूर्वक आजीविका का उपार्जन करे। इस विषय पर हरिभद्र[3] आदि सभी विचारक एकमत हैं। तथागत बुद्ध ने भी सम्यग्आजीव गृहस्थ के लिए आवश्यक बताया है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि न्यायनीतिपूर्वक उपार्जित धन किसे कहा जाय? इसकी क्या कसौटी है? इस विषय को एक नीतिशास्त्री ने स्पष्ट किया है--

---

१. माया मित्ताणि नासेइ (दशवैकालिक ८/३८), माणोविणयणासणो (दशवैकालिक ८/३८) कुद्धो सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज (प्रश्नव्याकरण २/२) भूएहि न विरुज्झेज्जा (सूत्रकृतांग) सादियं न मुसं वया (सूत्रकृतांग ८/१६) सच्चं च हियं च नियं च गाहणं च (प्रश्नव्याकरण २/२) पिट्ठिमंस न खाएज्जा (दशवैकालिक ८/४७) आदि व्यावहारिक नीति संबंधी अनेक वचन आगम साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं।

२. योगशास्त्र, प्रथम प्रकाश, श्लोक ४७-५६

३. (क) न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोक हितायते। —धर्मबिन्दुप्रकरण १

(ख) न्यायोपात्त धनंयजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गंभजन्।

—पंडित आशाधर, सागार धर्मामृत

अकृत्वा परसंतापं अगत्वा खलनम्रताम् ।
अनुत्सृज्य सतां वर्त्म, यत्स्वल्पमपि तद्बहु ।।

(दूसरे को दुःख न हो, दुष्टजनों के समक्ष झुकना न पड़े और सज्जनों द्वारा बताये गये मार्ग का उल्लंघन न हो, इस प्रकार यदि थोड़ा धन भी मिले तो उसे बहुत समझकर संतोष धारण करे ।)

इस कसौटी के अनुसार विचार करने पर शोषण, राहजनी आदि सभी समाजघाती प्रवृत्तियों से प्राप्त धन अन्यायोपार्जित होता है । रिश्वत, भ्रष्टाचार आदि प्रवृत्तियाँ भी अन्याय हैं और इस अनैतिक मार्ग से प्राप्त वैभव अन्याय—अनीति मूलक ही माना जायेगा ।

सम्पत्ति का अर्थ ही है सम्यग् प्रतिपत्ति । न्यायपूर्ण—नैतिक उपायों से प्राप्त धन ही सम्पत्ति है और यह मानव को सुख-शान्ति दे सकता है तथा ऐसी सम्पत्ति ही नैतिकता की ओर मानव को अग्रसर कर सकती है ।

(२) शिष्टाचार-प्रशंसकता

शिष्ट अथवा श्रेष्ठ आचरण की प्रशंसा भी नैतिकता को समाज में प्रसरणशील बनाती है । शिष्ट का अभिप्राय है अनुशासित । अनुशासित आचार वह होता है जो स्वयं अपने, अपने परिवार और समाज के लिए कल्याणकारी हो, सभी लोगों के लिए आदर्श तथा प्रेरक हो ।

ऐसा आचार अथवा आचरण नैतिक होता है, वह स्वयं शुभ की ओर गतिशील रहता है तथा अन्य लोगों के लिए भी दिशानिर्देशक बनता है ।

इस प्रकार के शिष्टाचार की प्रशंसा करने से समाज में नैतिकता का वातावरण बनता है, सभी लोग इस ओर उन्मुख तथा अग्रसर होते हैं ।

धर्मबिन्दु की टीका में शिष्टाचार के १८ सूत्र दिये गये हैं; किन्तु शिष्टाचार बहुत व्यापक है । इसके वितान के अन्तर्गत मानव का सम्पूर्ण व्यवहार आ जाता है । अभिप्राय यह है कि शिष्टाचारसम्पन्न मनुष्य का सम्पूर्ण व्यवहार ही शिष्ट, सभ्य और सुसंस्कृत होता है, तथा वही प्रशंसनीय होता है ।

(३) विवाह-सम्बन्ध विवेक

नैतिक व्यवहार के प्रति सजग रहने वाले गृहस्थ को विवाह संबंध स्थापित करने में विवेक से काम लेना चाहिए । कारण यह है कि विवाह

सम्बन्ध दो व्यक्तियों, दो परिवारों का अटूट सम्बन्ध है; जो जीवन भर तो रहता ही है, परम्परागत रूप से कई पीढ़ियों तक चलता है। इसलिए इसमें थोड़ी सी भी असावधानी संघर्ष, क्लेश, विग्रह, पारिवारिक विघटन, समाज टूटन का कारण बन जाती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने समान कुल-शील वाले किन्तु भिन्न गोत्रीय परिवार के साथ विवाह सम्बन्ध निश्चित करने का विधान किया है।[1]

कुल पितृपक्ष से निर्धारित होता है और शील का अभिप्राय है सदाचार, घर-परिवार का आचार। गोत्र एक पूर्वज की वंश परम्परा[2] को कहा जाता है। सात प्रकार के गोत्र स्थानांग सूत्र में भी बताये हैं।

समान कुल-शील से अभिप्राय है—कन्या और वर दोनों पक्षों के परिवार का आचरण लगभग समान हो। दोनों परिवारों में ही अहिंसा, सत्य, उदारता, दान, दया आदि का परम्परागत आचार-व्यवहार हो।

भिन्न गोत्र का समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और शरीर सम्बन्धी महत्व है। एक गोत्र से उत्पन्न हुई संतानें कम प्रतिभाशाली होती हैं। सभी समाजशास्त्री भिन्न गोत्रज परिवारों में विवाह सम्बन्ध की एकमत से सिफारिश करते हुए कहते हैं—अन्य गोत्रजा कन्या की संतान अधिक प्रतिभाशाली होती है, उसका शारीरिक एवं मानसिक विकास भी कुछ विशिष्ट होता है।[3]

सद्गृहस्थ इन्हीं सब बातों पर विचार करके संबंध निश्चित करता है। धन आदि को प्रमुखता देकर यदि वह विपरीत कुल-शील वाले परिवार से संबंध स्थापित कर लेता है तो उसका पारिवारिक जीवन क्लेशमय होने की संभावना बढ़ जायेगी।

विवाह के प्रसंग में यह विचार भी आवश्यक है कि पुत्र-पुत्रियों का विवाह कब करना चाहिए, वर और कन्या की कौन-कौनसी समानताओं को दृष्टि में रखना आवश्यक है।

इस विषय में भगवती सूत्र[4] में बताया गया है कि कन्या और

---

१ कुलशीलसमैः सार्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः। —योगशास्त्र १/४७

२ युवाचार्य श्री मधुकर मुनि : साधना के सूत्र, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ८२।

३ युवाचार्य श्री मधुकर मुनि : साधना के सूत्र, तृतीय संस्करण, पृ० ८२।

४ सरिसयाणं सरिसव्वयं सरिसत्ताणं सरिसलावण्णरूवजोवणगुणोववेयाणं सरिसएहिंतो। —भगवती ११/११

वर परस्पर वय की दृष्टि से, सुन्दरता की दृष्टि से,यौवन की दृष्टि से तथा धार्मिक एवं वैचारिक दृष्टि से समान हों।

विवाह योग्य वय (आयु) के लिए बताया गया है—

(१) बालभाव (बचपन) समाप्त होकर युवावस्था आने पर[1]
(२) नौ अंग प्रतिबुद्ध (जाग्रत-समर्थ) होने पर[2]
(३) गृहस्थ संबंधी भोग भोगने में समर्थ होने पर[3]

शास्त्रों के अनुसार यही विवाह की योग्य आयु है।

इन उद्धरणों से बाल-विवाह, वृद्धविवाह, अनमेल विवाह, आदि सभी प्रकार के विवाहों का स्वयं ही निषेध हो जाता है।

तथ्यात्मक दृष्टि से ऐसे सभी विवाह अनैतिकता को बढ़ावा देने वाले होते हैं। इन विवाहों से गुप्त दुराचार—व्यभिचार की प्रवृत्ति पनपती है जो समाज में अनैतिकता का ही प्रसार करती है।

इसके विपरीत समान कुल-शील वाली पत्नी सुख-दुःख में साथ देने वाली धर्मसहायिका और पति के लिए सुखकारिणी होती है।[4] साथ ही पति भी पत्नी को सुख देने वाला होता है। दोनों के ही दाम्पत्य जीवन में सुख-शान्ति की सरिता प्रवाहित होती है।

(४) पापभीरुता

पाप की एक सरल परिभाषा है—जिसे करने से हृदय शंकित, भय-ग्रस्त तथा कलुषित होता है, आत्मा बंधन में पड़ता है एवं मन भय व आकुलता अनुभव करता है तथा जीवन पतित होता है,[5] वह पाप है। उस पाप से सदा बचते रहना 'पापभीरुता' नाम का गुण है।

धर्मशास्त्रों में जिसे पाप कहा गया है, नीतिशास्त्र में उसे ही अनैतिकता कहा गया है। असत्यभाषण धर्मशास्त्र की भाषा में पाप है और नीतिशास्त्र की भाषा में अनैतिकता।

---

१ उम्मुक्क बालभावे। —भगवती सूत्र ११/११
२ णवंग सुत्त पडिबोहिए। —ज्ञाता सूत्र १/१
३ अलं भोगे समत्थे। —भगवती सूत्र ११/११
४ उपासकदशांग सूत्र ७/२२७
५ पाशयति पातयति वा पापम्। —उत्तराध्ययनचूर्णि २

जैन शास्त्रों की दृष्टि पाप के विषय में विशाल है । वहाँ सूक्ष्म हिंसा से लेकर बड़ी हिंसा, झूठ आदि पाप माने गये हैं ।

किन्तु नीतिशास्त्र इतनी गहराई में नहीं जाता । गृहस्थ भी नीतिशास्त्र के अनुसार नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है । व्यापार आदि में भी ईमानदारी की नीति से काम ले सकता है । अग्नि आदि के प्रयोग में सावधानी रख सकता है ।

पापभीरुता गुण का नीतिशास्त्रीय अर्थ इतना ही है कि व्यक्ति कभी भी कोई अनैतिक कार्य न करे, उन कार्यों से सदा बचता रहे । अशुभ से—पाप से बचना ही पापभीरुता है ।

(५) देशप्रसिद्ध आचार-पालनता[1]

यह गुण सामाजिकता से प्रत्यक्ष संबंधित है। इसका अभिप्राय है कि व्यक्ति ने जिस देश-समाज में जन्म लिया है, उसमें प्रचलित सभ्यता,संस्कृति और आचार परम्परा का पालन उसे करना चाहिए ।

इसका अर्थ यह भी नहीं है कि समाज में प्रचलित अन्ध-विश्वासों, रूढ़ियों, हानिकारक परम्पराओं का भी पालन करना चाहिए । वे तो त्याज्य हैं, अनैतिक हैं । ऐसी परम्पराओं के पालन का नैतिक जीवन में कोई स्थान नहीं है । नीतिवान व्यक्ति तो समाज के लिए तथा अपने लिए भी हितकारी तथा नैतिकता को गति-प्रगति देने वाले, शुभ की ओर अग्रसर करने वाले आचारों का पालन करता है ।

यही इस सूत्र का अभिप्राय है ।

(६) अनिन्दकत्व

निन्दा का अर्थ है—दूसरों की बुराई करना, उनके दोषों-दुर्गुणों का बखान । जो दोष उनमें नहीं हैं उन्हें भी उनमें आरोपित करना, बढ़ा-चढ़ाकर बताना ।

निन्दा दोषदृष्टि है । मानव में दो प्रकार की दृष्टियां हैं—(१) गुण दृष्टि और (२) दोष दृष्टि । गुणदृष्टि नैतिक और दोषदृष्टि अनैतिक है । दोषदृष्टि वाले व्यक्तियों का जीवन स्वयं दोषों से भर जाता है ।

---

१ (क)प्रसिद्ध च देशाचारं समाचरन् । —योगशास्त्र १/४८

(ख) तुलना करिये ।

While you are in Rome do as Romans do.

गुणदृष्टि वाले व्यक्ति पापी से पापी और दुर्गुणी व्यक्ति में भी कोई न कोई गुण ढूंढ़ निकालते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि गुणों पर रहती है और जीवन में उसका आदर्श ले लेते हैं। जबकि दोषदृष्टि वाले मानव गुणी व्यक्तियों में भी दुर्गुण ही देखते हैं।

निन्दा व्यक्ति के पीठ पीछे की जाती है। इसीलिए भगवान महावीर ने निन्दा को पीठ का मांस खाना[1] कहा है। तथागत बुद्ध ने इसे मुख से पाप इकट्ठा करना[2] बताया है। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रेरणा दी है कि—किसी की भी निन्दा न करे और राजा आदि (सत्ताधिकारी, दण्डाधिकारी, धर्माधिकारी) अधिकार सम्पन्न व्यक्तियों की निन्दा तो विशेष रूप से नहीं करनी चाहिए।[3]

व्यावहारिक जीवन में निन्दा शत्रुता बढ़ाने वाली है, जिसकी निन्दा की जायेगी उसे बुरा लगेगा, वह मन में शत्रुता की गांठ बांध लेगा और अवसर पाकर बदला चुकाने से नहीं चूकेगा। प्रसिद्ध कहावत है कि निन्दक का कोई मित्र नहीं होता।

राजा आदि अधिकारी वर्ग तो रुष्ट होकर निन्दक के जीवन को तबाह कर सकते हैं। उसे दण्डित तथा प्रताड़ित भी कर सकते हैं। इसीलिए जैन नीति लेखकों ने सामाजिक व्यक्ति के लिए राजा आदि की निन्दा का विशेष रूप से निषेध किया है।

निन्दा के साथ इसका विरोधी प्रत्यय भी जुड़ा हुआ है, वह है किसी की झूठी प्रशंसा करना, जो गुण उसमें नहीं हैं उन्हें भी बताना। इसे आधुनिक भाषा में खुशामद अथवा चापलूसी (flattery) कहा जाता है।

चापलूसी और निन्दा दोनों ही तीखे शस्त्र हैं जो व्यक्ति को बड़ी तेजी से काटते हैं। निन्दा तीखी है, सुनने वाले को बुरी लगती है, जबकि चापलूसी मीठी छुरी है, व्यक्ति इसे सुनकर फूला नहीं समाता। किन्तु दोनों ही पतन की राह हैं। इससे निन्दक और चापलूसी करने वाले की

---

१. पिट्ठिमंसं न खाइज्जा। —दशवैकालिक ८।४७

२. विचिनाति मुखे सो कलिं, कलिनातो सुखं न विन्दति।
—सुत्तनिपात ३।३६।२

३. अवर्णवादो न क्वापि राजादिषु विशेषतः। —योगशास्त्र १।४८

आत्मा भी पतित होती है और जिसकी निन्दा तथा चापलूसी की जाती है उसका भी पतन होता है। निन्दा सुनकर क्रोध में भर जाने से और झूठी प्रशंसा सुनकर गर्व में भरकर फूल जाने से।

नैतिक व्यक्ति न किसी अन्य की निन्दा करता है और न झूठी प्रशंसा ही। यदि वह निन्दा करता भी है तो स्वयं अपनी आत्मा की ही, अनैतिक इच्छाओं और कार्यों के लिए, और इस प्रकार वह आत्म-निन्दा द्वारा नैतिक प्रगति में अग्रसर होता है, आगे बढ़ता है।

(७-८) आदर्श घर

मार्गानुसारी सद्गृहस्थ घर में निवास करता है। उसे घर बनाना आवश्यक है, क्योंकि उसके साथ स्त्री-पुत्र, माता-पिता आदि परिवार भी होता है और सुख-सुविधापूर्वक जीवन-यापन के लिए धन आदि आवश्यक साधन भी। इन सबकी सुरक्षा के लिए वह अपनी सुविधा के अनुकूल गृह निर्माण करता है।

इस सूत्र में आदर्श घर कैसा होता है, यह बताया गया है। आचार्य ने कहा है कि—ऐसे स्थान पर घर बनाये जो न एकदम खुला है और न एकदम गुप्त ही हो, पड़ोस अच्छा हो और द्वार अनेक न हों।[1]

आदर्श घर के निर्माण में स्वच्छ वायु तथा प्रकाश के निराबाध आवागमन का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि यह दोनों स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य हैं। साथ ही घर की स्वच्छता भी जरूरी है। सफाई रखने से कीड़े-मकोड़े (क्षुद्र जीव-जन्तु) उत्पन्न नहीं होते तो व्यक्ति उनकी हिंसा से बचा रहता है।

घर की सुरक्षा की दृष्टि से अनेक द्वारों का होना हानिप्रद है। यद्यपि व्यक्ति पूरा ध्यान रखता है, फिर भी असावधानीवश किसी द्वार की सांकल लगाना भूल जाय तो वहां से चोरों को आने का मार्ग मिल सकता है। यह भी हो सकता है कि चोर एक द्वार से घुसे और जब तक उसे पकड़ने का प्रयत्न किया जाय तब तक वह कोई बहुमूल्य वस्तु लेकर दूसरे द्वार से चम्पत हो जाय। इसलिए घर में अनेक द्वार नहीं रखने चाहिए।

गृह निर्माण में पड़ौस का भी बहुत महत्व है। यदि पड़ौसी संघर्ष-प्रिय हुए, असामाजिक तत्वों का आस-पास निवास हुआ तो व्यक्ति की शान्ति भंग होती रहेगी, वह सुख से नहीं रह सकेगा।

---

१. अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रातिवेश्मिके।
अनेकनिर्गमद्वारविवर्जित निकेतनः॥ —योगशास्त्र १।४९

(६) सदाचारी व्यक्तियों की संगति

संसार में विभिन्न प्रवृत्तियों के मानव हैं। कुछ सदाचारी हैं तो दुराचारी भी बहुत मिलते हैं। यह कहना अधिक उचित होगा कि सदाचारियों की अपेक्षा दुराचारियों की संख्या अधिक है। किन्तु मार्गानुसारी को सदा सत्पुरुषों की संगति करनी चाहिए।

भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अज्ञानी व्यक्तियों की संगति नहीं करनी चाहिए क्योंकि उससे वैर व विवाद बढ़ता है।[1]

इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने सज्जनों की संगति करने की प्रेरणा दी है।[2]

क्योंकि संगति का प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है इसीलिए लोकोक्ति है—जैसी संगत, वैसी रंगत। इसी बात को ध्यान में रखते हुए तथागत बुद्ध ने हीन चरित्र वालों की संगति का निषेध[3] किया है।

संगति का मानव के व्यावहारिक और नैतिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जैसी उसकी संगति होती है, उसी के अनुसार लोग उसे समझते हैं। एक पाश्चात्य विचारक ने स्पष्ट कहा है—तुम किसी व्यक्ति के बारे में जानना चाहते हो कि वह कैसा है—दुराचारी या सदाचारी; तो यह देखो कि वह कैसे लोगों की संगति करता है।[4]

संगति का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी असंदिग्ध है। सत्संगति से दुराचारी भी सदाचारी बन जाते हैं और कुसंगति से सज्जन पुरुष भी कुमार्ग की ओर गति कर सकते हैं। बालक तो संगति से अत्यधिक प्रभावित होते है, उनकी तो जीवनधारा ही बदल जाती है।

इन्हीं सब बातों का विचार करके मार्गानुसारी मानव को सदा सज्जन पुरुषों की संगति करनी चाहिए।

---

१. अलं बालस्स संगेण, वेरं वड्ढइ अप्पणो। —आचारांग सूत्र

२. कृतसंग सदाचारैः। —योगशास्त्र १।५०

३. (क) अंगुत्तर निकाय ३।३।६
   (ख) जातक २२।५।१।४३६

४. If you want to know about a man, whether he is good or bad, watch his company. —Ethics in Practice.

(१०) माता-पिता की सेवा[1]

व्यक्ति के जीवन में माता-पिता का सर्वोच्च महत्वपूर्ण स्थान है। वे बालक के जीवन का निर्माण करते हैं। उसे सुसंस्कार देते हैं। बालक का जीवन उन्नत एवं सुखी बने इसके लिए अपनी सुख-सुविधाओं का त्याग करते हैं। उचित पालन-पोषण, और योग्य शिक्षा द्वारा उसे सम्मानपूर्ण ढंग से नैतिक जीवन जीने में सक्षम बनाते हैं।

इस प्रकार माता-पिता का मानव के ऊपर बहुत उपकार होता है। इस उपकार के प्रतिफलस्वरूप पुत्र का कर्तव्य है कि वह माता-पिता की सेवा करे, उन्हें उचित और योग्य सम्मान दे। यही प्रेरणा आचार्य ने इस सूत्र द्वारा मार्गानुसारी को दी है।

नीति के अनुसार भी माता-पिता की सेवा करना मानव का प्रथम कर्तव्य माना गया है, जिसे पूरा करना नैतिक जीवन के लिए अनिवार्य बताया गया है।[2]

(११) उपद्रवग्रस्त स्थान का त्याग

मार्गानुसारी को उपद्रवग्रस्त स्थान का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि उपद्रवों की स्थिति में व्यक्ति का जीवन संकटों से घिर जाता है।

प्राचीनकाल में प्रमुख रूप से दो प्रकार के उपद्रव होते थे—(१) स्वचक्र अथवा परचक्र और (२) महामारी। स्वचक्र का अभिप्राय है—अपने देश का शासक ही अन्यायी हो, प्रजा में संघर्ष उत्पन्न करे, मनमाने टैक्स लगाये, शोषण करे तथा और भी अनीतिपूर्ण कार्य करे। परचक्र का अभिप्राय है—दूसरा कोई राजा अपने देश पर आक्रमण करके प्रजा को लूटे।

आधुनिक युग में चिकित्सा विज्ञान इतना विकसित हो चुका है कि महामारियों का विशेष भय नहीं रहा, किन्तु स्वचक्र और परचक्र का कुछ भय अब भी है। इनके अतिरिक्त असामाजिक तत्वों के उपद्रव आदि और बढ़ गये हैं।

लेकिन मार्गानुसारी का कर्तव्य है कि ऐसे रगड़े-झगड़े और बखेड़े वाले स्थानों से दूर रहे। मूल बात यह है कि किसी भी प्रकार से अपने चित्त में विक्षोभ उत्पन्न न होने दे।

---

१. मातापित्रोश्चपूजकः। —योगशास्त्र १/५०

२. It is the first and foremost duty of a man to serve his parents.
—Experimental Morality

(१२) निन्दनीय प्रवृत्ति का त्याग

निन्दनीय प्रवृत्ति का अभिप्राय है—ऐसा आचरण जिससे समाज में व्यक्ति का अपयश हो, लोग उससे घृणा करने लगें, तिरस्कार करें। ऐसे काम अनेक हो सकते हैं—जैसे क्लेश, संघर्ष, कलह आदि तथा अतिशय लोभ, दहेज के वशीभूत होकर घर की बहू को जिन्दा ही जला देना, उत्पीड़न करना आदि।

यह सत्य है कि कोई भी मानव तिरस्कार नहीं पाना चाहता, सभी को प्रशंसा प्रिय लगती है, फिर भी लोभ, क्रोध आदि कषायों के आवेश में सामान्य पुरुष ऐसी प्रवृत्तियाँ कर बैठते हैं, जो निन्दनीय होती हैं।

लेकिन मार्गानुसारी विवेकी होता है, वह अपने आचरण को विवेक दृष्टि से संचालित करता है अतः कोई निन्दनीय काम नहीं करता।

(१३) आय-व्यय का संतुलन[1]

गृहस्थ के लिए धन सदा से आवश्यक रहा है, क्योंकि इससे उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, इसीलिए वह धन का उपार्जन करता है और आवश्यकताओं पर उसका व्यय करता है।

लेकिन आज का युग अर्थप्रधान है। फैशन, आडम्बर और शो-प्रवृत्ति से मानव ग्रसित होता जा रहा है। आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त फ्रिज, टी० वी० आदि नवीनतम उपकरणों से वह घर को सुसज्जित करना चाहता है। इन्हीं के आधार पर उसका जीवन स्तर मापा जाता है, समाज में उसकी प्रशंसा होती है, उसे सम्मान-सत्कार मिलता है।

किन्तु ये सभी साधन खर्चीले हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन्हें नहीं खरीद सकता। जिसकी आय कम है, वह इन्हें कैसे खरीदे? यदि कर्ज लेकर अथवा किश्तों पर इन्हें खरीदता है तो उसे कर्ज चुकाने की चिन्ता लग जाती है, घर की आवश्यक वस्तुओं में कटौती करनी पड़ती है, वह परेशानियों में घिर जाता है।

इन सब फिक्रों और दुविधापूर्ण स्थिति से बचने के लिए आचार्य ने सूत्र दिया—अपनी आय के अनुसार व्यय करे। दूसरे शब्दों में, आय-व्यय में संतुलन बनाये रखे, उचित समायोजनपूर्ण स्थिति का निर्माण करे। जिससे वह सुख-शांतिपूर्ण नैतिक जीवन व्यतीत कर सके।

आचार्य का यह सूत्र आधुनिक आडम्बरप्रिय मानव के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, जीवन में उतारने योग्य है।

---

१. व्ययमायोचितं कुर्वन्। —योगशास्त्र १/५१

(१४) वित्तीय स्थिति के अनुसार वेशभूषा

वेशभूषा का अभिप्राय आधुनिक युग में सभी प्रकार के बाहरी आडम्बरों से समझना चाहिए। इस सूत्र द्वारा यह सूचन किया गया है कि व्यक्ति को अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार ही अपने जीवन का स्तर रखना चाहिये। वैसे ही वस्त्र आदि पहनने चाहिए। आमदनी से अधिक वस्त्रों पर खर्च करना, अधिक दिखावा करना अन्ततः व्यक्ति को परेशानी में डाल देता है।

भारतीय समाज में मध्यम वित्तीय परिवार भी अपने को उच्च-स्तरीय दिखाने का प्रयत्न करते हैं, वस्त्र आदि वैसे पहनते हैं। यह दिखावा ही उनकी त्रासद स्थिति का कारण बन जाता है।

मार्गानुसारी को सदा ही इस शोबाजी से बचना चाहिए।

(१५) धर्म-श्रवण[1]

यह सत्य है कि जब समाज में आडम्बर और फैशन का दिखावे का बोलबाला हो, आस-पास के तथा समाज के अन्य व्यक्ति दिखावा करते हों तो नैतिक व्यक्ति का मन भी उस ओर ललचाता है। इस लालच का प्रतिकार करने के लिए आचार्य ने बुद्धि[2] के आठ गुणों से युक्त होकर धर्म-उपदेश सुनने का सूत्र दिया।

धर्म-उपदेश सुनने और उसे हृदय में रमाने से व्यक्ति की बाह्य-मुखी वृत्तियों का परिमार्जन होगा, लालसा कम होगी और उसके स्थान पर संतोष की अभिवृद्धि होगी। जीवन में सुख-शांति की सरिता प्रवाहित होगी और वह नैतिक जीवन व्यतीत करने में सफल होगा।

(१६-१७) आहार-विवेक

आहार के सम्बन्ध में आचार्य ने दो सूत्र दिये हैं - (१) अजीर्ण होने पर भोजन न करे[3] और (२) नियत समय पर संतोष के साथ भोजन करे।[4] इनमें से प्रथम सूत्र निषेधात्मक है और दूसरा विधेयात्मक। विधि-निषेध में संतुलन स्थापित करना ही आहार-विवेक कहलाता है।

---

१. अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः शृण्वानो धर्ममन्वहम्। —योगशास्त्र १/५१

२. बुद्धि के आठ गुण यह हैं—(१) शुश्रूषा (जिज्ञासा) (२) श्रवण (३) ग्रहण (४) धारणा (५) विज्ञान (६) ऊहा (७) अपोहा और (८) तत्त्वाभिनिवेश।
—जैनाचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. २४६

३. अजीर्णे भोजनत्यागी। —योगशास्त्र १।५२

४. काले भोक्ता च सात्म्यतः। —योगशास्त्र १।५२

यह सत्य है कि आहार प्राणी मात्र की मौलिक आवश्यकता है। संसारी सभी प्राणियों में जो संज्ञाएँ अनादि काल के लगी हुई हैं, उनमें भोजन संज्ञा का प्रमुख और प्रथम स्थान है।

लेकिन मानव विकसित चेतना वाला प्राणी है। उसे अपनी बुद्धि का प्रयोग आहार के सम्बन्ध में भी अवश्य करना चाहिए।

जैन आचार्यों ने आहार के सम्बन्ध में बड़ा मर्मस्पर्शी चिन्तन किया है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है—ऐसा हित-मित भोजन करना चाहिए जो जीवन यात्रा तथा संयम यात्रा के लिए उपयोगी हो तथा जिससे न किसी प्रकार का विभ्रम हो और न ही धर्म की भ्रशंना हो।[1]

हित-मित और अल्पाहार की विशेषता बताते हुए कहा गया है कि ऐसा भोजन करने वाले को चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती।[2]

भोजन का व्यक्ति के मन पर भी गहरा असर होता है। कहा भी है—"जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन—और जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वानी।" तामसिक भोजन से बुद्धि में विकार आता है और शरीर में आलस्य। इसी प्रकार राजसी भोजन मन में उत्तेजना उत्पन्न करता है। इसीलिए व्यक्ति को सदा शुद्ध सात्विक भोजन करना चाहिए, जिससे शरीर में स्फूर्ति रहे और मन बुद्धि में शुभ विचारों का संचार होता रहे।

दूसरा प्रमुख विचारणीय तत्व है—भोजन का समय। इस विषय में नीतिकारों का मत है—जब भूख लगे, वही भोजन का समय है।[3]

आधुनिक युग में भोजन का समय नियत है। कारखाने के मजदूरों को नियत समय पर भोजन का अवकाश दिया जाता है। इसी प्रकार की व्यवस्था बैंकों तथा अन्य आफिसों में भी है और यही रवैया साधारणतया घरों में भी चल रहा है।

किन्तु फिर भी आजकल के व्यस्त जीवन में मनुष्य भोजन के विषय

---

१ तहा भोत्तव्वं—जहा से जाया माता य भवति।
न य भवति विब्भमो, न भंसणा य धम्मस्स। —प्रश्नव्याकरण २।४

२ हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा॥ —ओघनिर्युक्ति ५७८

३ बुभुक्षाकालो भोजनकालः। —नीति वाक्यामृत

में बहुत ही अनियमित हो गया है। यह अनियमितता अपचन, गैस आदि बीमारियाँ उत्पन्न करती है। सद्गृहस्थ के लिए सामान्यतः प्रातः का भोजन १२ बजे तक तथा सायंकालीन भोजन सूर्यास्त से पूर्व कर लेने का जैन नीति में विधान है।

नीतिवान पुरुष का लक्ष्य नैतिक जीवन बिताना है और इसके लिए उसे स्वस्थ रहना जरूरी है। स्वास्थ्य ही पहला सुख है यह लौकिक उक्ति है। स्थानांग[1] में भी आरोग्य को दस सुखों में प्रथम सुख माना है और चरक संहिता[2] में इसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थों का मूल कहा गया है।

नैतिक जीवन का लक्ष्य भी धर्म और चरम पुरुषार्थ मोक्ष की ओर गति-प्रगति करना तथा उसे प्राप्त करना है। इसीलिए नीतिवान पुरुष सदा ही आहार का विवेक रखता है।

(१८) धर्ममर्यादित अर्थ-कामसेवन

गृहस्थ जीवन के सुचारु संचालन के लिए अर्थ (धन) तो आवश्यक है ही साथ ही काम (कामनाओं-इच्छाओं) की संतुष्टि भी करनी ही पड़ती किंतु नैतिक विचारणा के अनुसार इन दोनों (काम और अर्थ) को अनियंत्रित है। नहीं छोड़ा जा सकता; क्योंकि अनियन्त्रित रूप में यह दोनों ही भयावह हैं, अनैतिक हैं। इसलिए इन दोनों पर धर्म का—नीति का नियन्त्रण आवश्यक है।

आचार्य ने इसके लिए सूत्र दिया—अविरोधी भाव से त्रिवर्ग का सेवन करे।[3] त्रिवर्ग का अभिप्राय है—धर्म, अर्थ और काम।

अविरोधी भाव का नीतिपरक रहस्यार्थ है—धर्म द्वारा किया जाने वाला सन्तुलन और मर्यादा स्थापन तथा नियन्त्रण।

अर्थ और काम दोनों की ही उपमा दुष्ट अश्व से दी जा सकती है। जिस प्रकार दुष्ट अश्व सवार को गर्त में गिरा देता है, उसी प्रकार अनियन्त्रित अर्थ और काम भी मानव को अनैतिकता के गर्त में गिरा देते हैं, उसे अनैतिक आचरण की ओर धकेल देते हैं।

---

१ स्थानांग सूत्र, स्थान १०

२ धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। —चरक संहिता १५

३ अन्योन्याऽप्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयन्। —योगशास्त्र १/५२

इसीलिए इन पर धर्म की—नीति की लगाम अथवा अंकुश सदैव रहना आवश्यक है जिससे वे मर्यादित रह सकें।

यही इस सूत्र का हार्द है जो नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है।

(१९) अतिथि-सत्कार[1]

अतिथि सत्कार भारत की प्राचीन परम्परा है। वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों ही परम्पराएँ इसे गृहस्थी के कर्तव्य के रूप में मान्य करती हैं। वैदिक परम्परा के शास्त्रों में तो इसका अत्यधिक महत्व बताया है।

अतिथि का अभिप्राय है, जिसके आगमन की तिथि-दिन निश्चित न हो। ऐसा व्यक्ति कोई भी हो सकता है।

आचार्य ने अपने सूत्र में अतिथि को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(१) अतिथि, (२) साधु और (३) दीन असहायजन।

यह सत्य है कि गृहस्थ इन तीनों की यथायोग्य सेवा तथा सहायता करता है; किन्तु इसमें वह विवेक रखता है। पंचमहाव्रतधारी साधुओं को वह श्रद्धाभक्तिपूर्वक आहारादि से प्रतिलाभित करता है, अतिथि का वह स्नेहभावपूर्वक योग्य सत्कार करता है और दीन-दुखी मानवों को वत्सलतापूर्वक अनुकम्पा से दान देकर उनकी सहायता करता है।

इसका कारण यह है कि साधु और दीन-भिक्षुक का स्तर एक सा नहीं होता, उनमें आकाश-पाताल का अन्तर होता है। इसीलिए वह विवेकपूर्वक सहायता-सहयोग देता है।

अतिथि-सत्कार गृहस्थ की उदारता और उदात्त भावना का प्रगटीकरण है। उदारता नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। उदार व्यक्ति ही नैतिक हो सकता है।

(२०-२१) अनभिनिवेशिता और गुणानुराग[2]

अभिनिवेश का अभिप्राय है—आग्रह, दुराग्रह, कदाग्रह, अपनी मान्यता को नहीं छोड़ना, उसी का हठ करते रहना, चाहे वह मिथ्या अथवा हानिकारक ही हो। ऐसा हठ नैतिक जीवन के लिए हानिकर है, विवेक और प्रज्ञा के विपरीत है, इसीलिए आचार्य ने सूत्र दिया—सदा ही अनाग्रही बनकर रहे।

जिस व्यक्ति को अपने पक्ष का दुराग्रह नहीं होगा, उसी में गुणानुरा-

---

१ यथाविदतियौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत्। —योगशास्त्र १/५३

२ सदाऽनभिनिविष्टश्च, पक्षपाती गुणेषु च। —योगशास्त्र १/५३

गिता का प्रवेश होगा, वह दूसरे व्यक्ति के सद्गुणों को ग्रहण करके अपने जीवन को सद्गुणों से भर लेगा।

सद्गुणों का क्षेत्र बहुत व्यापक है—लगन, निष्ठा, एकाग्रता, दया, अनुकम्पा आदि सभी सद्गुण हैं। यह सभी सद्गुण व्यक्ति को नैतिक और धार्मिक जीवन जीने में आधार स्तम्भ के समान हैं और इन्हीं से उसके व्यावहारिक जीवन तथा आचरण में चमक आती है। वह नैतिक गति-प्रगति करता है।

(२२) देश-कालोचित आचरण

व्यावहारिक जीवन में सर्वाधिक महत्व आचरण का है। आचार्य जिनभद्र ने कहा है—ववहारोऽपि ह बलवं[1]। व्यक्ति जैसा आचरण करता है उसी के आधार पर उसके चरित्र का मूल्यांकन किया जाता है और निर्णय दिया जाता है कि अमुक व्यक्ति नैतिक है अथवा अनैतिक।

इसीलिए विवेकशील व्यक्ति ऐसा कोई आचरण नहीं करता जिसकी तत्कालीन समाज (देश-काल) में निन्दा हो, लोग उपहास करें। वह अपने आचरण को देश काल के अनुरूप रखता है।[2]

अनुरूप रखने का यह अर्थ भी नहीं है कि वह समाज में प्रचलित रूढ़ और हानिकारक परम्पराओं का अन्धानुकरण करता रहे। विवेकी सद्गृहस्थ उचित मर्यादाओं तथा परम्पराओं का पालन करता है। अपनी चर्या, आचरण और व्यवहार देश-काल की परिस्थितियों के विपरीत नहीं रखता; क्योंकि इससे परम्पराचुस्त लोग व्यर्थ ही उँगली उठाते हैं, आलोचना और निन्दा करते हैं, और व्यक्ति को अपयश का भागी बनना पड़ता है। इससे वातावरण विक्षुब्ध हो जाता है, और उसको भी संक्लेश होता है। ऐसी स्थिति में उसकी नैतिक साधना भी सफलतापूर्वक नहीं चल पाती।

(२३) सामर्थ्यासामर्थ्य की पहचान[3]

व्यावहारिक जीवन बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण होता है, व्यक्ति को

---

१ उद्धृत—साधना के सूत्र, श्री मधुकर मुनि, पृष्ठ २६४

२ अदेशकालश्चर्यां त्यजन्। —योगशास्त्र १/५४

तुलना करिए—

(क) यद्यपि शुद्धं, लोकविरुद्धं न करणीयं नाचरणीयम्।

(ख) While you are in Rome do as Romans do. अंग्रेजी कहावत।

३ जानन्नपि बलाबलम्। —योगशास्त्र १/५४

पारिवारिक और सामाजिक परिवेश में अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। उस समय उसे अपनी सामर्थ्य शक्ति का विचार करना आवश्यक है। उसे सोचना चाहिए—'मैं इस काम को पूरा कर भी सकूंगा या नहीं ? कहीं यह काम बीच में ही तो नहीं छोड़ना पड़ेगा।'

लेकिन विवेकी और धैर्यशील व्यक्ति काम को या तो हाथ में लेते ही नहीं और लेते हैं तो पूरा करके ही दम लेते हैं। क्योंकि अधूरा काम सदा ही दुखदायी और अपयश का कारण बनता है।[1]

(२४) व्रती और ज्ञानी जनों की सेवा[2]

सेवा का आशय नीतिशास्त्रीय अवधारणा के अनुसार इस सन्दर्भ में स्वागत, सत्कार, सम्मान और सुख-शान्ति पहुँचाना है। विवेकी मार्गानुसारी व्यक्ति का कर्तव्य है कि जिन लोगों ने आंशिक अथवा पूर्णरूप से अहिंसा, सत्य आदि व्रत ग्रहण कर लिए हैं, पाप-प्रवृत्तियों का त्याग कर दिया है उन्हें यथासंभव समाधि पहुँचाये। क्योंकि जो उनको समाधि सुख-शांति पहुंचाता है, उसे भी समाधि (सुख-शांति) की प्राप्ति होती है।[3]

इसी प्रकार जो अधिक ज्ञानी हैं, जिनकी विचारधारा हिताहितविवेक-अनुगामिनी है, उनको भी सुख-शान्ति पहुँचाना व्यक्ति का कर्तव्य है।

व्रतधारी और ज्ञानी व्यक्तियों की सेवा और सुख-शांति पहुँचाने से समाज में भी इन प्रवृत्तियों के प्रति अनुकूल वातावरण बनता है, नैतिकता का प्रसार होता है, लोगों को नीतिपूर्ण आचरण की प्रेरणा प्राप्त होती है, समाज की सर्वांगीण उन्नति होती है, लोगों में सेवा की भावना उदित होती है।

(२५) उत्तरदायित्व निभाना[4]

नीतिशास्त्र में पलायनवाद को कोई स्थान नहीं है। इसके प्रत्येक

---

१ Things half done always bring grief, sorrow and defamation.
—English Proverb

२ वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः। —योगशास्त्र १/५४

३ समाहि कारएणं तमेव समाहि पडिलब्भइ। —भगवती सूत्र ७/१

४ पोष्य पोषकः। —योगशास्त्र १/५४

प्रत्यय के साथ चाहे वह शुभ हो, शुद्ध हो अथवा आत्मस्वातंत्र्य हो, उत्तरदायित्व का प्रत्यय[1] जुड़ा हुआ है। अपने उत्तरदायित्व से पलायन करने वाला व्यक्ति कभी भी नैतिक नहीं हो सकता।

मार्गानुसारी व्यक्ति जो व्यावहारिक नीति का पालन करने वाला होता है, कभी भी अपने उत्तरदायित्व से भागता नहीं। सामाजिक, राष्ट्रीय आदि जितने भी उत्तरदायित्व हैं, उनका समुचित रूप से पालन करता है। परिवार के सभी सदस्यों के प्रति अपना कर्तव्य निभाता है, जो आश्रित हैं उनका पालन करता है, बच्चों को उचित शिक्षा दिलाता है, उनका पालन-पोषण करता है, पत्नी का उचित सम्मान करता है, माता-पिता एवं वृद्धजनों की सेवा करता है, नौकर-चाकरों की जरूरतें पूरी करता है।

इस प्रकार वह अपने सभी उत्तरदायित्वों का समुचित रूप से पालन करता हुआ नैतिक जीवन बिताता है।

(२६) दीर्घदर्शिता

दीर्घदर्शिता का अभिप्राय है, भविष्य का विचार करके काम करने वाला। आचारांग सूत्र में साधक के लिए स्थान-स्थान पर 'परिणामदंसी, आयंकदंसी और अणोमदंसी' यह विशेषण आये हैं।[2] परिणामदंसी का अभिप्राय है—प्रत्येक वस्तु की परिणति-परिणाम और उसके फल का विचार करना, आयंकदंसी का निहित अर्थ है—मेरे आचरण से कहीं मुझे कष्ट या आतंक तो नहीं होगा और अणोमदंसी अपनी विचारधारा को सदा ऊर्ध्व-मुखी बनाये रखने की प्रेरणा है।

यह तीनों ही गुण दीर्घदर्शिता के लिए आवश्यक है। मार्गानुसारी अपनी कोई भी वृत्ति-प्रवृत्ति बिना भविष्य का विचार किये नहीं करता, क्योंकि—

बिना विचारे जो करे सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपुनो, जग में होत हसाय॥

---

१ Concept of responsibility is de facto underlying in every ethical activity, be it good, ultimate good, self-independence.

—Ethics of Morals.

(quoted by Will Durant : Story of Philosophy)

२ उद्धृत—साधना के सूत्र, युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी, पृष्ठ २८५

यह दोहा व्यावहारिक नीति के लिए अटल सत्य है। 'घर हानि जग हास' का आचरण सदा ही दुःख और क्लेश उत्पन्न करता है।

नीति का प्रारंभिक बिन्दु है—विचारधारा को सदा उन्नत रखना। जिसके विचार सदा ऊर्ध्वमुखी होते हैं, उसका आचरण भी तदनुरूप बनता है, वह सदा नीति के मार्ग पर आगे बढ़ता है।

इसीलिए आचार्य ने मार्गानुसारी के लिए दीर्घदर्शी होना एक आवश्यकगुण बताया है।

लेकिन यहाँ दीर्घसूत्री और दीर्घदर्शी का अन्तर समझ लेना आवश्यक है। दीर्घसूत्रता आलस्य का पर्याय है। दीर्घसूत्री व्यक्ति महीनों-वर्षों तक सोचता रहता है, ऊहापोह करता रहता है, दृढ़ कदम नहीं उठा पाता और इस कारण जीवन के हर क्षेत्र में विफल हो जाता है।[1]

जबकि दीर्घदर्शी भविष्य में आने वाली परिस्थितियों का समुचित विवेचन विश्लेषण करके आकलन करता है, अपनी स्थिति और सामर्थ्य को तोलता है और उचित समय पर उचित कदम उठाकर सफलता का वरण करता है।[2]

(२७-२८-२९) **विशेषज्ञता, कृतज्ञता, लोकप्रियता**[3]

विशेषज्ञता का अभिप्राय है—हिताहित का विवेक, अच्छाई और बुराई में विभेद करने की क्षमता।

कृतज्ञता का अर्थ है—अपने प्रति किये हुए उपकार को विस्मृत न करना तथा उपकारी के प्रति विनम्र व समय आने पर उचित सहयोग की भावना रखना।

लेकिन कृतज्ञता व एहसान चुकाने के नाम पर नीति विरोधी, समाज व राष्ट्रविरोधी आचरण करना, कृतज्ञता नहीं है।

व्यक्ति को व्यावहारिक जीवन में अनेक कठिन निर्णय लेने पड़ते हैं, विरोधी परिस्थितियों में भी कुशलता, सूझ-बूझ से काम लेकर उचित उपाय

---

१. नालसाः आप्नुवन्त्यर्थं, न क्लीवा न च मानिनः।
न च लोकापवादभीताः, न च शश्वत प्रतीक्षिणः। —महाभारत

२. Right step at right occasion with full zeal.—Stevension (quoted by A. L. Srivastava : Akbar, The Great Mughal.

३. विशेषज्ञः कृतज्ञो, लोकवल्लभा। —योगशास्त्र १/५५

खोजने पड़ते हैं, जिन व्यक्तियों के उपकार हैं, उनके प्रति विशेष नम्रता और विनय का व्यवहार भी करना पड़ता है। यह सब उसका कर्तव्य है। इन्हें किये बिना उसके जीवन में नैतिकता का प्रवेश नहीं होता।

यदि वह अपने कार्यों में हिताहित का विवेक न रखे, अच्छाई-बुराई में से अच्छाई को न चुने, किये हुए उपकार को विस्मृत हो जाय तो समाज और परिवार की दृष्टि में उसे अपयश का भागी बनना पड़ता है, लोक में उसकी बदनामी होती है, अन्य व्यक्तियों की दृष्टि में वह गिर जाता है, सभी उससे दूर-दूर रहने की चेष्टा करते हैं।

लेकिन कोई भी समाज में हेय नहीं बनना चाहता, सभी लोकप्रिय बनना चाहते हैं। मार्गानुसारी की भी लोकप्रिय बनने की इच्छा होती है। इसके लिए वह प्रयास भी करता है।

लोकप्रियता प्राप्ति के लिए मानव सदैव से लालायित रहा है। वैदिक ऋषि देवताओं से प्रार्थना करता है कि—मुझे सज्जनों का प्रिय बनाओ, मुझे सबका प्रिय बनाओ, कोई भी मुझसे ईर्ष्या और डाह न करे, मैं संसार में मधु से भी अधिक मीठा बनकर रहूँ।[1]

लेकिन विवेकी और नीति का ज्ञाता व्यक्ति जानता है कि इस प्रकार की प्रार्थनाओं से कोई भी स्थायी लोकप्रियता प्राप्त नहीं कर सकता, उसके लिए व्यावहारिक ठोस उपाय किये जाने आवश्यक हैं। वे उपाय हैं—सदाचार और सेवा।

सदाचार का अभिप्राय है—अपना स्वयं का आचरण शुद्ध हो, चरित्र उन्नत हो, व्यवहार में किसी प्रकार का कपट न हो, सभी के साथ मधुरवाणी का प्रयोग किया जाय।

और सेवा—अभावग्रस्त, रुग्ण और जो लोग किसी भी प्रकार से जरूरतमन्द हैं, उनको यथाशक्ति तन-मन-धन से सहयोग देना, उनके कष्टों, अभावों और पीड़ाओं को कम करने का प्रयास करना, रुग्ण व्यक्ति के औषधोपचार के प्रबन्ध के साथ-साथ तन-मन से उसकी परिचर्या करके उसे स्वस्थ होने में सहयोगी बनना।

---

१. (क) प्रियं मा कृणु देवेषु ··· प्रियं सर्वस्य पश्यतः। —अथर्ववेद १९।६२।१
(ख) मा नो द्विक्षत कश्चन। —अथर्ववेद १२।१।२४
(ग) मधोरस्मि मधुतरो। —अथर्ववेद १।३४।१

जिसका कोई नहीं, उसका सहायक बनकर उसकी विपत्ति दूर करना असंगिहिय परिजणस्स संगहियता भवइ[1] यही लोकसेवा का मूल-मन्त्र हैं।

इसी प्रकार के अन्य समाजोपयोगी कार्यों को करके मार्गानुसारी स्थायी लोकप्रियता प्राप्त करता है।

(३०-३१-३२-३३) सलज्जता, सदयता, सौम्यता और परोपकार[2]

लज्जा नारी का आभूषण है तो पुरुष का भी। यह साधक के लिए विशुद्धि का स्थान भी है। भगवान महावीर ने कहा है—

जो साधक आत्मा को विशुद्ध करना चाहता है, उसे चार विशुद्धि[3] स्थानों का पालन करना आवश्यक है, वे हैं—लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य।

लज्जा शब्द बहुत व्यापक है। इसके अभिप्राय को प्रगट करने वाला अंग्रेजी शब्द Shame है। शेम या लज्जा वह मानसिक संकोच है, जो किसी अनुचित अथवा निन्दित कार्य करने पर, गर्हित-कटु शब्द बोलने पर अथवा अशुभ भावों के मन में आने पर व्यक्ति अपने हृदय में अनुभव करता है तथा उस भाव की प्रतिच्छाया प्रमुख रूप से चेहरे पर और सामान्य रूप से सम्पूर्ण शरीर पर दृष्टिगोचर होती है। चेहरे की रंगत फीकी पड़ जाती है।

मार्गानुसारी—नीति का पालन करने वाला व्यक्ति ऐसा कोई काम नहीं करता कि उसके समक्ष इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो।

लज्जा का विरोधी शब्द निर्लज्ज अथवा बेशर्म है। आंखें फाड़-फाड़कर देखना, सभ्यजनों के बीच अट्टहास करना, किसी भी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का उपहास करना, स्त्री अथवा स्त्रियों की ओर ताकना, उन्हें घूर-घूर कर पैनी नजरों से देखना—यह सब निर्लज्जता है, निन्दनीय है।

विवेकी व्यक्ति ऐसी निर्लज्जता नहीं करता, वह लज्जा का मूल्य

---

१. स्थानांग सूत्र।

२. सलज्जः सदयः सौम्यः परोपकृतिकर्मठः। —योगशास्त्र १।५५

३. लज्जा दया संजम बंभचेरं।
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं। —दशवैकालिक ९।१।१३

जानता है। यदि कभी मन में बुरे विचार भी आ गये, वचन से कोई अपशब्द निकल गया अथवा कायिक चेष्टा हो गई तो भी यदि लज्जा का भाव मन में है तो वह तुरन्त सम्भल सकता है, अपने आचरण को सुधार कर सभ्यजनोचित बना सकता है।

इसी अभिप्राय से आचार्य ने मार्गानुसारी के लिए सलज्जता एक आवश्यक गुण बताया है।

दया और सलज्जता का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, लज्जावान व्यक्ति के हृदय में ही दया का निवास होता है। दया का अभिप्राय है—अनुकम्पा। किसी व्यक्ति की पीड़ा को स्वयं अपने हृदय में अनुभव करना, हृदय का काँप जाना, दया का उत्स है।

जो व्यक्ति लज्जावान होगा, वह अपने हृदय के अनुकम्पन को अनुभव करेगा और साथ ही उसके मन में भावना उमड़ेगी कि मैं समर्थ होकर भी इसे अभाव अथवा पीड़ा से मुक्त नहीं करता तो मेरे लिए लज्जा की बात है। लज्जा की यह भावना दया को प्रबल बनाएगी, और वह दया पालन में तत्पर होगा, क्रियाशील बनेगा तथा भरसक प्रयत्न करके उसकी पीड़ा मिटायेगा।

दया सभी धर्मों का मूल है। जैन धर्म में तो दया को 'दया माता' कहा गया है। यह सभी जीवों की रक्षा करती है, माता के समान सभी प्राणियों का पालन-पोषण करती है, उन्हें सुख-साता पहुँचाती है, उनके जीवन में अभय की भावना भरती है।

एक आचार्य ने तो यहां तक कहा है—

दया नदी महातीरे सर्वे धर्माः द्रुमायिता।

—सभी धर्मों के वृक्ष दया महानदी के तीर पर टिके हुए हैं।

नैतिक जीवन में भी दया का बहुत महत्व है। यह नैतिकता का मूल आधार है, इसके अभाव में नैतिकता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह व्यक्ति कैसे नैतिक हो सकता है, जो दूसरों के कष्टों, अभावों, पीड़ाओं को देखकर भी अनदेखा करे, उपेक्षा कर दे।

सौम्यता का भी दया के साथ अन्योन्य सम्बन्ध है। सौम्य व्यक्ति के हृदय में ही दया प्रतिष्ठित होती है और सौम्यता ही दया की भावना को दृढ़ता प्रदान करती है।

जो व्यक्ति क्रूर है, क्रोधी है, अभिमानी है, अथवा छल कपट में निपुण है, उससे दया की आशा भी नहीं की जा सकती।

इसके अतिरिक्त वह व्यक्ति नैतिक भी नहीं हो सकता। क्रोध और अभिमान तो अनैतिक प्रत्यय हैं। यह तो मानव को अनैतिक तथा क्रूर आचरण की ओर ही प्रेरित करते हैं।

नैतिक व्यक्ति का हृदय तो सौम्य होता ही है, उसके हृदय की सौम्य भावना उसके चेहरे पर, क्रिया-कलापों में, बोलने-चालने में स्पष्ट झलकती है। उसको देखने मात्र से अन्य व्यक्तियों के हृदय में सांत्वना का संचार होता है, उन्हें ऐसा लगता है कि इस व्यक्ति के सम्पर्क से हमारे कष्ट कम हो जायेंगे।

सौम्य व्यक्ति की एक और अवश्यम्भावी विशेषता होती है—**परोपकार कर्मठता**। परोपकार की भावना उसके हृदय में हिलोरें लेती है। उसका हृदय इतना कोमल और परःदुखकातर होता है कि वह बिना परोपकार किये रह ही नहीं सकता।

उपकार के दो भेद बताये हैं—(१) स्वोपकार और (२) परोपकार। स्वोपकार का अभिप्राय है—अपनी आत्मा का उपकार करना, अर्थात् हृदय में कलुषित, गर्हित भाव न लाना, ईर्ष्या, डाह आदि से बचना। निरन्तर आत्मा को ऊर्ध्वगामी विचारों से ओत-प्रोत रखना, नैतिक प्रगति की ओर अग्रसर होना।

परोपकार है—दूसरों के कष्टों को मिटाने का प्रयत्न करना। यह व्यावहारिक रूप है, लोक-प्रत्यक्ष है, नैतिक प्रगति इससे भी होती है, लोगों की दृष्टि में व्यक्ति नैतिक अथवा नीतिवान माना जाता है।

नीतिकारों ने मानवों की चार श्रेणियाँ[1] बताई हैं—

(१) जो दूसरों के सुख के लिए, अपने सुखों का भी त्याग कर देते हैं।

---

१ एके सत्पुरुषा परार्थघटका स्वार्थान् परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

—उद्धृत—साधना के सूत्र, मधुकर मुनिजी, पृष्ठ ३१२

(२) जो अपने सुख का त्याग नहीं करते हुए दूसरों का उपकार करते हैं।

(३) जो अपने स्वार्थ (सुख) में मग्न रहते हैं, अपने स्वार्थ को ही सिद्ध करते हैं, चाहे इससे किसी दूसरे को पीड़ा ही क्यों न हो।

(४) ऐसे भी मानव होते हैं जो बिना अपने स्वार्थ के, व्यर्थ ही दूसरों को कष्ट देते हैं, उन्हें पीड़ित करते हैं।

इनमें से प्रथम कोटि के पुरुष उत्तम कोटि के नैतिक हैं और द्वितीय कोटि के पुरुषों की गणना सामान्य नैतिक पुरुषों में होती है। अधिकांशतः नीतिवान पुरुष इसी सामान्य कोटि के होते हैं।

तृतीय और चतुर्थ श्रेणी के पुरुष तो घोर अनैतिक—नरराक्षस होते हैं। वे तो मानव कहलाने योग्य भी नहीं हैं।

जबकि नैतिक पुरुष तो ऐसे होते हैं कि वे उपकार करके भूल जाते हैं और यदि किसी ने उन पर उपकार किया है तो उस उपकार को वे सदैव स्मरण रखते हैं और प्रत्युपकार के लिए तत्पर रहते हैं।

(३४-३५) विजय की ओर

नैतिक जीवन की ओर अग्रसर मार्गानुसारी व्यक्ति, उपरोक्त तेतीस गुणों को धारण करके अपनी मनोभूमि को इतनी स्वच्छ और निर्मल बना लेता है, अपना आचरण इतना विवेकसंपृक्त बना लेता है, मनोबल को इतना दृढ़ कर लेता है कि वह विजय की ओर अपने दृढ़ और मुस्तैद कदम बढ़ाने में सफल हो जाता है।

विजय किस की? इस जिज्ञासा के समाधान में आचार्य ने कहा है—आन्तरिक छह रिपुओं का त्याग करता हुआ इन्द्रियों पर विजय करे।[1]

आत्मा के आन्तरिक छह शत्रु हैं—(१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद और (६) मात्सर्य। इन आन्तरिक शत्रुओं की यह विशेषता है कि इन्हीं के कारण बाह्य शत्रु बनते हैं।

काम के दो अर्थ हैं—(१) इच्छा और (२) कामना अथवा वासना। धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि संग्रह करने की अभिलाषा इच्छा है और वासना काम-सेवन की प्रवृत्ति को कहा जाता है।

---

१. अन्तरंगारिषड्वर्ग—परिहार-परायण।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो···। योगशास्त्र १/५६

ये दोनों ही सीमा से अधिक बढ़ जाने पर विग्रह का कारण बन जाते हैं। अधिक संग्रह की इच्छा शोषण को जन्म देती है, जिसके कारण जन-असन्तोष फैलता है, भ्रष्टाचार पनपता है, अनैतिकता को खुलकर खेलने का अवसर मिलता है। और वासना—सीमातीत वासना के कितने कटु परिणाम होते हैं, यह सर्वविदित है, धन-हानि, शक्ति-हानि, प्रतिष्ठा-हानि तो होती ही है, जीवन भी संकट में पड़ जाता है।

इसीलिए कहा गया है—काम शूल की तरह चुभने वाला, विष के समान प्राण हरण करने वाला और आशीविष के समान क्षणमात्र में भस्म करने वाला है।[1] यह विषबुझे बाण और तीखे शूलों के समान पीड़ा-दायी है।[2]

काम अथवा इच्छा या कामना का कोई अन्त नहीं है यह आकाश के समान अनन्त है।[3] इसे समुद्र के समान अन्तरहित[4] भी बताया गया है।

यद्यपि ऐसे दुस्तीर्ण और अनन्त काम (इच्छा समूह—कामना समूह) को वश में करना, इसे त्यागना अत्यन्त कठिन है, किन्तु विवेकी मार्गानुसारी अपने विवेक से इस दुष्कर कार्य को सरल बनाने का दृढ़तम प्रयास करता है और इस असीम को ससीम बनाकर इस पर विजय प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रहता है, कामावेग को वश में रखता है।

गीता में कामात् क्रोधः कहकर क्रोध की उत्पत्ति काम से बताई गई है। इसका अभिप्राय यह है कि मन में किसी प्रकार की कामना उठी, कोई इच्छा उत्पन्न हुई और यदि वह पूरी नहीं हुई तो क्रोध आ गया।

क्रोध वस्तुतः एक आवेग है, ज्वाला है, इसका निवास व्यक्ति के अन्तरंग में है, मन मस्तिष्क में है, इसीलिए इसे आन्तरिक शत्रु कहा है, बाह्यरूप में तो इसका प्रगटीकरण होता है।

---

१ सल्लंकामा, विसंकामा
कामा आसीविसोवमा। —उत्तराध्ययन सूत्र ६/५३

२ सत्तिसूलूपमा कामा। —थेरीगाथा

३ इच्छा हु आगाससमा अणंतिया —उत्तराध्ययन सूत्र

४ समुद्र इवहि कामः नैव कामस्यान्तोऽस्ति। —तैत्तिरीय ब्राह्मण २/२/५

क्रोध एक ऐसी आग है जो स्वयं व्यक्ति को जलाती है, उसके रक्त में उबाल लाती है, शारीरिक-मानसिक-आत्मिक सभी प्रकार की शक्तियों का ह्रास करती हैं। क्रोधी व्यक्ति का शौर्य अग्नि पर गिरे नमक की तरह चर-चर की आवाज के साथ विनष्ट हो जाता है।[1] उसके सत्य, शील आदि गुणों का क्रोध हनन कर लेता है।[2]

क्रोध के दुष्परिणाम बताते हुए अंग्रेज विचारक इंगरसोल ने कहा है कि यह विवेक बुद्धि को नष्ट कर देता है।[3] यूनानी विचारक पाइथागोरस[4] ने तो क्रोध का प्रारम्भ मूर्खता से और अन्त पश्चात्ताप में बताया है।

वैज्ञानिक भी क्रोध को शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त हानिप्रद मानते हैं।

कोई भी विवेकी व्यक्ति ऐसे हानिप्रद क्रोध से बचना चाहेगा। हानि किसे पसन्द है ? इसीलिए मार्गानुसारी क्रोध को दूर हटाता है, क्रोध के निमित्तों से बचता है, ऐसी स्थितियों को उत्पन्न नहीं होने देता, सतत् जागरूक और सावधान रहता है।

मोह का नीतिशास्त्रीय प्रसंगोपात्त अर्थ यहां मूढ़ता समझना चाहिए। मूढ़ता का अभिप्राय है—विवेक शक्ति का नाश। क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य अथवा क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस प्रकार के निर्णय की क्षमता का अभाव अथवा ह्रास।

गीताकार के शब्दों से **क्रोधाद् भवति सम्मोह** क्रोध से मूढ़ता की स्थिति उत्पन्न होती है। और यह निश्चित है कि मूढ़ मानव पतन की राह पकड़ लेता है। कर्तव्याकर्तव्य का विवेक न कर पाने के कारण वह उस पथ का अनुगामी बन जाता है, जो अनैतिकता अथवा दुर्नीति की ओर गतिशील होता है। मूढ़ता की स्थिति में व्यक्ति ऐसे कार्य भी कर बैठता, जिनका परिणाम बहुत भयंकर होता है।

---

१. अति कोपनस्य शौर्यं वन्हिस्थित लवणमिव शतधा विशीर्यते।
—सोमदेवसूरि : नीतिवाक्यामृत

२. कुद्धो····सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज। —प्रश्नव्याकरण २।२

३. Anger blows out the lamp of mind. —R. G. Ingersoll

४. Anger begins in folly and ends in repentance.
—Pythagoras.

लोभ तो पाप का बाप ही है। लोभी मानव पर एक प्रकार का नशा छाया रहता है। उसके मन-मस्तिष्क पर लोभ का—लालच का चश्मा चढ़ा होता है। वह भयंकर से भयंकर दुष्कृत्य कर डालता है। धन के लिए वह किसी के प्राण भी ले सकता है, आग भी लगा सकता है और भी अनेक प्रकार के पाप कर्म—घोर अनैतिक कर्म कर सकता है।

मात्सर्य कहते हैं, ईर्ष्या को। किसी अन्य की उन्नति, धन-सम्पत्ति, उपार्जन की अधिक क्षमता, समाज अथवा राष्ट्र में प्रतिष्ठा को देख/सुन-कर व्यक्ति के हृदय में जो उस व्यक्ति के प्रति जलन उत्पन्न होती है, वह ईर्ष्या है।

ईर्ष्या एक प्रकार का विष है जो ईर्ष्यालु के सम्पूर्ण जीवन को ही विषाक्त कर देता है। ईर्ष्या के कारण गुणवान व्यक्ति भी तिरस्कृत होने लगता है।

इन्द्रियों को वश में करना—इन्द्रियाँ पांच हैं—(१) स्पर्शन, (२) रसना, (३) घ्राण, (४) चक्षु और (५) श्रोत्र। इन पाँचों इन्द्रियों को वैदिक दर्शनों में ज्ञानेन्द्रियां कहा गया है। पश्चिमी दर्शनकारों ने इनको Senses कहा है।

इन्द्रियों को वश में करने का अभिप्राय है—इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ओर जाने से—उनमें प्रवृत्त होने से रोकना।

स्पर्शन इन्द्रिय का विषय काम-सेवन है, रसना इन्द्रिय स्वादिष्ट रसों का सुख लेना चाहती है, घ्राण इन्द्रिय सुगन्धित पदार्थों की मधुर गंध की ओर लालायित होती है, चक्षु इन्द्रिय सुन्दर रूप को देखकर मुग्ध बन जाती है और श्रोत्र इन्द्रिय मीठे-मीठे प्रियकारी सुखप्रद शब्द सुनने को ललचाती है।

इन इन्द्रियों को इनके इच्छित प्रिय विषयों की ओर न जाने देना, इन पर नियंत्रण, नियमन और संयमन करना, इन्द्रिय वशीकरण है।

यद्यपि यह सत्य है कि मार्गानुसारी पूर्णरूप से इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता; किन्तु वह इन्हें अनियंत्रित भी नहीं छोड़ सकता क्योंकि अनियन्त्रित इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर दुष्ट अश्व के समान दौड़ती हैं और मानव को पतन के गर्त में गिरा देती है, उसके धार्मिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देती हैं।

अतः व्यावहारिक नीति का पालन करने वाला सद्गृहस्थ इन्हें

(अपनी समस्त इन्द्रियों को) अंकुश में रखकर नैतिक जीवन व्यतीत करता है।

यह मार्गानुसारी के ३५ गुण जैन साधक की व्यावहारिक नीति के निर्देशक सूत्र हैं। इन निर्देशों को हृदयंगम करता हुआ वह अपने जीवन-व्यवहार को संचालित करता है और नीति के उत्कर्ष की ओर गति-प्रगति करता है।

प्रस्तुत गुणों की विवेचना करने से यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि इनमें से कुछ गुण तो केवल शरीर स्वस्थता सम्बन्धी हैं; जैसे अजीर्ण होने पर भोजन न करे और नियत समय पर सन्तोष के साथ भोजन करे (१६वाँ और १७वाँ गुण), कुछ धर्म भावना तथा धर्माचरण से सम्बन्धित हैं (१५वां गुण) और शेष व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन, उसके आचरण को उन्नत और समाजोपयोगी बनाने वाले हैं। ३४वाँ और ३५वाँ गुण व्यक्ति को अगली सीढ़ी अर्थात् गृहस्थधर्म के पालन के लिए उपयुक्त भूमिका तैयार करता है।

यद्यपि यह सत्य है कि मार्गानुसारी व्यक्ति की भूमिका प्राथमिक है, वह पूर्णरूप से नैतिक आदर्श का पालन नहीं कर पाता, किन्तु नीतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए अपने कदम तो अवश्य बढ़ाता है, नैतिकता का अभ्यास करता है और शनैः शनैः इस अभ्यास को दृढ़ से दृढ़तर करता चला जाता है।

उसका ध्येय धर्म साधना होता है, वही उसका लक्ष्य होता है, उसी की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील रहता है। इसी ध्येय की सिद्धि के लिए वह इन ३५ गुणों द्वारा व्यावहारिक जीवन को अधिक से अधिक शुद्ध बनाता है।

नीति का लक्ष्य भी यही है। जैसाकि पश्चिमी विचारक श्री वार्डलॉ ने अपने कथन में व्यक्त किया है—नैतिकता धर्म का व्यावहारिक रूप है और धर्म नैतिकता का सैद्धान्तिक रूप।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी कहा है—इन ३५ गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति गृहस्थ धर्म धारण[2] करने के योग्य बनता है। इसका अभि-

---

1 Morality is religion in practice; Religion is morality in principle.
—Ralph Wardlaw.
(quoted—Bunches of Sayings, p. 114)

२ गृहिधर्माय कल्पते। —योगशास्त्र, १/५६

प्राय यह है कि ये सद्गुण नैतिक जीवन की आधारभूमि अथवा भूमिका रूप है।

अन्य नैतिक गुण

उपरोक्त ३५ गुणों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में नीतिवान विवेकी सद्गृहस्थ के कतिपय अन्य गुण भी बताये हैं। ये गुण हैं—

(१) अक्षुद्रता—विशाल हृदयता।

(२) रूपवान—इसका अभिप्राय नीतिशास्त्रीय संदर्भ में शारीरिक स्वस्थता है। क्योंकि जिनका रूप सुन्दर नहीं है, वे भी नैतिक हो सकते हैं और रूपवान व्यक्ति भी अनीतिपूर्ण आचरण कर सकते हैं।

(३) सौम्य स्वभाव—स्वभाव की सौम्यता का अभिप्राय है, क्रोध, लोभ आदि आवेग-संवेग नियन्त्रित और नियमित हों।

(४) लोकप्रियता—समाज तथा परिवार के सभी व्यक्ति उसके सौम्य स्वभाव के कारण उससे स्नेह करते हैं।

(५) अक्रूरता—क्रूरता का अभाव। अन्य लोगों को अपनी शक्ति से दबाकर अनुचित लाभ न उठाना।

(६) पापभीरु—पापों से डरने वाला।

(७) अशठता—छल-कपट का व्यवहार न करना।

(८) सुदाक्षिण्य—धर्मकार्य में दूसरों की सहायता करना, दाक्षिण्यता का अभिप्राय कुशलता-चतुराई भी है। इसका अभिप्राय यह है कि कुशलतापूर्वक व्यवहार करे।

(९) लज्जालु—अकृत्य करने में लज्जा अनुभव करना।

(१०) दयालु—प्राणीमात्र पर दया की भावना रखना।

(११) मध्यस्थता—माध्यस्थ्य भावना भी है, इसका अभिप्राय यह है कि राग-द्वेष कम करके प्राणीमात्र की कल्याण भावना रखना।

(१२) सौम्यदृष्टि—आँखों में सौम्यता का सागर लहराता है।

(१३) गुणरागी—सद्गुणों को ग्रहण करना।

(१४) सत्कथी—सत्य कहने वाला तथा सत्य का पक्ष ग्रहण करने वाला।

(१५) सुदीर्घदर्शी—विचारवान, विवेकी, आगे-पीछे का परिणाम सोचकर कार्य करने वाला।

(१६) विशेषज्ञ—अच्छाई-बुराई और आत्मा के हित-अहित को विशेष रूप से गहराई से जानने वाला।

(१७) वृद्धानुगामी—वृद्ध का अभिप्राय यहां उन व्यक्तियों से है जो ज्ञान और आचरण में अधिक परिपक्व हों; जिनका आचरण असंदिग्ध और नीतिपूर्ण हो, उनका अनुगमन करना।

(१८) विनीत—विनम्र और विनयपूर्वक आचरण करने वाला।

(१९) कृतज्ञ—अपने प्रति किये गये उपकार को विस्मृत न होने वाला।

(२०) परहितकारी—परोपकार करने वाला।

(२१) लब्धलक्ष्य—जीवन के साध्य का ज्ञाता।[1]

इसी प्रकार के १७ गुणों का निर्देश पंडित आशाधरजी ने अपने सागार धर्मामृत में किया है।[2]

---

१ धम्मरयणस्सजोगो अखुद्दो रूववं पगइसोम्मो।
लोयप्पियो अक्कूरो, भीरु असठो सुदक्खिन्नो॥
लज्जालुओ दयालु मज्झत्थो सोम्मदिट्ठी गुणरागी।
सक्कह सपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नू॥
बुड्ढाणुगो विणीओ, कयन्नुओ परहिअत्थकारी य।
तह चेव लद्धलक्खो, एगवीसगुणो हवइ सड्ढो॥

—प्रवचनसारोद्धार २३१, गाथा १३५६–१३५८

२ सागार धर्मामृत (अध्याय १) में पंडित आशाधरजी द्वारा वर्णित १७ गुण यह हैं—(१) न्यायपूर्वक अर्थोपार्जन करे (२) गुणीजनों को मानने वाला (३) सत्य बोलने वाला (४) त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का इस प्रकार सेवन करे कि इनमें से किसी का विरोध न हो (५) योग्य (धर्माचरण में सहायक, सौम्य स्वभाव वाली) स्त्री (६) उचित स्थान (कलह रहित पास-पड़ौस) (७) ऐसा निवास स्थान जहां स्वच्छ वायु और प्रकाश का आवागमन हो (८) लज्जाशील हो (९) उचित आचरण करे (१०) शुद्ध, सात्विक, शाकाहार (११) सज्जनों की संगति (१२) सुबुद्धिशाली (१३) कृतज्ञ (१४) इन्द्रियों को वश में रखने वाला (१५) धर्म का उपदेश सुनने और समझने में रुचि रखने वाला (१६) दयावान (१७) पापों से डरने वाला, पाप कार्यों से जिसका हृदय कांपता हो।

किन्तु इन सभी गुणों का समावेश आचार्य हेमचन्द्र द्वारा वर्णित ३५ गुणों में हो जाता है।

इन गुणों के धारण और परिपालन का जीवन में सबसे बड़ा लाभ यह होता है उस व्यक्ति की समस्त वृत्ति-प्रवृत्तियाँ और आचरण अनुशासित हो जाता है। विचारधारा में नैतिकता ओतप्रोत हो जाती है और उसी नैतिकता से उसका व्यावहारिक जीवन अनुप्राणित तथा संचालित होता है।

व्यावहारिक जीवन की नैतिकता मानव को नैतिक उत्कर्ष की ओर प्रेरित करती है और वह उस ओर कदम बढ़ाता है, नीति के उत्कर्ष से अपने जीवन को ओत-प्रोत करने का दृढ़ प्रयास करता है।

×

५

नैतिक उत्कर्ष

(ETHICAL UPLIFTMENT)

(श्रावक की आचार नीति)

सुसंस्कृत, सुसभ्य, श्रेष्ठ आचरण युक्त व्यावहारिक जीवन नैतिक उत्कर्षता की ओर बढ़ता कदम है, ऐसा व्यक्ति शुभ (good) से परम शुभ (utmost good) की ओर बढ़ता है। साथ ही ऐसा सुन्दर नीतियुक्त व्यावहारिक जीवन आध्यात्मिक जीवन का प्रवेश-द्वार भी है।

विवेकशील मानव की प्रवृत्ति निरन्तर प्रगति की ओर होती है, वह अपने लक्ष्य की ओर दृढ़ कदम बढ़ाता है। व्यावहारिक जीवन के गुणों के अभ्यास में परिपक्व होने पर वह आध्यात्मिक गुणों को धारण करने और अपनी आत्मिक उन्नति के लक्ष्य की ओर प्रयत्नशील होता है। इसके लिए वह श्रावक के व्रत धारण करता है।

'श्रावक' शब्द का निर्वचन

'श्रावक' जैन धर्म का विशिष्ट शब्द है। इसका अर्थ भी कुछ अधिक गहराई लिए हुए है।

श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति 'श्रु' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है सुनना। जो श्रमणों से श्रद्धापूर्वक निर्ग्रन्थ प्रवचन को सुनता है और तदनुसार उस पर आचरण करने का प्रयास करता है, वह श्रावक है।[1]

---

१ सम्मत्तदंसणाइं पडदिअहं जइजणा सुणेइ य।
सामायारी परमं जो खलु, तं सावगं विंति॥ —समणसुत्तं, गाथा ३०१

'श्रावक' शब्द के एक-एक अक्षर का भी विशिष्ट अर्थ बतलाया है। श्रावक शब्द में तीन अक्षर हैं—'श्रा' 'व' और 'क'।

श्रा—वह तत्वार्थ चिन्तन द्वारा अपनी श्रद्धा भावना को सुदृढ़ करता है।

व—सत्पात्रों में निरन्तर धनरूप बीज को बोता है।

क—शुद्ध साधु की सेवा करके पापरूप धूलि को दूर फेंकता रहता है।[1]

इनमें से 'श्र' का प्रतीकार्थ सच्चे और दृढ़ विश्वास को संकेतित करता है, 'व' दान की प्रेरणा देता है और 'क' सेवाधर्म के महत्त्व को प्रतिपादित करता है।

श्रावक तीसरा लक्षण[2] दिया गया है—

(१) जो व्रतों का अनुष्ठान करने वाला है,

(२) शीलवान है,[3]

(३) स्वाध्याय तप आदि गुणों से युक्त है,

(४) सरल व्यवहार करने वाला है,

---

१ श्रद्धालुतां श्रातिपदार्थचिन्तनाद्, धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।
किरत्यपुण्यानि सुसाधु सेवना, दत्तोपि तं श्रावक माहुरुत्तमा॥
और भी देखें— —श्राद्धविधि, पृ० ७२, श्लोक ३

श्रद्धालुतां श्राति, शृणोति शासनम्। दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्॥
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमम्। तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः॥

२ कयवयकम्मो तह सीलवं, गुणवं च उज्जु ववहारी।
गुरु सुस्सूसो पवयण कुसलो खलु सावगो भावे॥
—धर्मरत्न प्रकरण ३३

३ शील का स्वरूप इस प्रकार है—१ धार्मिक जनों से युक्त स्थान में रहना, उन की संगति करना, २ आवश्यक कार्य के बिना दूसरे के घर न जाना ३ भड़कीली पोशाक नहीं पहनना ४ विकार पैदा करने वाले वचन न बोलना ५ द्यूत आदि न खेलना ६ मधुरनीति से कार्यसिद्धि करना। इन छह शीलों से युक्त श्रावक शीलवान कहलाता है।
—श्री मधुकर मुनि : जैन धर्म की हजार शिक्षाएं, पृ० १०८ —पाद टिप्पण

(५) सद्गुरु की सेवा करने वाला है,
(६) प्रवचन कुशल है,
वह भाव श्रावक है।

भाव का अभिप्राय है, जिसका अन्तर्तम श्रावकगुणों से ओत-प्रोत हो चुका है।

श्रावक शब्द के तीनों अक्षरों का निर्वचन इस प्रकार भी किया गया है—

श—श्रद्धालु—सत्य-तथ्य पर दृढ़ विश्वास रखने वाला।
व -विवेकी—प्रत्येक कार्य को विवेकपूर्ण ढंग से करने वाला।
क—क्रियावान—शुभ कार्यों में सतत उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करने वाला।

श्रावक शब्द का यह अन्तिम अक्षर-निर्वचन नीतिशास्त्र के लिए अत्यधिक उपयोगी है; क्योंकि सत्य पर दृढ़ विश्वास हुए बिना शुभाशुभादि का निर्णय तथा विवेकपूर्ण आचरण नहीं हो सकता और विवेक के अभाव में वह अपनी स्वीकृत मर्यादाओं—व्रतों का पालन सम्यक् प्रकार से, सही ढंग से नहीं कर सकता।

अतः नैतिक आचार के लिए उसमें सत्य श्रद्धा (विश्वास), विवेक और क्रियाशीलता तीनों ही आवश्यक हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में व्रतों का संक्षिप्त परिचय उपयोगी होगा, क्योंकि व्रतों की स्वीकृति के उपरान्त ही सद्गृहस्थ श्रावक पद का अधिकारी बनता है अर्थात् श्रावक पद के लिए व्रत अनिवार्य है।

व्रत का स्वरूप

'व्रत' मानव द्वारा स्वयं स्वीकृत मर्यादा हैं। यह किसी अन्य द्वारा जबरदस्ती नहीं थोपे जाते अपितु नैतिक उत्कर्ष की ओर अपने दृढ़ कदम बढ़ाता हुआ मानव स्वेच्छा से इन्हें स्वीकारता है।

यह ध्यातव्य है कि श्रावक एक पद है, जिसको ग्रहण किया जाता है। जिस प्रकार डाक्टर के घर जन्म लेने से ही कोई डाक्टर नहीं बन जाता, अपितु उसे डाक्टरी की शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है और उस में उत्तीर्ण होकर डाक्टरी की डिग्री लेनी पड़ती है तभी वह डाक्टर बनता है। इसी प्रकार श्रावक भी जब अणुव्रतों—श्रावकव्रतों को ग्रहण करके उनकी परिपालना करता है तभी वह व्रती श्रावक के पद से विभूषित होता है और नैतिक उत्कर्ष की ओर क्रियाशील होकर शुभत्व का आचरण करता है।

व्रती श्रावक[1] अथवा नैतिक शुभ का आचरण करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि उसका हृदय दर्पण के समान स्वच्छ हो—अद्दागसमाणा और उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति माता-पिता के समान वत्सलतापूर्ण हो–अम्मापिउसमाणा।

वह गुणी व त्यागीजनों आदि का सत्कार और सम्मान करे ही, साथ ही दीन-अनाथ, समाज के अभावग्रस्त, रोगी, अकाल-बाढ़ पीड़ित लोगों की भी यथाशक्ति सहायता करे, उन्हें अनुकंपापूर्वक दान दे, सहयोग करे।

हृदय की स्वच्छता और उदारता तथा सेवा-सहयोग की वृत्ति यह सभी शुभ प्रत्यय हैं, जो नैतिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक हैं। ऐसा व्यक्ति ही अपने स्वीकृत व्रतों का परिपालन करता हुआ पूर्णरूप से नैतिक जीवन जीने में सक्षम होता है।

श्रावक व्रत

जैन शास्त्रों में श्रावक व्रतों की बहुत ही गहन-गम्भीर और विस्तृत विवेचना की गई है। इनके आध्यात्मिक, व्यावहारिक और नैतिक पक्ष पर भरपूर प्रकाश डाला गया है। आचार्यों ने इन व्रतों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—

१. अणुव्रत २. गुणव्रत, ३. शिक्षाव्रत

अणुव्रत पाँच हैं—१. अहिंसाणुव्रत, २. सत्याणुव्रत, ३. अचौर्याणुव्रत,

---

१ ग्रंथों में व्रती श्रावक के अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं—जैसे—

(१) श्रमणोपासक—श्रमणों (साधु-साध्वियों) की उपासना करने वाला।
(२) अणुव्रती—छोटे व्रतों (Partial vows) का पालन करने वाला।
(३) व्रताव्रती—व्रतों का आंशिक रूप से पालन करने से व्रती और पूर्णतया पालन की क्षमता के अभाव से अव्रती।
(४) विरताविरत—भोगेच्छाओं का आंशिक रूप से त्यागी।
(५) देशविरत—सांसारिक विषयों का आंशिक त्यागी।
(६) देशसंयत—यथाशक्य संयम पालन करने वाला।
(७) संयमासंयमी—कुछ अंश में संयमी और कुछ अंश में असंयमी।
(८) श्राद्ध—देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाला।
(९) उपासक—देव और धर्म की उपासना करने वाला।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत और (५) अपरिग्रहाणुव्रत[1]।

गुणव्रत तीन हैं—(६) दिशापरिमाणव्रत (७) उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत और (८) अनर्थदण्डविरमणव्रत।

शिक्षाव्रत चार हैं—(९) सामायिक व्रत (१०) देशावकाशिक व्रत (११) पौषधोपवास व्रत और (१२) अतिथि संविभाग व्रत।[2]

---

१. स्थानांग (५/१), उपासकदशांग, आवश्यक सूत्र आदि अंग-आगम ग्रंथों में इन पाँचों अणुव्रतों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—

१. स्थूल प्राणातिपातविरमण २. स्थूल मृषावाद विरमण ३. स्थूल अदत्तादान विरमण ४. स्वदार (स्वपत्नी) सन्तोषव्रत ५. इच्छापरिमाण व्रत।

२. गांधीजी ने भी सदाचारी नैतिक गृहस्थ के लिए ११ व्रतों का विधान किया है—

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असग्रह।
शरीरश्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी समभावना।
ही एकादशे सेवावी नम्रत्वे व्रत निश्चये॥

(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अचौर्य (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह (अधिक संग्रह नहीं करना) (६) शरीर श्रम (७) अस्वाद (रसनाइन्द्रिय का संयम) (८) भयवर्जन (न स्वयं भयभीत होना और न अन्य को भयभीत करना) [विशेष—प्रश्न व्याकरण २/२ और उत्तराध्ययन ६/२ में भी कहा गया है कि भयभीत साधक साधना से विचलित हो जाता है, वह अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकता। भय से उपरत साधक ही अहिंसा (अन्य सभी स्वीकृत व्रतों का भी) का पालन कर सकता है। अतः जैन विचारणा के अनुसार अभयव्रत-साधना का प्राण है।]

(९) सर्वधर्मसमभाव (१०) स्वदेशी (अपने देश में निर्मित वस्तुओं का उपयोग करना) (११) समभावना (मानव मात्र को समान समझना—छूआछूत—स्पर्श्यास्पर्श्य की भावना न रखना)

[विशेष—इनमें से प्रथम पाँच व्रत तो जैन धर्मानुमोदित पंच अणुव्रत ही हैं। शरीरश्रम, अस्वाद, भयवर्जन आदि भी जैन धर्मानुकूल हैं। स्वदेशी व्रत राष्ट्रीय भावना को प्रगट करता है, जो मार्गानुसारी के ३५ गुणों में से चौदहवें गुण में समाविष्ट हो जाता है।]

व्रतों के संबंध में सावधानियां

जैन शास्त्रों में इन १२ व्रतों को ग्रहण करना तथा इनकी साधना करना गृहीधर्म कहा गया है। गृहस्थ इन व्रतों का पालन करता भी है, किन्तु साधक को व्रत ग्रहण करने से पहले अपनी शक्ति, सामर्थ्य आदि की अच्छी तरह परख कर लेनी चाहिए, जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—

अपना मनोबल, शारीरिक (इन्द्रियों की) शक्ति, पराक्रम, स्वास्थ्य, श्रद्धा, आरोग्य (रोगरहितता) क्षेत्र, (स्थान) और काल को भली भाँति जानकर ही किसी सद्कार्य में स्वयं को नियोजित करना चाहिये।[1]

व्रत ग्रहण करने वाले नैतिक सद्गृहस्थ के लिए आवश्यक है कि वह अपने स्वीकृत यम-नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करे। आत्मवंचना आदि दोष इस स्थिति में बिल्कुल भी अपेक्षित नहीं हैं। सरलता और दृढ़ता ही अति आवश्यक है।

यहाँ प्रसंगोपात्तरूप में एक बात उल्लेखनीय है कि जैन धर्म मूलरूप से अनाग्रही है। आगमों में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि स्वयं भगवान ने अथवा धर्मगुरुओं ने किसी भी व्यक्ति को व्रत ग्रहण करने का आग्रह किया हो, अपितु व्यक्ति अपनी शक्ति, स्थिति और सामर्थ्य के अनुसार स्वयं ही व्रत ग्रहण करने की इच्छा प्रगट करता है और भगवान अथवा धर्मगुरु इतना ही कहते हैं—हे देवानुप्रिय! जिसमें तुम्हें सुख हो वैसा ही करो, धर्म कार्य में विलंब मत करो।[2]

वस्तुतः व्रतग्रहण नैतिकता के उत्कर्ष की वह स्थिति है जहाँ मानव की नैतिक चेतना इतनी विकसित हो जाती है कि उसे प्रेरणा अथवा आग्रह की आवश्यकता ही नहीं होती, वह स्वयं धर्मोपदेश सुनकर स्वयं ही अपनी विवेक बुद्धि से कर्तव्याकर्तव्य, करणीय-अकरणीय आदि का ऊहापोह करके एक दृढ़ निश्चय की अवस्था पर पहुंच जाता है और तदनुसार नियम ग्रहण करके अपने जीवन को नैतिक उत्कर्ष की ओर गतिशील बनाता है।

---

१. बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए॥ —दशवैकालिक ८/३५

२. जहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।

अतिक्रम आदि

यद्यपि साधक नैतिक उत्कर्षता की ओर अपने दृढ़ कदम बढ़ाता है किन्तु मानव-जीवन अत्यन्त जटिल है, जीवन में अचानक ही ऐसी परिस्थितियां आ जाती हैं कि वह स्वयं को ऐसे चौराहे पर खड़ा पाता है, जहाँ से उसे यह सुझाई नहीं देता कि किस मार्ग पर चले।

आर्थिक उतार-चढ़ाव, सामाजिक समस्याएँ, पारिवारिक झमेले आदि अनेक प्रकार के स्पीड ब्रेकर उसके जीवन में आ जाते हैं, कभी स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ, पत्नी-बच्चों की समस्याएँ आदि बहुत सी विपरीत और विषम परिस्थितियाँ उसके मस्तिष्क को गड़बड़ा देती हैं, मनोबल टूटने लगता है। ऐसी परिस्थितियों में उसके लिए नैतिकता एवं धर्म के मार्ग पर चलना कठिन हो जाता है।

उसके मन-मस्तिष्क में दुर्बलता का प्रवेश हो जाता है। विचार प्रवाह उमड़ने लगता है—इन व्रत-नियमों में बंधकर नैतिक जीवन व्यतीत करना तो असम्भव है। और इस स्थिति में उससे नैतिक जीवन में दोष लगने की सम्भावना हो जाती है।

फिर मानव, भूल का पात्र भी है।[1] जब तक वह नैतिकता की सर्वोच्च श्रेणी तक नहीं पहुँच पाता तब तक उससे जाने-अनजाने भूलें हो भी जाती हैं।

मानव की इस दुर्बलता की ओर भी जैन विचारकों ने ध्यान दिया है और इस दृष्टि से व्रत-नियमों के अतिक्रमण[2] की चार कोटियाँ बताई हैं।

(१) अतिक्रम—नैतिक आचरण के उल्लंघन का मन में विचार या कल्पना उत्पन्न होना।

(२) व्यतिक्रम—ग्रहण किये हुए नियम की मर्यादा को उल्लंघन करने के लिए क्रियाशील होना।

---

१. To err is humane.

२. अतिक्रमण का अभिप्राय, नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में स्वीकृत व्रतों-नियमों तथा नैतिक आचरण से विचलित हो जाना अथवा आचरण में मलिनता का प्रवेश हो जाना है।

(३) अतिचार—नियम का आंशिक रूप से अतिक्रमण हो जाना।
(४) अनाचार—नियम को भंग कर देना।

इनमें से अनाचार तो स्पष्ट रूप से अनैतिकता है ही। नीतिवान पुरुष के जीवन में इसका कोई स्थान नहीं होता, क्योंकि अनाचार को पूर्णतया त्यागकर ही तो वह नीति के पथ पर बढ़ता है।

अतिक्रम और व्यतिक्रम, यद्यपि अनैतिक तो हैं, किन्तु यह विशेष रूप से मानव के व्यक्तिगत जीवन से ही सम्बन्धित हैं। इनका पारिवारिक, सामाजिक प्रभाव नगण्य होता है। और इनके बाद मानव स्वयं ही सँभल भी जाता है, विवेक बुद्धि सजग होते ही वह स्वयं ही नैतिक पथ पर पुनः स्थिर हो जाता है।

अतिचार, ऐसा दोष है जिसका व्यक्ति के स्वयं के जीवन पर तो प्रभाव पड़ता ही है, साथ ही अन्य व्यक्तियों पर, समाज पर, परिवार पर भी इसका प्रभाव पड़ता है।

यही कारण है कि जैनाचार्यों ने श्रावक के प्रत्येक व्रत के साथ अतिचार गिनाये हैं और उनसे बचने की प्रेरणा दी है। कहा है—यह अतिचार[1] जानने चाहिए, किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं।

नीतिकार और आचारशास्त्री सभी इस बात पर एकमत हैं कि मानव को दोषरहित जीवन व्यतीत करना चाहिए—नैतिक दृष्टि से भी और धार्मिक दृष्टि से भी।

व्रत-ग्रहण की विधि एवं मर्यादा

इतना तो निश्चित है कि नीतिवान व्यक्ति जो अभी नैतिक उत्कर्ष की ओर कदम बढ़ा रहा है, वह गृहत्यागी श्रमण नहीं बना है, अभी वह गृहस्थ ही है, उसे गृहस्थ सम्बन्धी सभी व्यावहारिक कर्तव्य भी पालनकरने होते ही हैं, इसी कारण वह अहिंसा आदि व्रतों का पालन सम्पूर्ण रूप से करने में सक्षम नहीं हो पाता, वह इन व्रतों को सीमित, आंशिक रूप से मर्यादापूर्वक ग्रहण करके पालन करता है। आंशिक रूप से ग्रहण करने के कारण उसके व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।

विधि और मर्यादा—इन दोनों का व्रतों के सन्दर्भ में विशिष्ट स्थान है।

---

१. अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। —प्रतिक्रमण सूत्र

मानव के नैतिक आचरण के विचारणा, वाचनिक प्रवृत्ति और कायानुवृत्ति के तीन साधन हैं और तीन ही प्रकार हैं। साधनों को जैन शास्त्रों में 'करण' कहा गया है और प्रकार का अभिप्राय 'योग' है।

योग तीन हैं—(१) मनोयोग, (२) वचनयोग और (३) काययोग।

करण भी तीन हैं—(१) कृत—स्वयं करना (२) कारित—किसी दूसरे को आज्ञा अथवा प्रेरणा देकर कराना और (३) अनुमोदन—किसी दूसरे को कोई कार्य करते देखकर उसकी प्रशंसा करना, उचित ठहराना।

इन तीनों योगों और तीन करणों का सन्तुलन—बेलेन्स रखकर व्रतों का परिपालन किया जाता है और नैतिक आचरण भी किया जाता है।

तीन योग एवं तीन करण की शुद्धतापूर्वक (नवकोटि) व्रतों की आराधना साधु-साध्वी ही कर पाते हैं, क्योंकि वे सभी सावद्यकारी (पापमय तथा अनैतिक) क्रियाओं से पूर्णतया विरक्त—सर्वविरत होते हैं।

लेकिन गृहस्थी के उत्तरदायित्व के कारण नीतिवान सद्गृहस्थ नवकोटि व्रत का पालन नहीं कर पाता। उसका अनुमोदना करण खुला रहता है, अतः उसका त्याग छह कोटि होता है।

फिर गृहस्थ अपनी स्थिति—परिस्थिति के अनुसार व्रत ग्रहण करता है तथा उनका परिपालन करता है। वह एक योग—एक करण, दो योग-दो करण आदि विभिन्न प्रकार से व्रत ग्रहण कर सकता है, किन्तु यह आवश्यक है कि व्रतों का परिपालन निरतिचार—बिना कोई दोष लगाये ही करे।

इसी प्रकार यह व्यक्ति की अपनी निजी क्षमता पर निर्भर है कि वह कितनी नैतिकता का पालन कर सकता है; किन्तु यह आवश्यक है कि अपने आचार-विचार में छलना-प्रवंचना न करे। ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसका बाह्य रूप—लोक दिखावे का रूप कुछ और हो तथा आन्तरिक रूप कुछ दूसरे ही प्रकार का हो। हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और, यह प्रवृत्ति-नैतिक एवं धार्मिक सभी दृष्टिकोणों से निन्दनीय और गर्हणीय है। ऐसी प्रवृत्ति की अपेक्षा किसी भी धार्मिक तथा नैतिक व्यक्ति से नहीं की जा सकती।

अब इस नैतिक आचार-विचार के परिप्रेक्ष्य में श्रावक व्रतों और उनके अतिचारों का विवेचन करेंगे।

अणुव्रत

जैसा कि इसी अध्याय में बताया जा चुका है कि श्रावक व्रतों में सर्वप्रथम, सर्वप्रमुख और श्रावक जीवन के आधारभूत पांच अणुव्रत हैं—(१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अस्तेयाणुव्रत (४) अचौर्याणुव्रत और (५) अपरिग्रहाणुव्रत।

अहिंसाणुव्रत

यद्यपि सभी धर्मों-दर्शनों में अहिंसा का गौरवपूर्ण स्थान है। इसे परमधर्म बताया गया है। अहिंसक व्यक्ति को नैतिक कहा गया है। किन्तु जैन-धर्म-दर्शन का तो प्राण ही अहिंसा है। जैन-आचार-विचार-नीति आदि सभी कुछ अहिंसा पर आधारित हैं।

इन्हीं सब कारणों से जैन शास्त्रों में अहिंसा का विशद्, तलस्पर्शी, गहन, गम्भीर और सर्वांगपूर्ण विवेचन हुआ है।

जैन आगमों में हिंसा के दो प्रमुख भेद बताये गये हैं—(१) संकल्पजा हिंसा और (२) आरम्भजा हिंसा।[1] इनमें से गृहस्थ साधक संकल्पजा हिंसा का त्यागी होता है।

बाद के व्याख्याकारों ने हिंसा के चार भेद कर दिये हैं—(१) संकल्पी हिंसा (२) विरोधी हिंसा (३) उद्यमी हिंसा (४) आरंभजा हिंसा। किन्तु विरोधी, उद्यमी और आरंभी—यह तीनों ही आरंभजा हिंसा के उत्तर भेद हैं। विरोधी हिंसा का अभिप्राय है—अपराधी व्यक्ति को दण्ड देना, उसके साथ संघर्ष करना; उद्यमी हिंसा–उद्यम, उद्योग, आजीविका के साधनों के उपार्जन में होने वाली हिंसा है और आरंभी हिंसा गृह व्यवस्था, भोजन बनाना आदि सभी कार्यों में अनिवार्य रूप से हो जाने वाली हिंसा को कहा गया है।

संकल्पजा हिंसा का अभिप्राय है—जान-बूझकर, मारने के इरादे से किसी भी प्राणी का वध करना। हिंसा को नीयत से वध करना संकल्पजा हिंसा है।

---

१. से पाणाइवाइए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—संकप्पओ य आरम्भओ य।

—उपासकदशांग १

उदाहरण के लिए शिकारी किसी वन्य पशु, यथा—हिरण को मारने के लिए बन्दूक से गोली चलाता है, किन्तु उसका निशाना चूक जाता है और हिरन भाग जाता है, वह हिरन का वध नहीं कर पाता; फिर भी शिकारी की यह हिंसा संकल्पी हिंसा है क्योंकि उसने मारने के इरादे से संकल्पपूर्वक गोली चलाई थी।

इसके विपरीत एक डाक्टर किसी रोगी का ऑपरेशन करता है और ऑपरेशन के दौरान ही रोगी की मृत्यु हो जाती है, फिर भी डाक्टर हिंसक (हत्यारा) नहीं कहलाता, क्योंकि उसकी भावना रोगी का रोग मिटाने की—स्वस्थ करने की है।

संकल्पी हिंसा का त्याग करने वाला नैतिक व्यक्ति किसी भी जीव की निष्प्रयोजन हिंसा नहीं करता,[1] इसका वह जीवन भर के लिए त्याग कर देता है।

यद्यपि वह सदैव सजग और अपने व्रत के प्रति जागरूक रहता है, फिर भी कभी परिस्थितिवश, कभी प्रमाद—असावधानी से और कभी कषायों के तीव्र आवेग में उससे कुछ भूलें हो सकती हैं, व्रत में दोष लग सकते हैं। ऐसे दोष[2] ५ बताये गये हैं—

(१) बध—अपने आश्रित किसी प्राणी को लकड़ी, चाबुक, लात अथवा घूंसों (मुष्टि का प्रहार) से मारना।

(२) बंध—अपने आश्रित किसी भी व्यक्ति अथवा प्राणी को रस्सी, जंजीर आदि से कठोर बंधन में बाँधना।

(३) छविच्छेद—किसी भी प्राणी का अंगोपांग काट देना।

(४) अतिभारारोपण—बैल, घोड़ा आदि पशुओं पर उनकी क्षमता (भार वहन की क्षमता) से अधिक बोझा लाद देना।

(५) भक्तपानविच्छेद—अपने आश्रित व्यक्तियों को समय पर भोजन-पानी न देना, अथवा भोजन आदि का निरोध कर देना।

---

१. निरर्थिकां न कुर्वीत जीवेषु स्थावरेष्वपि।
हिंसामहिंसाधर्मज्ञः कांक्षन् मोक्षमुपासकः॥ —योगशास्त्र २/२१

२ (क) उपासकदशांग १/६ अभयदेववृत्ति
(ख) D. N. Bhargava : Jaina Ethics p. 113.

इन पाँचों अतिचारों को धार्मिक आचरण की दृष्टि से तो दोष माना ही गया है, साथ ही यह व्यक्ति की नैतिकता को भी बहुत अंश में प्रभावित करते हैं, नैतिक आचरण में गिरावट लाते हैं।

नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से शोषण करना, अन्य व्यक्ति की विवशता का लाभ उठाना, अधिक काम लेकर कम पारिश्रमिक देना, आदि सभी अनैतिक आचरण 'वध' की सीमा के अन्तर्गत आते हैं।

'बंधन' सिर्फ रस्सी या जंजीर का ही नहीं होता, वचन का भी होता है। जिस प्रकार वसुदेवजी को वचन के बंधन में बाँधकर कंस ने उनके पुत्रों की हत्या का घोर अनैतिक कार्य किया था। आधुनिक युग में कर्मचारी को निर्धारित समय से अधिक देर तक रोके रखना भी बंधन ही है।

छविच्छेद का अभिप्राय अंगभंग करना तो है ही; किन्तु आजीविका के साधनों को नष्ट कर देना भी छविच्छेद है। छँटनी, तालाबंदी आदि साधनों से श्रमिकों को विवश करना, उन्हें बेरोजगारी के यन्त्र में पीस देना, बेकार कर देना छविच्छेद की सीमा में गिने जायेंगे।

'अतिभारारोपण' आज के युग में ऐसी अनैतिक वृत्ति है जिसका श्रमिक और स्वामी दोनों ही प्रयोग करते हैं। स्वामी अधिक काम लेकर कम वेतन देने पर आमादा रहते हैं तो श्रमिक हड़ताल करके स्वामी को अधिक वेतन देने, सुविधाएँ बढ़ाने को विवश करते हैं। दोनों ही ओर से दबाव समूह (Pressure groups) बन गये हैं, जो परस्पर एक-दूसरे पर अधिक से अधिक भार डालने को उद्यत रहते हैं।

इस प्रकार के द्विवर्गीय संघर्ष का अत्यधिक भार सामान्य जनता पर पड़ता है, वह अनिवार्य आवश्यकताओं से वंचित रह जाती है, सामान्य जनता को अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करने को विवश होना पड़ता है। आज की निरन्तर बढ़ती हुई मंहगाई, अत्यधिक करारोपण सामान्य जनता पर अत्यधिक भार डालना ही तो है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में भक्त-पान विच्छेद का अभिप्राय है, श्रमिक को समय पर वेतन न देना, बीमारी की छुट्टियों का वेतन काट लेना आदि। इसका परिणाम श्रमिक के परिवारीजनों को भी भोगना पड़ता है। धन की कमी से कभी-कभी उनको भूखा भी रह जाना पड़ता है।

नैतिकता की दृष्टि से यह सभी दोष असामाजिक हैं, जनता के सामान्य जीवन में गतिरोध उत्पन्न करते हैं, उनमें विरोधी भावना भरते हैं और अनैतिक वातावरण के निर्माण की भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

सत्याणुव्रत

सत्य सर्व प्रतिष्ठित तत्व है। धार्मिक जन और सभी धर्म इसे परम धर्म तथा भगवान का रूप बताते हैं, यहाँ तक कि दुष्टाचारी, मांसाहारी, अनैतिक कार्य करने वाले भी सत्य का महत्व स्वीकारते हैं, वे चाहें स्वयं सत्य न बोलें, किन्तु चाहते यही हैं कि अन्य सभी व्यक्ति सत्य का आचरण करें और बोलें, मिथ्या अथवा झूठ न कहें।

जैन आगमों में तो सत्य को भगवान[1] कहा है। गणधर सुधर्मा स्वामी के शब्दों में सच्चं खु अणवज्जं वयंति[2]—सत्य तथा अपापकारी (किसी के हृदय को न दुखाने वाला) वचन बोलना चाहिए। गांधी जी भी इस बात को इन शब्दों में कहते हैं—सत्य और अहिंसा में अभेद है, ये दोनों एक दूसरे से इतने घुले-मिले हैं कि अलग-अलग करना कठिन है।[3]

आचार्य उमास्वाति ने असद् अभिधान[4] को अनृत (मिथ्या) कहा है।

असद् अभिधान के तीन रूप हैं—

(१) असत्–जो बात नहीं है, उसको कहना।
(२) जैसी बात है वैसी न कहकर दूसरे रूप में कहना।
(३) बुराई या दुर्भावना से किसी बात को कहना।

दुर्भावना दो प्रकार की हो सकती है—(१) अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए असत्य बोलना और (२) दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए असत्य बोलना अथवा सत्य को विकृतरूप में प्रगट करना।

गृहस्थ स्थूल असत्य से बचता है। स्थूल असत्य का प्रयोग वह स्वयं मन, वचन, काया से नहीं करता और न दूसरे से करवाता है। यानी वह न स्वयं झूठ बोलता और न किसी दूसरे से झूठ बुलवाता है।

---

१ सच्चं खु भगवं —प्रश्नव्याकरण सूत्र
२ उद्धृत-जैनाचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृष्ठ ३०१
३ सर्वोदयदर्शन, पृ० २७७
४ असदभिधानं अनृतम्। —तत्वार्थ सूत्र ७/९

स्थूल झूठ[1] का अभिप्राय है—ऐसा मिथ्यावचन जो लोक में अपयश का कारण हो और सज्जनों द्वारा निन्दित हो; जिसके कारण मनुष्य समाज की दृष्टि में गिर जाय, घृणा का पात्र बने, समाज में विघटन की स्थिति पैदा हो और उसे अनैतिक समझा जाये।

आगमों में असत्य[2] (मृषावाद) के पाँच रूप बताये हैं—

(१) कन्या अथवा वर के बारे में झूठ बोलना।

(२) गाय (पशु धन) के विषय में झूठ बोलना।

(३) भूमि (प्रॉपर्टी) के बारे में मिथ्याभाषण करना।

(४) किसी की धरोहर को हजम करने के लिए मिथ्या बोलना।

(५) झूठी साक्षी (गवाही) देना।

इनके अतिरिक्त आत्म-प्रशंसा, पराई निन्दा, कटुवचन, विग्रह उत्पन्न करने वाले शब्द भी असत्य ही हैं।

ये सभी लोकविरुद्ध, विश्वासघातजनक और पुण्य नाशक हैं।[3]

यहां कन्या से संपूर्ण मानव जाति[4] उपलक्षित है। इसी प्रकार गाय से संपूर्ण पशु-पक्षी जगत और भूमि से जमीन तथा भूमि से प्राप्त होने वाले मणि-माणिक्य निधान, वनस्पति आदि भी अभिप्रेत हैं।

---

१ (क) थूल मुसावायाओ वेरमणं, दुविहेणं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं।

—उपासकदशांग १

(ख) थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयेत् सत्यमपि विपदे।
यत्तद् वदन्ति सन्तः स्थूल मृषावाद वैरमणं॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ५५

२ (क) थूलगं मुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से य मुसावाये पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा—कन्नालीए, गवालीए, भोमालीए, णासावहारे, कूडसक्खिज्जे।

—उपासकदशा १/६ अभयदेववृत्ति, पृ० ११

(ख) कन्या-गो-भूम्यलीकानि, न्यासापहरण तथा।
कूटसाक्ष्यं च पचति, स्थूलासत्यान्यकीर्तयन्॥

—योगशास्त्र २/५५

३ सर्वलोक विरुद्धं यद् यद् विश्वसितघातकम्।
यद् विपक्षस्य भूतस्य, न वदेत् तदसूनृतम्॥

—योगशास्त्र, २/५५

४ तेन सर्वमनुष्यजाति विषयमलीकमुपलक्षितम्।

—आवश्यक सूत्र टीका

यह पांचों घोर अनैतिकताएँ हैं। इनके परिणाम अति भयंकर होते हैं।

वर अथवा कन्या के विषय में झूठ बोलना, गुणवती कन्या में दोष लगाना, वर की आमदनी अधिक बताना, अधिक दहेज का वचन देकर कम देना, अथवा वर-पक्ष की ओर से दहेज के लिए कन्या पक्ष को विवश करना—इन सबका परिणाम प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

गो-पशु जाति—उपलक्षण से यहां वाहन—कार, स्कूटर ऐरोप्लेन, पनडुब्बी आदि सभी यातायात के साधनों को समझना चाहिए। इनके संबंध में झूठ बोलने का कितना भयंकर दुष्परिणाम होता है तथा व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के लिए कितना घातक होता है आदि बातें आज किसी से छिपी नहीं रही हैं।

भूमि (खेत या प्रापर्टी) तथा भूमि से प्राप्त होने वाली वस्तुओं के विषय में झूठ का भी भयंकर परिणाम होता है। भूमि—जमीन तो लोक में झगड़े को जड़ कही जाती है। इसके लिए कितनी हिंसाएँ—हत्याएँ होती हैं, परिवार उजड़ जाते हैं, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

इसी प्रकार झूठी गवाही देना और किसी की धरोहर को दबाने के लिए झूठ बोलना भी व्यक्ति के साथ ही सामाजिक संघर्ष व विग्रह का कारण बनती हैं।

नीतिशास्त्रीय मर्यादा के अनुसार यह सभी घोर अशुभ प्रत्यय हैं। इनका आचरण करने वाले व्यक्ति की गणना अनैतिक व्यक्तियों में की जाती है। यह सब दुर्नीतियाँ हैं और इनके परिणाम सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सभी रूपों में अति घृणित होते हैं।

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार कहे गये हैं, वे भी अनैतिक आचरण को ही द्योतित करते हैं। वे पांच अतिचार[1] हैं—

(१) सहसाभ्याख्यान—सत्यासत्य का निर्णय किये बिना किसी पर झूठा दोष लगा देना, किसी के प्रति गलत धारणा पैदा कर देना।

---

१. (क) (१) सहस्साब्भक्खाणे (२) रहस्साब्भक्खाणे, (३) सदारमंतभेए, (४) मोसुवएसे, (५) कूडलेहकरणे। —उपासकदशा, अभयदेववृत्ति, पृष्ठ ११
(ख) D. N. Bhargava : Jaina Ethics, p 118.
(ग) K. C. Sogani : Ethical Doctrines in Jainism, p. 83.

(२) रहस्याभ्याख्यान—किसी की गुप्त बात को प्रगट कर देना, गोपनीयता भंग कर देना, गुप्त (Secret) दस्तावेजों को दुर्भावना से प्रगट कर देना।

(३) स्वदारमंत्रभेद—पति-पत्नी की पारस्परिक गुप्त बातों को प्रगट कर देना।

(४) मिथ्योपदेश—मिथ्या-झूठा उपदेश देना, गलत दिशा में मार्गदर्शन करना। ऐसा दो दशाओं में हो सकता है—(१) अनजान में और (२) जानबूझकर। अनजान में, पूरी जानकारी के बिना किसी को कोई सलाह दी जाय और वह गलत साबित हो, अथवा उस सलाह का परिणाम अनैतिक आचरण के रूप में आये तो वह अतिचार अथवा दोष है। जानबूझ कर किसी को गलत सलाह देना स्पष्ट झूठ है, नीति/व्रत विरुद्ध है।

(५) कूटलेखक्रिया—झूठे दस्तावेज बनाना, किसी के जाली हस्ताक्षर बना देना, जाली हुण्डी, नोट, सिक्के आदि बनाना।

यह पांचों ही अतिचार अनैतिक हैं। रहस्याभ्याख्यान, सहसाभ्याख्यान, स्वदारमन्त्रभेद—यह तीनों ही पारिवारिक विघटन और सामाजिक क्लेश की स्थिति का निर्माण करते हैं, पति-पत्नी में मनमुटाव हो जाता है, घर अशान्ति का अखाड़ा बन जाता है।

मिथ्योपदेश कुमार्ग को बढ़ाता है और कूटलेखक्रिया से अन्य व्यक्तियों, समाज, राष्ट्र को हानि होती है। वैर-विरोध बढ़ता है।

यह सभी अशुभ प्रत्यय हैं, नीतिपूर्ण आचरण के विरोधी हैं।

अचौर्याणुव्रत

चोरी का लक्षण है—अदत्तादानं अस्तेयं—बिना दी हुई अथवा बिना अनुमति के किसी की भी वस्तु लेना चोरी है। यह चोरी किसी के घर में सेंध लगाकर, ताला तोड़कर, गांठ या जेब काटकर की जाती है और आधुनिक सभ्य तरीकों से भी।

नीतिवान सद्गृहस्थ ऐसी कोई भी चोरी नहीं करता। यदि उसे कोई धन अथवा वस्तु पड़ी मिल जाय और उसके स्वामी का पता लग जाय तो उसे लौटा देता है। उस वस्तु को अपने उपयोग में नहीं लेता; यदि स्वामी का पता न लगे तो सामाजिक कार्यों में लगा देता है।

वह न स्वयं किसी प्रकार की चोरी करता है और न किसी दूसरे को चोरी की प्रेरणा देता है, अथवा चोरी करवाता है।

चोरी करने, करवाने अथवा चोरी में सहायक बनने के अनेक कारण हैं, यथा—(१) भोगों के प्रति आसक्ति, (२) यश-प्रतिष्ठा की भूख

(३) धन संचय की भावना, (४) कम परिश्रम से अधिक धन उपार्जन की लालसा, (५) अपव्ययता आदि।

यह कारण तो वैयक्तिक हैं। किन्तु कुछ ऐसे कारण भी आज की सामाजिक व्यवस्था में पैदा हो गये हैं, जिनकी वजह से मानव को चोरी करने के लिए विवश होना पड़ता है। इनमें से प्रमुख कारण हैं—(१) बेरोजगारी, (२) भुखमरी आदि।

आज समाज में धनी व्यक्ति का ही सम्मान अधिक होता है। गुणों के स्थान पर धन की पूजा होने लगी है। यह भी मानव को चोरी के लिए उत्साहित करता है। यही कारण है कि आज के युग में चोरी के इतने उपाय और प्रकार प्रचलित हो गये हैं कि उनकी गणना भी सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त विडम्बना यह है कि चोरी के नये-नये तरीके ईजाद हो रहे हैं।

लेकिन जैन विचारणा में चोरी के सभी प्रकार निन्दनीय माने गये हैं। वह केवल नीतिपूर्ण ढंग से उपार्जित धन की इजाजत देता है, उसी का संग्रह गृहस्थ कर सकता है।

किन्तु गांधीजी ने चोरी की परिभाषा को अधिक विस्तृत रूप में माना है। वे कहते हैं—आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह चोरी है।[1] आवश्यकता से उनका अभिप्राय जीवन की वे अनिवार्य आवश्यकताएं हैं जिनके अभाव में जीवन चल ही न सके, सादा जीवन में भी बाधा उत्पन्न हो जाय।

शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार (१) चोरी की वस्तु खरीदना, (२) चोरी के लिए प्रोत्साहन देना, (३) माप-तौल में गड़बड़ी करना, कम देना, ज्यादा लेना, (४) अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिला देना, (५) तस्करी के लिए विरोधी राज्य में जाना—यह सब चोरी है।[2]

चोरी, किसी भी प्रकार की हो, चाहे सफेदपोश (White collar)

---

१. आधार—गांधीवाणी, पृ० १६

२. (क) १ तेनाहडे, २ तक्करपओगे, ३ विरुद्धरज्जातिकम्मे, ४ कूडतुल्ल कूडमाणे, ५ तप्पडिरूवगववहारे। —उपासकदशा १/६, अभयदेव वृत्ति पृ० ११-१३
(ख) D. N. Bhargava : Jaina Ethics, p. 120
(ग) K. C. Sogani : Ethical Doctrines in Jainism, p. 84

चोरी हो अथवा निन्द्य चोरी हो, सभी अनैतिक हैं। नैतिकता की सीमा के नीचे हैं। सभी प्रकार की चोरियां निन्दित, गर्हित और अपयश का कारण हैं, दुर्नीतिपूर्ण आचरण को बढ़ावा देने वाली हैं। इनसे सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र का वातावरण दूषित होता है।

स्वदार-सन्तोषव्रत

स्वदारसन्तोष—यह नाम पुरुष की अपेक्षा से है कि वह अपनी विवाहिता स्त्री में ही सन्तोष रखे, अन्य स्त्रियों के लिए मन में भी बुरे विचार न लाये। इसी प्रकार स्त्री भी स्व-पति में सन्तोष रखे, अन्य पुरुषों के प्रति विकारी भाव मन में भी न लाये। इतना ही नहीं, विवाहित पति-पत्नी भी संयम से रहें, जितना संभव हो सके, ब्रह्मचर्य का पालन करें। इसलिए इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत भी कहा गया है।

आगमों में पत्नी के लिए धर्मसहायिका, सहधर्मचारिणी आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। जनसाधारण में भी पत्नी के लिए 'धर्मपत्नी' शब्द व्यवहृत होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि पत्नी (विवाहित पत्नी) को पति की धर्म-साधना में सहायक होना चाहिए। उसका कर्तव्य है कि वह पति को नीति मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे। ऐसी पत्नी ही धर्मपत्नी के गौरवमय पद से सुशोभित होती है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत की साधना करने वाले सद्गृहस्थ को ऐसे सभी दृश्य देखने तथा क्रिया-कलापों से बचना चाहिए, जिनसे सेक्स सम्बन्धी कुत्सित भावनाएँ उत्तेजित होने की सम्भावना हो।

ऐसी बातें अथवा निमित्त हैं—१ मद्य २ मांस ३ द्यूत, ४-६ उत्तेजक गीत, संगीत तथा नृत्य ७ शारीरिक शृंगार ८ उत्तेजक पदार्थ एवं दृश्य, ९ स्वच्छन्दता १० निरुद्देश्य इधर-उधर घूमना, सैर-सपाटे करना।[1]

साथ ही उसे गरिष्ठ, दुष्पाच्य और तामसिक भोजन से भी बचना

---

1. Wine, meat, gambling, music including songs and dance, bodily decoration, intoxication, libertines and aimless wandering—are ten concommitants of sexual desire.

—K. K. Handiqui : Yashastilaka and Indian culture, p. 266-267.

चाहिए; क्योंकि इनसे भी चित्त चचल होता है। संभवतः इसीलिए महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य (अणुव्रत) की साधना के लिए रसना इन्द्रिय का संयम आवश्यक बताया है।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँच अतिचार यह हैं—

(१) इत्वरिक परिगृहीतागमन—इत्वर का अभिप्राय है—अल्पकाल और इत्वरिक उस स्त्री को कहते हैं, जो कुछ काल के लिए पत्नी बनाकर रखी गई हो। ऐसी स्त्री रखैल (Kept) कहलाती है। धन आदि का प्रलोभन देकर इस प्रकार की शिथिल चरित्रवाली स्त्रियों (Easy character girls अथवा Society girls) को रखा जा सकता है। यह अवधि कुछ भी हो सकती है।

इसका दूसरा अभिप्राय यह भी है कि अपनी अल्प वयस्का पत्नी (जिसकी आयु भोग के योग्य न हो, बाल्यावस्था अथवा किशोरावस्था ही हो) के साथ गमन करना। यह कथन बाल-विवाह की अपेक्षा से है।

तीसरा अभिप्राय यह है कि स्वयं अपनी ही पत्नी किसी कारण से भोग योग्य न हो, उसके साथ भी गमन (भोग) करना। भोग की अयोग्यता के अनेक शारीरिक कारण हो सकते हैं।

नीति की अपेक्षा इस अतिचार के तीनों रूप महत्वपूर्ण हैं। नीति-की ओर पहला कदम रखते ही सदाचारी गृहस्थ रखैल आदि का तो त्याग कर ही देता है; तब वह ऐसी स्त्री से सम्बन्ध कैसे स्थापित कर सकता है जो शिथिल चरित्र वाली हो ?

बाल-विवाह किसी युग में होते थे लेकिन उस युग में भी वे नैतिक दृष्टि से उचित नहीं माने जाते थे और आज के युग में इन्हें अनैतिक कहा ही जाता है। फिर यह कानूनी अपराध भी है, क्योंकि १६ वर्ष से कम उम्र की लड़की का विवाह कानून द्वारा वर्जित है। ऐसा दण्डनीय अपराध नीति वान गृहस्थ कैसे कर सकता है ?

तीसरा रूप पत्नी भोग योग्य न हो फिर भी उसके साथ भोग करना स्वयं अपने लिए बीमारियों को निमन्त्रण देना है और जीवन-साथी के जीवन के साथ खिलवाड़ करना है। यह तो बलात्कार की परिधि में गिना जाना चाहिए, जो अनैतिक आचरण है।

आज के युग में जो अनेक यौन-रोग फैल रहे हैं, उन सब का मूल कारण मानव की बढ़ती हुई घोर ऐन्द्रियपरकता और काम-सुख की अदम्य लालसा है।

इसलिए इन तीनों रूपों में से किसी भी प्रकार का दोष सद्गृहस्थ अपने जीवन में नहीं लगाता।

(२) अपरिग्रहीतागमन—इसका धर्मशास्त्रीय अभिप्राय है—वेश्याओं, कुमारिकाओं, विधवाओं आदि जिनका कोई एक स्वामी न हो उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करना।

किन्तु नीतिशास्त्र की विचारणा इस विषय में व्यापक है। नैतिक व्यक्ति नीति के पथ पर प्रथम कदम रखते ही वेश्या तथा अन्य सभी स्त्रियों का त्याग कर देता है। सप्तव्यसन त्याग में ही वह वेश्यागमन तथा परदाररमण का त्याग कर देता है और अपनी विवाहित धर्मपत्नी (भोगपत्नी अथवा उपपत्नी नहीं) के अतिरिक्त संसार की सभी स्त्रियों को पर-दारा—माता-बहन के समान मान लेता है।

तब नीतिपूर्ण आचरण करने वाला विवेकी व्यक्ति इस प्रकार का दोष अपने जीवन में कैसे लगा सकता है? वह ऐसा आचरण कभी नहीं करता।

इस विषय में आचार्य आत्माराम जी म० का कथन काफी वजनदार है—अपनी वाग्दत्ता (जिसके साथ सगाई हुई हो, विवाह न हुआ हो) को भावी पत्नी मानकर उसके साथ गमन करना।[1] ऐसा ही मत श्री अमोलक ऋषि जी महाराज का है।[2]

यद्यपि नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण की अपेक्षा यह भी उचित नहीं ठहराया जा सकता; किन्तु धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण की अपेक्षा यह कम अनैतिक है। नैतिक व्यक्ति इस दोष को भी नहीं लगाता।

(३) अनंगक्रीड़ा—मैथुन सेवन के प्राकृतिक अंगों से अतिरिक्त अन्य अंगों से काम-क्रीड़ा करना। इसमें हस्तमैथुन, गुदामैथुन आदि सभी प्रकार की विकृत काम-क्रीड़ाओं का वर्जन है।

पश्चिमी देशों में समलिंगी मैथुन (Homo) की जो दुष्प्रवृत्ति बढ़ रही है, नीतिशास्त्र इस प्रवृत्ति को निन्दनीय और सर्वथा हेय मानता है।

(४) परविवाहकरण—सामाजिक और पारिवारिक दृष्टि से अपने पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना तो सद्गृहस्थ का दायित्व है; किन्तु उसे

---

१ आत्माराम जी महाराज : तत्वार्थसूत्र—जैनागम समन्वय, पृ. १७०

२ अमोलक ऋषि जी महाराज : परमात्म मार्गदर्शक पृ. १६४

दूसरों के विवाह-सम्बन्ध करने अथवा कराने में अधिक दिलचस्पी नहीं लेनी चाहिए, वरपक्ष अथवा कन्यापक्ष को जोर नहीं देना चाहिए।

अपने पुत्र-पुत्रियों का विवाह तो नैतिक दृष्टि से भी उचित है, क्यों कि विवाह होने से उनको काम-पूर्ति का एक नैतिक मार्ग मिल जाता है अन्यथा उद्दाम-काम उन्हें अनैतिक भी बना सकता है। कुमार्ग और अनैतिकता की अंधेरी गलियों में भटका सकता है।

किंतु अन्यों के विवाह सम्बन्ध जोर देकर कराने के विपरीत परिणाम भी सामने आ सकते हैं। आधुनिक युग में दहेज दानव के कारण जो गृह कलह के अखाड़े बन रहे हैं, निर्दोष युवतियाँ अग्नि की भेंट चढ़ रही हैं। इन सब अनैतिकताओं के लिए मध्यस्थ भी उत्तरदायी ठहराया जाता है, उसकी सदाचारिता, ईमानदारी, नैतिकता भी शंकास्पद बन जाती है।

अतः इस प्रकार के विवादास्पद, पारिवारिक,सामाजिक दायित्वों से सद्विवेकी गृहस्थ को दूर ही रहना श्रेयस्कर है।

(५) काम-भोग तीव्राभिलाषा—कामेच्छा की तीव्रता मानव को अनैतिकता की ओर प्रवृत्त कर सकती है। यदि शारीरिक रूप से वह समाज तथा परिवार भय से, लोक लज्जा से अनैतिक आचरण न करे, तब भी उसका मन-मस्तिष्क तो दूषित होगा ही, उसमें नीतिविरोधी विचारों का बवंडर तो उठेगा ही।

अतः काम-भोग की तीव्र अभिलाषा भी अनैतिक ही है।

संक्षेप में, धर्मशास्त्रीय दृष्टि से कहे गये यह पांचों अतिचार[1] नीति शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी अनुचित एवं अनैतिक माने जायेंगे।

स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत

इस व्रत का मूल अभिप्राय है—इच्छाओं पर अंकुश लगाना, उन्हें यथाशक्ति और यथासंभव कम करना, संतोषवृत्ति धारण करना।

इच्छाओं के विषय में कहा गया है कि ये अनन्त हैं, आकाश के

---

१ (क) उपासकदशा १/६ अभयदेववृत्ति पृ० १३
(ख) D. N. Bhargava : Jaina Ethics, p. 122
(ग) K. C. Sogani : Ethical Doctrines in Jainism, p. 85
(घ) द्रष्टव्य—श्री देवेन्द्र मुनि : जैन आचार, पृ. ३१३—३१६

समान असीमित[1] हैं, इन असीमित इच्छाओं को सीमित करना ही इस व्रत का अभिप्रेत है, लक्ष्य है, उद्देश्य है।

क्योंकि इच्छा कभी भी तृप्त नही होती, एक बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी इस प्रकार गुणात्मक (Harmonical progression) ढंग से बढ़ती चली जाती है। यही कारण है कि इच्छा तृप्ति में सुख नहीं है, सुख है इच्छा की निवृत्ति में।

नैतिक दृष्टिकोण भी यही है। यद्यपि इच्छा नीति का एक प्रत्यय है किन्तु वहां 'इच्छा' से अभिप्राय उस इच्छा से है जो स्वयं अपने और दूसरे के लिए हितकर हो, किसी को दुःखी करने वाली न हो। इस प्रकार 'नैतिक इच्छा' (good will) में 'संतोष' का भाव निहित है। और दुःखदायी तथा असीमित इच्छा को वहां भी अनैतिक प्रत्यय (Evil concept) कहा गया है।

आज के युग में मन को लुभाने वाले, नई-नई इच्छाओं को उत्तेजित करने वाले अनेक साधन विज्ञान प्रस्तुत कर रहा है। अतः धार्मिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से ही इस व्रत का महत्व बढ़ गया है क्योंकि संतोषी मानव ही नैतिक जीवन में गति-प्रगति कर सकता है।

धर्मशास्त्रों में परिग्रह नौ प्रकार का बताया गया है—

(१) क्षेत्र—खुली भूमि, खेत, बाग, खान आदि (open land)

(२) वास्तु (covered area)—मकान, दूकान, बंगला, कारखाना आदि

(३) हिरण्य—चांदी के बर्तन आभूषण आदि

(४) सुवर्ण—सोने के आभूषण, बर्तन, ज्वेलरी तथा अन्य फैन्सी वस्तुएँ आदि

(५) धन—रुपये, पैसे, नोट, ड्राफ्ट तथा बैंक बैंलेस आदि

(६) धान्य—अन्न, गेहूँ, चावल आदि

(७) द्विपद—दो पांव वाले प्राणी—दास-दासी, कबूतर पक्षी आदि

(८) चतुष्पद—चार पैरों वाले प्राणी—घोड़ा, कुत्ता, गाय आदि

(९) कुप्य—घर का अन्य सामान, यथा—वस्त्र, सोफासेट, स्टील आदि

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र ९/४८—इच्छा हु आगास समा अणंतिया।

के बर्तन, मेज कुर्सी आदि। इन्हीं में मोटर साइकिल, स्कूटर, कार, मोपेड आदि भी सम्मिलित हैं।

इन वस्तुओं में ही आधुनिक युग में बहु-प्रचलित टी० वी०, वी० सी० आर० आदि भी समझ लेने चाहिए।[1]

गांधीजी ने परिग्रह परिमाण के लिए न्यास सिद्धान्त (Trusteeship) का प्रतिपादन किया। इसका अभिप्राय है—व्यक्ति परिग्रह तो रखे, किन्तु उस पर अपना स्वामित्वभाव (Ownership) न रखे।[2]

स्वयं गांधीजी अनिवार्य आवश्यक वस्तुओं तक ही सीमित रहते थे और इसी का वे प्रचार करते थे। इच्छा-सीमन और स्वामित्वभाव का त्याग, इनके अपरिग्रह व्रत की धुरी थे।

यही सिद्धान्त परिग्रह के लिए जैनशास्त्र का है। वह भी मूर्च्छा को परिग्रह[3] मानता है। मूर्च्छा का अभिप्राय है—तीव्र ममत्वभाव, अपनापन, स्वामित्वभाव।

परिग्रह की अधिक लालसा, संग्रह-संचय आदि का अवश्यंभावी परिणाम समाज में ईर्ष्या, द्वेष, विग्रह, वर्गसंघर्ष का प्रसार-प्रचार है। और यह सभी प्रवृत्तियाँ अनैतिकता की जननी हैं। परिग्रह की लालसा और वस्तुओं का संचय-संग्रह स्वयं व्यक्ति को भी अनैतिकता के फिसलन भरे ढालू मार्ग की ओर प्रेरित करता है तथा ऐसे वातावरण का निर्माण होता है कि समाज के अन्य व्यक्ति भी अनैतिकता की ओर लालायित होते हैं, अनैतिक आचरण करते हैं।

गुणव्रत

गुणव्रत, अणुव्रतों के गुणों को बढ़ाते हैं, उनकी रक्षा और विकास करते हैं; उनमें चमक-दमक पैदा करते हैं। इसीलिए इनका गुण-निष्पन्न नाम गुणव्रत है।

---

१. (क) D. N. Bhargava : Jaina Ethics, p. 122-24
(ख) K. C. Sogani : Ethical Doctrines in Jainism, p. 82-87.

२ सर्वोदय-दर्शन, पृ. २८१-२८२

३ मुच्छा परिग्गहो वुत्तो"... —दशवैकालिक ६/२१

गुणव्रत जीवन की बाह्य (साथ ही आन्तरिक भी) गतिविधियों, क्रिया-कलापों को अनुशासित करते हैं।[1]

गुणव्रत, अणुव्रतरूपी दुर्ग की रक्षा-प्राचीर के समान हैं। ये हिंसा आदि अनैतिकताओं के मार्गों को अवरुद्ध करने में काफी सीमा तक सहायक बनते हैं। इनको अपनाने से नैतिक जीवन निखरता है।

गुणव्रत तीन हैं—(१) दिशापरिमाणव्रत, (१) उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत और (३) अनर्थदण्डविरमणव्रत।

दिशापरिमाणव्रत

इसमें व्यक्ति दशों दिशाओं में गमनागमन की सीमा निश्चित कर लेता है कि उत्तर, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, ऊर्ध्व, ऊधो आदि दशों दिशाओं में अमुक दूरी तक ही जाऊँगा, इससे आगे मैं नहीं जाऊँगा।

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज ने गमन के तीन कारण बताये हैं—

(१) अधिकाधिक लोभ के वशीभूत होकर व्यापार की अभिवृद्धि के लिए,

(२) आमोद-प्रमोद, सैर-सपाटे, और वैषयिक सुखों के आस्वादन के लिए, और

(३) किसी आध्यात्मिक पुरुष के दर्शन के लिए।[2]

इनमें से अन्तिम तीसरा कारण तो नैतिक है, आध्यात्मिक उन्नतिकारक होने से धर्मानुमोदित है। इसके लिए गमन की मर्यादा निश्चित करने की कोई आवश्यकता नहीं।

किन्तु प्रथम दो कारण दुर्नैतिक और अनैतिक हैं। क्योंकि लोभ अनीति का जनक है और वैषयिक सुखों के लिए गमन भी नीति के विरुद्ध है।

नीतिवान सद्गृहस्थ को ऐसी कोई भी गतिविधि नहीं करनी चाहिए जिससे अनैतिकता की तनिक भी संभावना हो।

---

१. Gunavratas discipline the external movements.

—D. N. Bhargava : Jaina Ethics, p. 102

२. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी : श्रावकधर्मदर्शन, पृ. ३९०

आधुनिक युग में ऐड्स, कैंसर आदि घातक रोग, काम-भोग की बढ़ती हुई तीव्रता, देश का धन विदेशों में जाना आदि जो व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के लिए अहितकर और अनैतिक प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं, वह सब निर्बाध गमनागमन का परिणाम ही है। सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक सम्पर्कों की आड़ में देश के रहस्य, विदेशियों के हाथ में किस प्रकार पहुँच रहे हैं यह किसी से छिपा नहीं रह गया है। इस भ्रष्टाचार और देशघाती प्रवृत्तियों को रोकने में दिशा परिमाणव्रत बहुत सीमा तक सहायक हो सकता है।

उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत

नैतिक जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह अपने उपभोग-परिभोग की वस्तुओं का परिसीमन करे।

उपभोग का अभिप्राय है—एक बार काम में आने वाली वस्तुएँ, यथा—जल, आहार, फल आदि। और परिभोग वे वस्तुएँ हैं जिनका बार-बार उपयोग किया जाना संभव है, यथा—बर्तन, पहनने-ओढ़ने के वस्त्र, शय्या, मकान आदि।

इन दोनों प्रकार की वस्तुओं की मर्यादा करने से व्यक्ति के नैतिक जीवन में काफी सहायता मिलती है।

ऐसी उपभोग-परिभोग की वस्तुएँ संख्या में कितनी ही हो सकती हैं; प्राचीन सूत्रों में छब्बीस वस्तुओं की सूची दी गई है।

उपभोग-परिभोग योग्य वस्तुओं की यथाशक्ति और यथापरिस्थिति विवेकी व्यक्ति मर्यादा निश्चित करता है, यह सत्य है कि उसके लिए इन वस्तुओं का मर्यादित रूप में ही सही, उपयोग करना आवश्यक सा है, क्योंकि इनके बिना उसका जीवन नहीं चल पाता।

फिर भी वह पाँच बातों की सावधानी रखता है—

(१) वह ऐसी वस्तुओं का उपभोग नहीं करता जिनमें त्रस जीवों का वध हो, जैसे रेशमी वस्त्र, काडलिवर आइल आदि।

(२) बहुवध—जिन वस्तुओं में बहुत-से स्थावरकाय जीवों की हिंसा होती है, जैसे—अनन्तकाय पिंड, जमींकन्द आदि।

(३) प्रमादबहुल—प्रमाद अथवा आलस्य बढ़ाने वाला तामसिक भोजन सद्विवेकी व्यक्ति को नहीं खाना चाहिए, साथ ही अधिक मात्रा में विगई (विकृति) का सेवन भी उचित नहीं है।

इसी में उत्तेजक तथा नशीले पदार्थों की भी गणना कर ली जाती है, जैसे—अफीम, हैरोइन आदि।

(४) जो वस्तुएँ स्वास्थ्य के लिए हानिकर हों, ऐसी अनिष्ट वस्तुओं का सेवन भी त्याज्य समझा जाना चाहिए।

(५) जो शिष्टजनसम्मत वस्तुएँ न हों, उनका सेवन भी न करें।

यहाँ एक बात विचारणीय है कि इन उपभोग-परिभोग की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए किसी न किसी प्रकार का व्यवसाय करना अति आवश्यक है।

इस दृष्टिकोण से उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के दो रूप हैं—(१) उपभोग-परिभोग संबंधी और (२) आजीविका के साधन सम्बन्धी।

आजीविका के अनेक साधन हो सकते हैं। प्राचीनकाल में तो कई प्रकार के साधन थे ही; किन्तु आधुनिक युग में तो नए-नए साधन खुलते जा रहे हैं। इनकी गणना भी सम्भव नहीं है।

किन्तु नीतिवान व्यक्ति को आजीविका के वे ही साधन अपनाने चाहिए जो नैतिक हों, नीतिपूर्ण हों और जिनको करने में धार्मिक और नैतिक दृष्टि से किसी भी प्रकार की अनुचितता न हो।

इस दृष्टिकोण से शास्त्रों में कुछ ऐसे व्यवसाय बताये गये हैं, जिनको करना उचित नहीं है, ये निषिद्ध व्यवसाय हैं।

निषिद्ध व्यवसाय

निषिद्ध व्यवसाय का अभिप्राय है, ऐसे व्यवसाय जिनमें हिंसा अधिक हो, प्राणियों को अधिक कष्ट हो, सामाजिक शांति और सुव्यवस्था में बाधक बनें, असामाजिकता अथवा समाज विघटनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिले।

इन व्यवसायों को शास्त्रों में कर्मादान कहा गया है। कर्मादान का अभिप्राय है जिन कार्यों व्यवसायों से अधिक और संक्लेशकारी, दुखदायी कर्मों का आगमन और संचय हो।

कर्मादान[1] अथवा निषिद्ध व्यवसाय का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है।

(१) अंगारकर्म—अग्नि संबंधी व्यापार; जैसे—लकड़ी जलाकर कोयले बनाना और उन्हें बेचना।

(२) वनकर्म—वन काटना, घास काटना आदि का व्यापार।

---

१. योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश, श्लोक ९८-११३

(३) शकटकर्म—वाहन निर्माण सम्बन्धी व्यापार।

(४) भाटकर्म—वाहन किराये पर देकर आय उपार्जित करना।

(५) स्फोटकर्म—ऐसे व्यवसाय जिनमें भूमि को फोड़ना पड़ता है, जैसे खान खुदवाने का व्यवसाय।

(६) दंतवाणिज्य—हाथी दाँत आदि का व्यवसाय।

(७) लाक्षावाणिज्य—लाख का व्यापार।

(८) रस वाणिज्य—मादक वस्तुओं; यथा—शराब आदि का व्यापार।[1] इसी में आधुनिक युग में प्रचलित अफीम (Opium), हैरोइन, ब्राउन सुगर (Brown Sugar) आदि का व्यापार भी सम्मिलित है।

(९) केशवाणिज्य—बाल अथवा बाल वाले पशुओं का व्यापार।

(१०) विषवाणिज्य—जहरीले पदार्थ एवं हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यवसाय।

(११) यन्त्रपीड़न कर्म—यन्त्र, साँचे, घाणी, कोल्हू आदि का व्यवसाय।

(१२) निर्लाञ्छन कर्म—प्राणियों के अंग-उपांग, अवयव आदि छेदना, बैलों को नपुंसक बनाना आदि।

(१३) दावाग्निदापन—वन में आग लगाना।

(१४) सरद्रह तडागशोषणता कर्म—जलाशय आदि को सुखाना।

(१५) असतीजन पोषणता कर्म—दुर्बल चरित्र वाली युवतियों, कुमारियों, society girls आदि को नियुक्त करके उनसे व्यभिचार कराके धनोपार्जन करना, असामाजिक तत्वों को संरक्षण देना, उनका पोषण करना, हिंसक पशुओं को पालना आदि।

इनमें से कुछ व्यवसाय, यथा—असतीजन पोषणता, विष वाणिज्य आदि तो स्पष्ट ही अनैतिक कार्य हैं, किन्तु कुछ के विषय में आधुनिक युग की प्रवृत्तियों तथा भौतिक उन्नति के समर्थकों द्वारा विवाद उठाया जा सकता है।

जैसे—यदि खानें नहीं खोदी जायेंगी तो लोहा, मैंगनीज, अभ्रक

---

१. रसवाणिज्ये सुरादि विक्रयः।

—उपासकदशा, टीका अभयदेव १/६ पृ० १५-१६

आदि पदार्थ कैसे प्राप्त होंगे और यदि ये नहीं प्राप्त होंगे तो देश औद्योगिक उन्नति तथा आर्थिक प्रगति में पिछड़ जायेगा।

इसी प्रकार यदि वन नहीं काटे जायेंगे तो बढ़ती हुई आबादी के लिए मकान कहाँ बनेंगे, उनके निवास की व्यवस्था कैसे होगी, उद्योग—कारखाने आदि कहाँ स्थापित किये जायेंगे आदि।

यहां यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने की है कि धर्म और नीति लौकिक प्रगति में बाधक नहीं, विशेष रूप से नीति तो संसार-व्यवहार और सांसारिक उन्नति में कभी रोड़ा नहीं अटकाती।

यहां निषिद्धता से अभिप्राय यह है कि क्रूरतापूर्ण भावों से (हृदय में हिंसक, अनैतिक भाव रखकर) ऐसे व्यवसाय न किये जाने चाहिए। लेकिन जो व्यवसाय पूर्णतया अनैतिक हैं, समाज में अव्यवस्था के कारण बनते हैं, संघर्ष उत्पन्न होते हैं, जिनसे मानसिक, शारीरिक, नैतिक सभी प्रकार की हानि होती है, राष्ट्रीय क्षति होती है, उन व्यवसायों का तो पूर्ण रूप से त्याग कर ही देना चाहिए।

धर्मशास्त्रों में इस व्रत (उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत) के पाँच अतिचार बताये हैं—(१) सचित्ताहार (२) सचित्तप्रतिबद्धाहार (३) अपक्वाहार (४) दुष्पक्वाहार (५) तुच्छौषधिभक्षण।[1]

इनमें से नीति का संबंध अपक्वाहार, दुष्पक्वाहार और तुच्छौधिभक्षण से है। क्योंकि सही ढंग से न पका हुआ, अधिक पका हुआ आहार स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। और यह निश्चित है कि स्वस्थ व्यक्ति ही धर्म का—नीति का सही ढंग से आचरण कर सकता है। रोगी व्यक्ति तो जीवन-व्यवहार और धर्म-साधना दोनों में ही अक्षम हो जाता है।

स्वामी समन्तभद्र का मत इस स्थान पर उल्लेखनीय है। उन्होंने इस व्रत के पाँच अतिचार[2] इस प्रकार बताये हैं—

---

१. सचित्ताहारे, सचित्तपडिबद्धाहारे, अप्पोलिओसहिभक्खणया, दुप्पोलिओसहिभक्खणया, तुच्छोसहिभक्खणया। —उपासकदशा

२.(क) विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलोल्यमतितृषाऽनुभवो।
भोगोपभोगपरिमाणव्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते॥
—रत्नकरंडश्रावकाचार, श्लोक ९०

(ख) Dayanand Bhargava : Jaina Ethics, p. 132

(ग) K. C. Sogani : Ethical Doctrines in Jainism, p.100

(१) विषयरूपी विष के प्रति आदर रखना।

(२) पूर्वकाल में भोगे गये भोगों—भोग्य पदार्थों का स्मरण करना।

(३) वर्तमान काल के भोग्य पदार्थों के प्रति अत्यधिक लोलुपता रखना।

(४) भविष्य के भोगों की अत्यधिक लालसा रखना।

(५) भोग्य विषय तथा पदार्थ न होने पर भी मन ही मन उनके भोगों का अनुभव करते रहना यानी मानसिक भोग करना।

यह पाँचों अतिचार धर्म से संबंधित तो हैं ही, नीति से इनका सीधा संबंध है। यह पाँचों उपभोग-परिभोग की मानसिक अवस्थाओं को प्रगट करते हैं, जो मानसिक अनैतिकताएँ हैं। इनसे व्यक्ति का मन और मस्तिष्क विकारी बनता है। इन मानसिक विचारों का दुष्प्रभाव व्यक्ति के स्वयं के स्वास्थ्य और जीवन पर गहरा पड़ता है।

अनर्थदण्ड विरमणव्रत

'अर्थ' का अभिप्राय है, स्वयं के अथवा परिवारीजनों के लिए अनिवार्य प्रयोजनभूत प्रवृत्ति और अनर्थ का अभिप्राय है अनिवार्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियाँ—हिंसादि रूप कार्य, जिनको न करने से भी जीवन निर्वाह में कोई बाधा नहीं आती।

आचार्य उमास्वाति ने कहा है—जिससे उपभोग-परिभोग होता है श्रावक के लिए वह अर्थ है और इनके अतिरिक्त सब अनर्थ प्रवृत्ति है।[1]

नीति के दृष्टिकोण से अनर्थ अथवा अशुभ प्रवृत्तियाँ सर्वथा अनुचित और त्याज्य हैं। व्यक्ति को शुभ का आचरण ही करना चाहिए।

धर्मशास्त्रों में इसके चार प्रकार बताये हैं—

(१) **अपध्यानाचरित**—अपध्यान का अभिप्राय है—कुविचार। मन में बुरे (Evil) विचार करते रहना। इसमें ऐसी असंभव कल्पनाओं का भी समावेश होता है, जो पूर्ण तो हो नहीं सकती; किन्तु मन को दुश्चिन्तन द्वारा मलिन अवश्य बना देती हैं। उदाहरणार्थ—बैरी का घात करूं, राजा

---

१. उपभोग-परिभोगौ अस्याऽअगारिणोऽर्थः तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः।
—तत्वार्थभाष्य ७/१६

बन जाऊँ, नगर का नाश कर कर दूं, आग लगा दूँ, आकाश में उड़ जाऊँ, विद्याधर बन जाऊँ आदि दुर्ध्यान।[1]

(२) प्रमादाचरित—प्रमाद का अर्थ है, असावधानी, आलस्य तथा निरर्थक क्रिया कलाप। उदाहरणार्थ—निरर्थक जमीन खोदना, व्यर्थ ही जल आदि का अपव्यय करना, वनस्पति का छेदन-भेदन करना, घी-तेल-दूध आदि के बर्तन खुले रख देना, लकड़ी, पानी आदि बिना देखे-भाले काम में लेना।[2]

(३) हिंस्रप्रदान—दूसरों को हिंसाकारी साधन देना।

(४) पापोपदेश—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, दूसरों को पाप कर्मों (हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह) का उपदेश देना दुष्कर्म बढ़ाने वाले उपाय बताना।

यह चारों प्रकार की निरर्थक प्रवृत्तियां हैं,जिनसे अपना लाभ तो कुछ भी नहीं होता, समय की बरबादी तथा अशुभ चिन्तन एवं कुप्रवृत्तियों का संचार ही होता है।

अपध्यान एक प्रकार का मानसिक दुश्चिन्तन है। प्रमाद का आचरण हिंसा की संभावना को बढ़ाता है साथ ही स्वयं अपने शरीर में आलस्य की अधिकता हो जाने से अकर्मण्यता को भी बढ़ावा मिलता है।

इसी प्रकार हिंसक साधन प्रदान करने से व्यक्ति स्वयं कानून के शिकंजे में फँस सकता है; क्योंकि यदि उसके शस्त्र से दूसरे ने किसी मानव की हिंसा कर दी तो कानून उसी को दण्डित करेगा जिसके नाम उस साधन (पिस्तौल, बन्दूक आदि) का लायसेंस होगा।

पापोपदेश भी समाज, राष्ट्र और देश में अनैतिक प्रवृत्तियों को ही बढ़ाता है, उनका प्रसार करता है।

---

१. वैरिघातो नरेन्द्रत्वं पुरघाताऽग्निदीपने।
खेचरत्वाद्यपध्यानं मुहूर्तात्परतस्त्यजेत्॥

—योगशास्त्र ३/७५

२. क्षितिसलिलदहन पवनारंभ-विफलं वनस्पतिच्छेदनं।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते।

—रत्नकरंडश्रावकाचार श्लोक ८०

अतः नीतिपूर्ण आचरण करने वाले व्यक्ति को अनर्थदण्डविरमण व्रत के इन चारों प्रकारों से बचना चाहिए।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—

(१) कन्दर्प—विकारवर्धक वचन और अश्लील शरीर चेष्टाएँ।

(२) कौत्कुच्य—विदूषकों जैसी विकृत चेष्टाएँ और वचन बोलना।

(३) मौखर्य—अधिक बकवास करना, बढ़ा चढ़ाकर बात कहना।

(४) संयुक्ताधिकरण—बिना आवश्यकता के हिंसक शस्त्रों को संयुक्त करके रखना; जैसे बन्दूक में गोली भर कर रखना।

(५) उपभोग-परिभोगातिरेक—उपभोग-परिभोग की सामग्री को अधिक मात्रा में संग्रह करना। यथा—एक स्कूटर ही प्रयोग में आता है फिर भी दूसरा खरीद लेना, अथवा कम वस्त्र ही पहने जाते हैं; किन्तु फिर भी अधिक वस्त्रों का संग्रह करना। आवश्यकता से अधिक साधनों का संग्रह करना इस व्रत का अतिचार है।

वस्तु स्थिति यह है कि नैतिक व्यक्ति अति गम्भीर होता है। गम्भीरता के अभाव में न नैतिकता सध सकती है और न उसमें प्रगति हो सकती है। अतः वह न व्यर्थ की बकवास करता है, न किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर ही बोलता है; वह नपे-तुले शब्दों में गम्भीरतापूर्वक वजनदार बात कहता है।

उसके जीवन में छिछोरपन नहीं होता, अतः वह कुत्सित वचन भी नहीं बोलता और वैसी चेष्टाएँ भी नहीं करता।

उसके जीवन का ध्येय 'सादा जीवन, उच्च विचार' हो जाता है अतः वह अपनी आवश्यकता के अनुरूप ही उपभोग-परिभोग की सामग्री तथा साधन रखता है।

शिक्षाव्रत

डा० दयानन्द भार्गव के शब्दों में 'शिक्षाव्रत हृदय की पवित्रता पर अधिक बल देते हैं।'[1] बात भी ऐसी ही है। शिक्षाव्रत व्रती गृहस्थ की आध्यात्मिक साधना से मुख्यतया सम्बन्धित हैं। वे सद्गृहस्थ को श्रमण-

---

१. Shikshavratas emphasise inner purity of heart.

—D. N. Bhargava : Jaina Ethics, p. 102

जीवन की शिक्षा देने वाले हैं। इसीलिए वह इनका बार-बार आचरण करता है।

नीति के शब्दों में शिक्षाव्रत नैतिक उत्कर्ष से व्यक्ति को नैतिक चरम की ओर ले जाने वाले सोपान हैं।

यह चार हैं—(१) सामायिक (२) देशावकाशिक (३) प्रोषधोपवास और (४) अतिथि संविभाग।

सामायिक

सामायिक एक आध्यात्मिक साधना है। इसमें समत्व भाव की साधना की जाती है। मन को, वचन को और शरीर को अनुशासित किया जाता है, धर्मध्यान में रमाया जाता है।

यद्यपि सद्गृहस्थ समभाव की साधना केवल ४८ मिनट तक करता है; किन्तु उसके जीवन व्यवहार पर उस साधना का बहुत गहरा असर होता है। वह शुभत्व की ओर अग्रसरित होता है।

शुभ एक नैतिक प्रत्यय है। सामायिक साधना से व्यक्ति के मन-वचन-काय इतने अनुशासित हो जाते हैं, उसका स्वयं के संवेगों पर इतना नियंत्रण हो जाता है कि विपरीत परिस्थितियों में भी उसका मानसिक संतुलन कायम रहता है, अन्य व्यक्ति अपमान-जनक व्यवहार कर दे तो भी वह आवेश में नहीं आता, वह अपने चित्त की शांति को भंग नहीं करता, शुभ भावों से ही स्वयं को ओत-प्रोत रखता है और यही प्रयत्न करता है कि सामने वाला भी शांत हो जाय, अपने हृदय के आवेश को नियन्त्रित कर ले।

यह स्थिति समाज में शांति और नैतिक वातावरण निर्मित होने में बहुत सहयोगी होती है। जितना-जितना इसका प्रसार होता है, उतना-उतना समाज में सुख का वातावरण बनता है।

सामायिक साधक जब 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना मन में भाता है तो उसका विचार-प्रवाह तरंगायित होकर दूर-सुदूर क्षेत्रों तक प्रसरणशील बनकर अन्य प्राणियों के मन-मस्तिष्क में भी सुख की ऊर्मियाँ उत्पन्न कर देता है।

यही सामायिक का नीतिशास्त्रीय महत्व है।

देशावकाशिक व्रत

देशावकाशिक व्रत में सद्गृहस्थ अपनी वृत्तियों को और भी नियंत्रित/संयत करता है, आवश्यकताओं को कम करता है।

धर्मशास्त्रों के शब्दों में उसका सागर के समान पाप कम होकर बूंद के समान रह जाता है और नीतिशास्त्र के शब्दों में उसका स्वयं का जीवन सुखी होता है और साथ ही समाज में भी सुव्यवस्था का प्रसार होता है।

गांधीजी के शब्दों में यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताएँ स्वयं ही सीमित कर ले तो वर्ग संघर्ष को अवकाश ही न मिले, किसी को भी अभावजनित कष्ट न झेलना पड़े, सबकी जरूरतें पूरी हो जायें और समाज में सर्वत्र समानता व्याप्त हो जाय।

इसका परिणाम यह होगा कि अनैतिक वातावरण स्वयं समाप्त होकर नैतिक वातावरण को यथेष्ट अवसर प्राप्त होगा।

इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देशावकाशिक व्रत मानव के जीवन में शांति लाता है और सामाजिक दृष्टिकोण से यह ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है, जिससे सम्पूर्ण समाज में सुख का वातावरण बनता है, वितरण व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है तथा अशुभत्व के स्थान पर शुभत्व का प्रयोग प्रसार पाता है।

पौषधोपवास व्रत

एक दिन-रात अथवा २४ घण्टे तक आहार, व्यापार और शरीर शृंगार का त्याग करके ब्रह्मचर्यपूर्वक आत्मचिन्तन, धर्मध्यान आदि शुभ परिणति में लीन रहना पौषधोपवास व्रत है।

साधक पौषधोपवास में स्वयं अपनी जीवन शैली का निरीक्षण-परीक्षण करता है। अपने सद्गुणों के विकास के साथ-साथ अपने दोषों का चिन्तन करके उन्हें निकालने का, दूर करने का विचार तो करता है किन्तु पराये अथवा किसी दूसरे व्यक्ति के दोषों का चिन्तन बिल्कुल नहीं करता। उसका प्रयास और प्रयत्न स्वयं अपने को सुधारने का होता है।

स्वयं की कमजोरियों को जानना, उन्हें दूर करने का प्रयास करना, अपने आपका सुधार करना—स्वयं में एक बहुत बड़ा नैतिक आचरण है, अशुभत्व को त्यागकर शुभत्व की ओर गमन है।

तथ्य यह है कि जब तक मनुष्य अपना स्वयं का तटस्थतापूर्वक आत्मालोचन नहीं करेगा तब तक वह अपने दोषों और कमजोरियों, अशुभाचरण को जान भी नहीं सकेगा, ऐसी स्थिति में वह नैतिक जीवन में प्रगति नहीं कर सकेगा।

पौषधोपवास, वस्तुतः आत्म-पवित्रता की, आत्मा को दोषों से मुक्त करने की साधना है; और नीति भी तो यही है, वह भी व्यक्ति को बुराइयों (Evils) से बचने तथा अच्छाइयों (Good) की ओर बढ़ने की—प्रगति करने की प्रेरणा देती है और साथ ही इस प्रगति का मार्ग भी सुझाती है।

इस दृष्टिकोण से पौषधोपवास व्रत आत्मिक शुद्धि का साधन तो है ही; साथ ही साथ शुभत्व को—नैतिक आचरण को बुद्धिगत भी करता है। शुभत्व से शुद्धत्व—शुभ से परम शुभ की ओर प्रयाण का मार्ग प्रशस्त करता है।

अतिथि संविभाग व्रत

इस व्रत का धार्मिक दृष्टि से महत्व तो है ही; किन्तु नैतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। इस व्रत में दान, सेवा, सहयोग, परोपकार, विश्व-बन्धुत्व आदि सभी शुभ भावों की ऊर्मियां तरंगायित होती हैं। उस के मानस में स्वोपकार के साथ परोपकार की भव्य भावना भी अंगड़ाई लेने लगती है। नीति के अनुसार यह सभी शुभ प्रत्यय हैं और साथ ही संविभाग-संवितरण का समाजोपयोगी व्यावहारिक एवं प्रक्रियात्मक रूप भी हैं।

दान का अर्थ ही संविभाग है। अपनी न्यायोपार्जित आय में से अतिथि को उसके योग्य उचित आहार आदि देना, उसकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना, अपनी संपत्ति का उचित और योग्य क्षेत्र में वपन करना है।

दान के दो भेद हैं—(१) श्रद्धादान (२) अनुकंपादान।

त्यागी व्रती श्रमण-श्रमणियों को दान देना, श्रद्धादान है तथा समाज के अन्य जरूरतमन्द मानवों को देना, अनुकंपादान है।

अनुकंपादान की सीमा बहुत विस्तृत है—पशुओं को चारा तथा पक्षियों को दाना डालना भी अनुकंपादान है।

दान (charity) को नीति में शुभ प्रत्यय कहा है। यह व्यक्ति में उदात्त भावनाएँ भरता है और लेने वाले के लिए भी उपयोगी होता है।

दान, एक ऐसी विधा है, जिसका परिणाम दूरगामी होता है। यह पुण्य तो है ही, साथ ही समाज के प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ति का एक सबल माध्यम भी है।

जब तक हमारे देश में दान की परम्परा अक्षुण्ण रूप से चलती रही; तब तक संपूर्ण देशवासी भी नैतिक बने रहे, शील और सदाचार तथा नैतिक आचरण में हमारा देश अग्रणी रहा, संसार में हमारे देश का मान सम्मान और गौरव रहा। हमारा देश संसार में सोने की चिड़िया (Golden bird) कहलाता था।

दान अथवा स्वेच्छा से अपनी संपत्ति का संविभाग दानदाता के लिए यश, कीर्ति और गौरव बढ़ाता है, साथ ही समाज की नैतिक और चारित्रिक उन्नति भी करता है।

समाज में नैतिकता का वातावरण बने, सभी लोग सुखी रहें, परस्पर एक-दूसरे के उपकार में संलग्न रहें, सहयोग की भावना बलवती बने, इसके लिए दान की गंगा का सतत प्रवाहित होना आवश्यक है।

दान की एक अन्यतम विशेषता यह है कि यह स्वयं दानदाता के नैतिक जीवन में प्रगति—उन्नति का साधन बनता ही है, साथ ही समाज के अन्य व्यक्तियों को नैतिक बनाने का सबल माध्यम भी है।

नैतिक उत्कर्ष के सोपान

(श्रावक प्रतिमा)

गति दो प्रकार की होती है—(१) सीधी (Horizontal) और (२) ऊँची (Vertical)। दोनों ही प्रगति कहलाती हैं; लेकिन प्रथम से दूसरी में विशेषता यह है कि वह सिर्फ प्रगति ही होती है जब कि दूसरी उन्नति कहलाती है।

नैतिक विकास पर कदम बढ़ाता हुआ सद्गृहस्थ मिथ्या धारणाओं के अंधकूप में से निकलकर आता है तो उसे सामने व्यसनों का बीहड़ वन दिखाई देता है, अपने आपको व्यसनों के तीखे कांटों वाली झाड़ियों से घिरा हुआ पाता है।

किसी तरह व्यावहारिक नीति की पगडन्डी उसे मिलती है तो उस कँटीली झाड़ियों से बचता-बचाता अपने जीवन को शुद्धि की ओर बढ़ाता

हुआ, नैतिक जीवन के सीधे-सपाट राजमार्ग पर आता है और उस पर सावधानी से कदम बढ़ाता है।

यह राजमार्ग है, नैतिक उत्कर्ष, गृहस्थ धर्म, एवं गृहस्थ नीति। इस में वह लोक-परलोक दोनों की साधना करता है। आत्मिक शुभ और लौकिक शुभ दोनों को ही दृष्टिगत रखता हुआ, दोनों में समन्वय और ताल-मेल बिठाता हुआ नीति के उत्कर्ष की ओर चरण न्यास करता है।

तदुपरान्त उसे मिलते हैं—सोपान—सीढ़ियां।

ये वह सीढ़ियाँ हैं, जो नैतिक चरम—साधुचर्या—श्रमणधर्म के राज-मन्दिर तक पहुँचाती हैं।

इन सीढ़ियों-सोपानों को ही धर्मशास्त्रों में 'प्रतिमा'—श्रावक प्रतिमा के नाम से कहा गया है।

जिस प्रकार सीढ़ियां चढ़ने के लिए कदमों में दृढ़ता की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रतिमाओं के पालन में भी दृढ़ता अति आवश्यक होती है। इसीलिए प्रतिमा को 'प्रतिज्ञा विशेष', व्रत-विशेष,[1] तप-विशेष, साधना पद्धति कहा गया है।

नैतिक उन्नति के यह सोपान, वे सोपान हैं, जहाँ कोई (रेलिंग) सहारा नहीं है। साधक अपनी मानसिक, वाचसिक और शारीरिक क्षमता व दृढ़ता से एक-एक सोपान क्रमशः चढ़ता हुआ, सबसे ऊँचे सोपान पर पहुँचता है, जहाँ उसे नैतिक चरम का समतल मैदान मिलता है और उस मैदान से परम शुभ-परम शुद्ध (Ultimate good) स्थिति को पहुंच सकता है, जहाँ नीति की सभी सीमाएं पीछे छूट जाती हैं।

इन प्रतिमाओं का आरोहण साधक क्रमशः करता है। यह सोपान अथवा प्रतिमा ११ हैं—

(१) दर्शन, (२) व्रत (३) सामायिक (४) पौषध (५) नियम (६) ब्रह्मचर्य (७) सचित्तत्याग (८) आरम्भत्याग (९) प्रेष्यपरित्याग अथवा परि-

---

१. (क) प्रतिमा प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञेतियावत् —स्थानांगवृत्ति पत्र ६१
(ख) प्रतिमा—प्रतिज्ञा अवग्रहः —वही पत्र १८४

ग्रहत्याग (१०) उद्दिष्टभक्तत्याग (११) श्रमणभूत ।[1]

(१) दर्शन प्रतिमा—दर्शन का अर्थ है—दृष्टिबिन्दु अथवा दृष्टिकोण। आध्यात्मिक भाषा में इसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इस प्रतिमा को धारण करने वाले का दृष्टिकोण एकदम यथार्थ अनेकान्तग्राही होता है। वह तत्व-अतत्त्व, शुभ-अशुभ, कर्तव्य-अकर्तव्य को भली-भाँति जानता है, इनके मर्म को पहचानता है और अनाग्रह बुद्धि से स्वीकार करता है।

उसके विवेक चक्षु खुल जाते हैं। विवेक को कुंठित और मलिन करने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों के आवेग-संवेग शिथिल और मंद पड़ जाते हैं। उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है। वह अनाग्रही तो होता है किन्तु अपने सत्य दृष्टिकोण के प्रति इतना दृढ़ आस्थाशील भी होता है कि कैसी भी विषम परिस्थिति आवे वह अपने श्रद्धान—सम्यक् श्रद्धा से रंचमात्र भी विचलित नहीं होता, न ही संशयशील होता है।

(२) व्रत प्रतिमा—इसमें श्रावक पाँच अणुव्रतों का तो सम्यक् प्रकार से पालन करता है, उनमें किसी प्रकार का दोष नहीं लगने देता।[2] तीन गुणव्रतों का भी अभ्यास करता है। किन्तु सामायिक आदि चारों शिक्षाव्रतों का सम्यक् रूप से पालन नहीं कर पाता। इसमें परिस्थितियाँ कारण बन जाती हैं। किन्तु उसकी श्रद्धा-प्ररूपणा सम्यक् होती है।

यह प्रतिमा नैतिक दृष्टि से विधानात्मक है। अणुव्रतों का निर्दोष पालन नैतिक आचरण में दृढ़ता ही सूचित करता है। उसका व्यावहारिक

---

१. (क) दशाश्रुत स्कन्ध छठी दशा
(ख) विंशिका—१०वीं; लेखक हरिभद्रसूरि
(ग) दिगम्बर परम्परा में इन प्रतिमाओं के नाम और क्रम कुछ भिन्न हैं—
(१) दर्शन (२) व्रत (३) सामायिक (४) पौषध (५) सचित्तत्याग (६) रात्रिभुक्तित्याग (७) ब्रह्मचर्य (८) आरम्भत्याग (९) परिग्रहत्याग (१०) अनुमतित्याग और (१२) उद्दिष्टत्याग।
—देखें, समन्तभद्र कृत श्रावकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचार आदि

२. पंचाणुव्वय धारित्तमणइयारं वएसु पडिबंधो।
वयणा तदणइयारा वयपडिमा सुण्णसिद्ध त्ति॥
—विंशतिका १०/५

जीवन भी निर्दोष हो जाता है, क्योंकि वह माया (छल-कपट), मिथ्या (गलत दृष्टिकोण) और निदान (व्रत के भौतिक लाभ की आकांक्षा या भोगाकांक्षा-अभीप्सा, अभिलाषा) को त्याग चुका होता है। इस कारण उसके जीवन में अनैतिकता का प्रवेश नहीं हो पाता। वह सर्वदा नीतिपूर्ण व्यवहार करता है।

(३) सामायिक प्रतिमा—इस प्रतिमा का धारक उल्लासपूर्वक सामायिक करता है, देशावकाशिक व्रत का भी पालन करता है और पौषधोपवास व्रत का भी। मास में ६ पौषध करता है—२ अष्टमी, २ चतुर्दशी, १ अमावस्या और १ पूर्णिमा।

सामायिक प्रतिमाधारी सद्गृहस्थ की कषायें अत्यन्त मंद हो जाती हैं, दैनिक-व्यावहारिक जीवन में भी वह समत्व भाव रखता है, क्रोध के प्रसंग पर भी क्रोध नहीं करता, समझा-बुझाकर मधुर नीति से काम निकालता है। इस प्रकार उसका नैतिक शुभ का आचरण और भी दृढ़ हो जाता है।

(४) पौषध प्रतिमा—इस प्रतिमा में श्रावक प्रतिपूर्ण पौषध व्रत करता है। तथा इस प्रतिमा के पालन में गृहस्थ निवृत्ति की ओर अपने चरण बढ़ाता है।

जब तक वह इस प्रतिमा का पालन करता है तब तक सभी प्रकार के अशुभ अध्यवसायों से दूर रहता है। मानसिक, वाचिक और कायिक, उसकी सभी प्रकार की क्रियाएँ शुभ ही होती हैं, वह शुभ से शुभतर और परम शुभ की ओर बढ़ता है। यही इसका नीतिशास्त्रीय महत्व है।

(५) नियम प्रतिमा—इस प्रतिमा में साधक प्रमुख रूप से पाँच नियमों का पालन करता है—

(i) स्नान नहीं करना

(ii) धोती की लाँग नहीं लगाना

(iii) रात्रि में भोजन (यहां तक पानी भी) नहीं पीना

(iv) दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना और रात्रि में भी यथासम्भव ब्रह्मचर्य का पालन करना।

(v) एक माह में एक रात कायोत्सर्ग की साधना करना।

नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से इस प्रतिमा में आसक्ति त्याग (renun-

ciation of lust) होता है। आसक्ति प्रमुखतया तीन प्रकार की होती है—१. कामासक्ति (lust of desire) २. भोगासक्ति (lust of enjoyment) और ३. देहासक्ति (Infatuation to one's own body).

इच्छा अथवा आसक्ति (desire or will) नीतिशास्त्रीय प्रत्यय हैं। वह इच्छा जो अशुभ हो, हानिकारक हो, उसे अशुभ प्रत्यय कहा जाता है। इच्छाओं के वश में चलने वाला व्यक्ति नीति के चरम उत्कर्ष या आदर्श तक नहीं पहुँच पाता। काम-भोग में अधिक आसक्ति तथा अपने शरीर से अत्यधिक ममत्व नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी अनुचित हैं। इस प्रतिमा में इन्हीं का त्याग होता है।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—इसमें साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। वह ऐसा मनोविनोद या मजाक भी नहीं करता जो तनिक भी काम-वासना की ओर संकेत करता हो, स्त्री के साथ एकान्त में बैठता भी नहीं, स्त्रियों से अधिक परिचय व संसर्ग भी नहीं करता।

ब्रह्मचर्य आध्यात्मिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण हैं तो नैतिक दृष्टि से भी इसका कम महत्व नहीं है। जितेन्द्रियता व्यक्ति को नैतिक चरम तक ले जाने का महत्वपूर्ण साधन है।

जितेन्द्रियता अथवा वासना-नियन्त्रण सामाजिक दृष्टि से नैतिकता का मापदण्ड है। जितेन्द्रिय पुरुष को ही लोग नैतिक मानते हैं और उसी रूप में उसको सम्मान प्राप्त होता है।

(७) सचित्तत्याग प्रतिमा— इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक जल के अतिरिक्त अन्य सभी सचित्त वस्तुओं का त्याग कर देता है।

यह प्रतिमा वस्तुतः व्यक्तिगत आवश्यकताओं और इच्छाओं को सीमित करती है। आवश्यकताएँ (Necessities) कम होना, नैतिक जीवन बिताने के लिए सरल और सुगम मार्ग प्रस्तुत करता है।

(८) आरम्भत्याग प्रतिमा—सातवीं प्रतिमा में साधक अपनी निजी आवश्यकताओं को पर्याप्त रूप से कम कर लेता है, वह bare necessities तक ही सीमित रह जाता है; किन्तु इस प्रतिमा में वह व्यापार आदि का भी त्याग कर देता है, सारा उत्तरदायित्व दूसरों को सौंप कर स्वयं निवृत्ति की ओर उन्मुख होता है।

यद्यपि धार्मिक दृष्टि से आरम्भ का अर्थ हिंसात्मक क्रिया है; किन्तु ऐसे व्यापार भी हो सकते हैं जिनमें हिंसा हो ही नहीं। यथा—नैतिक,

सांस्कृतिक विषयों पर प्रवचन देने का व्यवसाय, धार्मिक एवं नैतिक पुस्तकें लिखने का व्यवसाय, आदि। ये भी आज के युग में व्यवसाय, अथवा जीविका उपार्जन के साधन हैं।

इनमें से धार्मिक, समाज-सुधारक, नैतिक शिक्षाप्रद प्रवचन एवं पुस्तक-लेखन के अतिरिक्त अन्य सभी ऐसे व्यवसाय जिनमें तनिक भी हिंसा की संभावना हो, इस प्रतिमा का धारी श्रावक छोड़ देता है।

किन्तु वह अभी परिग्रह का त्याग नहीं करता, संपत्ति अथवा संपत्ति के कुछ अंश पर स्वामित्व रखता है, इसका कारण यह है कि धार्मिक और समाज सेवा के कार्यों में, मानवता के हित के लिए वह उस संपत्ति का उपभोग कर सकता है।

सामाजिक और नैतिक दृष्टि से उसकी यह प्रवृत्ति महत्व रखती है, कारण यह है कि संभवतः पुत्र आदि उसकी भावना पूरी होने में सहयोगी न बनें।

(९) प्रेष्य-परित्याग प्रतिमा—आठवीं प्रतिमा में श्रावक स्वयं आरंभ का त्याग करता है, किन्तु इस प्रतिमा में वह दूसरों से भी आरम्भ कराने का त्याग कर देता है।

वह किसी भी वाहन यथा—वायुयान, जलयान, कार, स्कूटर आदि का न स्वयं प्रयोग करता है, न इनके प्रयोग के लिए किसी अन्य से भी कहता ही है।

गृह-निर्माण, पचन-पाचन (भोजन पकाना-पकवाना), विवाह आदि जिन कार्यों में थोड़ा भी आरम्भ होता है, उन सभी कार्यों को वह न स्वयं करता है, न दूसरों से ही करवाता है। यहाँ तक कि वह स्वजनों, परिजनों अनुचरों पर भी अनुशासन नहीं करता।

उसके परिग्रह की वृत्ति और भी कम हो जाती है।

वाहन-त्याग में मूल रूप से अहिंसा की भावना है। वाहनों से छोटे जीव तो मरते ही हैं, किन्तु कभी-कभी एक्सीडेंट भी हो जाते हैं, जिससे पंचेन्द्रिय पशु तथा अनेक मानवों का जीवन भी खतरे में पड़ जाता है।

मानव या पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी आदि को चोट पहुँचाना तो पश्चिमी नीतिविज्ञानी भी अनैतिक कार्य मानते हैं और आज तो विज्ञान ने भी

सिद्ध कर दिया है कि अग्निकाय[1] के जीव होते हैं जिनकी हिंसा पचन-पाचन आदि कार्यों में हो जाती है।

(१०) उद्दिष्टभक्त त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक अपने निमित्त बने हुए आहार को भी ग्रहण नहीं करता। वह शिर के बालों का शस्त्र से मुण्डन कराता है, किन्तु गृहस्थाश्रम का चिन्ह होने के कारण चोटी रखता है।

वह किसी बात को पूछने पर यदि जानता है तो कहता है—'मैं जानता हूँ' और यदि नहीं जानता तो स्पष्ट कह देता है कि 'मैं नहीं जानता।' अर्थात् उसकी वृत्ति-प्रवृत्तियां बहुत सहज एवं सरल हो जाती हैं, वह स्पष्टवादी बन जाता है।

नैतिक दृष्टि से मानव का यह अति उच्च कोटि का गुण है। 'दिल में सफाई और होठों पर सचाई' किसी भी मानव की ऐसी विशेषता है, जिसके कारण वह उच्च नैतिक धरातल पर अवस्थित हो जाता है। समाज उसे पूर्ण नैतिक मानने लगता है। उसकी नैतिकता उत्कर्ष पर पहुँच जाती है।

(११) श्रमणभूत प्रतिमा—यह श्रमण-जीवन अथवा सर्व संग त्यागरूप शिक्षा की अवस्था है। इस प्रतिमा में श्रावक श्रमण के समान जीवन व्यतीत करता है। श्रमण के समान ही वह निर्दोष भिक्षा, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, समाधि में लीन रहता है। उसकी वेश-भूषा भी श्रमण के समान होती है और आचार-विचार आदि दैनिक चर्या भी।

यह श्रावक जीवन के उच्चादर्शों का अन्तिम सोपान है।

कालमर्यादा एवं अन्य विशेषतायें—प्रतिमाओं के पालन की काल-मर्यादा भी निश्चित की गई है। यथा—पहली प्रतिमा एक मास की, दूसरी २ मास की, तीसरी ३ मास की, चौथी ४ मास की, पांचवीं ५ मास की, छठी ६ मास की, सातवीं ७ मास की, आठवीं ८ मास की, नौवीं ९ मास की, दसवीं १० मास की, ग्यारहवीं ११ मास की।

इस प्रकार इन सभी प्रतिमाओं का काल पाँच वर्ष छह मास (६६ मास) है।

---

१. तीर्थंकर, जीव विज्ञान विशेषांक,
यह जीव (अग्निकाय के जीव) ७८५ सेलसियस तक जीवित रहते हैं और उससे अधिक ताप होने से मरने लगते हैं।

एक विकल्प—ग्रन्थों (धर्मशास्त्रों) में यह कहा गया है कि इन प्रतिमाओं के पालन के बाद यदि साधक चाहे तो श्रमणत्व धारण कर सकता है और यदि उसकी इच्छा न हो तो वह पुनः नीचे भी उतर सकता है यानी व्रती श्रावक के रूप में भी जीवन व्यतीत कर सकता है।

इच्छा न होने अथवा श्रमणत्व ग्रहण न करने के अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे—शारीरिक शक्ति का क्षीण हो जाना, अचानक ही कोई असाध्य व्याधि (रोग) लग जाना आदि।

यद्यपि नीति के दृष्टिकोण से ऊपर चढ़कर पुनः नीचे आना श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता किन्तु यह सैद्धान्तिक दृष्टिकोण है। इस सैद्धान्तिक स्थिति का व्यवहार में अनुपालन व्यक्ति की अपनी क्षमता व परिस्थिति पर निर्भर करता है।

जीवन समतल नहीं है। व्यवहार में अनेक कठिनाइयाँ आ जाती हैं, ऐसे मोड़ आते हैं कि मानव को पुनः चिन्तन के लिए बाध्य होना पड़ता है, वह चाहते हुए भी आगे नहीं बढ़ पाता, उसे पीछे हटना ही पड़ता है।

मानव बहुत चाहता है कि बिल्कुल भी हिंसा न करे, सदा सर्वदा सत्य ही बोले। उसकी हार्दिक इच्छा भी यही होती है, किन्तु परिस्थिति की बाध्यता उसे विवश कर देती है और इस मजबूरी में उसे निश्चित पथ से हटना भी पड़ सकता है।

इस व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रतिमाओं की काल-मर्यादा निश्चित करना आचार्यों की दूरदर्शिता ही मानी जानी चाहिए।

इतने पर भी नैतिक उत्कर्ष की ओर प्रगतिशील विवेकी मानव का कर्तव्य है कि वह अपने दृढ़ कदम आगे ही बढ़ाये।

बारह व्रतों की साधना से नैतिक उत्कर्ष की स्थिति पर पहुँचकर प्रतिमा रूप ग्यारह सोपानों पर दृढ़ कदमों से चढ़ता हुआ नैतिक चरम की स्थिति पर पहुँचे।

नैतिक चरम वह स्थिति है, जहाँ पहुँचकर मैत्री साकार रूप लेती है, मानव स्वयं अपने लिए न रहकर जगत का—संसार का हो जाता है, जगत् कल्याण (स्व-पर कल्याण) का वह मूर्तिमंत बन जाता है।

जैन परम्परा में नैतिक चरम की यह सिर्फ मनोहर कल्पना मात्र नहीं है, किन्तु अनेक व्यक्ति इसका आचरण करते हैं और वे समाज के समक्ष उच्चतर नैतिक मूल्यों को व्यावहारिक जीवन में जीकर साकार करते हैं। □

६

नैतिक चरम

(Ethical Utmost)

श्रमणाचार

(Conduct of a monk)

नैतिक चरम का अभिप्राय है नीति का धर्म अथवा सदाचार में विलीन हो जाना। नैतिक नियम इस अवस्था में आकर धर्माचरण में विलीन हो जाते हैं। उनकी सत्ता धर्मानुमोदित आचार में एकमेक हो जाती है। ठीक उसी प्रकार जैसे "उदधाविव सर्वसिंधवः" नदियां समुद्र में मिलकर महार्णव कहलाने लगती हैं।

मानव सर्वप्रथम व्यसन त्याग के रूप में नैतिकता की ओर कदम बढ़ाता है और फिर नीति के व्यावहारिक बिन्दुओं को अपने कार्य-व्यापार में समायोजित कर नैतिक धरातल को परिपुष्ट करता है। तदुपरान्त वह गृहस्थ जीवन में रहकर भी व्रतबद्ध होता है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि व्रतों का पालन करके अपने जीवन को चमकाता है और नैतिक उत्कर्ष की संप्राप्ति करता है। जब उसके कदम इस स्थल पर मजबूती से जम जाते हैं, स्खलना—कंपन आदि नहीं होते तो वह अपने दृढ़ कदम नैतिक चरम की ओर बढ़ाता है।

नीतिशास्त्रीय शब्दों में, जब नीति का साधक अपने चरम लक्ष्य (Ultimate good) को—नैतिक शुभ और शुद्ध (moral good and ultimate good) को प्राप्त कर लेता है तब वह नैतिक चरम (Ethical utmost) की स्थिति पर पहुँच जाता है।

धर्मशास्त्र की भाषा में इसी स्थिति को व्यक्ति का 'धर्ममय' अथवा धर्मात्मा होना कहा गया है। धर्मात्मा का अभिप्राय है, जिसके आन्तरिक और बाह्य जीवन (Internal and external life) में, सम्पूर्ण क्रिया-कलापों में, व्यवहार में, भाषा में धर्म रम गया हो, धर्म से जो पूर्णतः ओत-प्रोत हो, वही धर्मात्मा कहा जाता है।

संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—जिसकी आत्मा, मन-वचन-काय तीनों योग और कृत, कारित,अनुमोदन (कार्य-व्यापार के हेतु—Instrument) तीनों करण धर्ममय हो जाते हैं, उस व्यक्ति की इस स्थिति, वृत्ति-प्रवृत्ति को नीतिशास्त्र की शब्दावली में हमने नैतिक चरम कहा है।

इसका अभिप्राय यह है कि उस व्यक्ति में शुभ ही शुभ (Good and only good) ही होता है, अशुभ का लेश भी नहीं होता। उसकी सभी क्रियाएँ और प्रवृत्तियाँ स्व-पर-कल्याण के निमित्त ही होती हैं। उसमें स्वार्थ, पूजा, श्लाघा, दंभ आदि का अंश भी नहीं होता। भगवान महावीर ने ऐसे धर्मात्मा पुरुष के लिए—जोगसच्चे, करणसच्चे—योगसत्य, करणसत्य कहा है।

जैन शब्दावली में ऐसे व्यक्ति को श्रमण कहा गया है और उसकी वृत्ति-प्रवृत्तियों को श्रमणाचार की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

यद्यपि वैदिक धर्म का 'संन्यासी', बौद्ध परम्परा का 'भिक्खु', ईसाई धर्म का parson और इस्लाम धर्मानुमोदित 'दरवेश' शब्द जैन परम्परा के श्रमण शब्द के समकक्ष कहे जा सकते हैं किन्तु यह विचारणा आपेक्षिक सत्य ही है, क्योंकि श्रमण शब्द में कुछ ऐसी विशिष्टताएँ व मर्यादाएँ निहित हैं, जो अन्य परम्पराओं के शब्दों में व व्यक्तिगत आचार में अभिव्यक्त नहीं हो पातीं।

'श्रमण' शब्द की विशिष्टताएँ

सर्वप्रथम श्रमण शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार कर लें। जैनाचार्यों ने 'श्रमण' शब्द को संस्कृत के 'श्रम' धातु से व्युत्पन्न माना है। उनके विचार से श्रम का अभिप्राय है—व्यक्ति अपना विकास स्वयं परिश्रम द्वारा करता है। सुख-दुःख, उत्थान-पतन सभी के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है।

विद्वान आचार्यों की यह मान्यता भगवान महावीर के उस उत्तर पर आधारित प्रतीत होती है, जो भगवान ने देवराज इन्द्र को उस समय दिया

था जब उसने भगवान की सेवा में रहकर कष्ट निवारण की अनुमति चाही थी। भगवान ने कहा था—

"देवराज आत्म-साधक के जीवन में आज तक यह न कभी हुआ और न कभी होगा, और न अब ही यह हो सकता है कि आत्मसिद्धि या मुक्ति किसी दूसरे के बल पर या किसी दूसरे की सहायता से प्राप्त की जा जा सके। साधक का आदर्श है—एगोचरे खग्गविसाणकप्पे—वह अकेला अपने पुरुषार्थ से चलता रहे।[1]

प्राकृत भाषा के 'समण' शब्द का संस्कृत रूपान्तर 'श्रमण' संस्कृत विद्वानों ने किया है; किन्तु प्राकृत भाषा के 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं—(१) सम, (२) श्रम और (३) शम। इन तीनों में ही समण अथवा श्रमण शब्द की विशिष्टता का रहस्य छिपा हुआ है।[2]

(१) सम - सभी को—प्राणिमात्र को अपने (अपनी आत्मा के) समान मानना। (अप्पसमं मनिज्ज छप्पिकाए)—छहकाया (संसार के सभी सूक्ष्म और स्थूल प्राणी) के प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझे।

(२) शम—इसका अभिप्राय है शान्ति। क्रोध, मान, मान, माया, लोभ आदि कषायों का शमन करना, सदा अपनी आत्मा को उपशम भाव की शांत प्रशान्त गंगा में निमज्जित करते रहना।

जैन परम्परा में तो उवसमसारं खु सामण्णं—श्रमणत्व का सार ही उपशम है, कहकर उपशम—शान्ति का महत्व प्रदर्शित किया गया है।

(३) श्रम—इसका अभिप्राय ऊपर बताया जा चुका है कि मनुष्य स्वयं ही अपना, अपनी आत्मा का विकास करता है, अपने सुख-दुःख का स्वयं ही कर्ता है और स्वयं ही उसका भोक्ता है। इस तथ्य को उत्तराध्ययन सूत्र में भली भाँति निरूपित किया गया है। वहाँ कहा गया है—

---

१. (क) उपाचार्य देवेन्द्र मुनि शास्त्री : भगवान महावीर : एक अनुशीलन, पृ० २६४
(ख) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पृ० २६७
(ग) आचार्य हेमचन्द्र : त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, १०/३/२६-३१
(घ) आचार्य गुणचन्द्र : महावीर चरियं ५/४५
(च) और भी देखिए—आचार्य नेमिचन्द्र : महावीर चरियं ८८२

२. विवेचन के लिए विशेष सन्दर्भ देखें—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ७/४१०

आत्मा ही अपने सुख-दुख का कर्ता और विकर्ता (विनाशकर्ता) है। सुप्रस्थित (सत्प्रवत्ति में स्थित—सत्प्रवृत्ति करने वाला) आत्मा ही अपना (स्वयं का) मित्र है और दुःप्रस्थित (दुष्प्रवृत्ति करने वाला) आत्मा ही अपना (स्वयं का) शत्रु है।[1]

इसी भाव को स्वामी विवेकानन्द ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—मानव स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है।[2]

श्रमण की ये तीनों विशेषताएँ—(१) सम, २) शम और (३) श्रम, नीति—के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

समभाव में रहने वाला व्यक्ति ही नीति का पालन कर सकता है। व्यक्ति यदि किसी के प्रति राग और किसी के प्रति द्वेष के व्यामोह में फंस गया तो वह किसी एक का प्रिय करेगा और दूसरे का अप्रिय। ऐसी दशा में वह एक अनैतिक व्यक्ति को भी लाभ पहुँचा सकता है, और दूसरे नैतिक व्यक्ति को हानि भी। तब उसकी नैतिकता कहाँ सुरक्षित रहेगी? इसीलिए श्रमण में समभाव अनिवार्य है।

शम की नैतिकता तो और भी स्पष्ट है। शम का अभिप्राय है—क्रोध आदि कषाय—मानसिक संक्लेशों का अभाव—उपशमन। संसार में जितने भी प्रकार की अनैतिकताएं हैं या की जाती हैं, उन सभी का मूल ये कषाय ही हैं। कषाय का तनिक-सा आवेश भी मन-मस्तिष्क में आया कि मानव नैतिकता से गिरा, उसका आचरण व्यवहार सभी कुछ अनैतिक हो गया।

श्रम का महत्व सर्वविदित है। जिस व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में श्रम की महत्ता प्रतिष्ठित हो जाती है, अनैतिकता स्वयं ही पलायन कर जाती है। जब व्यक्ति को विश्वास हो जाता है कि अपने किये कर्मों का फल मुझे ही भोगना पड़ेगा तो वह स्वतः की प्रेरणा से ही अनैतिकता का त्याग कर देता है। इसीलिए श्रम में विश्वास करने वाले व्यक्ति अधिक नीतिनिष्ठ होते हैं।

श्रम का दूसरा महत्व है—पुरुषार्थ जाग्रत करना। पुरुषार्थवाद बनाम भाग्यवाद नैतिकता और नीतिशास्त्र का प्रमुख वाद भी है और प्रत्यय भी। भाग्य के भरोसे रहने वाला व्यक्ति अकर्मण्य और आलसी बन जाता है; जबकि पुरुषार्थवादी सतत कर्तव्यशील और उद्यम में निरत।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २०/३७

२. Man is the maker of his destiny.—Swami Vivekanand.

कर्तव्यशीलता को नीतिशास्त्र में शुभ प्रत्यय कहा गया है। नैतिकता के लिए यह आवश्यक—मूलभूत बिन्दु है।

जैन ग्रंथों में श्रमण के लिए कहा गया है—

समणइ तेण सो समणो[1]

'समणइ' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—**समणतो त्ति—तुल्यंवर्तते यतस्तेनासौ समण इति।**[2] जो सब जीवों के प्रति समान भाव रखता है, वह श्रमण है। इसीलिए कहा गया है कि श्रमण सुमना होता है, पापमना नहीं।

पाप का अभिप्राय अनैतिकता है। धर्मशास्त्रों में जिसे 'पाप' संज्ञा दी गई है, नीतिशास्त्र उसे ही बुराई (evil) कहता है, जो कि श्रमण में बिल्कुल नहीं होती—सु-मना के रूप में वह सबके प्रति सद्भाव, कल्याण भावना, हितदृष्टि आदि रखते हुए नैतिक चरम (Ethical utmost) की स्थिति पर अवस्थित रहता है।

श्रमण के सत्ताइस गुण[3]

जैन शास्त्रों में श्रमण के २७ गुण बताये गये हैं। यद्यपि शास्त्रों में इनका वर्णन धार्मिक दृष्टिकोण से किया गया है, किन्तु जैसा पूर्व पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि इस स्थिति पर आकर नीति धर्म बन जाती है, अतः इस दृष्टिकोण से इन गुणों का नीतिपरक महत्व भी है।

आगे की पंक्तियों में श्रमण के सत्ताइस (२७) गुणों का महत्व धर्म और नीति दोनों ही दृष्टिकोणों से वर्णित किया जा रहा है।

उत्सर्ग और अपवाद मार्ग

इस वर्णन से पूर्व एक बात जान लेना आवश्यक है कि श्रमणाचार (श्रमण के व्यावहारिक आचार) के दो मार्ग शास्त्रों में वर्णित हैं—(१)

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र, उपक्रमाधिकार

२. उद्धृत, उपाध्याय अमरमुनि : श्रमण सूत्र, पृष्ठ ५५

३. (क) समवायांग, समवाय २७, सूत्र १

(ख) पंचमहव्वयजुत्तो पंचिंदिय संवरणो।
चउव्विह कसायमुक्को तिओ समाधारणीया॥
तिसच्च सम्पन्नतिओ खंति संवेगरओ।
वेयणमच्चुअहियासणा साहुगुणा सत्तवीसं॥

उत्सर्ग मार्ग और (२) अपवाद मार्ग। ये जैन साधना की सरिता के दो तट भी कहे जा सकते हैं।

उत्सर्ग और अपवाद का लक्ष्य एक ही है, और वह है साधक को साधना के पथ पर आगे बढ़ाना। ये दोनों परस्पर एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। इनमें मुख्य और गौण का अन्तर है। उत्सर्ग मार्ग मुख्य है और अपवाद मार्ग को गौण कहा गया है।

उत्सर्ग मार्ग का अभिप्राय है आन्तरिक जीवन, चारित्र और सद्गुणों की रक्षा, शुद्धि और अभिवृद्धि के लिए प्रमुख नियमों का विधान और उनका पालन, तथा अपवाद का अर्थ है जीवन की रक्षा हेतु तथा उसकी शुद्धि वृद्धि के लिए बाधक नियमों का विधान एवं परिस्थिति का आकलन करते हुए यथाशक्य अनुपालन।[1]

आचार्य जिनदासगणी महत्तर[2] ने लिखा है—जो बातें उत्सर्ग मार्ग में निषिद्ध की गई हैं, वे सभी बातें कारण उपस्थित होने पर कल्पनीय व ग्राह्य हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों का लक्ष्य एक है, वे एक दूसरे के पूरक हैं। साधक दोनों के सुमेल से ही साधना के पथ पर बढ़ सकता है। यदि उत्सर्ग और अपवाद दोनों एक दूसरे के विरोधी हों तो वे उत्सर्ग और अपवाद नहीं हैं, किन्तु स्वच्छन्दता के पोषण करने वाले हैं। आगम साहित्य में दोनों को मार्ग कहा है। एक मार्ग राज-मार्ग की तरह सीधा है तो दूसरा मार्ग जरा घुमावदार है।[3]

वस्तुस्थिति यह है कि मूल आगमों में तो अपवाद मार्ग का वर्णन नहींवत् है, वहाँ तो उत्सर्ग मार्ग का ही निरूपण है। अपवाद मार्ग का वर्णन उत्तरकालीन भाष्यों, चूर्णियों आदि में प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि देश की बदलती परिस्थितियों के कारण ज्यों-ज्यों शुद्ध श्रमणाचार के निर्वाह में कठिनाइयाँ आती गईं त्यों-त्यों आचार्यों को अपनी निर्मल प्रज्ञा

---

१. देवेन्द्र मुनि शास्त्री : जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ० ५०८

२. जाणि उस्सग्गे पडिसिद्धाणि उप्पण्णे कारणे सव्वाणिवि ताणि।
कप्पंति। ण दोसो —निशीथचूर्णि ५२४५
उद्धृत (देवेन्द्र मुनि शास्त्री) जैनाचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ० ५०९

३. (देवेन्द्र मुनि शास्त्री) जैनाचार : सिद्धान्त और स्वरूप पृ० ५०९

से व्यावहारिक निर्णय करने पड़े। ये निर्णय ही अपवाद-मार्ग कहलाए। चूंकि वे निर्णय उत्सर्ग मार्ग के पूरक और श्रमण के आन्तरिक जीवन की शुद्धि-वृद्धि, संरक्षा-सुरक्षा में सहायक थे अतः दोनों को ही अविरोधी माना गया।

यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी आवश्यक है कि अपवाद का सेवन विवशतापूर्वक किया जाता है। साधक यह अच्छी तरह जानता है—यदि मैं अपवाद का सेवन नहीं करूँगा तो मेरे ज्ञान आदि गुण विकसित नहीं हो सकेंगे। उसी दृष्टि से वह अपवाद का सेवन करता है। अपवाद के सेवन करने में सद्गुणों का अर्जन और संरक्षण प्रमुख लक्ष्य होता है। अपवाद में कषाय भाव नहीं होता, संयमभाव प्रमुख होता है।

अपवाद मार्ग को हम 'आपत्ति काले मर्यादा नास्ति' नहीं मान सकते। बल्कि यह विपरीत परिस्थिति व विकट समस्या का विवेकयुक्त समाधान माना जा सकता है।

इस दृष्टि से अपवाद-मार्ग को श्रमणाचार में नीति की संज्ञा दी जा सकती है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर श्रमण के २७ गुणों का विवेचन आध्यात्मिक, धार्मिक और नीति संबन्धी विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

श्रमण के २७ गुणों का विवेचन

समवायांग सूत्र में निरूपित श्रमण के २७ गुण हैं–(१-५) पांच महाव्रत, (६-१०) पांच इन्द्रियों का निग्रह (११-१४) चार कषाय विवेक (१५-१७) तीन सत्य (१८) खंति—क्षमा (१९) विरागता (२०) मनसमाधारणता (२१) वचन समाधारणता (२२) कायसमाधारणता (२३) ज्ञानसम्पन्नता (२४) दर्शनसंपन्नता (२५) चारित्रसम्पन्नता (२६) वेदना समाध्यासना (२७) मारणान्तिक समाध्यासना।

पांच महाव्रत

श्रमण के लिए पालनीय पाँच महाव्रत हैं—(१) अहिंसा महाव्रत (२) सत्य महाव्रत (३) अस्तेय महाव्रत (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत और (५) अपरिग्रह महाव्रत। श्रमण इन महाव्रतों का पालन तीन करण और तीन योग से कहता है।

करण का अभिप्राय है—प्रवृति के साधन। ये तीन हैं—(१) कृत—स्वयं करना (२) कारित—किसी दूसरे को आज्ञा अथवा प्रेरणा देकर उससे करवाना और (३) अनुमोदन—किसी दूसरे द्वारा किये हुए कार्य की प्रशंसा

करना, उसे मौन अनुमति देना, काया से ऐसी चेष्टा करना अथवा संकेत करना जिससे अनुमति की प्रतीति हो।

योग तीन हैं—(१) मन (२) वचन और (३) काया।

श्रमण क्योंकि अपने सभी महाव्रतों का तीन करण तीन योग से पालन करता है अथवा सिक्के के दूसरे पहलू की दृष्टि से कहा जाय तो हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँचों पापों अथवा अनैतिकताओं को तीन करण तीन योग से त्यागता है, प्रत्याख्यान करता है, इसलिए इसका प्रत्याख्यान नव कोटि प्रत्याख्यान कहलाता है।

(१). अहिंसा महाव्रत

अहिंसा सार्वभौम है। यह धर्म तो है ही, नीति का भी प्रमुख प्रत्यय है। सभ्य संसारव्यापी धर्मों और नीतियों की आधारशिला ही यही है। धर्म के रूप में यह समत्व का आधार है, यानी समताभाव ही अहिंसा है। संसार के सभी प्राणियों के प्रति समानता का भाव रखना, अपने-पराए की भेद-दृष्टि से दूर रहना अहिंसा धर्म है।

नीति के रूप में अहिंसा कर्म-अकर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक कराती है। सद्-असद् प्रवृत्ति का निर्णय करती है।

श्रमण अहिंसा का पालन बड़ी सूक्ष्मता से करता है। चलते-फिरते जीवों को तो किसी प्रकार का कष्ट देता ही नहीं, यहाँ तक कि वह हरित वनस्पति (plants of green vegetables) को भी स्पर्श नहीं करता क्योंकि स्पर्श-मात्र से भी उसे पीड़ा होती है। यह उत्सर्ग मार्ग है।

किन्तु यदि कोई श्रमण पर्वत पर चढ़ या उतर रहा है, अथवा ऐसी स्थिति आ जाय कि वह अपना सन्तुलन न रख सके, गिरने लगे तो वह किसी वृक्ष को पकड़ सकता है। यह अपवाद मार्ग अथवा नीति है।[1]

इसमें हेतु यह है कि गिरने से श्रमण को चोट लग सकती है, उसके पैर की हड्डी टूट सकती (fracture) है, अन्य कीड़े-मकोड़े (creatures) क्षुद्र प्राणियों की हिंसा भी हो सकती है। उन सबकी रक्षार्थ ही अपवाद मार्ग अथवा नीति का नियम अहिंसा महाव्रत के सन्दर्भ में निरूपित किया गया।

---

१. देखिए—आचारांग, श्रुतस्कन्ध २ ईर्याध्ययन।

वस्तु स्थिति यह है कि उत्सर्ग मार्ग में निर्धारित नियम तो वे सामान्य नियम हैं जिनका सामान्य परिस्थितियों में पालन किया जाना अनिवार्य है, किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में विशिष्ट नियमों का अनुपालन किया जा सकता है। प्रथम रूप धर्म है और दूसरा तत्कालीन विशिष्ट परिस्थिति में आचरण करने से नीति है।

(२). सत्य महाव्रत

सामान्यतः साधु नव कोटि से सत्य का आचरण करता है। उसके मन-वचन काय में रग-रग में सत्य का वास होता है। किन्तु ऐसी परिस्थिति आ जाये, जैसे—श्रमण वन में विहार करके जा रहा है, उस समय कोई शिकारी उससे पूछे कि अमुक पशु (उदाहरणार्थ हिरन) किधर गया है तो साधु मौन रहे, लेकिन मौन से यदि काम न चले, अथवा मौन स्वीकृतिसूचक हो जाये तो साधु विपरीत दिशा में संकेत कर दे अथवा नहीं जानता हूँ, ऐसा कह दे।[1]

इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है कि श्रमण के हृदय में सत्य के प्रति आदर नहीं होता। अपितु जैन अंग शास्त्र प्रश्नव्याकरण में तो सत्य को भगवान[2] कहा गया है और यहाँ तक कि गौतम गणधर भी आनन्द श्रावक से अपने असत्य कथन के लिए क्षमा माँगते हैं[3] भगवान महावीर का स्पष्ट सन्देश है कि सत्य का वरण करने वाला साधक सभी कर्मों को क्षय कर देता है, संसार से पार हो जाता है।[4]

अतः यहाँ अपवाद रूप में श्रमण द्वारा असत्य कथन किसी जीवधारी की रक्षा के निमित्त ही किया गया है। यह सत्य को गौण करके अहिंसा महाव्रत की रक्षा के निमित्त ही असत्य कथन हुआ है। और ऐसा असत्य नीति के अन्तर्गत भी नैतिक माना जाता है।

---

१. (क) देखिए—आचारांग २, ३, ३, सूत्र ५१० तथा वृत्ति।
—जाणं वा णो जाणं ति वदेज्जा
(ख) निशीथचूर्णि, भाष्य, गाथा ३२२।

२. सच्चं खु भगवं। —प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार, अध्ययन २,

३. (क) उपासकदशांग सूत्र, अध्ययन १,
(ख) मुनि श्री कन्हैयालाल जी कमल : चरणानुयोग, सूत्र १०६, पृ० १५७

४. आचारांग सूत्र १, ३, २; १, ३,३

(३) अस्तेय महाव्रत

अस्तेय को जैन आगमों में 'दत्तादान' कहा गया है और इसके विपरीत स्तेय को अदत्तादान। श्रमण अस्तेय महाव्रत को ग्रहण करते समय प्रतिज्ञा करता है—मैं आज से समस्त प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हूँ।[1] वह द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से—ग्राम में, नगर में, अरण्य में (कहीं भी), सचित्त या अचित्त, स्थूल अथवा सूक्ष्म कोई भी पदार्थ बिना दिये ग्रहण नहीं करता।[2] यहाँ तक कि अपने ठहरने योग्य स्थान भी उसके स्वामी की अनुमति से लेता है, उसकी पूर्व अनुमति पाकर ही वह ठहर सकता है।

किन्तु ऐसी परिस्थिति हो जाय कि श्रमण ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहां अन्य स्थान की सुविधा नहीं हो, भयंकर शीत अथवा वर्षा हो तो वह पहले ठहर जाय और बाद में आज्ञा लेने का प्रयास करे।[3]

विशेष परिस्थिति में श्रमण को जो यह अपवाद नियम दिया गया, वह उन परिस्थितियों में आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। यदि सर्दी लग जाने से वह बीमार हो जाता, ज्वर से आक्रान्त हो जाता तो उसकी संयम-साधना की निर्बाधता में विघ्न उपस्थित हो सकता था। यह सुविधा शरीर की दृष्टि से नहीं, अपितु संयम-साधना की दृष्टि से दी गई है। इसी अपेक्षा से यह नैतिक है।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत

श्रमण नवकोटि ब्रह्मचर्य का पालन करता है। वह नारी जाति का, चाहे वह मानवी हो, देवी हो अथवा मादा पशु हो, न मन में चिन्तन करता है, न ऐसे वचन ही बोलता है और न शरीर से स्पर्श ही करता है, यहाँ तक कि नवजात बालिका का स्पर्श भी वह नहीं करता।

ऐसा ही नियम श्रमणी अथवा साध्वी के लिए पुरुष जाति के प्रति है, वह भी पुरुष मात्र का स्पर्श नहीं करती।

ब्रह्मचर्य का जैन साधना में अतिमहत्वपूर्ण स्थान है। इसे सूत्र-

---

१. आचारांग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, अ० ७, उ० १, सूत्र ६०७
२. दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ४, सूत्र १३
३. (क) व्यवहार सूत्र ६, ११
(ख) श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री : जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ० ५१५.

कृतांग सूत्र में उत्तम तप[1] कहा गया है। इसीलिए ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त नवबाड़[2] का विधान किया गया है और साधु-साध्वी इन बाड़ों का बड़ी तत्परता और अत्यधिक जागरूकता के साथ पालन करते हैं।

ब्रह्मचर्य का माहात्म्य प्रगट करते हुए कहा है कि दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को देव, दानव, गन्धर्व आदि सभी देवगण नमस्कार करते हैं।[3] इसे नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व आदि का मूल भी कहा गया है।[4]

ब्रह्मचर्य की महिमा सभी धर्मों में गाई गई है।

जैन परम्परा में जो इसका इतना माहात्म्य और महत्व वर्णित किया गया है, उसका हार्द यही है कि श्रमण इस ब्रह्मचर्य महाव्रत का पूर्ण रूप से, निरपवाद पालन करे, इसमें किंचित भी दोष न लगने दे।

यद्यपि सामान्यतः शास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए स्त्री मात्र का स्पर्श भी वर्जित बताया गया है। किन्तु यदि कोई साध्वी नदी अथवा तालाब में डूब रही है, अन्य कोई स्त्री अथवा पुरुष पास में नहीं है, नौका

---

१ तवेसु वा उत्तम बंभचेरं। —सूत्रकृतांग सूत्र, अध्ययन ६

२ (क) उत्तराध्ययन सूत्र, १६, ३–१२–
(१) विविक्त शयनासन (२) स्त्रीकथा परिहार (३) निषद्यानुपवेशन (४) स्त्री अंगोपांग अदर्शन (५) कुड्यान्तर (दीवार आदि की आड़ से) शब्द श्रवण-विवर्जन (६) पूर्व भोग स्मरण-वर्जन (७) प्रणीत भोजन त्याग (८) अति भोजन त्याग (९) विभूषा वर्जन।

(ख) पंडित आशाधर ने अनगार धर्मामृत (४, ६१) में दस नियम बताये हैं— (१ रूप, रस, गंध और शब्द में रस न लेना (२) जननेन्द्रिय में विकार उत्पन्न करने वाले कार्य न करना (३) कामोद्दीपक आहार न करना (४) महिलाओं द्वारा उपभोग किए हुए शयन-आसन आदि का उपभोग न करना (५) स्त्रियों के कामोद्दीपक अंगों को न देखना (६) स्त्रियों का सत्कार न करना (७) अपने शरीर का संस्कार न करना (८) पूर्व (गृहस्थाश्रम में) सेवित रति का स्मरण न करना (९) भविष्य में काम-क्रीड़ा की किंचित् भी इच्छा न करना (१०) इष्ट रूप आदि में मन को संयुक्त न करना।

३. उत्तराध्ययन सूत्र १६, १६।

४. प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार, अध्ययन ४।

आदि का साधन भी नहीं है, जिससे उसे बचाया जा सके, और श्रमण यदि तैरना जानता है तो वह उसे डूबने से बचा सकता है।[1] इसी प्रकार वह क्षिप्तचित्त श्रमणी को पकड़ सकता है।[2] सर्पदंश की स्थिति में श्रमण श्रमणी से और श्रमणी श्रमण से अवमार्जन करा सकती है।[3] पैर में कांटा चुभ जाने पर भी ऐसा ही विधान है।[4] किन्तु इन सब परिस्थितियों के लिए अनिवार्य है कि अन्य कोई साधन—यथा श्रमणी के लिए स्त्री और श्रमण के लिए पुरुष उपलब्ध न हो और स्थिति अत्यन्त विषम बन चुकी हो।

ब्रह्मचर्य आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, मानसिक, शारीरिक आदि सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसके पालन से शरीर का ओज-तेज बढ़ता है, जिससे साधक साधना में तेजस्वी होता है।

नैतिक दृष्टि से तो इसका अत्यधिक महत्व है। सामान्य गृहस्थ भी ब्रह्मचर्य पालन से नैतिक माना जाता है, जिसमें श्रमण साधु के लिए तो यह अनिवार्य ही है।

अपवाद के रूप में जो विशिष्ट नियम निर्धारित किये गये हैं उनका आधार नीति है। यह प्रत्येक मानव का कर्तव्य है कि वह पीड़ित व्यक्ति को पीड़ामुक्त करने का भरपूर प्रयास करे। श्रमण अथवा श्रमणी तो मानवता के मूर्तमन्त होते हैं। यदि श्रमण डूबती हुई, सर्पदंश से पीड़ित अथवा कांटे चुभने की वेदना से व्यथित श्रमणी की और इसी तरह श्रमणी भी श्रमण की उपेक्षा कर दे तो यह घोर अमानवीय और अनैतिक होगा।

फिर सेवा, वैयावृत्य, अन्य श्रमण-श्रमणियों को सुख-साता पहुँचाना तो जैन संघ का अनिवार्य नियम है और तप भी है। इसे प्राथमिकता दी गई है। इसकी उपेक्षा करना श्रमणत्व से और यहाँ तक कि नैतिकता से भी पतित होना है।

यही कारण है कि ब्रह्मचर्य महाव्रत में भी नैतिकता की उपेक्षा नहीं की गई है। श्रमण संघ के नियामक नैतिकता के प्रति जागरूक रहे हैं।

---

१. बृहद्कल्प सूत्र उ० ६, सूत्र ७-१२।
२. वही, उ० ६, सूत्र ७-१२।
३. व्यवहार सूत्र उ० ५, सूत्र २१।
४. बृहद्कल्प सूत्र, उ० ६, सूत्र ३।

(५) अपरिग्रह महाव्रत

परिग्रह, जैन शास्त्रों के अनुसार मूर्च्छा है।[1] मात्र बाह्य पदार्थ परिग्रह नहीं हैं, अपितु उन पदार्थों में आसक्ति, ममत्वभाव, मेरेपन की भावना ही परिग्रह है। मानव जीवन के लिए भी, शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाह्य पदार्थों का उपयोग उसी प्रकार अनिवार्य है, जैसे स्टीमर के लिए सागर की अनन्त जल-राशि। जब तक जल स्टीमर के नीचे रहता है, वह स्टीमर को गतिशील बनाये रखने में सहायक होता है; किन्तु जैसे ही स्टीमर के अन्दर जल का प्रवेश हुआ कि वह उसे सागर की अतल गहराइयों में डुबा भी देता है। यही स्थिति परिग्रह की है। जब तक पदार्थ उपयोग की सीमा तक रहते हैं तब तक वे साधक की साधना में सहायक बनते हैं और ज्योंही उन पदार्थों के प्रति साधक के मन में मूर्च्छाभाव उत्पन्न हुआ, यानी उन पदार्थों का प्रवेश भावना, लालसा, आसक्ति के मार्ग से साधक के हृदय में हुआ कि उसकी भी समस्त साधना चौपट हो जाती है, वह साधना के उच्च स्थान से, नैतिक चरम से पतित हो जाता है।

वास्तव में अपरिग्रह एक अपेक्षा से अनासक्ति ही है। इस दृष्टिकोण से धन-वैभव के अपार भंडार होते हुए भी व्यक्ति अल्प-परिग्रही हो सकता है, यदि उसके हृदय में उस वैभव के प्रति अनासक्ति हो। इसके विपरीत एक निर्धन व्यक्ति, यदि उसके पास तन ढँकने को वस्त्र भी न हों, न खाने को पूरा अन्न हो और न रहने को झोंपड़ी ही हो, फिर भी वह महापरिग्रही होता है, यदि उसके हृदय में पदार्थों के प्रति गृद्धता हो, उसकी लालसाएँ, इच्छाएँ असीमित हों।[2]

जैन शास्त्रों ने सिर्फ बाह्य पदार्थों को ही परिग्रह नहीं माना अपितु उन भावनाओं और इच्छाओं तथा आवेग-संवेगों को भी परिग्रह में ही परिगणित किया है, जिनके कारण उसकी धर्म-साधना में, नैतिकता में और नैतिक आचार-विचार-व्यवहार में तनिक भी व्यवधान पड़ता है।

---

१ (क) न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥ —दशवैकालिक ६, २०
(ख) मूर्च्छा परिग्रहः। —तत्वार्थ सूत्र ७, १०

२ मूर्च्छाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवापरिग्रहः॥
उद्धृत—श्री देवेन्द्र मुनि : जैनाचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ ८५१

इस दृष्टिकोण से परिग्रह के दो भेद हैं—(१) अन्तरंग और (२) बाह्य।

अन्तरंग परिग्रह १४ हैं—(१) मिथ्यात्व (गलत धारणा अथवा विचारधारा), (२) वेद (स्त्री, पुरुष अथवा दोनों से काम-सेवन की इच्छा), (३) राग (आकर्षण-आसक्ति), (४) द्वेष (दुश्चिन्तन), (५) क्रोध, (६) मान, (७) माया (कपट), (८) लोभ, (९) हास्य, (१०) रति (लगाव), (११) अरति (उद्वेग), (१२) भय, (१३) शोक, (१४) जुगुप्सा।[1]

ये सभी अन्तरंग परिग्रह नीतिशास्त्र के अनुसार अनैतिक प्रत्यय हैं। गलत धारणा, आसक्ति, दुश्चिन्तन, उद्वेग, शोक, किसी की हँसी उड़ाना, मजाक बनाना, कपट करना आदि सभी अनैतिकता के जनक और अनैतिक प्रवृत्तियों—व्यवहारों को बढ़ाने वाले हैं। कामेच्छा, क्रोध, अभिमान आदि तो स्पष्ट ही अनैतिक हैं।

श्रमण इन चौदह अन्तरंग परिग्रहों का संपूर्णतः त्याग कर देता है। क्योंकि परिग्रह को ग्रन्थ अथवा गाँठ कहा गया है और श्रमण निर्ग्रन्थ होता है, उसके हृदय में—अंतरंग जीवन में कोई ग्रंथि नहीं होती।

बाह्य परिग्रह के अनगिनत प्रकार हैं—किन्तु आचार्यों ने[2]—क्षेत्र, वास्तु, स्वर्ण, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, कुप्य इन ९ भेदों में वर्गीकृत किया है। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[3] ने इसका दस भेदों में वर्गीकरण किया है। किन्तु ये सभी भेद श्रावक की अपेक्षा से हैं। श्रमण इस प्रकार का कोई भी परिग्रह नहीं रखते हैं।

गृहस्थ के लिए ये बाह्य परिग्रह बन्धन के कारण होते हैं, क्योंकि आन्तरिक इच्छा के कारण वह इनका संग्रह करता है।

---

१ (क) प्रश्नव्याकरण सूत्र टीका, पृष्ठ ४५१

(ख) कोहो माणो माया लोभो, पेज्जं तहेव दोसो य।
मिच्छत्त वेद अरइ, रइ हासो सोगो भय दुगंछा॥
—बृहत्कल्पभाष्य ८३१

(ग) मिच्छत्त वेद रागा, हासादि भय होंति छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया, चोद्दस अब्भंतरा गंथा॥
—प्रतिक्रमणत्रयी, पृ० १७५

२ आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति अ० ६

३ खेत्तं वत्थु धण धन्न संचओ मित्त णाइ संजोगो।
जाण सयणासणाणि य, दासी दास च कुव्वयं॥ —बृहत्कल्प भाष्य ८२५

लेकिन श्रमण, चूंकि अन्तरंग परिग्रह का पूर्ण त्यागी होता है, अतः उसके आवश्यक उपकरण बन्धनकारी नहीं होते, अपितु डा० कमलचन्द्र सौगानी के शब्दों में—"जिस प्रकार शुद्ध भावों के अभाव में शुभभाव श्रमण-जीवन में चमक-दमक उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार बाह्य उपकरण भी।[1] और उत्तराध्ययन सूत्र में तो बाह्य उपकरणों का प्रयोजन 'जनता की प्रतीति' 'संयम यात्रा का निर्वाह' और "मैं साधु हूँ इस प्रकार का बोध" बताया है।[2]

इस दृष्टि से श्रमण १४ प्रकार के उपकरण रख सकता है।[3]

नीति की दृष्टि से श्रमण के लिए अन्तरंग परिग्रह का त्याग अधिक महत्वपूर्ण है।

(६-१०) पाँच इन्द्रियनिग्रह

ज्ञान और अनुभव प्राप्ति के साधन इन्द्रिय कहे जाते हैं। ये पाँच हैं—(१) स्पर्शेन्द्रिय—इसके द्वारा स्पर्श संबन्धी ज्ञान प्राप्त होता है। (२) रसनेन्द्रिय द्वारा विभिन्न प्रकार के रसों का आस्वाद लिया जाता है। (३) घ्राणेन्द्रिय सुगन्ध और दुर्गन्ध का ज्ञान कराती है। (४) चक्षुइन्द्रिय के माध्यम से विभिन्न प्रकार के सुन्दर-असुन्दर रूपों का ज्ञान होता है। (५) श्रोत्रेन्द्रिय प्रिय-अप्रिय स्वरों-शब्दों को ग्रहण करती है।

---

१. Just as the Shubhabhavas in the absence of Shuddhabhavas adorn the life of the saint, so do these paraphernalia without any contradiction.

—Dr. K. C. Sogani : Ethical Doctrines in Jainism, p. 123

२. उत्तराध्ययन सूत्र २३, ३२

३. प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवर द्वार, अध्ययन ५, के अनुसार मुनि के १४ उपकरण—(१) पात्र (२) पात्र बन्ध (३) पात्र स्थापना (४) पात्र केसरिका (५) पटल (६) रजस्त्राण (७) गोच्छक, (८-१०) विभिन्न नाप की ३ चादरें (११) रजोहरण (१२) मुखवस्त्रिका (१३) मात्रक और (१४) चोल पट्टक।

(ख) मूलाचार (१४) के अनुसार मुनि (दिगम्बर) के परिग्रह का वर्गीकरण—(१) ज्ञानोपधि (स्वाध्याय के लिए शास्त्र आदि) (२) संयमोपधि (मयूरपिच्छी) (३) शौचोपधि (शरीर शुद्धि के हेतु जल-पात्र—कमंडलु)

Quoted by, Dr. K. C. Sogani : Ethical Doctrines in Jainism, p. 123

इन पाँचों इन्द्रियों की रचना ही ऐसी है कि ये बाह्यमुखी बनी हुई हैं। स्पर्शन इन्द्रिय अनुकूल स्पर्श पाने को लालायित रहती है तो रसना इन्द्रिय मधुर चटपटे पदार्थों का आस्वादन करने को लपकती है। घ्राणेन्द्रिय सदा ही सुगन्ध सूंघना चाहती है, सेन्ट, परफ्यूम आदि का निर्माण इसी की तृप्ति के लिए हो रहा है। चक्षु इन्द्रिय सुन्दर रूपों—दृश्यों को देखने के लिए ललचाती है। श्रोत्रेन्द्रिय सदा ही प्रिय मधुर शब्द सुनना चाहती है।

किन्तु इन इन्द्रियों की बाह्यमुखी प्रवृत्ति अध्यात्म-साधना में तो विघ्न है ही, अनैतिक भी है। किसी स्त्री के सुन्दर मुख को टकटकी लगाकर देखना कितना अनैतिक है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों को भी खुला छोड़ देने का दुष्परिणाम मानव को कटुफल के रूप में भोगना पड़ता है।

श्रमण के लिए आवश्यक है कि वह इन पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करे, इन्हें इनके विकारों और विषयों में प्रवृत्ति न करने दे। नीतिशास्त्र की अपेक्षा भी विषय-विकार नैतिक अधःपतन के मार्ग हैं।

(११-१४), कषाय-विवेक

कषाय चार हैं—(१) क्रोध, (२) मान (३) माया (कपट) और (४) लोभ।

धर्म की दृष्टि से तो कषाय त्याज्य हैं ही, सामाजिक, नैतिक यहाँ तक शिष्टाचार की दृष्टि से भी यह अनाचरणीय हैं।

क्रोध को तो शास्त्रों में और यहाँ तक कि सामान्य जनता द्वारा चंड, रुद्र कहा गया है। मान सदा अवनतिकारक होता है, कपट हृदय की सरलता का नाश कर देता है। लोभी व्यक्ति सर्वत्र अनादर का पात्र बनता है। यदि लोभ की और इसी प्रकार इन चारों कषायों की तीव्रता हुई तो व्यक्ति को अनैतिक बनते देर नहीं लगती।

दशवैकालिक सूत्र में इन चारों कषायों को पाप बढ़ाने वाली कहा गया है। क्रोध आत्मा में आत्मौपम्य भाव या वत्सलता, जो जीवन का अमृत है उसे नष्ट करता है। मान से विनय जो जीवन की रसिकता है, जिससे व्यक्ति शिष्ट और नैतिक समझा जाता है, उस विनय का ही नाश हो जाता है। माया (कपट) द्वारा मित्रता जो जीवन का मधुर अवलम्बन है, वह आधार ही नष्ट-विनष्ट हो जाता है तथा लोभ, संतोष जैसे नैतिक और आध्यात्मिक गुण को समाप्त कर डालता है।[1]

---

१ दशवैकालिक अ० ८, गाथा ३६-३७

स्पष्ट है कि वत्सलता, शिष्टता, मधुरता, संतोष आदि नैतिक प्रत्यय हैं और इनको नष्ट करने वाले—विपरीत गुण-धर्म वाले क्रोध, मान, माया, लोभ अनैतिक अथवा नीति विरोधी प्रत्यय हैं।

सच्चाई यह है कि ज्यों-ज्यों इन चारों कषायों की मात्रा कम होती जाती है, ये कषाय न्यून से न्यूनतम होते जाते हैं, व्यक्ति उतना ही नैतिक दृष्टि से उन्नत होता जाता है। चूंकि श्रमण में ये चारों बहुत ही अल्प होते हैं, वह इनका विवेक रखता है, इसीलिए उसकी नैतिकता चरम कोटि की होती है, वह नैतिक चरम की स्थिति पर पहुँचा हुआ होता है।

(१५) भाव-सत्य

भाव का अभिप्राय अन्तःकरण की वृत्ति है। जब व्यक्ति के अन्तःकरण में सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है, पूरी तरह जम जाता है तो उसकी आन्तरिक प्रवृत्तियाँ सत्यनिष्ठ हो जाती हैं। ऐसा व्यक्ति धार्मिक और नैतिक—दोनों ही दृष्टियों से चरमावस्था को प्राप्त होता है।

सत्य नीतिशास्त्र का भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण नैतिक प्रत्यय है। वहाँ भी चरम नैतिकता की दृष्टि से सत्य की अन्तःकरण (Conscious and sub-conscious mind) में प्रबल और प्रभावपूर्ण धारणा आवश्यक मानी गई है।

(१६) करण-सत्य

करण शब्द जैन परम्परा का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। इसका अभिप्राय बहुत गहरा है। इसका अभिप्राय है—जिस अवसर पर जो क्रिया करणीय हो, उसे करना। शास्त्रों में इसके पिंडविशुद्धि आदि ७० प्रकार बताये गये हैं।

किन्तु नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में इतनी गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ करण-सत्य का अभिप्राय यह है कि जो भी क्रिया की जाय वह सत्य से ओत-प्रोत हो।[1]

(१७) योग-सत्य

योग का अभिप्राय है मन-वचन और काया की प्रवृत्तियाँ। योग-सत्य में मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों में थोड़ी भी कुटिलता अपेक्षित नहीं है; तीनों ही सरल और सत्य से ओत-प्रोत हों।

भाव-सत्य, करण-सत्य और योग-सत्य—तीनों ही परस्पर-सापेक्ष हैं। अन्तःकरण की सत्यता से योग ऋजु-सरल होते हैं और इनसे प्रभावित

१. कज्जे सच्चेण होयव्वं—निशीथभाष्य, ५२४५

क्रिया भी सत्य से ओत-प्रोत होती है। परस्पर इनका कार्य-कारण और अविनाभाव सम्बन्ध है।

इन तीनों की सत्यता ही नैतिकता की चरम स्थिति है।

(१८) क्षमा

क्षमा को दैवी गुण कहा गया है। यह श्रमण का प्रमुख गुण है। क्षमा का अभिप्राय है—क्रोध को निष्फल कर देना। चाहे जितना भी क्रोध का अवसर आये, सामने वाला कितने ही अपशब्द कहे, कैसी ही ताड़ना-तर्जना करे किन्तु अपने मन में भी क्रोध उत्पन्न न होने देना, नीर के समान शीतल बने रहना।

नीति में क्षमा का बहुत महत्व है। एक नीतिकार ने कहा है—जिसके हाथ में क्षमा रूपी शस्त्र है, उसका दुर्जन क्या बिगाड़ सकते हैं, उनका क्रोध उसी प्रकार शांत हो जायेगा जिस प्रकार तृणरहित स्थान पर गिरने से अग्नि स्वयं ही बुझ जाती है।[1]

लोक में भी उक्ति प्रचलित है—

अड़ते से चलता बने, जलते से जल होय।
गाली सुन बहरा बने, तो कुछ गहरा होय॥

'गहरे' से प्रस्तुत सन्दर्भ में नैतिक उत्कर्षता का अभिप्राय है। क्योंकि क्षमाशीलता तभी व्यवहार में संभव हो पाती है, जब नैतिकता उसके हृदय की गहराइयों में बसी हो।

(१९) विराग

विराग का अभिप्राय है—राग की अत्यधिक अल्पता अथवा राग का अभाव।

राग अथवा स्नेह कुछ सीमा तक अनैतिक प्रवृत्तियों के प्रति उत्तर-दायी होता है। यदि मानव के मन में संसार की किसी भी वस्तु की अल्प-तम इच्छा भी शेष होती है तो उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए वह अनै-तिकता भी अपना सकता है, यदि नैतिक साधनों से वह वस्तु प्राप्त न हुई तो।

(२०-२२) मन-वचन-काय समाहरणता[2]

मन-वचन-काय को अकुशल अथवा व्यर्थ की प्रवृत्तियों से रोककर कुशल अथवा शुभ प्रवृत्तियों में लगाना, मन-वचन-काय समाहरणता है।

---

१. क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वन्हिः स्वयमेवोपशाम्यति॥

२. उत्तराध्ययन सूत्र अ० २९, सूत्र ५६-५९ में समाधारणता शब्द दिया गया है।

समाहरणता का अभिप्राय है – बहिर्मुखी प्रवृत्तियों में जाते हुए मन आदि को रोकना और उन्हें अन्तर्मुखी बनाना। उनका सम्यक् प्रकार से व्यवस्थापन या विनियोजन करना।

व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों में पड़ा मन अधार्मिक भी होता है और अनैतिक भी। यही स्थिति वचन और काय की भी है।

अनैतिक इस रूप में कि व्यर्थ का चिन्तन दुश्चिन्तन ही है और ऐसा दुश्चिन्तन अनैतिक ही माना जाता है।

(२३-२५) ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्पन्नता

ज्ञान का अभिप्राय है—भली प्रकार सत्य तथ्य को जानना, दर्शन इस जाने हुए सत्य तथ्य पर विश्वास करना—श्रद्धा रखना और चारित्र इस बताये हुए मार्ग का आचरण करना है। इन तीनों से श्रमण साधक को संपन्न होना आवश्यक है।

यह तीनों ही नैतिक दृष्टि से आवश्यक हैं। क्योंकि ज्ञानी ही श्रेय-मार्ग और पाप-मार्ग को जान सकता है, अज्ञानी नहीं जान सकता।[1] नीति का मार्ग भी श्रेय मार्ग है और उस मार्ग को जानकर ही उसका आचरण[2] किया जा सकता है।[3]

---

१. अन्नाणी किं काही ? किं वा नाहीइ सेय—पावगं।

—दशवैकालिक सूत्र ४, ६४

२. जिसको नैतिक आचरण कहा गया है, धर्मशास्त्रों में उसे चारित्र की संज्ञा से अभिहित किया गया है। चारित्र के पाँच भेद हैं—

(१) सामायिक चारित्र—सभी प्रकार की पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग करना।

(२) छेदोपस्थापनीय चारित्र—सर्व सावद्य त्याग (सर्व पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग) का छेदशः विभागशः पंच महाव्रतों के रूप में उपस्थापित (आरोपित) करना।

(३) परिहारविशुद्धि चारित्र—परिहार (प्राणिवध से निवृत्ति)। इसमें कर्म कलंक की विशुद्धि विशिष्ट साधना से की जाती है।

(४) सूक्ष्मसंपराय चारित्र—इसमें क्रोध, मान, माया ये तीन कषाय उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं और लोभ सूक्ष्म रह जाता है।

(५) यथाख्यात चारित्र—इसमें सभी कषाय या तो उपशान्त हो जाते हैं, अथवा क्षीण हो जाते हैं।

—उत्तराध्ययन सूत्र, २८, ३२-३३, पृ० ४८१-८२ के आधार से

३. सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराययथाख्यातानि चारित्रम्।

—तत्वार्थ सूत्र ९, १८

अतः नीति के अनुसार भी नैतिक आचरण के लिए यह तीनों सम्पन्नताएँ आवश्यक हैं।

(२६-२७) वेदना और मारणान्तिक समाध्यासना

सभी प्रकार की वेदनाओं, कष्टों, पीड़ाओं और यहाँ तक कि मृत्यु को भी समभावपूर्वक भोगना, स्वीकारना, वेदना और मारणान्तिक समाध्यासना कहलाती है।

वेदनाओं को जैनागमों में परीषह[1] नाम देकर २२ भेदों में वर्गीकृत किया गया है। बाईस परीषहों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१-२) **क्षुधा-पिपासा परीषह**—भूख और प्यास की तीव्र वेदना से कंठगत प्राण हो जाने पर भी श्रमण नियमविरुद्ध (अकल्पनीय) भोजन, पानी ग्रहण नहीं करता, समभाव से इन वेदनाओं को भोगता है।

(३-४) **शीत-उष्ण परीषह**—अधिक ठण्ड पड़ने पर, शीत से रक्षा के निमित्त वह मर्यादा से अधिक वस्त्र रखने की इच्छा नहीं करता और न ही अग्नि से शरीर गर्म करने की भावना ही करता है, यहां तक कि सूर्य ताप में भी बैठने अथवा खड़े होने की आकांक्षा उसके मन में नहीं आती है।

इसी प्रकार अधिक गर्मी पड़ने पर वह पंखे आदि से हवा नहीं करता, शरीर को शीतलता पहुँचाने की इच्छा भी नहीं करता।

इन दोनों प्रकार के परीषहों को समभाव से सहन करता है।

(५-६) **दंश-मशक परीषह**—डाँस, मच्छर आदि क्षुद्र जन्तुओं के कारण होने वाली पीड़ा को समभाव से सहना, उनके प्रति मन में भी दुर्भाव न लाना, न उन्हें पीड़ित-प्रपीड़ित करना।

(७) **अचेल परीषह**—वस्त्र फट गये हों, जीर्ण-शीर्ण हो गये हों अथवा लुटेरों ने छीन लिये हों तो मन में अवसाद न करना और न यह सोचकर प्रसन्न होना कि अब नये वस्त्र मिलेंगे, अपितु समभाव में रहना।

(८) **स्त्री परीषह**—स्त्री को बन्धन, पतन, आसक्ति का कारण जानकर उनसे दूर रहना, मन में विकारी भाव न लाना। इसी प्रकार स्त्री

---

१ (क) समवायांग, समवाय २२, सूत्र १
(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २, परीषह प्रविभक्ति अध्ययन
(ग) तत्वार्थ सूत्र ९/९

साधिका को भी पुरुष के प्रति विकारी भाव नहीं लाना चाहिए। इस विकार को जीतना चाहिए।

(९) अरति परीषह—अंगीकृत मार्ग श्रमणाचार का पालन करते हुए कठिनाइयाँ, असुविधाएँ आयें तो खेदखिन्न न होना, स्वीकृत मार्ग के प्रति मन में अरुचि भाव न लाना, अपितु दृढ़तापूर्वक इसका पालन करना।

(१०) चर्या परीषह—पाद विहार (पैदल चलना) में होने वाले कष्टों को समभावपूर्वक सहना।

(११) निषद्या परीषह—ध्यान, कायोत्सर्ग आदि के लिए विषम भूमि में बैठना पड़े तो चित्त में अवसाद न लाना, समभूमि की इच्छा न करना। निर्जन वन में स्वाध्याय ध्यान करते सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि हिंस्र प्राणी भी आ जाये तो भयभीत होकर आसन न छोड़ना अपितु अपने ध्यान-स्वाध्याय में निर्भीकता और दृढ़ता पूर्वक तल्लीन रहना।

(१२) शय्या परीषह—साधु के विश्राम के लिए जैसा भी ऊबड़-खाबड़ अथवा समस्थान मिले तो उसमें रागद्वेष न करना, यही सोचकर समभाव रखना कि मुझे तो एक रात ही रहना है, फिर क्यों हर्ष-विषाद करूँ।

(१३) आक्रोश परीषह—अपने प्रति कठोर, अप्रिय वचन सुनकर भी मन में क्रोध नहीं लाना।

(१३) वध परीषह—कोई व्यक्ति ईर्ष्या-द्वेष अथवा आवेश में आकर मारे-पीटे तो भी उस पर रोष न करना, समभावपूर्वक सहना।

(१४) याचना परीषह—'मैं उच्च कुल का हूँ, भिक्षा कैसे माँगूं ?' ऐसा विचार न कर, साधु मर्यादा के अनुसार आहार, औषधि आदि गृहस्थों से माँगकर—याचना करके लेना।

(१५) अलाभ परीषह—विधिपूर्वक याचना करने पर आवश्यक वस्तु की प्राप्ति न हो तो भी चित्त में खेद नहीं लाना।

(१६) रोग परीषह—पूर्वकर्मोदय के कारण शरीर में किसी प्रकार की रोग-व्याधि आदि उत्पन्न हो जाय तो आकुल-व्याकुल न होना, हाय-हाय न करना, समभावपूर्वक शांत परिणामों से सहना।

(१७) तृण-स्पर्श परीषह—तृण की शय्या आदि के तृण शरीर में चुभें अथवा गमन करते समय पैरों में काँटे कंकर आदि चुभकर पीड़ा उत्पन्न करें तो उस पीड़ा को समभावपूर्वक सहना।

(१८) जल्ल परीषह—पसीना आदि से शरीर पर धूल जम जाय तो मन में घृणा न लाना, स्नान संस्कार की इच्छा न करना।

(१९) सत्कार-पुरस्कार परीषह—जीवन में श्रमण को सत्कार मिले तो गर्व नहीं करना और दुत्कार मिले तो खेद नहीं करना, समभाव में रहना। अपितु वृत्ति यह रखनी चाहिए—

अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन।

(२०) प्रज्ञा परीषह—यदि ज्ञान का क्षयोपशम अधिक है, चमत्कारिणी प्रज्ञा है तो उसका मद न करना।

(२१) अज्ञान परीषह—यदि ज्ञान का क्षयोपशम कम है, स्मृति मन्द है, सीखा हुआ विस्मृत हो जाता है तो मन में हताश-निराश, खेदखिन्न न होना।

(२२) अदर्शन परीषह—अपनी श्रद्धा को विचलित न होने देना, तीर्थंकर भगवन्तों ने जैसे भाव फरमाए हैं उन पर दृढ़ विश्वास रखना।

परीषहों के साथ शास्त्रों में उपसर्ग शब्द भी आता है। यह शब्द भी वेदना का ही परिचायक है। उपसर्ग तीन प्रकार के होते हैं—(१) देवकृत (२) मनुष्यकृत और (३) तिर्यंचकृत। ये तीनों ही साधक को भाँति-भाँति की पीड़ा पहुँचाते हैं और साधक इन्हें समभावपूर्वक सहन करके खरा उतरता है।

यद्यपि परीषहों (और उपसर्गों का भी) का अन्तर्भाव श्रमण के २८वें गुण वेदना-समाध्यासना में हो जाता है, किन्तु यहाँ पृथक वर्णन का अभिप्राय नीतिशास्त्रगत इनका महत्व है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—सुख से भावित ज्ञान दुःख उत्पन्न होते ही विनष्ट हो जाता है, इसलिए यथाशक्ति अपने आप (आत्मा) को दुःख से भावित करना चाहिए।[1]

यहाँ 'ज्ञान' शब्द में आचरण भी अन्तर्निहित है। इसका अभिप्राय यह है कि साधक सुखशीलिया तथा सुविधालोलुपी न बने, उसमें समभाव से कष्ट सहने की भी क्षमता आवश्यक है, अन्यथा विघ्न-बाधा, कठिनाई आते ही वह स्वीकृत सुपथ से विचलित हो सकता है।

---

१. सुहेण भाविदं णाणं, दुहे जादे विणस्सति।
तम्हा जहाबलं जोई, अप्पा दुक्खेह भाविओ॥
—आ. कुन्दकुन्द—अष्ट पाहुड, मोक्षपाहुड ६२

जो बात धार्मिक आचरण के लिए सत्य है, वही नैतिक आचरण के लिए भी है। नीति—सुनीति पर दृढ़तापूर्वक प्रगति करने के लिए विरोध और कठिनाइयों को सहन करने की क्षमता आवश्यक है, अन्यथा साधक का नैतिक पतन होने में देर नहीं लगती।

इसी कारण श्रमण के नैतिक-धार्मिक गुणों में परीषह-उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करना आवश्यक बताया गया है।

द्वादश अनुप्रेक्षाएँ

'अनुप्रेक्षा' का अर्थ है—बार-बार देखना, गहराई से देखना, सूक्ष्मता से देखना, उस पर चिन्तन-मनन करना और अपनी पूर्व असंगत धारणाओं को चित्त में से निकालकर सत्य तथ्य को मन-मस्तिष्क में दृढ़ीभूत कर लेना।

जैनशास्त्रों के अनुसार इन भावनाओं की संख्या बारह[1] है।

(१) **अनित्यानुप्रेक्षा**—इन्द्रियों के विषय, धन-यौवन और यहाँ तक कि अपने शरीर की अनित्यता—क्षणभंगुरता पर चिन्तन करना।

(२) **अशरणानुप्रेक्षा**—धन-वैभव, परिवारीजन आदि कोई भी मेरा रक्षक नहीं है। मृत्यु, रोग आदि से कोई भी रक्षा नहीं कर सकता।

(३) **संसारानुप्रेक्षा**—इस सम्पूर्ण संसार के सभी प्राणी दुःखी हैं। कोई धन के अभाव में दुःखी है तो किसी को धनाधिक्य के कारण उसे छिपाने की चिन्ता सता रही है। रोग, भय, व्याधि आदि अनेक प्रकार के दुःख हैं, मनुष्य अथवा कोई भी प्राणी सुख की साँस भी नहीं ले पा रहे हैं।

(४) **एकत्वानुप्रेक्षा**—मेरी आत्मा अकेली ही है, यही शाश्वत है और अन्य सभी संयोग अस्थायी हैं।

(५) **अन्यत्वानुप्रेक्षा**—यह धन, कुटुम्ब-परिवार आदि सभी सांसारिक वस्तुएँ अन्य हैं और मैं इनसे भिन्न—पृथक हूँ।

(६) **अशुचिअनुप्रेक्षा**—यह शरीर अशुचि है, निन्दित पदार्थों से भरा है, रक्त, मांस, अस्थि आदि से भरा है, सिर्फ ऊपरी चमड़ी की सुन्दरता दिखाई देती है, वास्तव में इसमें सुन्दरता है ही नहीं। इसके प्रति मोह, स्नेह आदि रखना व्यर्थ है।

---

१. अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यात तत्वानुचिन्तमनुप्रेक्षा।

—उमास्वाति : तत्वार्थ सूत्र, अध्याय ९, सूत्र ७

(७) आस्रवानुप्रेक्षा—आस्रव का अभिप्राय है कर्मों का आगमन। कर्मों का आगमन किस प्रकार की विचारधाराओं, वचन बोलने और कायिक प्रवृत्तियों से होता है, उन पर चिन्तन-मनन करना।

(८) संवरानुप्रेक्षा—इन आते हुए कर्मों को रोकने के उपायों पर विचार करना।

(९) निर्जरानुप्रेक्षा—पूर्व में जो कर्म आत्मा से चिपक गये हैं—बंध गये हैं, उनको क्षय करने के उपायों का चिन्तन।

(१०) लोकानुप्रेक्षा—लोक की शाश्वतता-अशाश्वतता आदि का विचार करना।

(११) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—बोधि का अभिप्राय है—यथार्थ और तत्व-स्पर्शी ज्ञान। ऐसा ज्ञान जीव को होना कठिन है। यह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है, उन उपायों का चिन्तन करना।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म का बार-बार चिन्तन करना, साथ ही उस धर्म को जीवन में उतारने की भावना करना।

यद्यपि शास्त्रों में इन्हें वैराग्य भावनाएँ कहा गया है और धार्मिक जीवन में इनका अत्यधिक महत्व है; किन्तु साथ ही नैतिक जीवन में इनका महत्व नगण्य नहीं है।

अनित्य भावना से जब व्यक्ति धन आदि की क्षणभंगुरता को जान लेता है तो उनका संग्रह नहीं करता, इसी प्रकार अशरण भावना से उसके मन में विरक्ति की स्फुरणा आती है तो परिवार-सम्बन्धी अनैतिकताओं से वह स्वयं दूर हो जाता है। अशुचि भावना उसे शरीर के प्रति विरक्त बना देती है तब वह शरीर-सज्जा, विभूषा आदि के निमित्त किसी भी प्रकार की अनैतिक प्रवृत्ति नहीं करता।

इसी प्रकार का प्रभाव अन्यत्व और एकत्व भावना का मानव-मन पर पड़ता है। आस्रव भावना के प्रभाव से वह उन दुष्प्रवृत्तियों का त्याग कर देता है जिनसे उसकी स्वयं की आत्मा भी क्लेशित हो और अन्य प्राणियों के लिए पीड़ादायक स्थिति का निर्माण हो।

इन अनुप्रेक्षाओं द्वारा वह स्वयं को कष्टसहिष्णु और विशालहृदय वाला बना लेता है, और इस प्रकार वह उत्तम धर्म के पालन योग्य, उच्चतम कोटि की नैतिकता को धारण करने में सक्षम हो जाता है।

उत्तम धर्म

धर्म यहाँ गुणों के रूप में है। श्रमण अथवा साधक जब अनुप्रेक्षाओं (Reflection) को हृदय में दृढ़ीभूत कर लेता है तो उसके रोम-रोम में इन उत्तम सद्गुणों (Execellant Virtues) का वास हो जाता है, जिन्हें श्रमणाचार के सन्दर्भ में धर्म की संज्ञा दी गई है।

जैन शास्त्रों में ऐसे उत्तम धर्म[1] दश बताये गये हैं।

(१) क्षमा—क्रोध के बाह्य निमित्त कितने भी तीव्र हों किन्तु मन में क्रोध न आने देना। अपने घोर अपराधी और अपकारी के प्रति क्षमा भाव रखना, क्षमा कर देना।

(२) मार्दव—इसका अभिप्राय मान का, अभिमान का निरसन कर देना, हृदय से निकाल फेंकना; मृदुता और विनम्रता को हृदय में बसा लेना है।

(३) आर्जव—छल,कपट, कुटिलता का मूलोच्छेदन।

(४) शोच—लोभ, लालच, लालसा आदि को निकाल फेंकना।

(५) सत्य—सत्य का मन, वचन, काय सर्वांग में वास, रोम-रोम में सत्य प्रतिष्ठित होना।

(६) संयम—मन, वचन, काय और सभी इन्द्रियों का नियमन। इन सभी की अकुशल वृत्तियों का त्याग और कुशल प्रवृत्तियों में प्रवर्तन।

(७) तप—मलिन वृत्तियों का शोधन करना, उन्हें विशुद्ध बनाना।

(८) त्याग—परिग्रह—बाहरी वस्तुओं को ग्रहण न करना, त्याग देना।

(९) आकिंचन्य—वस्तुओं के प्रति ममत्व—अपनेपन के भाव का त्याग करना, निष्परिग्रहत्व को दृढ़ करना।

(१०) ब्रह्मचर्य—कामनाओं, वासनाओं पर विजय प्राप्त करना।

---

१ (क) दसविहे धम्मे पण्णत्ते त जहा—१. खंती २. मुत्ती ३. अज्जवे ४. मद्दवे ५. लाघवे ६. संजमे ७. सच्चे ८. तवे ९. चियाए १०. बंभचेरवासे।

—समवायांग, समवाय १०,

(दश प्रकार का धर्म कहा गया है— १. क्षान्ति (क्षमा) २. मुक्ति (आकिंचन्य) ३. आर्जव ४. मार्दव ५. लाघव (शौच) ६. सत्य ७. संयम ८. तप ९. त्याग और १०.ब्रह्मचर्य।)

(ख) उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।

—तत्वार्थसूत्र ९, ६

इन सभी धर्मों (Excellent virtues) का नीतिशास्त्रीय महत्व स्पष्ट है। क्षमा धर्म भी है और उच्चकोटि की नैतिकता भी। इसी प्रकार मार्दव (मान विजय), आर्जव (छल-कपट रहिता), शौच (लोभ, लालच का निरसन) सभी नैतिक प्रत्यय हैं।

सत्य तो नैतिकता का आधार ही है, इसके अभाव में तप नैतिकता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही स्थिति तप, त्याग आदि के विषय में है। जो व्यक्ति अपनी कामनाओं, वासनाओं पर नियन्त्रण नहीं कर सकता, उसे नैतिक कौन कहेगा?

अतः स्पष्ट है कि धर्म जो आत्मशोधन की क्रिया करता है, वही शोधन क्रिया उच्चकोटि की नैतिकता का सर्वोच्च लक्ष्य है। इस प्रकार धर्म और नीति इस बिन्दु पर एक हो जाते हैं।

तप

तप श्रमण का एक आवश्यक कर्तव्य है। वह तपश्चर्या का मूर्तमन्त रूप होता है। उसका समस्त जीवन ही तप रूप बन जाता है। उसका मूल उद्देश्य होता है—शोधन, शोधन वृत्तियों का, प्रवृत्तियों का, आत्मा पर लगे कर्म-मल का। इसीलिए कहा गया है—**आत्मशोधिनी क्रिया तपः**। जितनी भी क्रियाएँ आत्म-शुद्धि में सहायक होती हैं, उन सबकी गणना तप में की गई है।

तप जितना आन्तरिक जीवन-शोधन के लिए आवश्यक है, उतना ही वह व्यक्ति के व्यवहार को, बाह्य जीवन को परिष्कृत करता है, तप से तपा हुआ व्यक्ति कंचन के समान निखरता है, उसका चारित्रिक और नैतिक उत्कर्ष होता है।

जैन आगमों में तप के बारह भेद बताये गये हैं जिनके बाह्य और आन्तरिक तप की अपेक्षा से छह-छह भेद किये गये हैं।

तप के बारह भेद

बाह्य तप[1] के भेद हैं—१ अनशन २ ऊनोदरिका, ३ भिक्षाचर्या ४ रस-परित्याग ५ कायक्लेश और ६ प्रतिसंलीनता।

---

१ (क) बाहिरिए तवे छव्विहे पण्णत्ते तं जहा—
अणसण मूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो पडिसंलीणया बज्झो तवो होई॥
—भगवती श. २५, उ० ७, सूत्र १८७

आभ्यन्तर तप[1] के भेद—७ प्रायश्चित्त ८ विनय ९ वैयावृत्य १० स्वाध्याय ११ ध्यान और १२ व्युत्सर्ग।

(१) **अनशन**—अनशन का अभिप्राय है—आहार न करना। आहार के चार प्रकार हैं—१ अशन (अन्न) २ पान (जल, पेय पदार्थ आदि) ३ खादिम (मेवा, मिष्ठान्न आदि) ४ स्वादिम (मुख को सुवासित करने वाले इलायची आदि पदार्थ)। इन चारों प्रकार के भोज्य पदार्थ अथवा 'पान' के अतिरिक्त तीन प्रकार के भोज्य पदार्थों का त्याग अनशन है।

(२) **ऊनोदरी**—इसके अन्य नाम अवमौदरिका और अवमौदर्य हैं। ऊनोदरी का अभिप्राय है—भूख से कम खाना। इसमें इच्छा नियमन किया जाता है।

(३) **वृत्तिपरिसंख्यान**—इसको अंग ग्रथों में भिक्षाचर्या कहा गया है। इसका एक नाम वृत्तिसंक्षेप भी है। इसमें अपनी वृत्तियों को भोजन, वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं को उत्तरोत्तर न्यून किया जाता है।

वृत्तिसंक्षेप और वृत्तिपरिसंख्यान शब्दों का नीतिशास्त्र में अधिक महत्व है क्योंकि अपनी वृत्तियों को व्यक्ति जितना नियमित करता जाता है, उतने उसके दृढ़ कदम नैतिक उत्कर्ष व चरम की ओर बढ़ते जाते हैं।

(४) **रस-परित्याग**—इस तप में रसों का त्याग करके अस्वाद वृत्ति अपनाई जाती है, स्वादलोलुपता से विरक्ति ही इस तप का ध्येय है।

(ख) अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः बाह्यं तपः। —तत्वार्थ सूत्र ९, १९

[विशेष—तत्वार्थ सूत्र में भिक्षाचर्या के स्थान पर वृत्तिपरिसंख्यान दिया गया है। यह शब्द नीति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि भिक्षाचर्या केवल श्रमण तक ही सीमित है, जबकि वृत्तिपरिसंख्यान तप का पालन श्रमण और श्रावक—यहां तक कि नैतिक जीवनचर्या अपनाने वाला सद्गृहस्थ सभी कर सकते हैं।

१ (क) अब्भिन्तरए तवे छव्विहे पण्णत्ते तं जहा—
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं सज्झाओ झाणं विउस्सग्गो।
—भगवती श. २५, उ० ७, सूत्र २१७

(ख) प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।
—तत्वार्थ सूत्र ९, २०

(५) कायक्लेश—इस तप में विभिन्न आसनों द्वारा काया यानी शरीर को अनुशासित किया जाता है, उसे कष्टसहिष्णु बनाया जाता है, शरीर की सुख-सुविधा लोलुपता और सुखशीलता की प्रवृत्ति को समाप्त किया जाता है। सर्दी, गर्मी के प्राकृतिक कष्ट तो साधक सहता ही है, विभिन्न प्रकार के आसन आदि के कष्ट स्वेच्छा से सहता है।

(६) प्रतिसंलीनता—इस तप में व्यक्ति इन्द्रियों को उनके विषयों से विमुख करता है, कषायों पर विजय प्राप्त करता है और मन-वचन-काय की कुप्रवृत्तियों को रोकता है।

इन सभी बाह्य तपों से शरीर और आत्मा की शुद्धि तो होती ही है, साथ ही यह तप नैतिक उत्कर्ष व चरम की भूमिका को भी दृढ़ करते हैं।

अनशन को चिकित्साशास्त्र में शरीर की नीरोगता के लिए उत्तम औषधि बताया गया है—"लंघनं परमौषधम्।" स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिक का निवास होता है, साथ ही इन्द्रियों का वेग कम होता है। उनका दमन होता है, जो नैतिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक है।

ऊनोदरी में तो इच्छाओं पर ब्रेक लगाना ही पड़ता है। सामने स्वादिष्ट व्यंजनों से थाल भरा रखा है, आग्रह भी हो रहा है, रसना चाहती है कि कुछ मिष्ठान्न और चटपटे पदार्थों का स्वाद लिया जाय, पेट में भूख भी है, वह भी और भोजन मांग रहा है, हाथ मिठाई की ओर बढ़ना चाहते हैं, नासिका भी भोजन से उठती मधुर सुगन्ध से लालायित हो रही है, आँखें भी मिठाई और नमकीन के सुन्दर रूप को टकटकी लगाये देखना चाहती हैं, ऐसे में अपने आपको रोकना, मन को वश में करना बड़ा कठिन है। इसी अपेक्षा से ऊनोदरी अनशन से भी कठिन है क्योंकि इसमें पांचों इन्द्रियों और मन को वश में करना होता है, इच्छाओं पर नियन्त्रण करना होता है।

'इच्छा' desire) नीतिशास्त्र का प्रमुख प्रत्यय है, उन पर नियन्त्रण करना, कम करना, उन्हें नैतिक उत्थान के लिए आवश्यक है।

यही बात वृत्तिसंक्षेप और प्रतिसंलीनता तप के लिए है।

इसी प्रकार कायक्लेश तप से शरीर को अनुशासित किया जाता है। अनुशासन का महत्व नैतिक दृष्टि से कितना है, यह सर्वजन विदित है।

आभ्यन्तर तप

(७) प्रायश्चित्त तप—कोई भूल हो जाने पर हृदय से पश्चात्ताप प्रगट

करना और योग्य दण्ड स्वीकार करना। श्रमण-जीवन में अपने दोषों की आलोचना गुरु के समक्ष की जाती है और उनसे योग्य दण्ड—प्रायश्चित लिया जाता है।

लेकिन नैतिकता के लिए गुरु के समक्ष आलोचना करना और उनसे दण्ड लेना अनिवार्य नहीं है। व्यक्ति (श्रमण-श्रावक) स्वयं ही अपने परिणामों (मानसिक भावों), कहे हुए शब्दों और कायिक चेष्टाओं पर गहरी निरीक्षण दृष्टि रखता है, स्वयं ही तुरन्त अनुताप प्रगट करता है और जिस व्यक्ति के प्रति कटु शब्द निकल गये हों, अथवा अन्य कोई अपराध हुआ हो, उससे निःसंकोच क्षमा माँग लेता है।

आनन्द श्रावक ने जब अपने अवधिज्ञान के विषय में गौतम गणधर को बताया तो उन्हें विश्वास न हुआ, वे समझे आनन्द झूठ बोल रहा है। लेकिन जब भगवान महावीर से उन्हें यह मालूम हुआ कि आनन्द का कथन सत्य है तो वे अपने उच्च पद के व्यामोह में न पड़े और तुरन्त जाकर आनन्द से निस्संकोच सरल हृदय से क्षमा[1] माँगी। यह गौतम गणधर की चरम कोटि की नैतिकता थी।

(८) विनय—विनय[2] तप भी है, लोकोपचार[3] अथवा शिष्टाचार भी है, सदाचार भी है और धर्म का मूल[4] भी है, और है यह मोक्ष फलप्रदाता। इससे अहंकार का विसर्जन होता है और हृदय में कोमल भावनाओं का संचार होता है, अंतरंग में मधुर वृत्तियां सजग हो उठती हैं।

विनय उच्च कोटि की नैतिकता है, आध्यात्मिक दृष्टि से भी और सांसारिक दृष्टि से भी। विनयपूर्ण व्यवहार सदैव और सर्वत्र प्रशंसित होता है, विनयी व्यक्ति सभी जगह सम्मानित और समादृत होता है।

नीतिशास्त्र में अभिमान की गणना अनैतिक प्रत्ययों में की गई है तो अभिमान का निरसन करने वाले विनय को स्वयंमेव ही नैतिक प्रत्ययों में स्थान प्राप्त हो जाता है। विनयी व्यक्ति अपने इस गुण के कारण नीतिवान बन जाता है।

---

१ (क) देवेन्द्र मुनि शास्त्री : भगवान महावीर एक अनुशीलन
(ख) मुनिश्री कन्हैयालालजी कमल : धर्मकथानुयोग

२ (क) तत्वार्थ सूत्र ९, २० (ख) भगवती श. २५, उ. ७, सू. १७

३ (क) तत्वार्थ सूत्र ९, २३ (ख) औपपातिक सूत्र, तप वर्णन

४ दशवैकालिक ९, २, २—धम्मस्स विणओ मूलं

शास्त्रों में विनय के सात[1] भेद बताये गये हैं, यद्यपि वे सभी नीति के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं, किन्तु मन-वचन-काय विनय और चौथा लोकोपचार विनय का इस सन्दर्भ में विशेष महत्व है।

केवल कायविनय तो पाखण्ड मात्र है। काय से और वचन से विनय तो धूर्त और धोखेबाज भी करते हैं, लोकोक्ति भी है—दगाबाज दूना नमे; किन्तु विनय वही है जिसमें मन भी संयुक्त हो। इसीलिए अहं विसर्जन को विनय कहा गया है। ऐसे ही विनय का नीति में और धर्म में भी महत्व है।

श्रमण अपने गुरुजनों तथा अन्य साथी संतों के साथ जो हार्दिक विनयपूर्ण व्यवहार करता है, मन में विनय के भाव रखता है, ऐसे विनय-युक्त वचन बोलता है और इसी प्रकार की काय चेष्टाएं करता है, वह सब कुछ उसकी उच्च कोटि की नैतिकता ही है।

(९) वैयावृत्य—वैयावृत्य का अभिप्राय समर्पण भाव से सेवावृत्ति है। रोगी, वृद्ध, अशक्त और जरूरतमंद की अम्लान भाव से सेवा करना वैयावृत्य है।

सेवा (servitude) को बिना किसी ननुनच के नैतिकता कहा जा सकता है और सेवा के साथ-साथ समर्पण की भावना जितनी बढ़ती जाती है व्यक्ति का नैतिक चरित्र भी उतना ही उच्चकोटि का होता जाता है। क्योंकि श्रमण में समर्पण की भावना सर्वोच्च कोटि की होती है, उसकी नैतिकता भी चरम तक पहुँची हुई होती है।

(१०) स्वाध्याय—स्वाध्याय का धार्मिक, वैयक्तिक, सामाजिक, वैज्ञानिक सभी दृष्टियों से अत्यधिक महत्व है। व्यावहारिक क्षेत्र में इसे अध्ययन कहा जाता है और उस अध्ययन का लक्ष्य होता है, सांसारिक जीवन को सुखमय बनाना, किन्तु धार्मिक क्षेत्र में इसे स्वाध्याय कहा गया है। स्वाध्याय का अर्थ है, अपनी आत्मा का—स्वयं का अध्ययन करना।

आवश्यक सूत्र में कहा गया है कि श्रेष्ठ अध्ययन का नाम स्वाध्याय[2] है। आचार्य अभयदेव ने भलीभाँति मर्यादा के साथ अध्ययन को

---

१ (क) स्थानांग ७, ५८५ (ख) भगवती श. २५ उ. ७

२ आवश्यक सूत्र ४ अ.

स्वाध्याय कहा है ।[1] और वैदिक विद्वानों ने 'स्वयमध्ययनम्' तथा 'स्वस्य-आत्मनोऽध्ययनम्' स्वाध्याय के यह दो लक्षण दिये हैं ।[2] पश्चिमी विद्वानों ने तो सद्ग्रन्थों के अध्ययन को जीवन का सर्वोत्तम साथी कहा है ।

वास्तव में स्वाध्याय नन्दनवन है । सद्ग्रन्थों के अध्ययन के समय मानव अपनी सारी आधि-व्याधि और उपाधियों को विस्मृत हो जाता है । उसे जीवन और चरित्र निर्माणकारी शिक्षाएँ मिलती हैं । मन की हताशा, निराशा समाप्त होकर नवीन आशा, उल्लास और स्फूर्ति का संचार हो जाता है ।

नीतिशास्त्र उभयमुखी है । वह व्यक्ति के बाहरी—लौकिक जीवन को भी सुखी करने का प्रयास करता है और साथ ही उसके आन्तरिक जीवन को भी आनन्द से ओत-प्रोत कर देना चाहता है ।

इस दृष्टि से स्वाध्याय के वे सभी रूप नीतिशास्त्र को ग्राह्य हैं, जो जीवन का निर्माण करते हैं, इसे निखारते हैं और चमकाते-दमकाते हैं ।

स्वाध्याय धर्म सम्बन्धी कर्तव्य भी है और नीति में भी सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय आवश्यक है । आत्मा के अध्ययन के रूप में व्यक्ति स्वयं के अन्दर छिपी पड़ी अनैतिकताओं का शोधन करता है, उन्हें निकाल फेंकता है, उन्मूलन कर देता है ।

स्वाध्याय का नैतिक और धार्मिक दृष्टि से सबसे बड़ा लाभ चित्त-वृत्तियों का शोधन और मन का एकाग्र होना है ।

११. ध्यान—ध्यान शब्द बहुत व्यापक है । इसका प्रयोग धर्मशास्त्रों में भी होता है, योग-मार्ग में भी और साधारण बोलचाल में भी, जैसे सरलता से कह दिया जाता है—तुमने अमुक बात का ध्यान नहीं रखा ; तुम मेरा बिल्कुल भी ध्यान नहीं रखते हो, अगर तुमने ध्यान रखा होता तो तुम्हारी पाकिट से पर्स न गिरता या जेब न कटती । इस प्रकार के वाक्य साधारण बोलचाल की भाषा में प्रयोग कर ही दिये जाते हैं ।

योगशास्त्र में ध्यान का अर्थ बहुत गहरा है, वहां मन-वचन काय—तीनों योगों की अकंप दशा को ध्यान[3] कहा गया है । लगभग यही स्थिति धर्म साधना और धर्माचार के सन्दर्भ में भी है ।

---

१ स्थानांग २, २१०

२ देवेन्द्र मुनि शास्त्री : जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ० ५८५

३ (क) तत्वार्थ सूत्र ९, २७

किन्तु नीतिशास्त्र इस विषय में इतनी गहराई में नहीं जाता। ध्यान का वह इतना ही अभिप्राय मानता है कि मन स्थिर और शान्त रहे, तथा बुद्धि में नई-नई स्फुरणाएँ हों और यह स्थिति शुभत्व की ओर मन (mind) की स्थिरतापूर्वक लगनशीलता से प्राप्त होती है।[1]

इस दृष्टि से, जैसाकि धर्मशास्त्रों, आचारशास्त्रों और यहां तक कि मनोवैज्ञानिकों (psychologists) द्वारा भी वर्णित है, ध्यान के दो भेद होते हैं—(१) दुर्ध्यान और (२) सुध्यान। नीतिशास्त्र भी इस धारणा से सहमत है। यहां सुध्यान को good attention और दुर्ध्यान को bad attention कहा जा सकता है।

धर्मशास्त्रों में इन दोनों ध्यानों के दो-दो भेद और बताये गये हैं। दुर्ध्यान के दो भेद हैं—(१) आर्तध्यान और (२) रौद्रध्यान।

सुध्यान के दो भेद हैं—(१) धर्मध्यान और (२) शुक्लध्यान।

तत्वार्थ सूत्र में सुध्यान को मोक्ष का हेतु कहा गया है। अन्य सभी आगम और आगमेतर जैन ग्रन्थों में भी यही विचार प्रगट किया गया है। साथ ही संसार में जितनी भी धर्म परम्पराएं प्रचलित हैं, सभी में सिद्धान्ततः इन्हीं विचारों की पुष्टि प्राप्त होती है।

रौद्रध्यान—दुर्ध्यान का निकृष्टतम रूप है। रौद्रध्यानी व्यक्ति के मस्तिष्क में हिंसा के, असत्य के, चोरी के और विषय भोगों तथा उनके साधनों के संरक्षण के विचार चलते रहते हैं। ऐसा व्यक्ति किसी को पीड़ित करके, झूठ बोलकर, किसी को ठगकर, चोरी करके खुश होता है, हर्षित होता है, अपने को सफल मानता है।

ऐसा व्यक्ति घोर अनैतिक होता है, नीति का उसे स्पर्श भी नहीं होता, उसके हृदय में हमेशा क्रूरता (cruelty) भरी रहती है। ऐसे क्रूर व्यक्तियों की गणना घोर अनैतिक व्यक्तियों में की जाती है।

(ख) आवश्यक निर्युक्ति १४५६, ६३, ६७, ६८, ६९, ७४, ७६, ७७, ७८, आदि गाथाएं।

(ग) पातंजल : योगशास्त्र ३, २ आदि सूत्र।

(घ) ध्यानशतक आदि ग्रन्थ

१. Ethics regards attention as to enhance the intelligence, rather say, creative intelligence which can be attained by steady application of mind to good.

—William Geddie

आर्तध्यान—यह भी दुर्ध्यान तो है, किन्तु रौद्रध्यान की अपेक्षा इसकी तीव्रता कम है। यद्यपि आर्तध्यानी व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्भावनाएँ भी होती हैं किन्तु इनकी तीव्रता रौद्रध्यानी की अपेक्षा कम होती है। शोक, चिन्ता, आक्रन्दन, रुदन, क्लेश, विलाप आदि भी यह करता है।

वस्तुतः आर्तध्यानी व्यक्ति सुखवादी होता है, अपना सुख ही इसे अभीप्सित होता है। इसलिए यह अप्रिय वस्तु के संसर्ग से दूर रहना चाहता है और प्रिय वस्तु या व्यक्ति को अपनाना चाहता है। यह किसी प्रकार की पीड़ा नहीं चाहता, थोड़ी सी भी पीड़ा होते ही, चिल्लाने लगता है और उसे दूर करने के उपायों का चिन्तन करने लगता है, आगामी काल और जीवन में भी सुख ही चाहता है—सुख भी संसारी—मानसिक, वाचसिक और कायिक; आत्मिक सुख की ओर इसकी प्रवृत्ति नहींवत् होती है।

यह दान, पुण्य, तप, भक्ति आदि जितनी भी क्रियाएँ करता है, उनका प्रमुख लक्ष्य लौकिक सुख-प्राप्ति होता है। इसके हृदय में अनेक प्रकार की इच्छाओं—आकांक्षाओं का वास रहता है।

इसी कारण वह बात-बात में शंका करता है, भयभीत-सा बना रहता है। इसका चित्त भ्रमित रहता है, कायरता और वस्तुओं में मूर्च्छा भाव भी रहता है। इसमें निन्दक वृत्ति, शिथिलता, प्रमाद, जड़ता, लोकैषणा, धनैषणा, भोगैषणा की प्रधानता रहती है।

भ्रमित चित्त और प्रषणाओं से प्रभावित होकर धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि की, पुत्र-पुत्री की प्राप्ति, शरीर-सुख और नीरोगता तथा सुखदायी वस्तुओं की लालसा के कारण यह विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओं, मढ़ी-मसान आदि की पूजा-मान्यता भी करता है और विभिन्न प्रकार की मनौतियां भी मांगता है।

इसी अपेक्षा से धर्मशास्त्रों में आर्तध्यान को भी मोक्ष का हेतु न मानकर संसार का हेतु ही कहा गया है।

ऐसे व्यक्ति को घोर अनैतिक नहीं कहा जा सकता तो नैतिक कहना भी उचित नहीं है क्योंकि वह उसी सीमा तक नैतिक रहता है, जहाँ तक उसके व्यक्तिगत स्वार्थ में बाधा न पड़े अन्यथा वह नैतिक नियमों के तट-बन्धों को तोड़ देता है, गलियां निकाल लेता है। इसका कारण यह है कि

उसमें नैतिक निष्ठा की कमी होती है और वह अपने सुख और स्वार्थ को, भौतिक वैभव को बिल्कुल भी नहीं छोड़ना चाहता।

धर्मध्यान—शास्त्रों की भाषा में यह मोक्ष का हेतु है और नीतिशास्त्र की भाषा में नैतिकता का। धर्मध्यानी व्यक्ति के हृदय में उदारता का विशेष गुण होता है। वह अपने स्वार्थ का त्याग करके भी अन्य व्यक्तियों की सेवा-सहायता करता है। दया, मैत्री भावना, सर्वकल्याण कामना, शांति, क्षमा, परदुःखकातरता, सत्यवादिता, अहिंसावृत्ति, अचौर्यता आदि जितने भी सद्गुण हैं, उसके हृदय में इसी प्रकार आकर वास करते हैं जैसे पुष्पों में सुगन्ध।

मूर्च्छा, प्रमाद, लालसा, लोकैषणा, धनैषणा, भोगैषणा, निन्दा, विकथा आदि दुर्गुण इसके हृदय से उसी प्रकार निकल भागते हैं जैसे सूर्य का प्रकाश होते ही अन्धकार विलीन हो जाता है।

इन दुर्गुणों के दूर होने और सद्गुणों के सद्भाव तथा उनकी निरंतर वृद्धि से व्यक्ति नैतिक चरम की स्थिति पर पहुँच जाता है।

शुक्लध्यान—सीधी मोक्ष की साधना है, वह नीति की सीमा से बाहर है। शुक्लध्यान में अवस्थित आत्मा अपने आत्मिक—शुद्ध आत्मिक भावों में ही निमग्न रहता है, लौकिक वृत्ति-प्रवृत्ति वहाँ नहीं रहती, इसीलिए वह नीति से अतीत है, ऊपर उठा हुआ है।

व्युत्सर्ग तप—'व्युत्सर्ग' का शाब्दिक अर्थ विशेष रूप से उत्सर्ग अथवा त्याग करना है। इसमें निःसंगता, अनासक्ति और निर्भयता को मनमस्तिष्क में धारण किया जाता है तथा जीवन की लालसा का परित्याग होता है। नीतिशास्त्र की अपेक्षा से 'जीवन की लालसा का त्याग' का अभिप्राय सभी प्रकार की आशाओं और तृष्णाओं का त्याग लिया जा सकता है। वस्तुतः आशा और तृष्णा के त्याग के उपरान्त ही मानव में निर्भयता का भाव दृढ़ होता है, तभी इसमें अनासक्ति की भावना गहराई से जमती है और फिर उसे किसी के संग-साथ की आवश्यकता नहीं रहती।

अनासक्ति, निर्भयता आदि शुभ नैतिक प्रत्यय हैं। इनकी चरमावस्था ही नैतिक चरम है।

प्रवचनमाता

साधु के आचार में प्रवचन माता का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इनका विधान महाव्रतों की सुरक्षा और विशुद्धता के लिए किया गया है। यह संख्या में ८ हैं—तीन गुप्ति और पाँच समिति।

इनको उत्तराध्ययन सूत्र[1] में प्रवचनमाता कहा है और इसका कारण यह बताया गया है कि इन आठों में सारा प्रवचन समा जाता है[2]। व्यावहारिक दृष्टि से इनको प्रवचनमाता कहने का कारण यह है कि जिस प्रकार माता अपनी सावधानी और विवेक तथा जागरूकता से यत्नपूर्वक शिशु की रक्षा, तथा उसका संवर्धन करती है, इसी प्रकार यह समिति-गुप्ति भी महाव्रतों की सुरक्षा और उनका संवर्धन करती हैं।

गुप्ति और समिति का हार्द यतना है, जिसे जयणा भी कहा गया है।

जब महावीर के समक्ष जिज्ञासु साधकों ने जिज्ञासा रखी कि हम किस प्रकार चलें, बैठें, सोवें, खावें इत्यादि सभी प्रवृत्तियां करें जिससे हमें पाप कर्मों का बन्ध न हो।[3]

यह सत्य है कि मानव-जीवन में प्रवृत्ति आवश्यक है, अनिवार्य है। जब तक जीवन है, मानव बिना प्रवृत्ति किये रह ही नहीं सकता। भगवान भी इस तथ्य को जानते थे अतः उन्होंने समाधान दिया—

यतनापूर्वक चलने, बैठने, सोने, खाने (आदि सभी प्रकार की क्रियाएं करते हुए) से पाप बंध नहीं होता।[4]

वास्तव में समिति-गुप्ति और विशेष रूप से समिति—यतना अथवा सावधानी और सतत जागरूकता है। श्रमण अपनी समस्त क्रियाएँ और प्रवृत्तियां सावधानीपूर्वक करता है।

समिति और गुप्ति में अन्तर प्रवृत्ति और निवृत्ति का है। विवेक दोनों में ही आवश्यक है। विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है और अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र तथा आत्म-तत्व की रक्षा हेतु अशुभ योगों को रोकना गुप्ति है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २४/१

२ (क) वही २४, ३, (ख) वही २४, ३ लक्ष्मीवल्लभ टीका
(ग) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ५१३, १४

३ दशवैकालिक सूत्र ४, ३९

४ वही ४, ३१

समिति

समिति ५ हैं—(१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा समिति (४) आदान भण्डमात्र निक्षेपण समिति (५) उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-सिंघाणजल्ल परिष्ठापनिका समिति।[1]

(१) ईर्या समिति—ईर्या का अर्थ गमन है, अतः गमन विषयक सद्-प्रवृत्ति को ईर्या समिति कहा गया है।[2] इसका अभिप्राय है—चलते समय इधर-उधर दृष्टि न रखकर मार्ग पर ही रखनी चाहिए और हाथ चार आगे देखकर चलना चाहिए, जिससे किसी क्षुद्र जन्तु की प्राण-हानि न हो जाय।

नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण ईर्यासमिति को और भी विशद रूप से स्वीकार करता है जीव-रक्षा की भावना तो है ही, स्वयं अपनी भी रक्षा होती है—पैर में चोट नहीं लगती, पाँव गन्दगी से नहीं भरता, कांटा कंकर नहीं लगता। सामान्य नागरिक आचार के दृष्टिकोण से भी इसका बहुत महत्व है। आज के युग में लोग चलने में बहुत लापरवाह हो गये हैं, तभी तो इतने एक्सीडेंट हो रहे हैं।

अतः ईर्यासमिति अथवा गमनागमन की सावधानी प्रत्येक दृष्टिकोण से उपयोगी है, लाभप्रद है और सभी के लिए पालनीय है। यातायात के नियम Traffic Rules स्वयं इसमें सध जाते है।

(२) भाषा समिति— भाषा अथवा वाणी का बहुत महत्व है। क्रोध, मान, कपट, लोभ, हास्य, भय, मुखरता आदि दोषों से रहित, अवसर के अनुकूल और परिमित भाषा बोलना भाषा समिति है।[3] दूसरे शब्दों में कटु भाषा, व्यंगोक्ति आदि मर्मकारी तथा दूसरे को पीड़ित करने वाली भाषा नहीं बोलनी चाहिए। भाषा विवेक ही भाषा समिति है।

भाषा, वाणी या वचन, नीतिशास्त्र का प्रमुख विवेच्य विषय है। अनेक सन्त कवियों और नीतिशास्त्रियों ने इस पर बहुत लिखा है, अनेक

---

१. ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः। —तत्वार्थ सूत्र ९,५

२. (क) उत्तराध्ययन सूत्र २४, ४
   (ख) ज्ञानार्णव १८/५-७
   (ग) मूलाराधना ६/११९१

३. (क) उत्तराध्ययन सूत्र २४/९-१०
   (ख) योगशास्त्र १/३७

सूक्तियों और दोहों की रचना की है। एक संस्कृत नीतिशास्त्रकार ने तो यहाँ तक लिखा है कि मूर्खजन ही पत्थरों को रत्न कहते हैं, वास्तव में तो संसार में तीन ही रत्न हैं—अन्न, जल और सुभाषित—मधुर वचन।

(३) एषणा—एषणा का अर्थ है—खोजना, गवेषणा करना। साध्वाचार के सन्दर्भ में निर्दोष आहार की गवेषणा करना, उसे ग्रहण करना और उदरस्थ करना एषणा समिति है। इसी प्रकार उपधि और शय्या की गवेषणा करना भी एषणा समिति है।[1]

लेकिन नीति एषणा को विस्तृत अर्थ में ग्रहण करती है। वहां शुद्ध आहार तो अपेक्षित है, क्योंकि अन्न का प्रभाव मानसिक चित्तवृत्तियों पर पड़ता है, किन्तु अन्य सभी साधनों की गवेषणा भी इसमें सम्मिलित है।

नीति का सिद्धान्त है कि साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधनों की पवित्रता भी अति आवश्यक है। सदोष अथवा अनुचित साधनों से शुभ श्रेय को प्राप्त नहीं किया जा सकता और यदि किसी प्रकार प्राप्त कर भी लिया जाय तो वह अनैतिक ही होगा, दीर्घकाल में उसका परिणाम विपरीत ही सामने आयेगा, अतः साधन पवित्र हों और उचित रूप से प्राप्त किये गये हों तथा उनका उपयोग भी सही प्रकार से हो।

(४) आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा समिति[2]—तत्वार्थ सूत्र में इसे आदान-निक्षेपण समिति[3] कहा गया है। भाव यह है कि किसी भी वस्तु को उठाना अथवा रखना हो तो देखभाल कर उठाना-रखना चाहिए। इससे क्षुद्र जीवों की हिंसा से तो बचाव होता ही है, उन वस्तुओं की सुरक्षा भी होती है, वे जल्दी टूटती-फूटती नहीं, अधिक समय तक काम देती हैं, उपयोग-योग्य बनी रहती हैं।

इस प्रकार की सावधानी व्यावहारिक जीवन में भी आवश्यक है। व्यक्तिगत, पारिवारिक, नैतिक आदि सभी प्रकार की जीवन विधाओं में इसका महत्व स्पष्ट है।

(५) उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति[4]—यह सभी शरीर मलों के नाम हैं। उच्चार का अर्थ है विष्ठा, प्रस्रवण मूत्र को

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र २४/११-१२
२ उत्तराध्ययन सूत्र २४/१३-१४
३ तत्वार्थ सूत्र ९, ५
४ उत्तराध्ययन सूत्र २४/१५

कहते हैं, श्लेष्म कफ का नाम है। भाव यह है कि उत्सर्ग अर्थात् फेंकने योग्य वस्तु को देखभाल कर ऐसी जगह फेंकना चाहिए जिससे न तो किसी जन्तु की हानि ही हो और न (मानव आदि) किसी को असुविधा ही हो।

तत्वार्थ सूत्र में इस समिति का नाम उत्सर्ग समिति[1] दिया गया है। इसका व्यावहारिक एवं नैतिक महत्व स्पष्ट है।

गुप्ति

गुप्ति का अभिप्राय है—मन-वचन-काय की अकुशल वृत्तियों को रोकना, उनका निग्रह करना।

अकुशल प्रवृत्ति का अभिप्राय है—संरंभ, समारम्भ, आरम्भ की ओर मन-वचन-काय की प्रवृत्ति। अकुशल को ही जैन दर्शन में असम्यक् कहा गया है। इन असम्यक् प्रवृत्तियों का निग्रह करना और सम्यक् प्रवृत्ति में योगों को लगाना गुप्ति[2] है।

गुप्ति शब्द से दो अभिप्राय व्यंजित होते हैं—(१) गोपन करना अर्थात् बाह्य जगत की ओर से खींचकर, निरोध करके योग-व्यापार को दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि आत्मभावों में स्थिर करना और गोपन का दूसरा अभिप्राय है, अशुभ व्यापारों-वृत्तियों से रक्षा-सुरक्षा करना।[3]

इनमें से अकुशल प्रवृत्तियों का निरोध निवृत्ति रूप और कुशल प्रवृत्तियों में प्रवर्तमानता प्रवृत्तिरूप है।

मन के विचारों की प्रवृत्ति १ सत्य २ असत्य ३ मिश्र—सत्य-असत्य मिश्रित और ४ अनुभय—न सत्य, न असत्य अपितु लोक व्यवहार—इन चार रूपों में होती है। यही ४ भेद वचन-प्रवृत्ति के भी हैं। इसी कारण मनोगुप्ति और वचनगुप्ति के भी चार-भेद होते हैं।

(१) **मनोगुप्ति**—संरंभ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त हुए मन के व्यापार को रोकना मनोगुप्ति है।[4]

---

१ तत्वार्थ सूत्र ६, ५

२ सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। तत्वार्थ सूत्र ६, ४

३ गोपनं गुप्तिः—मनः प्रभृतीनां कुशलानां प्रवर्तनमकुशलानाम् च निवर्तनमिति····। —स्थानांग वृत्ति पृ. १०५, १०६

४ उत्तराध्ययन सूत्र २४/२१

(२) वचनगुप्ति—वचन के संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ रूप व्यापार को रोकना वचन गुप्ति है। विकथा, कटु भाषा आदि न बोलना भी वचन गुप्ति है।[1]

वाचना, पृच्छना, प्रश्नोत्तर आदि में विवेक रखना—नपी-तुली भाषा बोलना और अन्यत्र मौन रहना वचनगुप्ति है।[2]

वस्तुतः वाणी विवेक, वाणी संयम और वाणी निरोध को ही वचन-गुप्ति कहा गया है।

(३) कायगुप्ति—संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ में प्रवृत्त काययोग का निरोध करना तथा सोने-जागने, उठने-बैठने, चलने-फिरने और इन्द्रियों के प्रयोग में काययोग का निग्रह कायगुप्ति है।[3]

अकुशल और कुशल कर्मों के लिए नीतिशास्त्र में अशुभ और शुभ शब्द दिये गये हैं। मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्तियाँ वहाँ भी अनैतिक हैं, करने योग्य नहीं हैं और शुभ प्रवृत्तियाँ आचरणीय हैं, नैतिक हैं।

गुप्तियों की जैसी अवधारण धर्मशास्त्रों में है, वैसी ही नीति में भी है। इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं है।

इन समिति गुप्तियों के योग से श्रमण साधक अपने स्वीकृत महाव्रत आदि २७ गुणों का परिपालन करता हुआ नैतिक चरम की ओर बढ़ता है।

स्व-पर कल्याण

इस सम्पूर्ण विवेचन से यह धारणा बना लेना उचित नहीं होगा कि श्रमण की समस्त साधना स्व केन्द्रित है, वह अपनी ही आत्मा के उत्थान में लीन रहता है। अपितु सत्य यह है कि वह अपने कल्याण के साथ अन्य जनों, दूसरे लोगों—मनुष्यों और यहाँ तक कि जीवमात्र के प्रति कल्याण-भावना रखता है और जहां तक सम्भव हो सकता है, कल्याण करता भी है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २४/२२-२३

२ वाचन पृच्छन प्रश्नव्याकरणादिष्वपि सर्वथा वाङ्निरोधरूपत्वे, सर्वथा भाषा-निरोध रूपत्वं वाग्गुप्तेर्लक्षणं।

—आर्हत्दर्शन दीपिका ५/६४४

३ उत्तराध्ययन सूत्र २४/२४-२५.

जैनाचार में जितना महत्व स्व-कल्याण को दिया गया है, उतना ही महत्व पर-कल्याण को भी दिया गया है। पर-कल्याण की भावना किसी भी रूप में स्व-कल्याण की भावना से कम नहीं है अपितु कुछ अधिक ही है।

तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान प्राप्त होने पर उनकी मुक्ति तो निश्चित हो ही जाती है। यदि वे एक स्थान पर भी अवस्थित रहें तो भी उनकी मुक्ति में कोई बाधा नहीं आ सकती, क्योंकि वे वीतराग हो चुके होते हैं। फिर भी वे भ्रमण करते हैं; देशना देते हैं। उसका कारण एक ही है—सर्व जीवों की कल्याण भावना, दया की भावना।

इसी भावना को जैन श्रमण भी हृदय में रखकर नवकल्पी विहार करते हुए भगवान द्वारा दिये गये—**विहार चरिया मुणीणं पसत्था** इस सूत्र का पालन करते हैं और अपने सदुपदेशों द्वारा लोगों का सद्धर्म की राह दिखाते हैं, उस पर चलने की प्रेरणा देते हैं।

इस विहार और व्यावहारिक परिस्थितियों में, संसार से निर्लेप होते हुए भी साधक को धर्म की प्रभावना, लोगों की आँखों से मूढ़ता का पर्दा हटाने के लिए, जन-जीवन की दशा सुधारने हेतु अथवा श्रमण संघ की सुरक्षा, सुव्यवस्था बनाये रखने की प्रक्रिया में ऐसे निर्णय भी लेने पड़ते हैं, जो उन परिस्थितियों में अनिवार्य होते हैं और जिनका विधान सामान्य श्रमणाचार सम्बन्धी नियमों में नहीं होता।

हम यहां एक दो दृष्टान्त ऐसे देंगे जो सीधे व्यावहारिक परिस्थितियों से सम्बन्धित हैं।

आर्य सुहस्ति का व्यावहारिक निर्णय

आर्य सुहस्ति का श्रमण संघ जिस समय उज्जयिनी में ठहरा हुआ था, वहाँ भयंकर अकाल पड़ गया। प्रजा-जन दाने-दाने को मोहताज हो गये। बड़ी कठिन स्थिति सामने आ गई। लेकिन तत्कालीन उज्जयिनी नरेश संप्रति श्रमण संघ के प्रति विशेष रूप से श्रद्धा रखता था। इसलिए उसने गुप्त आदेश जारी कर दिया कि श्रमणों को किसी भी प्रकार का अभाव न होने पाये। उन वस्तुओं का मूल्य राजकोष से दे दिया जायेगा।

इसका परिणाम यह हुआ कि ऐसे भयंकर अकाल में भी श्रमणों को पर्याप्त मात्रा में भिक्षा मिल जाती थी।

आर्य सुहस्ति के गुरुभाई आर्य महागिरि ने उन्हें सावधान किया। कहा—खरीदा हुआ भोजन श्रमण को नहीं लेना चाहिए, यह आहार एषणा सम्बन्धी दोष है। इसे रोका जाना चाहिए। दोष-सेवन उचित नहीं है।

यद्यपि आर्य सुहस्ति भी जानते थे कि श्रमण को खरीदा हुआ भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए, यह दोष है। किन्तु उनके समक्ष संघ-रक्षा का प्रश्न था।

उनके मन-मस्तिष्क में शुद्ध श्रमणाचार और परिस्थिति की विकटता का द्वन्द्व चला, काफी ऊहापोह किया। अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे—न धर्मः धार्मिकैं विना—जब धार्मिक जन-धर्म का अनुपालन करने वाले ही नहीं रहेंगे तो धर्म भी कहाँ टिकेगा।

इस सूत्र के प्रकाश में उन्होंने व्यावहारिक निर्णय लिया, श्रमणों को वैसा भोजन ग्रहण करने से नहीं रोका।

इसका परिणाम यह हुआ कि श्रमण संघ सुव्यवस्थित रहा, अकाल की काली छाया में भी श्रमण जन आत्यन्तिक क्षुधा की वेदना से काल कवलित नहीं हुए और सुकाल होने पर उन्होंने दोष-सेवन भी त्याग दिया।

धर्मशास्त्रीय भाषा में इसे अपवाद मार्ग कहा जा सकता है, जिसका अर्थ ही है विकट परिस्थितियों में विशिष्ट निर्णय।

नीति की भाषा में इसे नैतिक अथवा व्यावहारिक निर्णय कहा जायेगा; क्योंकि नीति भी धर्माभिमुखी होती है; नैतिक निर्णय भी धर्म और सदाचार एवं शुद्धाचार की रक्षा के निमित्त ही लिए जाते हैं।

अपवाद मार्ग का सेवन श्रमण जान-बूझकर उसी स्थिति में करता है, जब उसे विश्वास हो जाता है कि अपवाद-सेवन किये बिना ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि आत्मिक गुण सुरक्षित नहीं रहेंगे।

इसी प्रकार नैतिक नियम भी धर्म की रक्षार्थ होते हैं।

निर्धन सेवा की प्रेरणा

आचार्य हेमचन्द्र को एक निर्धन वृद्धा ने बड़े भक्ति भावपूर्वक अपने हाथ से बुनी हुई चादर भेंट दी। आचार्य उसी मोटी खुरदरी चादर को कंधे पर डाले पाटन पहुँचे। पाटन उस समय गुजरात की राजधानी थी और वहां का नरेश आचार्यश्री का परम भक्त था। उसने एक बहुत ही कीमती चादर देकर आचार्यश्री से विनम्र निवेदन किया—

"गुरुदेव ! यह चादर बहुत ही मोटी और भद्दी है। मुझे इसे देखकर बहुत ही लज्जा और ग्लानि होती है कि मेरे गुरु होकर भी आपके शरीर पर ऐसी खुरदरी चादर रहे। आप इसे उतारिए, मेरी चादर ग्रहण करिए।"

आचार्य ने ओजस्वी स्वर में कहा—

"कुमारपाल ! यह चादर लज्जा और ग्लानि का हेतु नहीं है। लज्जा तो तुम्हें इस बात की होनी चाहिए कि तुम्हारी प्रजा इतनी निर्धन है। प्रजा के प्रति तुम्हारी उपेक्षा ग्लानि का कारण बननी चाहिए।"

हेमचन्द्राचार्य के इन शब्दों ने राजा कुमारपाल को उसका कर्तव्य-बोध करा दिया। परिणामस्वरूप हजारों-लाखों विधवाओं और अनाथों के अभाव मिट गये।

यह श्रमण की लोकोपकारी प्रवृत्ति है।

अहिंसा की प्रेरणा

अहिंसा जैन धर्म का मूलाधार है। यह दर्शन भी है और आचार भी। यह धर्म भी है और नैतिकता भी। जनमानस में बहुत से अंध-विश्वास फैले हुए हैं। कुछ अन्धविश्वासों को तो धर्म से भी जोड़ दिया गया है। ऐसा ही एक अन्धविश्वास है—देवी को पशुओं की बलि देना।

यद्यपि इस प्रथा का वास्तविक अभिप्राय है पशु-प्रवृत्तियों की—हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, कपट आदि दुर्गुणों की बलि देना; किन्तु स्वाद-लोलुपियों ने इसका रूप बिगाड़ दिया है और पशु-बलि प्रथा का प्रचलन कर दिया। भोली जनता भ्रम-जाल में फँस गई और इस बलि-प्रथा को धर्म मानने लगी।

अन्धविश्वास इतना गहरा पैठ गया कि पशु-बलि देने से देवी प्रसन्न होकर सभी मनोकामनाओं को पूरा कर देगी और यदि बलि न दी गई तो रुष्ट होकर सभी प्रकार का विनाश कर देगी।

पाटण में भी यह कुत्सित हिंसक प्रथा प्रचलित थी। वहाँ भी कंटकेश्वरी देवी के मन्दिर में पशुओं की बलि दी जाती थी। यद्यपि राजा कुमारपाल अहिंसा-प्रेमी थे, इन पशुओं के प्रति उनके हृदय में दया का दरिया बह उठता था किंतु स्वाद-लोलुपी पाखण्डियों के समक्ष वे विवश थे, जनमानस की अवहेलना करने का साहस वे नहीं जुटा पाते थे।

एक बार उन्होंने अपने हृदय की व्यथा आचार्य हेमचन्द्र के समक्ष रखी और इस कुप्रथा को रोकने का उपाय पूछा।

आचार्यश्री ने उपाय बताया—

"युक्ति से बलि-प्रथा समर्थक ढोंगी धर्माधिकारियों को एकत्र करके इस बात पर वचनबद्ध करो कि देवी के मन्दिर के खुले प्रांगण में

सभी पशु जीवित ही बन्द कर दिये जायँ। यदि देवी को भोग लेना होगा तो स्वयं ही ले लेगी। किन्तु मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि कोई पशु मरा हुआ नहीं मिलेगा। इससे यह सिद्ध हो जायेगा कि देवी मांसभक्षिणी नहीं है, वह पशु बलि नहीं चाहती। इस प्रकार ढोंगी पाखण्डियों की पोल खुल जायेगी और पशु बलि बन्द हो जायेगी।"

ऐसा ही किया गया और पशु-बलि बन्द हो गई।

यद्यपि इस प्रकार की युक्ति बताना श्रमण के 'योग-सत्य' को प्रभावित करता है, किन्तु लोक कल्याणकारी तथा जीवहिंसा रोकने में समर्थ होने के कारण यह दोष नहीं है अपितु नीति है—अहिंसा धर्म का प्रचार है। इससे सभी जीवों का जीवन सुखमय बनता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें संजयीय अध्ययन में मुनि गर्दभाली संजय राजा को शिकार से विरत करते हैं। इस सन्दर्भ में अन्य कई प्रेरक दृष्टान्त भी हैं।

वर्तमान युग में जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज ने भी अपने प्रवचनों के प्रभाव से अनेक राजाओं द्वारा हिंसा बन्द करवाई, शिकार का त्याग कराया और जीव-रक्षा की प्रेरणा दी।

जैन दिवाकरजी ने तो स्थान-स्थान पर हिंसा, शिकार आदि पापों का त्याग कराया। उन्होंने पतितोद्धार भी किया। वेश्याओं से वेश्यावृत्ति का त्याग कराया और उस गर्हित-निन्द्य जीवन से निकालकर सम्मानित जीवन जीने की प्रेरणा दी। यहां तक कि सं० १९८० में इन्दौर के मुहम्मद कसाई का भी हृदय परिवर्तन कर दिया, उसने भी जीव-वध न करने का नियम ले लिया।

यह सभी प्रवृत्तियां श्रमण के लोकोपकार से संबंधित हैं। यह सत्य है कि श्रमण का प्रमुख उद्देश्य स्वात्म-कल्याण होता है, लेकिन वह पर-कल्याण की भी उपेक्षा नहीं करता, जहां भी वह पर-कल्याण देखता है, अवश्य ही वैसी प्रेरणा देता है।

वास्तव में साधु-संस्था का यह नैतिक कर्तव्य है कि वह समाज में फैली बुराइयों को दूर करने की प्रेरणा दे, लोगों के दिल-दिमाग पर जो मिथ्यात्व का गहन अन्धकार छाया हुआ है, उसे अपनी प्रेरणा से—धर्म के प्रकाश से विनष्ट करे। इसी प्रकार कुरीतियों, मिथ्या मान्यताओं, हानिकारक प्रथाओं से लोगों को बचने की प्रेरणा दे।

अन्य जो भी कुत्सित प्रवृत्तियां हैं—हिंसा की, द्वेष की, ईर्ष्या की, चाड़ी-चुगली और निन्दा की—उन सबके प्रति लोगों के मानस में अरुचि जगा दे। उन्हें सदाचारपूर्ण सात्विक और धार्मिक जीवन जीने की राह दिखाए; सद्धर्म का रहस्य समझाये।

वस्तुतः साधु-संस्था और विशेषतः जैन श्रमण जंगम तीर्थ हैं। वे गांव-गांव, नगर-नगर पैदल परिभ्रमण करके लोगों में धर्म-जागृति फैलाते हैं, अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं।

यथार्थ यह है कि श्रमण अपने स्वीकृत महाव्रतों तथा अन्य सभी उत्तरगुणों का परिपालन करते हुए लोक कल्याण हितार्थ समाज को भी शुभ प्रेरणा देता है, और स्वयं नैतिक चरम की स्थिति पर पहुँचता है जहां नीति और धर्म का अभेद स्थापित हो जाता है। इस प्रकार नीति को धर्म-मय बनाकर तिन्नाणं तारयाणं के रूप में स्वयं अपना भी कल्याण करता है और अन्य लोगों का भी। और अन्त में इस विरुद को धारण करता है—बुद्धाणं बोहियाणं, मुत्ताणं मोयगाणं।

स्वयं अपनी आत्मा को प्रबुद्ध और दूसरों की आत्मा को भी प्रबोध देकर स्वयं भी मुक्त होता है और दूसरों की मुक्ति में भी प्रबल सहायक होता है।

×

७

आत्म-विकास की मनोवैज्ञानिक नीति

[PSYCHO-MORALITY OF SPIRITUAL DEVELOPMENT]

गुणस्थान

(Stages of Spiritual Development)

पूर्णता की अवधारणा मानव-मस्तिष्क का अपरिहार्य बिन्दु है। प्रत्येक मानव पूर्ण—परिपूर्ण होना चाहता है, उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आसीन होना चाहता है।

विद्यार्थी कॉलेज शिक्षा के अन्तिम बिन्दु तक पहुँचना चाहता है, डाक्टर एम. बी. बी. एस. की डिग्री से सन्तुष्ट नहीं होता, वह और भी ऊँची से ऊँची डिग्रियाँ प्राप्त करता है और किसी विषय का सुपर स्पेशलिस्ट बनना चाहता है।

यही मनोदशा व्यापारी वर्ग की है तथा अधिकारी और राजनेता की भी यही। लखपति हो गया तो करोड़पति बनने की महत्वाकांक्षा सताने लगती है।

साधक की भी यही मनःस्थिति है। वह नैतिक चरम की स्थिति पर पहुँचकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता अपितु और आगे विकास करके आध्यात्मिक पूर्णता—परिपूर्णता, सर्वोच्चता की स्थिति पर पहुँचने के लिए प्रयास करता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वोच्चता को कैवल्य-प्राप्ति कहा गया है। कैवल्य का अभिप्राय है—अज्ञान एवं मोह का समूल उच्छेदकर अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य की समुपलब्धि।

नीति में भी सर्वोच्चता अथवा परिपूर्णता की स्थिति को स्वीकार किया गया है। यहां भी परिपूर्णता से अभिप्राय कामना वासना आदि संवेग उत्पन्न करने वाली सभी मानसिक वैचारिक कायिक प्रवृत्तियों की उद्वेग—सीमा से ऊपर उठ जाना है, इन सब बन्धनों की परिधि को लांघ देना है।

यह ऐसी स्थिति है जहां नीति की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। इस स्थिति में व्यक्ति (आत्मा) इतना शुद्ध और निर्मल हो जाता है कि उसका प्रत्येक व्यवहार, प्रत्येक वचन, सम्पूर्ण क्रिया व्यापार धर्म-मय, लोक कल्याणमय ही होता है। अतः नीति-अनीति आदि का कोई प्रश्न ही समुपस्थित नहीं हो सकता।

किन्तु मानव (अथवा साधक) को यह स्थिति अचानक ही प्राप्त नहीं हो जाती, अपितु इसके लिए साधना करनी पड़ती है, उन्नति के विभिन्न स्तरों से गुजरना पड़ता है।

यह सत्य-तथ्य है कि आत्मा शनैः शनैः उन्नति करता है। उन्नति के एक-एक स्तर पर दृढ़ और मुस्तैदी कदमों से बढ़ता है, तब वह अपने लक्ष्य चरमोत्कर्ष—पूर्णावस्था को प्राप्त कर पाता है।

इस सम्पूर्ण उन्नति यात्रा में उसके मन-मस्तिष्क की विभिन्न स्थितियां बनती हैं। इन्हीं स्थितियों को आत्मिक—विकास की सीढ़ियाँ भी कहा गया है।

विकास के इन स्तरों में मन को श्रद्धात्मक (intuitive) ज्ञानात्मक (cognitive) संवेगात्मक (emotional) और अनुभूत्यात्मक (reflectional and core-fealings) संवेदन की मुख्य भूमिका होती है। इसी रूप में इन्हें जैन नीतिशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में आत्मिक और नैतिक विकास का प्रत्यय स्वीकार किया गया है। दूसरे शब्दों में ये स्तर आत्मिक-विकास की मनोविज्ञानात्मक नीति से सन्दर्भित हैं।

इन स्तरों का धर्मशास्त्रों में विभिन्न अपेक्षाओं से वर्गीकरण किया गया है। प्रथम वर्गीकरण में आत्मा की तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं—(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा, और इसे त्रिविध वर्गीकरण कहा गया है।

दूसरे वर्गीकरण में १४ विकास स्तरों का वर्णन है और इन विकास स्तरों को 'गुणस्थान' कहा गया है।

आदर्श और व्यवहार स्थिति

यद्यपि यह सत्य है कि स्वरूप की अपेक्षा आत्मा शुद्ध-बुद्ध चैतन्य स्वरूप है, उसमें न कोई विकार होता है और न किसी प्रकार का उत्थान-पतन ही। वह सहज है, अनन्त सुख और शक्ति स्वरूप है। न वहां बन्धन है, न मुक्ति और न विकार की कोई प्रक्रिया ही।

लेकिन यह आदर्श स्थिति है, जो सिर्फ सिद्धावस्था में ही पाई जाती है। संसार में तो आत्मा सर्वत्र बंधन में ही है और बन्धनयुक्त आत्मा ही बंधन तोड़ने का, मुक्त होने का प्रयास करता है।

धर्मशास्त्रों में जितने भी आचार वर्णित हैं, नीतिशास्त्रों में जितनी नीतियों और नैतिक नियमों का उल्लेख हुआ है, जितने भी शिष्टाचार और सदाचार के नियम हैं, सभी व्यवहार दृष्टि (practical viewpoint) के अनुसार हैं और संसारी आत्मा के लिए ही हैं, जो अभी तक बंधनों के जाल में जकड़ा हुआ है।

नीतिशास्त्र भी निश्चयनय अथवा स्वरूपदृष्टि की ऊँची उड़ान नहीं भरता। वह इसको आदर्श स्थिति स्वीकार करते हुए भी व्यावहाराश्रित अधिक है और व्यावहारिक दृष्टिबिन्दु से ऐसे नियम निर्धारित करता है, जिनके अनुपालन से उस आदर्श स्थिति को प्राप्त किया जा सके।

त्रिविध स्थिति

व्यवहार दृष्टि के अनुसार आत्मा की तीन प्रकार की स्थिति वर्णित कई गई है।

आचारांग में भी इस तीन प्रकार की स्थिति का वर्णन मिलता है; किन्तु १ बहिरात्मा, २ अन्तरात्मा और ३ परमात्मा—ऐसा स्पष्ट नाम निर्देश नहीं प्राप्त होता।

आचारांग में वर्णित बाल, मूढ़, मन्द आदि बहिर्मुखी अथवा बहिरात्मा के समकक्ष हैं। पण्डित, मेधावी, धीर, सम्यक्त्वदर्शी, अनन्यदर्शी आदि शब्द आत्मा के अन्तरात्मा स्तर की ओर इंगित करते हैं। इनके लिए मुनि शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। सम्यग्दर्शी और पाप से विरत होना, अन्तरात्मत्व ही है। विमुक्त, पारगामी आदि शब्दों का प्रयोग आत्मा की परमात्मदशा को द्योतित करने के लिए हुआ है।[1]

---

१ देखिए—आचारांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन ३-५

स्पष्ट रूप से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा शब्दों का प्रयोग और इन अवस्थाओं में आत्मा की वृति-प्रवृत्ति, मनोवैज्ञानिक दशा का क्रम-बद्ध वर्णन सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा ही किया गया उपलब्ध होता है।[1]

परवर्ती सभी श्वेताम्बर दिगम्बर आचार्यों ने इसी त्रिविध वर्गीकरण को स्वीकार करके इनकी विशद चर्चा की है।

गीता[2] और सांख्यदर्शन ने त्रिगुण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जो प्रमुखतया कुन्दकुन्द द्वारा निर्धारित त्रिविध वर्गीकरण के समान ही है।[3]

डॉ० राधाकृष्णन ने स्पष्ट कहा है—आत्मा का विकास तीन सोपानों में होता है। यह निष्क्रिय, जड़ता और अज्ञान (तमोगुण प्रधान अवस्था) से भौतिक सुखों के लिए संघर्ष कर, रजोगुणात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ऊँची उठती हुई ज्ञान और आनन्द की ओर बढ़ती है।

(१) बहिरात्मा—ऐसा आत्मा शरीर और सांसारिक भोगों में निमग्न रहता है। आत्मा की ओर उसकी दृष्टि हो नहीं जाती, आत्मा को जानने की रुचि ही जागृत नहीं होती। यह परिवार, धन-सम्पत्ति आदि में रचा-पचा रहता है। यह आत्मा की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति है। आचार्य हरिभद्र ने ऐसी आत्मा को भवाभिनन्दी कहा है।[4]

(२) अन्तरात्मा—ऐसा आत्मा अन्तर्मुखी होता है। उसमें अपनी आत्मा को जानने/समझने की रुचि जागृत हो जाती है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप पर वह श्रद्धान रखता है। इन्द्रिय-विषय-भोगों की रुचि कम हो जाती है। ज्यों-ज्यों उसका आत्म श्रद्धान दृढ़ होता है, वह संसार और सांसारिक भोगों का त्याग करता चला जाता है और उन्हें पूर्णरूप से त्याग कर संसार-त्यागी श्रमण बन जाता है। साधना के महामार्ग पर चलता हुआ परमात्म-पद प्राप्ति की ओर अग्रसर रहता है।

(३) परमात्मा—यह दो प्रकार के होते हैं—(१) जीवनमुक्त (सदेह ईश्वर) और (२) संसारमुक्त (विदेह ईश्वर)। जीवनमुक्त अरिहंत परमात्मा हैं और संसार मुक्त सिद्ध परमात्मा।[5]

---

१ मोक्ष पाहुड, गाथा ४

२ गीता १४,१५; ७,१३ आदि

३ भगवद्गीता—डा० राधाकृष्णन, पृ० ३१३

४ योगबिन्दु, श्लोक ८६

५ कुन्दकुन्दाचार्य : मोक्ष पाहुड, गाथा ४, ५, ८, ९, १०, ११ आदि।

नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से प्रथम बहिरात्म दशा अनैतिक दशा है, दूसरी दशा में नीति का प्रारम्भ भी होता है और शनैः शनैः ऐसा व्यक्ति नीति के चरम तक पहुँच जाता है तथा तीसरी परमात्म-दशा नीति से अतीत होती है।

इन तीनों अवस्थाओं के अन्य नाम मूढ़ात्मा, महात्मा और परमात्मा भी हैं।

इन तीनों अवस्थाओं का स्वरूप जैन ग्रन्थों में गुणस्थानों द्वारा बहुत ही सुन्दर और विस्तृत रूप से समझाया गया है।[1]

गुणस्थान

गुणस्थान शब्द सर्वप्रथम कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रंथ समयसार[2] में मिलता है। आगम साहित्य में यह शब्द प्राप्त नहीं होता। प्राकृत पंच-संग्रह[3] और कर्मग्रन्थ[4] में मिलता है। दिगम्बर आचार्य नेमिचन्द्र ने जीव को गुण[5] कहा है। गोम्मटसार में गुणस्थान के लिए जीवसमास[6] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। समवायांग में भी चौदह जीवसमासों[7] का उल्लेख है।

गुणस्थानों की रचना का आधार समवायांग में वर्णित कर्मविशुद्धि[8] को माना गया है। अभयदेवसूरि ने गुणस्थानों को ज्ञानावरणादि कर्मों की विशुद्धि से निष्पन्न[9] बताया है। दिगम्बराचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है कि

---

१. विशेष—यह ध्यान रखने योग्य है कि आत्मा की तीनों दशाओं और गुणस्थानों के वर्णन में अध्यात्म समन्वित नैतिकता ही प्रमुख है, संसाराभिमुख नैतिकता अपेक्षित नहीं है। इसी दृष्टिबिन्दु के आधार पर संपूर्ण विवेचन किया गया है।

२. ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा..... ...
—समयसार, गाथा ५६

३. प्राकृत पंचसंग्रह १, ३-५

४. चतुर्थ कर्मग्रन्थ, देवेन्द्रसूरि, गाथा १

५. गोम्मटसार, गाथा ७

६. गोम्मटसार, गाथा १०

७. समवायांग समवाय १४

८. कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता। —समवायांग १४/१

९. कर्मविशोधिमार्गणां प्रतीत्य—ज्ञानावरणादिकर्म विशुद्धि गवेषणामाश्रित्य।
—समवायांगवृत्ति, पत्र २६

प्रथम चार गुणस्थान दर्शनमोह के उदय आदि के निमित्त से और अगले ८ चारित्रमोह के क्षयोपशम आदि से निष्पन्न[1] होते हैं।

उपरोक्त सभी लक्षणों अथवा परिभाषाओं का आधार कर्मों का बंध, उदय, क्षय, क्षयोपशम आदि विभिन्न कर्म सम्बन्धी स्थितियाँ हैं। किन्तु जैनतत्व प्रवेश (२/४) में आध्यात्मिक दृष्टिकोण से लक्षण दिया गया है—

"आत्मा की क्रमिक विशुद्धि गुणस्थान है।[2]

यह परिभाषा नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण है। क्योंकि नीतिशास्त्र कर्म को प्रमुखता न देकर आत्मा को, उसकी वृत्तियों को प्रमुखता देता है। आत्मा और आत्म-स्वातंत्र्य नीतिशास्त्र का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रत्यय भी है।

यद्यपि स्वरूपदृष्टि से सभी आत्माओं के गुण समान हैं; किन्तु व्यवहार में सभी आत्माओं के गुण समान नहीं दिखाई देते। ज्ञान गुण को ही लें। यद्यपि ज्ञान आत्मा का अविनाभावी गुण है, किन्तु व्यवहार में कोई अधिक ज्ञानी दिखाई देता है और कोई कम, कोई बुद्धिमान है तो कोई मन्दबुद्धि। फिर उत्कृष्ट और जघन्य के मध्य हजारों-लाखों-असंख्यात तरतमभाव हैं।

इस विकास के तरतमभाव के लिए पूर्वसंचित कर्म उत्तरदायी होते हैं, साथ ही बाह्य परिस्थितियाँ भी। कर्म और संसारी आत्मा का सम्बन्ध अनादिकाल से है। दोनों एकमेक हो रहे हैं—दूध पानी की तरह। दोनों के इस अभेद को मिटाना, एकत्व की ग्रन्थि को तोड़कर भेद स्थापित करना ही अध्यात्म-साधना है और इस अध्यात्म-साधना की सहायक (Subsidiary) नैतिक साधना अथवा नैतिकता है।

कर्मावरण के कारण आत्मा की सहज ज्योति मंद हो जाती है। आत्मा के गुण कर्मावरण से प्रच्छन्न हो रहे हैं। अध्यात्म/नैतिक साधना के द्वारा ज्यों-ज्यों कर्म-पटल क्षीण होते हैं त्यों-त्यों आत्मा की सहज स्वाभाविक ज्योति/गुण प्रगट होते जाते हैं। और एक स्थिति ऐसी आती है, जब कर्मावरण समूल नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा अपने स्वाभाविक गुणों/ज्योति से प्रकाशमान हो उठता है।

---

१. गोम्मटसार, गाथा १२–१३

२. आचार्य श्री अमोलक ऋषिजी (जैन सूत्रों के प्रथम हिन्दी व्याख्याकर)

सघनतम कर्मावरण से प्रच्छन्न आत्मा की मन्दतम दशा से लेकर आत्मा की सहज-स्वाभाविक निर्मल, कर्मावरणरहित, सहज शुद्ध दशा की प्राप्ति को ही आत्मा का विकास कहा गया है। इस विकास के सोपानों को १४ स्तरों में जैन मनीषियों द्वारा वर्गीकृत किया गया और इनका नाम 'गुणस्थान' दिया गया है।

चौदह विकास सोपानों की अपेक्षा से गुणस्थान भी चौदह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यादृष्टि	(२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि
(३) मिश्रदृष्टि	(४) अविरतसम्यग्दृष्टि
(५) देशविरति	(६) प्रमत्तसंयत
(७) अप्रमत्तसंयत	(८) निवृत्तिबादर
(९) अनिवृत्तिबादर	(१०) सूक्ष्मसंपराय
(११) उपशांतमोह	(१२) क्षीणमोह
(१३) सयोगी केवली	(१४) अयोगी केवली

हमारा विषय चूंकि आध्यात्मिक/नैतिक विकास से संबंधित है इसलिये चेतना (आत्मा) की परिणतियाँ (भाव—भावधारा) और उनको प्रभावित करने वाले विरोधी घटकों की सामान्य जानकारी कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। चेतना की परिणतियों को 'भाव' कहा गया है और उनको प्रभावित करने वाले घटकों को 'कर्म' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

चेतना के भाव

चेतना अथवा आत्मा के पाँच प्रकार के भाव हैं—(१) औदयिक (२) क्षायिक (३) औपशमिक (४) क्षायोपशमिक और (५) पारिणामिक।[1] इनमें से पारिणामिक भाव जीव के अपने हैं, उसकी स्वयं की परिणमन क्रिया है। शेष चार भाव कर्मों की विभिन्न दशाओं के परिणामस्वरूप जीव में होते हैं। कर्मों के उदय से औदयिक भाव, क्षय से क्षायिक भाव, उपशम से औपशमिक भाव और क्षयोपशम से क्षायोपशमिक भाव।

---

१. औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्यस्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च।
—तत्वार्थसूत्र २/१

कर्म

कर्म आठ हैं—(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय।[1]

इनमें से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय घाती कर्म है तथा आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय अघाती हैं। घाती का अभिप्राय है—इनका घात—क्षय किये बिना 'कैवल्य' प्राप्त नहीं होता।

मोहनीय कर्म के प्रमुख दो भेद हैं—(१) दर्शनमोहनीय और (२) चारित्रमोहनाय।

क्षय और उदय आठों कर्मों का हो सकता है किन्तु क्षयोपशम चारों घाती कर्मों का ही संभव है और उपशम केवल मोहनीय कर्म का ही होता है। दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम, क्षय तथा उपशम से दृष्टि अथवा श्रद्धा विशुद्ध होती है और चारित्रमोहनीय की इन्हीं अवस्थाओं से चारित्र-विशुद्धि होती है।

ज्ञानावरणीय के क्षय, क्षयोपशम से ज्ञान की निर्मलता, दर्शनावरणीय की इन्हीं अवस्थाओं से दर्शन की विशुद्धि और अन्तराय कर्म यही अवस्थाएँ आत्मा के वीर्यगुण के प्रगटीकरण भूमिकाएँ निष्पन्न करती हैं।

औदयिकभाव सांसारिक सुख-दुःख आदि का निमित्त बनता है तथा आत्मा के आध्यात्मिक नैतिक विकास में बाधक बनता है।

पारिणामिक भाव आत्मा के स्वभाव परिणमन में सहायक होता है, इसलिये यह आध्यात्मिक, नैतिक विकास अथवा पतन में न साधक है और न बाधक ही है।

आध्यात्मिक/नैतिक उत्थान-पतन की दृष्टि से औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव ही महत्वपूर्ण है, इनमें प्रथम तीन प्रकार के भावों का अधिक महत्व है।

अब हम गुणस्थानों का आध्यात्मिक/नैतिक विकास की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत करते हैं, साथ ही यह भी कि प्रत्येक गुणस्थान में आत्मा

---

१. तत्वार्थसूत्र ८/५

के किस प्रकार के भाव होते हैं और मन/चित्त आदि की कैसी दशा तथा वृत्ति-प्रवृत्ति होती है।[1]

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

'मिथ्या' का अभिप्राय मोहग्रस्तता है और गुणस्थान आत्मा की दशा को संसूचित करता है कि आत्मा के गुणों की क्या दशा है ?

प्रस्तुत गुणस्थान में आत्मा मोह से पूरी तरह ढकी रहती है। मोह का अभिप्राय है—संसार और सांसारिक भोगों की लालसा, परिवार, पुत्र, पत्नी, धन-सम्पत्ति आदि में मग्न रहना, आत्मा और आत्मा की शुद्धि, उन्नति और विकास की ओर ध्यान न देना।

यह आत्मा बहिर्मुखी होता है। वह बाहरी पदार्थों में सुख की खोज करता है, इसी कारण धन, वैभव आदि के संचय में तल्लीन रहता है। उसकी इच्छा आत्मा के स्वभाव को जानने की होती ही नहीं। परिणाम-स्वरूप वह आत्मिक आनन्द का रसास्वाद नहीं कर पाता। उससे वंचित ही रहता है। मोहग्रस्त दशा में भ्रमित हुआ संसार में भटकता रहता है।

सैद्धान्तिक अथवा कर्मग्रन्थों की दृष्टि से ऐसे आत्मा को दर्शन-सप्तक का तीव्र उदय रहता है। दर्शन सप्तक में मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियां (१) मिथ्यात्व (२) मिश्रमोहनीय और (३) सम्यक्त्वमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय की चार प्रकृतियाँ (४) अनन्तानुबंधी क्रोध (५) अनन्तानुबंधी मान (६) अनन्तानुबन्धी माया और अनन्तानुबन्धी लोभ होती हैं।

अनन्तानुबन्धी का अभिप्राय है—इन कषायों का अनन्तकाल से बंध होता रहा है, यानी आत्मा और कषायों का अनन्तकालीन बंधन।

---

१ गुणस्थान जैनदर्शन का विशिष्ट शब्द है। इसका कर्मग्रन्थों में विशद वर्णन किया गया है। प्रत्येक गुणस्थान में कितनी कर्म-प्रकृतियों का बंध, उदय, क्षय, क्षयोपशम होता है, कितनी कर्म-प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति होती है, इन सब बातों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। किन्तु नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में इतना विशद वर्णन अपेक्षित नहीं है, अतः आत्मा के भावों, मन की प्रवृत्तियों तथा इनके नैतिक/आध्यात्मिक प्रभाव तक ही गुण-स्थान वर्णन को सीमित रखा गया है।

जिज्ञासु लेखक का ग्रन्थ 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' में गुणस्थान का वर्णन देखें।

यह चारित्रमोहनीय की प्रकृतियां हैं और इनके कारण आत्मा आध्यात्मिक/नैतिक चारित्र की ओर उन्मुख नहीं हो पाता।

दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्वादि तीन प्रकृतियां उसके आत्माभिमुख होने में बाधक बनी रहती हैं।

मिथ्यात्व के प्रकार

मिथ्यात्व आत्मिक दृष्टि से निविड़ अन्धकार है। इसके अनेक प्रकार हैं। तत्वार्थ भाष्य (८/१) में अभिगृहीत और अनाभिगृहीत—यह दो भेद बताये गये हैं। आवश्यक चूर्णि (६/१६५८) और प्राकृत पंचसंग्रह में तीन भेद हैं—१. संशयित २. अनाभिग्राहिक और ३. आभिग्राहिक, गुणस्थान क्रमारोह स्वोपज्ञवृत्ति (गाथा ६) तथा कर्मग्रन्थ (भाग ४, गाथा ५१) में आभिग्राहिक, अनाभिग्राहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक- यह पांच प्रकार के मिथ्यात्व बताये गये हैं।

आगम और आगमेतर साहित्य में बिखरे हुए सभी मिथ्यात्व भेदों की गणना करने पर मिथ्यात्व के २५ भेद प्राप्त होते है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

(१) **आभिग्राहिक**—पर के उपदेश से ग्रहण किया हुआ।

(२) **अनाभिग्राहिक**—नसर्गिक—अनादिकाल से लगा हुआ, गुण-दोषों की बिना परीक्षा किये ही सभी मन्तव्यों को एक समान समझना।

(३) **आभिनिवेशिक**—अपने मत को असत्य जानकर भी चिपके रहना (पूर्वग्रह)।

(४) **सांशयिक**—देव-गुरु-धर्म और तत्व के विषय में संशय रखना।

(५) **अनाभोगिक**—विचार और विशेषज्ञान का अभाव अर्थात् मोह की तीव्रतम दशा मानसिक-मूढता।

इनमें से अनाभोगिक मिथ्यात्व अव्यक्त है और शेष चारों व्यक्त। (६) लौकिक (७) लोकोत्तर (८) कुप्रावचनिक (९) अविनय (१०) अक्रिया (११) अशातना (२) आउया (आत्मा को पुण्य पाप नहीं लगता) (१३) जिनवाणी की न्यून प्ररूपणा (१४) जिनवाणी की अधिक प्ररूपणा, (१५) जिनवाणी की विपरीत प्ररूपणा, (१६) धर्म में अधर्म में संज्ञा, (१७) अधर्म में धर्म संज्ञा, (१८) साधु को असाधु समझना, (१९) असाधु को

साधु समझना, (२०) मोक्ष मार्ग को संसार मार्ग, (२१) संसार मार्ग को मोक्ष मार्ग, (२२) जीव को अजीव, (२३) अजीव को जीव (२४) मुक्त को अमुक्त (२५) अमुक्त को मुक्त समझना।

यह ६ से २५ तक के सभी मिथ्यात्व भ्रान्त और विपरीत धारणा के परिणाम हैं।

नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से प्रथम गुणस्थानवर्ती आत्मा में प्रमुख रूप से ५ प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ होती/हो सकती हैं।

(१) एकान्तिक धारणा—सत्य के किसी एक अंश को ही पूर्ण सत्य मान लेना। जैसे—आत्मा में ज्ञान गुण को ही स्वीकार करना तथा अन्य गुणों को नकार देना।

(२) विपरीत धारणा—इसके उदाहरण उपरोक्त १६ से २५ तक के दस प्रकार के मिथ्यात्व हैं।

(३) वैनयिकता—यद्यपि विनय एक महत्वपूर्ण सद्गुण है किन्तु यह मिथ्यात्व तब बन जाता है जब व्यक्ति रागी-द्वेषी देवों, कुलिंगी साधुओं आदि की भी विनय करता है और यह समझता है कि इनकी विनय करने से मुझे शाश्वत सुख प्राप्त हो जायेगा।

इसी सन्दर्भ में रूढ़ परम्पराओं का पालन भी मिथ्यात्व है।

(४) सांशयिकता—ऐसी आत्मा की चित्तवृत्ति दोलायमान रहती है। वह तत्व के विषय में निर्णय नहीं कर पाता।

(५) अज्ञान—अज्ञान के दो अभिप्राय हैं—१. अल्पज्ञान और २. कुज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान।

अल्पज्ञान तो चार इन्द्रिय वाले सभी जीवों और पंचेन्द्रिय व पशु-पक्षियों को होता है, तत्व की बात समझ सकें, इतना ज्ञान उन्हें होता ही नहीं। बहुत से मनुष्य भी ऐसे होते हैं। कुज्ञान का अभिप्राय है भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान या मिथ्यात्वभावयुक्त ज्ञान।

वास्तव में नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से कदाग्रह, दुराग्रह, संशयात्मकता आदि ऐसी स्थिति हैं, जो व्यक्ति की नैतिकता में बाधक बन जाती हैं। ऐसा व्यक्ति आत्मविकास के नैतिक पथ पर नहीं चल पाता।

आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ऐसा व्यक्ति निम्नतम स्तर पर होता है किन्तु सांसारिक दृष्टि से वह बहुत सफल भी हो सकता है।

राजनीति आदि के क्षेत्र में वह शिखर पर पहुँचा हुआ भी हो सकता है, वह आर्थिक दृष्टि से भी अत्यधिक सफल हो सकता है। व्यापार तथा अन्य क्षेत्रों में वह प्रामाणिक, मधुरभाषी और सज्जन भी हो सकता है।

धर्म के बाह्य पक्ष में भी उसका बहुत ही सुन्दर आचरण सम्भव है, तितिक्षा आदि गुण भी हो सकते हैं, दानी भी हो सकता है और परोपकारी भी।

इतना सब कुछ होते हुए भी वह आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से शून्य ही होता है। आध्यात्मिक नैतिकता की दृष्टि से निम्नतम स्तर पर माना गया है।

सास्वादन गुणस्थान (अधोमुखी वृत्ति)

यद्यपि गुणस्थान क्रम में सास्वादन का द्वितीय स्थान है किन्तु यह आत्मा की अधोमुखी वृत्ति—पतनोन्मुखी दशा है।

इसके लिए प्राकृत भाषा में सासायण शब्द है। संस्कृत में इसके दो रूप बनते हैं—(१) सास्वादन और (२) सासादन।

उपशम सम्यक्त्वी[1] जब सम्यक्त्व से पतित होकर मिथ्यात्व की ओर गिरता है किन्तु मिथ्यात्व तक पहुँचता नहीं उस अन्तराल में आत्मा को सम्यक्त्व का आस्वादन रहता है, इस अपेक्षा से इस गुणस्थान को सास्वादन कहा गया है।

आसादन का अर्थ विराधना है। सम्यक्त्व की विराधना करके जीव जब पतित होता है, तब उसे सासादन (स+आसादन) कहा गया है।[2]

इस गुणस्थान की उपमा वृक्ष से टूटे हुए फल से दी गई। जैसे फल वृक्ष से बिलग होकर भूमि की ओर गिर रहा है, अभी तक भूमि पर पहुँचा नहीं है, भूमि का स्पर्श नहीं किया, गिर रहा है, उतना समय (period of

---

१. उपशम सम्यक्त्व का चतुर्थ सम्यक्त्व गुणस्थान में विवेचन किया गया है।

२. आसादनं सम्यक्त्वविराधनं, सह आसादनेन वर्तत इति सासादनो विनाशित सम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदय जनित परिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते।

—षट्खंडागम, धवलावृत्ति, प्रथम खण्ड, पृ० १६३

down fall) ही इस गुणस्थान का माना गया है, जो शास्त्रों के अनुसार ६ आवलिका[1] मात्र है।

नीति की दृष्टि से 'सासादन' और 'सास्वादन' दोनों ही शब्द महत्वपूर्ण हैं। इसका अभिप्राय यह है कि नीति (सुनीति/धर्मनीति) की भूमिका पर पहुँचकर भी उसकी विराधना कर देना, त्याग देना, उस स्थिति से पतित हो जाना।

इस गुणस्थान का काल इतना अल्प है कि नीति की दृष्टि से विवेचना का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता।

३. मिश्र गुणस्थान (भटकता विश्वास)

जिस आत्मा का विश्वास सम्यक् और मिथ्या—दोनों प्रकार के भावों से मिश्रित होता है, वह मिश्रदृष्टि कहलाता है।

वस्तुतः यह गुणस्थान भी विकास का न होकर पतन का है। सम्यक्त्व से गिरने पर इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है और तब भी जीव इस गुणस्थान पर पहुँच सकता है जब सम्यक्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्वी बन गया हो और फिर मिथ्यात्व से उन्नति करके इस स्थान पर पहुँचा हो।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह स्थान बोधात्मा और अबोधात्मा के मध्य झूलना (oscillating) है। अबोधात्मा अथवा अहं व्यक्ति को भोगों की ओर मोड़ने का प्रयास करता है तो बोधात्मा आदर्शात्मक स्थिति की ओर उन्नत करना चाहता है। इस संघर्ष में यदि अबोधात्मा विजयी होता है तो व्यक्ति मिथ्यात्व में गिर जाता है और यदि बोधात्मा विजय प्राप्त कर लेता है तो सम्यक्त्वी बन जाता है।

दोनों भावों की इस संघर्षमय स्थिति के कारण ही शास्त्रों में इसका स्वभाव दही-मिश्री मिश्रित जैसा बताया गया है। जिस प्रकार दही और मिश्री का मीठा-खट्टा स्वाद आता है, वैसा ही स्वाद इस गुणस्थानवर्ती जीव को सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की स्थिति का अनुभव होता है।

---

१. एक मुहूर्त (४८ मिनट) में १६७७२१६ आवलिकाएं होती हैं।
—मुनि सुखलाल : साधना का सोना, विज्ञान की कसौटी, पृ० ९६

२. मिश्रकर्मोदयाज्जीवे सम्यग्मिथ्यात्वमिश्रितः।
यो भावोऽन्तर्मुहूर्तं स्या-त्तन्मिश्रस्थानमुच्यते॥ —गुणस्थान क्रमारोह १३

कभी वह सत्य सिद्धान्त पर यकीन करने को उत्सुक होता है तो दूसरे ही क्षण मिथ्या विचार उसके मन-मस्तिष्क को आच्छादित कर देते हैं। कभी सोचता है—जिनेन्द्र भगवान ने लोक को अकृत्रिम बताया है, यह सत्य है तो कुछ ही क्षण बाद उसका विचार पलट जाता है कि अन्य सभी धर्मावलम्बी लोक को ईश्वरकृत कहते हैं तो इतने लोग गलत कैसे हो सकते है ?

इस प्रकार उसका विश्वास स्थिर नहीं होता, भटकता ही रहता है, यह संशयात्मक स्थिति है।

नैतिक दृष्टि से भी यह संशयात्मक स्थिति पतन की ही सूचक है। संदेहशील व्यक्ति जब शुभ-अशुभ आदि का निर्णय ही नहीं कर सकता तो उससे नैतिक शुभाचरण अथवा कर्तव्य पालन की आशा करना ही व्यर्थ है।

सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (नैतिक भूमिका पर पदन्यास)

आध्यात्मिक एवं नैतिक, प्रत्येक दृष्टि से यह गुणस्थान विकास का स्थान है। इस स्थान का स्पर्श करते ही व्यक्ति की गलत धारणाएं, मिथ्या मान्यताएँ विनष्ट हो जाती हैं और उसमें सद्विवेक जागृत हो जाता है, वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जानने/समझने लगता है। उसकी श्रद्धा और प्रतीति दिवाकर के प्रकाश के समान चमक उठती है। मिथ्यात्व तथा अज्ञान का निविड़ तिमिर विलीन हो जाता है।

दूसरे और तीसरे गुणस्थान इस गुणस्थान की अपेक्षा अपक्रान्ति के, पतन के स्थान हैं। वास्तविक दृष्टि से यही गुणस्थान उन्नति और विकास का गुणस्थान है। यह विकास ऐसा ही है, जैसे घने मेघ पटलों को चीरकर सूर्य का प्रकाश जगमगा उठता है। आत्मा भी अनादिकाल के मिथ्यात्व और अज्ञानान्धकार को विनष्ट कर इस गुणस्थान को प्राप्त करता है; अनैतिक से नैतिक बन जाता है।

इस गुणस्थान की प्राप्ति सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान से होती है। यानी आत्मा प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व से सीधी छलांग इस स्थान पर लगाता है, बीच के दोनों (दूसरा और तीसरा) गुणस्थानों को छोड़ जाता है; ठीक ऐसे ही जैसे कोई व्यक्ति सबसे नीची—पहली सीढ़ी से उछल कर चौथी सीढ़ी पर कदम रख दे।

इस गुणस्थान अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति शास्त्रीय दृष्टिकोण से मिथ्यात्व मोह के विलय से होती है। यह विलय दो प्रकार से होता है—१. क्षय से और २ उपशम से।

मनोवैज्ञानिक भाषा में कहें तो कह सकते हैं—१. शोधन से और २. दमन से। शोधन का अभिप्राय है क्षय और दमन का अभिप्राय उपशम है।

जिस प्रकार दमित वृत्ति और भी प्रबल वेग से उठ खड़ी होती है और व्यक्ति को पतित कर देती है उसी प्रकार उपशम से प्राप्त सम्यक्त्व भी प्राप्त होने के ४८ मिनट के अन्दर ही अन्दर छूट जाता है और कषायों-संवेगों के प्रबल प्रभाव से पतित हो जाता है। उस पतन के समय सास्वादन गुणस्थान की स्थिति बनती है और मिथ्यात्व का स्पर्श होते ही मिथ्यात्वी बन जाता है।

शोधन की स्थिति में आत्मा का पतन नहीं होता, वह सम्यक्त्वी ही बना रहता है। लेकिन शोधन अथवा क्षय के साथ मार्गान्तरीकरण की स्थिति बन जाय तो शास्त्रीय भाषा में क्षयोपशम कहा जाता है।

क्षयोपशम दर्शनमोह का तो होता ही है, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का भी होता है। ऐसा आत्मा भी अपने सत्य दृष्टिकोण पर स्थिर रहता है। यह सम्यक्त्व काफी समय तक (शास्त्रीय भाषा में ६६ सागर तक) रह सकता है।

नैतिक दृष्टि से यह गुणस्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस स्थान की प्राप्ति होने पर ही आत्मा में अध्यात्म-संपृक्त नैतिकता का विकास होता है। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में वह जो भी नैतिक कार्य करता है, वे सब के सब संसार-सुख प्राप्ति की अभिलाषा से सिंचित रहते हैं।

इस प्रकार उसकी नैतिकता के पीछे भौतिक भोगेषणा रहती है, किन्तु चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा की प्रवृत्ति आत्मसुखलक्ष्यी हो जाती है, वह अपना तथा अन्य आत्माओं के कल्याण के विषय में चिन्तन करता है, और इसी को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है।

यह संभव है कि ऐसी आत्मा नैतिकता का आचरण न कर सके; किन्तु उसकी अन्तर्वृत्ति, भावना नैतिकता का पालन करने की ओर ही हो जाती है, उसके मन-मस्तिष्क में आध्यात्मिक-नैतिकता की तड़प जाग उठती है, इच्छा यही रहती है कि नैतिक आचरण ही किया जाय।

देशविरति गुणस्थान

चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा की जो नैतिक इच्छा है, वह इस गुणस्थान में साकार रूप ग्रहण कर लेती है। वह नैतिकता का परिपालन करने लगता है—एक आदर्श सद् गृहस्थ के रूप में।

शास्त्रीय दृष्टि से इस गुणस्थान की प्राप्ति अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ के क्षय अथवा क्षयोपशम से होती है।

अप्रत्याख्यानी कषाय, वास्तव में, व्रताचरण में अवरोधक होती हैं। इन अवरोधों के हटते ही आत्मा व्रतों का पालन करने में सक्षम हो जाता है, वह निरतिचार[1] श्रावक व्रतों का पालन करने लगता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाले आत्माओं का दृष्टिकोण यथार्थ तो हो जाता है, किन्तु ये अपने आवेगों—संवेगों पर नियन्त्रण नहीं कर पाते। वे चाहते तो हैं कि आवेगों के प्रबल प्रवाह में न बहें, इसके लिए प्रयास भी करते हैं, फिर भी तृणसमूह में आग की चिन्गारी के समान उनके आवेग प्रबल हो उठते हैं और वे उस धारा में बह जाते हैं।

प्रस्तुत देशविरति गुणस्थान में उनके प्रयास सफल होने लगते हैं, वे अपने संवेगों-आवेगों, क्रोध आदि कषायों पर आंशिक रूप में ही सही, काबू करने में सक्षम हो जाते हैं।

इसी स्थल से व्यावहारिक नैतिक जीवन का भी प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा व्यक्ति शुभ-अशुभ, कर्तव्य-अकर्तव्य, अच्छा-बुरा आदि में विवेक करके शुभ करणीय कर्तव्य का आचरण करने लगता है। उसके जीवन से अशुभ, अकरणीय आदि अनैतिकताएँ पलायन कर जाती हैं। व्यावहारिक रूप में वह सज्जनता (gentleness) की छवि प्रदर्शित करता है।

आवेगों, संवेगों, कषायों पर पूर्ण नियन्त्रण न होने के कारण कभी वह फिसलता भी है, स्वीकृत व्रतों में दोषों का—अतिचारों का सेवन भी कर लेता है, किन्तु वह शीघ्र ही सम्भल भी जाता है।

नैतिक दृष्टि से भी कभी-कभी वह अनैतिकता का सेवन भी कर लेता है, जैसे—परिवार की प्रतिष्ठा, धन की रक्षा के लिए कभी वह झूठ भी बोल जाता है, कलह आदि से बचने के लिए कपटपूर्वक मिथ्या-

---

१ श्रावकव्रतों और उनके अतिचारों का विस्तृत वर्णन 'नैतिक उत्कर्ष' नामक अध्याय में किया गया है। —लेखक

भाषण (polished lie) भी कर जाता है, शत्रु के प्रति कभी उसके मन में दुर्भाव भी आ जाते हैं, दुश्चिन्तन भी हो जाता है। इस प्रकार जीवन की विषम परिस्थितियों में अशुभ का आचरण भी कर लेता है।

परन्तु यह सब स्थायी नहीं होता, वह शीघ्र ही सम्भल जाता है और अशुभ भावों तथा अपशब्दों, मिथ्याभाषण एवं आचरण के लिए वह तीव्र पश्चात्ताप करता है तथा नैतिक आचरण के लिए और भी अधिक दृढ़ता से अपने आपको तैयार करता है।

प्रमत्तविरत गुणस्थान

धर्मशास्त्रों के अनुसार इस गुणस्थान की प्राप्ति आत्मा को प्रत्याख्यानावरणीय कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) के क्षय अथवा क्षयोपशम से होती है।इस स्थिति में व्यक्ति अपने समस्त सांसारिक सम्बन्धों को तोड़कर धर्माराधना में लीन हो जाता है।

धर्माराधना के प्रभाव से वह अपने आवेगों-संवेगों पर पूर्ण नियन्त्रण करने में सक्षम हो जाता है। उसके जीवन में अनैतिकता बिल्कुल भी नहीं रहती। उसकी समस्त वृत्ति प्रवृत्तियाँ धर्म संपृक्त होने के कारण नैतिक ही होती हैं, धर्ममय बन जाती हैं।

पंचम गुणस्थान में वह कभी राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा आदि विकथा भी कर लेता था, परिवार धन आदि के प्रति तथा स्वयं अपने शरीर के प्रति ममत्व तथा इन्द्रिय-विषयों के (संयमित/मर्यादित) सेवन के कारण जो अनैतिक आचरण हो जाता था, वह भी इस भूमिका पर आकर समाप्त हो जाता है।

छठे गुणस्थानवर्ती श्रमण की स्वकेन्द्रित प्रवृत्तियां यतना—सावधानी के कारण धार्मिक और नैतिक ही होती हैं।

श्रमण यद्यपि सांसारिकता को त्याग चुका होता है, फिर भी समाज के प्रति निर्लिप्त नहीं रह पाता। स्वयं नैतिकता का परिपूर्ण पालन करते हुए समाज को भी नैतिकता की प्रेरणा देता है।

इस नैतिकता की प्रेरणा को ही शास्त्रों में पर-कल्याण कहा गया है और वह एक प्रकार से श्रमण का कर्तव्य ही बन गया है। इसीलिए तो वह सतत विहार करता है, धर्म और धार्मिकता का प्रचार करता है।

सम्पूर्ण नैतिकता अथवा नैतिक चरम की दृष्टि से देखा जाय तो

इसी भूमिका पर आकर शुभ-अशुभ, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि जितने भी नैतिक कर्तव्य हैं, उनका यथार्थ ज्ञान भी होता है और साथ ही आचरण[1] भी।

इसका कारण यह है कि इस भूमिका पर आकर उसकी प्रज्ञा ऋतंभरा बन जाती है, सत्य और यथार्थग्राही हो जाती है। ममत्व, अहंत्व आदि दोष जो प्रज्ञा में मलिनता और विकार लाते हैं, वे सबके सब अल्पतम रह जाते हैं और प्रत्येक आचरण का उसे यथार्थ बोध हो जाता है। उस समय उसके हृदय में एक ही भावना होती है—स्व-पर-कल्याण की और भावना के अनुरूप ही उसके सम्पूर्ण क्रिया-कलाप संचालित होते हैं, जो नैतिक ही होते हैं।

७-१२ गुणस्थान

सात से बारह तक के गुणस्थान पूर्णरूप से आत्म-केन्द्रित हैं। इनमें वचन और काय की कोई भी अशुभ क्रिया नहीं होती। श्रमण अपनी आत्मा के ध्यान में, आत्म-शोधन में लीन रहता है।

यद्यपि यह सत्य है कि कषायों/संवेगों का सद्भाव रहता है, किन्तु वे इतने क्षीण हो जाते हैं कि कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल पाते। फिर नैतिक चरम की स्थिति छठे गुणस्थान में ही प्राप्त हो जाती है, इससे आगे के गुणस्थानों में तो आत्म-शोधन की साधना और प्रक्रिया चलती है, जो धर्म अथवा तप के क्षेत्र में आती है।

१३वाँ गुणस्थान सर्वज्ञत्वदशा (जीवन्मुक्त दशा)

इस गुणस्थान में अवस्थित आत्मा सभी विकारों से परे हो जाती है, क्रोध आदि किसी प्रकार का आवेग-संवेग, मोह-ममत्व नहीं रहता, संपूर्ण ज्ञान अनावृत हो जाता है और वह जीवन्मुक्त हो जाता है। इसी को अर्हंत और सर्वज्ञ कहा जाता है।

यद्यपि इस भूमिका में मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ होती हैं, केवली भगवान सभी जीवों की रक्षा, दया के लिए धर्मोपदेश देते हैं, जिज्ञासुओं

---

१. सम्पूर्ण श्रमणाचार का वर्णन 'नैतिक चरम' अध्याय में किया गया है।
—लेखक

की शंकाओं का समाधान भी करते हैं, किन्तु यह सब उनका जीताचार है, नीति का यहाँ प्रवेश नहीं है। यह गुणस्थान और इसमें होने वाली प्रवृत्तियाँ नीति की सीमा से परे हैं।

इसके उपरान्त जीव सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त हो जाता है, अनन्त आनन्द में लीन हो जाता है।

नीति की दृष्टि से गुणस्थानों की अवधारणा एक महत्वपूर्ण घटक है। इसके अनुसार यह स्पष्टरूप से समझा जा सकता है कि व्यक्ति नैतिकता की किस भूमिका तक पहुँच चुका है। गुणस्थानों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति के प्रत्यय साथ-साथ चलते हैं। दोनों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित होता है।

सिर्फ व्यावहारिक और सांसारिक दृष्टि से विचार किया जाय तो नैतिकता का प्रारम्भ धार्मिकता से पहले भी हो सकता है। नास्तिक व्यक्ति जिनमें धार्मिकता का स्पर्श भी नहीं होता, जो ईश्वर, पुनर्जन्म, कर्म और यहाँ तक कि आत्मा की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते, वे भी नैतिक हो सकते हैं।

दया, सेवा, परोपकार, सहायता आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ जो नैतिक हैं नास्तिकों में भी मिल सकती हैं और वे लोग भी नैतिक कहला सकते हैं, सज्जन हो सकते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा ऐसी नैतिकता, प्रथम सोपान में भी मिल सकती है। लेकिन ऐसी नैतिकता संसारलक्ष्यी होती है।

जब इसमें धार्मिकता का, आत्म-कल्याण का, यथार्थ बोध और दृष्टिकोण का पुट मिल जाता है तो नैतिकता धार्मिकता से संपृक्त होकर आत्मोत्थान का हेतु भी बन जाती है। ऐसी नैतिकता से मानसिक वृत्तियों का शोधन भी होता है। सदिच्छा (Good will) जो नीति का एक प्रमुख प्रत्यय है, वह शाब्दिक और व्यावहारिक तथा उपचार मात्र न रहकर यथार्थ वास्तविकता बन जाता है।

सदिच्छा से प्रेरित मानवीय समस्त व्यवहार स्वात्म और परात्म-कल्याणकारी के रूप में एक विशिष्टता उत्पन्न करता है। इसी विशिष्टता की अपेक्षा जैन-दर्शन ने नैतिकता का प्रारम्भ अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से माना है क्योंकि यहीं से नीति अथवा नैतिकता आत्म-सुख अथवा परम-शुभ (Ultimate good) लक्ष्यी बनती है और यह संपूर्ण नीति का चरम लक्ष्य अथवा ध्येय है।

□

खण्ड ३

जैन नीति और विभिन्न वादों का तुलनात्मक मूल्यांकन

Part III

Comparative Evaluation of Jaina Ethics with other Ethical Thoughts

१. जैन नीति और नैतिक वाद

२. अधिकार, कर्तव्य और दण्ड एवं अपराध

३. नीति की सापेक्षता और निरपेक्षता

४. समस्याओं के समाधान में— जैन नीति का योगदान

१

जैन नीति और नैतिक वाद

(JAINA ETHICS—ETHICO-MORAL THEORIES)

यह अनुभूत्यात्मक सत्य है कि मानव ज्ञान-संवेगात्मक प्राणी है। एक ओर वह अपनी विवेक बुद्धि से भली-भाँति चिन्तन-मननकर नैतिक नियमों का पालन करना चाहता है तो दूसरी ओर अधिकाधिक सुख की अनुभूति भी करना चाहता है। वह अपने आचरण को एक ओर ज्ञानात्मकता की लगाम से साधे रखना चाहता है, सन्मार्ग अथवा नैतिक मार्ग की ओर मोड़ना चाहता है तो दूसरी ओर आवेग-संवेग उसे इन्द्रिय-सुखों की ओर बहा ले जाने के लिए प्रतिपल-प्रतिक्षण पूरी शक्ति से तत्पर रहते हैं।

इसी द्वैधपूर्ण स्थिति में मानव-मन कभी इधर मुड़ता है तो कभी उधर। और यही द्वैध विभिन्न नैतिक वादों की उत्पत्ति का कारण है।

सन्देहवाद अथवा संशयवाद आदि का आधार मानव की ज्ञानात्मक प्रवृत्ति है तो सुखवाद आदि वादों का आधार मानव के विभिन्न संवेग हैं।

यद्यपि इन वादों के बीज प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में भी मिलते हैं किन्तु पश्चिमी नीतिशास्त्रियों ने इनकी विस्तृत चर्चा और विश्लेषण किया है।

यहाँ हम इनमें से कुछ प्रमुख वादों की चर्चा-विश्लेषण-विवेचन करके यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि जैन दर्शन और जैननीति का इनके संबंध में क्या दृष्टिकोण है, यह किस सीमा तक ग्राह्य अथवा अग्राह्य हैं।

संदेहवाद

सन्देहवाद का अभिप्राय है, किसी वस्तु के विषय में निश्चय न होना,

संशय बना रहना। इसके बीज भारतीय चिन्तनधारा के एक विचारक संजय वेलट्ठिपुत्त की मान्यताओं में मिलते हैं।

जब वह कहता है—यदि कोई मुझे पूछे कि क्या परलोक है और मुझे ऐसा लगे कि परलोक है तो मैं कहूँगा—हाँ! लेकिन मुझे [वैसा नहीं लगता और ऐसा भी नहीं लगता कि परलोक नहीं है। औपपातिक प्राणी हैं या नहीं, अच्छे बुरे कर्म का फल होता है या नहीं, तथागत मृत्यु के बाद रहता है या नहीं, इनमें से किसी भी बात के लिए मेरी कोई निश्चित धारणा नहीं है।[1] तब वह निश्चित ही संदेह से ग्रस्त है और उसका कथन संदेहवाद ही है। वह किसी भी तत्व का निश्चय नहीं कर पा रहा है। संशय अथवा भ्रम (Confusion) में है।[2]

इसके बीज महाभारत में भी यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में मिलते हैं, जब यक्ष के प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर कहते हैं—तर्क अप्रतिष्ठित है, श्रुतियों के मत भी भिन्न-भिन्न हैं, एक भी ऋषि ऐसा नहीं है जिसका मत प्रामाणिक माना जाय।[3]

इन शब्दों में स्पष्ट संशय धर्मतत्व के विषय में झलक रहा है।

ऐसे ही कथन ऋग्वेद में भी सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में मिलते हैं। जब ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि पहले सघन अन्धकार था, फिर उसमें प्रकाश की उत्पत्ति हुई, सूर्य-तारागण-पृथ्वी जल आदि निर्मित हुए। और अन्त में कह देता है—कौन कह सकता है कि सृष्टि के आदि में क्या था?

जब किसी नैतिक प्रतिमान को निर्धारित करना सम्भव न हो सके जिसके आधार पर शुभ-अशुभ, करणीय-अकरणीय का निर्णय किया जा सके, उस स्थिति को नैतिक सन्देहवाद कहा जाता है।

पश्चिमी विद्वानों ने सन्देहवाद को मनोवैज्ञानिक सुखवाद के साथ

---

१ भगवान बुद्ध पृ. १८३

२. दार्शनिक क्षेत्र में संजय वेलट्ठिपुत्त की मान्यताओं को विक्षेपवाद कहा गया है किन्तु विक्षेप का अभिप्राय भ्रम, संशय, संदेह होता है। देखें—Standard Illustrated Dictionary विक्षेप शब्द। वहां इसके लिए Confusion शब्द दिया गया है।

३ महाभारत : वन पर्व ३१२/११५

जोड़ा है और तर्क एवं भावनाओं से उसकी पुष्टि करने का प्रयास किया है।

लेकिन जैन दर्शन को यह नैतिक सन्देहवाद पूर्णरूप से अस्वीकार है। भगवान महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि पुण्य-पाप, जीव-अजीव, कल्याण-अकल्याण, आदि तत्व हैं, ऐसा निश्चय करना चाहिए, इसके विपरीत नहीं।[1]

उन्होंने तो संशय अथवा सन्देहवादियों को असंबद्धभाषी अथवा मिथ्याभाषी बताया है।[2]

सुखवाद

सुखवाद के अनेक प्रकार हैं, जैसे—जड़वादी सुखवाद, मनोवैज्ञानिक सुखवाद आदि।

जड़वादी सुखवाद का आशय है—भोगवाद। इसमें इन्द्रिय-सुख को ही सुख माना गया है। पश्चिम में इसका सबसे बड़ा समर्थक एरिस्टीपस था। प्राचीन काल में एपीक्यूरस ने यह सिद्धान्त दिया था। उसके नाम पर एपीक्यूरियनिज्म (Epicureanism) नाम का एक वाद ही चल पड़ा।

भोग सुखवादी आत्मा, परमात्मा आदि का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, उनके मतानुसार परलोक भी नहीं है, कर्म मिथ्या है, कोई नैतिक नियम शाश्वत नहीं है, चिन्ता छोड़कर वर्तमान में प्राप्त सुखों का भोग निराबाध रूप से करना चाहिए।[3]

भारत में चार्वाक सिद्धान्त इसी प्रकार का है। वह भी यही सब बातें कहता है। उसके मतानुसार—जब तक जीवन है, सुख से जीओ, ऋण लेकर भी घी पियो, इस शरीर के भस्म होने पर पुनरागमन (आत्मा के पुनर्जन्म) का प्रश्न ही नहीं।

एक शब्द में इस सुखवाद का आशय है खाओ, पीओ, मौज करो।

लेकिन वह वाद भारत में कभी स्थायित्व न पा सका। वैदिक, बौद्ध और जैन—तीनों दर्शनों ने इसे घोर अनैतिकतावाद कहा है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद का अभिप्राय है कि प्राणी मात्र सुख के लिए प्रयत्नशील रहता है।

---

१ सूत्रकृतांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, अध्ययन ५, गाथा १२।२६, संज्ञाप्रधान सूत्र

२ सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन १२, गाथा २,

३ डा० रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १०७

बैन्थम ने कहा है—प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख नामक दो सर्वशक्तिमान स्वामियों के अधीन रखा है। उनको ही यह संकेत करना है कि हमें क्या करना चाहिए और हम क्या करेंगे ?"[1]

सिरैनिक्स (Cyrenaics) भी इसी मत का समर्थन करता है।

मिल भी बेंथम का समर्थक है और उसने ज्ञान, सौन्दर्य तथा धर्म को भी सुख के साधन रूप में स्वीकार किया है।

जैन दृष्टि से भी प्राणि मात्र को सुखवादी माना जा सकता है। आचारांग,[2] दशवैकालिक टीका[3] से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

यही तथ्य महाभारत[4] में भी स्वीकार किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद्[5] का मन्तव्य है कि मानव के कर्म करने का हेतु सुख है। चाणक्य तो मानव को स्वार्थी मानता ही है।

किन्तु सभी भारतीय दर्शन व्यक्तिगत सुख से अधिक सार्वजनिक सुख पर बल देते हैं।[6]

इतने पर भी जैन नैतिकता की विशिष्टता यह है कि यह व्यक्तिगत सुख की अवधारणा तो मान्य करती है किन्तु साथ ही स्पष्ट आघोष करती है कि तुम्हारे सुख के लिए दूसरों के सुख का हनन न हो, उन्हें दुःख न हो। दूसरों को दुःख देकर अपने सुख के लिए जैन नैतिकता में कोई स्थान नहीं है। वहाँ तो अपने समान ही प्राणी मात्र को समझने की मान्यता है।[7] और कहा है—जिसे तुम कष्ट व पीड़ा देना चाहते हो, वह कोई दूसरा नहीं

---

१. Bentham, J : Principles and Morals of Legislation, chap, 1.
—Quoted by : डा० रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १०७ (पाद-टिप्पण)

२. आचारांग १।२।३।८१—सव्वे पाणा···सुहसाया दुक्खपडिकूला।

३. दशवैकालिक टीका पृ० ४६

४. दुखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्... —महाभारत, शांतिपर्व, १३९।६१

५. छान्दोग्य उपनिषद् ७।२२।१

६. देखिए—यजुर्वेद शान्तिपाठ में प्रस्तुत की गई सर्व सुख भावना—
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्॥

७. अत्तसमे मन्निज्ज छप्पिकाए। —दशवैकालिक १०/५

तुम ही स्वयं हो।[1] साथ ही मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक सुख से ऊपर उठकर आत्मिक सुख की ओर लक्ष्य रखती है, यही इसका (जैन नैतिकता का) अभीष्ट है। पश्चिमी नैतिकता इसी बिन्दु पर जैन नैतिकता से पिछड़ जाती है।

नैतिक सुखवाद अथवा उपयोगितावाद

नैतिक सुखवाद की दो अवधारणाएँ हैं—

(१) सुख का अनुसरण करना चाहिए।

(२) सार्वजनीन सुख ही काम्य है।

यह दूसरी अवधारणा उपयोगिता वाद के नाम से अभिहित की जाती है।

उपयोगितावाद के दो भेद किये जाते हैं—(१) प्राचीन अथवा स्थूल (Ancient or gross) उपयोगितावाद और (२) आधुनिक अथवा परिष्कृत (modern or refined) उपयोगितावाद।

बैन्थम ने अपने नैतिक सिद्धान्त में स्थूल और परिष्कृत उपयोगितावाद का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया है। इन दोनों में सादृश्य और वैभिन्नय निम्न प्रकार हैं—

१. दोनों का ही लक्ष्य सुख है।

२. स्थूल सुखवाद (उपयोगितावाद) निराशावादी था और परिष्कृत उपयोगितावाद आशावादी है।

३. प्राचीन वैयक्तिक था और आधुनिक सार्वजनीन।

४. आधुनिक सुखवाद (उपयोगितावाद) अधिक विकसित है।

बैन्थम के अनुसार उपयोगितावाद का अर्थ अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक सुख है। यह अर्थ इतना महत्वपूर्ण है कि इसे उपयोगिता सूत्र (formula or principle of utility) कहा जाता है। उपयोगिता सूत्र[2] के निम्न रूप मिलते हैं—

१. अधिक से अधिक सुख (greatest happiness)।

२. उच्चतम सुख (maximum happiness)।

---

१ जं हंतव्वं ति मन्नसि—आचारांग १

२. संगमलाल पाण्डेय : नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० १५१.

३. अधिक से अधिक संख्या का अधिक से अधिक सुख (greatest happiness of the greatest number)।

४. बहुसंख्यकों का सुख (happiness of majority)।

५. सार्वभौम सुख (universal happiness)।

६. सामान्य सुख (general happiness)।

७. सामाजिक सुख (social happiness)।

यहाँ उच्चतम सुख से यह अभिप्राय लिया जा सकता है कि इन्द्रिय-सुखों की अपेक्षा मानसिक सुख उच्च है और मानसिक से बौद्धिक तथा बौद्धिक से हार्दिक तथा आत्मिक सुख उत्तरोत्तर उच्च, उच्चतर उच्चतम हैं।

जहाँ तक सुख का सम्बन्ध है, जैन धर्म भी इस अवधारणा को निरस्त नहीं करता, अपितु इसे स्वीकार ही करता है। भगवान महावीर और उनके अनुयायी श्रमण-साधक जब कभी कोई व्यक्ति किसी प्रकार का नियम ग्रहण करने का संकल्प प्रकट करता है तो वे एक ही वाक्य कहते हैं—

जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबन्ध करेह।

(देवानुप्रिय ! जिसमें तुम्हें सुख हो, वैसा करो; लेकिन शुभ कार्य में विलम्ब न करो।)

इन शब्दों में नैतिक सुख (उच्चतम नैतिक सुख) की अवधारणा की अनुमति के साथ-साथ शुभ कार्य की प्रेरणा भी है।

जैन आगम स्थानांग सूत्र में दस प्रकार के सुख[1] बताये गये हैं—

१. आरोग्य २. दीर्घायु ३. धनाढ्यता (आढ्यता-आदर-सम्मान प्राप्त होना) ४. इच्छित शब्द और रूप प्राप्त होना ५. इच्छित गन्ध, रस और स्पर्श का प्राप्त होना ६. सन्तोष ७. जब जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उस समय उस वस्तु का प्राप्त होना ८. शुभ भोग की प्राप्ति ९. निष्क्रमण (पूर्ण अपरिग्रहवृत्ति) दीक्षा और १०. अव्याबाध सुख-निर्विघ्न सुख।

इन सुखों को निम्न से उच्चतरीय क्रम में रखा जाय तो इच्छित शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श सुख, भोग-सुख हैं जिन्हें इन्द्रिय-सुख अथवा नैतिकता की दृष्टि से निम्न कोटि के सुख कहा जा सकता है।

---

१. स्थानांग सूत्र, स्थान १०, सूत्र ७३७, संपादक : मुनिश्री कन्हैयालालजी कमल

दूसरे वर्ग में क्रमशः धनाढ्यता, आरोग्य और दीर्घायु के सुख हैं। तीसरे वर्ग में संतोष, निष्क्रमणता और अव्याबाध सुख रखे जा सकते हैं।

इनमें से अव्याबाध सुख तो अरिहंत-सिद्ध अवस्था का सुख है, और वह भूमिका नीति से परे है। निष्क्रमण सुख नैतिकता का चरम है और सन्तोष सुख सामान्य नीति के अन्तर्गत मनुष्य मात्र के लिए आता है।

यद्यपि साधु परम सन्तोषी होता है, किन्तु पश्चिमी नीतिशास्त्र में नैतिक सुख की जो अवधारणा है, वह आगम वर्णित सन्तोष सुख से भली भाँति अभिव्यक्त हो जाती है।

सुखवाद की अवधारणा को स्वीकार करते हुए भी जैन दर्शन एक मात्र इसी को साध्य नहीं मानता, वह ज्ञानात्मक पक्ष को भी उतना ही महत्व देता है। सिद्धजीवों में ज्ञान-दर्शन के पश्चात सुख का ही क्रम रखा गया और सुख—अव्याबाध सुख की अवधारणा का कारण भी अनन्तज्ञान दर्शन को माना गया है।

विकासवादी सुखवाद

विकासवाद १९वीं शताब्दी की सबसे बड़ी देन है। यद्यपि यह सिद्धान्त किसी न किसी रूप में पहले भी मिलता था किन्तु डार्विन और हर्बर्ट स्पेन्सर ने इसको सर्वथा नवीन रूप प्रदान किया। इस विषय में डार्विन की पुस्तक 'जातियों का उद्भव' (Origin of Species) युगान्तरकारी सिद्ध हुई।

किंतु यह तथा 'मानव का आविर्भाव'(Descent of Man)नाम की-डार्विन की दोनों पुस्तकें प्रकृति और प्राकृतिक पर्यावरण के आधार पर लिखी हैं। यही बात उनकी 'जीवन-संग्राम' (Survival of the Fittest) के संबन्ध में सत्य है।

हरबर्ट स्पेन्सर ने इसी विकासवाद के सिद्धान्त को नीति के क्षेत्र में भी लागू करने का प्रयत्न किया। इसी कारण इन दोनों का विकासवाद 'प्राकृतिक विकासवाद' कहलाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर तीन बातें प्रतिफलित होती हैं—

१. जीवन की रक्षा
२. पर्यावरण से समायोजन
३. विकास की प्रक्रिया में सहयोगी बनना।

अतः विकासवाद के अनुसार मानव के वे क्रिया-कलाप जो इन तीनों

बातों में सहयोगी अथवा सहायक बनते हैं, वे शुभ हैं, और जो इन में सहयोगी नहीं बनते वे अशुभ हैं।

जहां तक जीवन की रक्षा आदि इन तीनों बातों का सम्बन्ध है, जैन दर्शन का इसमें मतभेद नहीं है। आचारांग सूत्र में कहा गया है—जीवन सभी को प्रिय है।[1] दशवैकालिक के अनुसार भी सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।[2] अभयदान[3] अथवा जीवन-रक्षा को भी श्रेष्ठ कहा गया है। इस जीवन-रक्षा में ही दीर्घायुष्य का रहस्य छिपा हुआ है। आवश्यकसूत्र में तो यहाँ तक कहा है कि सीधी राह चलते प्राणियों को उनकी गति, स्थान, क्रिया आदि में अवरोध पैदा करना भी पाप है। इसके लिए साधक मन में पश्चात्ताप कर उनसे क्षमा माँगता है।[4]

कोषीतकि उपनिषद् में कहा गया है—निःश्रेयस् मात्र प्राण में है[5] चाणक्य ने भी धन और स्त्री की अपेक्षा अपनी आत्मा के रक्षण की बात कही है।[6] बुद्ध भी धम्मपद में कहते हैं कि स्वयं को सुरक्षित रखना चाहिए।[7]

यह कहा जा सकता है कि जैन-अहिंसा का संपूर्ण भवन जीवन-रक्षा के नैतिक सिद्धान्त पर खड़ा है। किन्तु यह एक ही पक्ष है। जैन अहिंसा स्व और पर दोनों के जीवन की रक्षा का सिद्धान्त मानती है; जबकि नैतिक विकासवाद अपनी स्वयं की रक्षा तक सीमित है, इसीलिए इसे वैयक्तिक विकासवाद कहा जाता है। और यही जैन-नीति तथा विकासवाद में प्रमुख अन्तर है।

स्पेन्सर के इस वैयक्तिक विकासवाद को स्टीफेन (Stephen) तथा अलेक्जेण्डर ने विशद बनाने का प्रयास किया। स्टीफेन ने इसमें सामाजिक स्वस्थता (Social Health) और अलेक्जेण्डर ने सामाजिक समानता

---

१ आचारांग १/२/३

२ दशवैकालिक ६/११

३ सूत्रकृतांग, अध्ययन ६, वीरत्थुइ—दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।

४ देखें 'इरियावहिया सूत्र' आवश्यक १

५ कौषीतकि उपनिषद् ३/२—अस्तित्वेव प्राणानां निःश्रेयसमिति।

६ चाणक्य नीतिदर्पण—आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि।

७ धम्मपद १५७

(Social Equilibrium) का प्रत्यय जोड़ा। सामाजिक स्वस्थता और समानता का अभिप्राय समाज की सुव्यवस्था माना जाना चाहिए। इस सुव्यवस्था को बनाये रखने के लिए 'जैन नीति के व्यावहारिक बिन्दुओं' के अधिकांश सूत्रों में इस प्रकार की अन्तर्भावना निहित है।

बुद्धिपरकतावाद

बुद्धिपरकतावाद बुद्धि के अधिकार पर बल देता है और सच्चरित्र को परमशुभ मानता है। इसके अनुसार आत्मविजय ही परमकल्याण है। यह वासनाओं को ठुकराता है और उन्हें आत्मा के जकड़ने के लिए जाल के समान मानता है।

इसका एक भेद विरक्तिवाद (Cynicism) है, जिसका सिद्धान्त है—धर्म (Virtue) धर्म के लिए, यह सुख अथवा आनन्द का साधन नहीं है।

यद्यपि विरक्ति को तो जैन-नीति भी स्वीकार करती है; किन्तु वह धर्म अथवा सद्गुणों को सुख और आनन्द का साधन भी मानती है।

दूसरा भेद बुद्धिवादी विरक्तिवाद (Stoicism) है। इसका प्रवर्तक जेमो (Jemo) (३४०-२६५ B.C.) था। यह धर्ममय जीवन को श्रेष्ठ मानते हैं। इनके मत में प्रकृति के अनुसार जीवन का अभिप्राय बुद्धि के अनुसार जीवन है। इनके अनुसार मानव को सामाजिक नियमों का पालन करना चाहिए।

तीसरा भेद ईसाई संन्यासवाद है। इनके अनुसार वर्तमान जीवन केवल एक यात्रा है जो स्वर्ग का दैवी जीवन पाने की तैयारी है।

जहां तक जैन नीति का सम्बन्ध है, वह बुद्धि के अनुसार जीवन को अस्वीकार नहीं करती, साथ ही शुभ कर्मों द्वारा स्वर्ग प्राप्ति के प्रयास को भी उचित ठहराती है; किन्तु स्वर्ग को अपना लक्ष्य नहीं मानती। जैन नीति के अनुसार इस मानव जन्म का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, सम्पूर्ण बंधनों से विमुक्ति है। स्वर्ग इस यात्रा का एक सुखद पड़ाव मात्र है।

आधुनिक युग में बुद्धिपरकतावाद का सबसे बड़ा समर्थक जर्मन दार्शनिक कांट (Imanuel Kant) है। इसका दर्शन कठोर कहा जाता है; क्योंकि इसने भावनाओं को कोई स्थान नहीं दिया। यह वासनाओं के ऊपर उठे हुए बुद्धिमय जीवन को नैतिक जीवन मानता है।

कांट के अनुसार भावनाओं से प्रेरित कर्म नैतिक नहीं हो सकते

अपितु निरपेक्ष बुद्धि से प्रेरित कर्म ही नैतिक हो सकते हैं। इसी आधार पर यह 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' का सिद्धान्त मानता है।

काण्ट की यह धारणा गीता के निष्काम कर्मयोग से प्रभावित है।

अपनी धारणा के अनुसार ही वह सार्वभौम विधान, प्रकृति विधान स्वयं साध्य, स्वातन्त्र्य और साध्यों का राज्य—नीति के इन प्रत्ययों का विधान करता है। इन सभी में वह सार्वभौमता (generalisation) को प्रमुख तत्व बताता है।

जैन नीति कांट से पूर्णतः सहमत नहीं है। वह ज्ञान के साथ भावनाओं का महत्व भी स्वीकारती है। यह कहना अधिक संगत होगा कि नैतिक जीवन में जैन नीति के अनुसार ज्ञान से भावनाओं का अधिक महत्व है। यदि मानव की भावना शुद्ध अथवा शुभ है तो मानव नैतिक है, यह जैन दृष्टिकोण है।

उदाहरणार्थ—डाक्टर के आपरेशन करते समय यदि रोगी का प्राणान्त हो जाता है तो भी भावना शुद्ध होने से डाक्टर नीतिमान है। इसके विपरीत शिकारी की गोली से यदि कोई पशु बच निकलता है तो भी भावना कुत्सित होने से शिकारी अनैतिक ही है।

कांट का मत है कि जो नियम सार्वभौम बन सकते हैं, वे नैतिक हैं और जो सार्वभौम नहीं बन सकते वे अनैतिक हैं। उदाहरण के लिए अब्रह्मसेवन, परस्त्रीसेवन, असत्यभाषण आदि नियम सार्वभौम बन सकते हैं, इसलिए यह सभी नैतिक हैं।

इस दृष्टि से कांट भारतीय दर्शनों के समीप आ जाता है। जैन नीति सहित सभी भारतीय धर्म एवं नीतिकार अहिंसा आदि को सार्वभौम ही स्वीकारते हैं।

कांट का स्वतन्त्रता का सिद्धान्त जैन-नीति के बहुत निकट है। स्वतन्त्रता से उसका अभिप्राय व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्ति से है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे का अधिकार छीनता है तो उसका यह कार्य अनैतिक है।

जैन-नीति भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार करती है। वह तो प्राणिमात्र को अपने समान समझने की प्रेरणा देती है—जैसे हमें अपना सुख प्रिय है, वैसे ही सबको अपना सुख प्रिय है; अतः किसी को भी दुःख नहीं देना चाहिए, किसी को बन्धन में नहीं रखना, आज्ञा में नहीं रखना चाहिए[1], आदि····यह जैन-नीति का मूल उद्घोष है।

---

१ आचारांग सूत्र कहता है—आय तुले पयासु-सब को अपने आत्मा के तराजू से तोलो।

आमत्पूर्णतावाद

आत्म-पूर्णतावाद (Eudaemonism) वह नैतिक सिद्धान्त है जो आत्म-कल्याण को ही परम श्रेय और परम शुभ मानता है। इसकी व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द यूडीयामोनिया (Eudaemonia) से हुई है जिसका अर्थ होता है—कल्याण। इसे संक्षेप में पूर्णतावाद (Perfectionism) भी कह दिया जाता है।

पूर्णतावाद अथवा आत्मपूर्णतावाद के बीज प्राचीन यूनानी दार्शनिक अरस्तू के विचारों में मिलते हैं। अरस्तू ने अपनी पुस्तक निकोमकिअन ईथिक्स[1] में मनुष्य मात्र का लक्ष्य यूडीयामोनिया (Eudaemonia) बताया है, जिसके अन्तर्गत तीन बातें आती हैं—(१) क्रियाशीलता, (२) निःश्रेयस और (३) आनन्द या सुख।

इसी वाद के दर्शन ईसामसीह के इन शब्दों में होते हैं—

"तुम वैसे ही पूर्ण हो जाओ जैसे स्वर्ग में तुम्हारा पिता है।"[2]

आधुनिक युग में पूर्णतावाद का समर्थन लिबनित्स, स्पिनोजा आदि ने किया किन्तु हेगेल ने 'पूर्ण पुरुष या व्यक्ति बनो'—यह मुख्य शिक्षा देकर इस वाद को नवीन आधार पर प्रतिष्ठित किया।

वस्तुतः पूर्णतावाद में सुखवाद और बुद्धिपरकतावाद का समन्वय किया गया है। सुखवाद का लक्ष्य इन्द्रिय-सुख है और बुद्धिपरकतावाद आत्मा को शुद्ध बुद्धिमय मानता है। इसमें भावनाओं को कोई स्थान नहीं दिया गया जबकि सुखवाद में भावनाओं का प्रमुख स्थान है। आत्मपूर्णतावाद वासना और बुद्धि—दोनों को ही आत्मा का अनिवार्य अंग स्वीकार करके दोनों को ही उचित स्थान देना चाहता है।

किन्तु यह वासनाओं को अनियंत्रित नहीं छोड़ना चाहता। यह वासनाओं के दमन अथवा निष्कासन को भी उचित नहीं मानता। यह उनका मार्गान्तरीकरण शुभ और शुद्ध की ओर करना चाहता है।

पूर्णतावाद की सबसे प्रमुख विशेषता स्वार्थ और परमार्थ का उचित समायोजन है। यह आत्मा के दो पक्ष मानता है—१. व्यक्तिगत[3] आत्मा

---

१ संगमलाल पाण्डेय : नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण पृ० २७०

२ संगमलाल पाण्डेय : नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण पृ० २७१

३ व्यक्तिगत आत्मा की तुलना जैनदर्शन में वर्णित कषाय आत्मा से की जा सकती है, क्योंकि व्यक्तिगत आत्मा भी वासनात्मा-कषायात्मा ही है। —देखिए—पच्चीस बोल का स्तोक, बोल १५वां और स्थानांग, स्थान ८

और २. विश्वात्मा। इसके अनुसार विश्वात्मा (विश्व का कल्याण-मंगल करने वाली आत्मा) ही आत्म-साक्षात्कार करने में सक्षम होती है। इसके लिए वह आत्मत्याग आवश्यक मानता है।

श्री मैकेन्जी के शब्दों में—

"हम सामाजिक साध्यों का साक्षात्कार करके ही सच्ची आत्मा अथवा पूर्ण शुभ का साक्षात्कार कर सकते हैं। ऐसा करने के लिए हमें व्यक्तिगत आत्मा का निषेध करना चाहिए जो कि सच्ची आत्मा नहीं है। हमें अपनी आत्मा का परित्याग करके अपना आत्मलाभ करना चाहिए।[1]

आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है आदर्शात्मा की प्राप्ति, जो कि शाश्वत और अनन्त है।[2]

आत्मपूर्णतावाद के इस सिद्धान्त पर जैन-नीति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जैन-नीति का लक्ष्य भी आदर्शात्मा की प्राप्ति है और इसके लिए वह कषायात्मा का त्याग[3] आवश्यक मानती है।

जैन धर्म के अतिरिक्त भारत के जितने भी मोक्षवादी दर्शन हैं, वे सब पूर्णतावाद की अवधारणाओं से सहमत हैं।

शंकराचार्य ने तो स्पष्ट ही कहा है—

आत्म लाभ से बड़ा कोई लाभ नहीं है।[4]

ऐसे ही विचार सांख्य, योग, वेदान्तादि दर्शनों के हैं।

जैन-नीति भी वासनाओं, कषायों आदि का मार्गान्तरीकरण ही उचित मानती है, यहाँ इसका नाम क्षय दिया गया है। इसके विपरीत दमन अथवा शमन का मार्ग उचित नहीं माना गया; क्योंकि दमित या उपशमित कषायें पुनः दुगुने वेग से उभर आती हैं और वे आत्मा के पतन का कारण बनती हैं।

विधानवाद

मनुष्य सदा से समूह में रहता आया है। वह समूह से सब कुछ सीखता है और परिपक्व होने पर सिखाता भी है। उसको नैतिकता की

---

१ उद्धृत, डा० रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० २२५

२ डा० रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० २२७

३ तुलनीय—अप्पाणं वोसिरामि—सामायिक सूत्र

४ आत्मलाभात्परोनान्यो लाभः कश्चिन्न विद्यते

—शंकराचार्य : उपदेश सहस्री १६/४

शिक्षा भी सर्वप्रथम अपने समूह से ही मिलती है। यह गण, जाति, कुल समाज, राष्ट्र और जनपद आदि अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें से प्रत्येक के कुछ निश्चित नियम अथवा विधान होते हैं, जिन्हें मानना मनुष्य के लिए आवश्यक होता है। यही विधानवाद है।

गण, जाति आदि को ही विधान अथवा वैधानिक संस्थाएँ कहा गया है। यह बाह्य विधानवादी संस्थाएँ हैं।

वस्तुतः विधानवाद के दो प्रमुख भेद हैं—(१) बाह्य विधानवाद और (२) आन्तरिक विधानवाद।

बाह्य विधानवाद के प्रमुख भेद हैं—(१) सामुदायिक विधानवाद (२) सामाजिक विधानवाद (३) राजनैतिक विधानवाद (४) ईश्वरीय विधानवाद।

१. **सामुदायिक विधानवाद** का अभिप्राय समुदाय (tribe or community) के नियमों से है। समुदाय के मुखिया के आदेश का पालन ही नैतिकता माना जाता है और उसके आदेश का उल्लंघन ही अनैतिकता।

इसका प्रारम्भिक रूप आदिम कबीलों में दिखाई देता हैं। आधुनिक युग में श्रमिक संघ (trade union) तथा अन्य विभिन्न सभाओं, एसोसिएशन आदि में इसका सुधरा हुआ रूप दिखाई देता है। सुधरा हुआ इस प्रकार कि किसी समस्या पर सदस्यों को विचार प्रगट करने का अवसर दिया जाता है और उनके विचार सुनकर निर्णय किया जाता है; फिर भी अध्यक्ष या सभापति का ही निर्णय मान्य होता है।

२. **सामाजिक विधानवाद** के अनुसार समाज के निर्णय ही नैतिक हैं और उनका उल्लंघन अनैतिक। प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी परम्परा, रूढ़ि, मर्यादा आदि भिन्न-भिन्न होती हैं, और उन्हीं के अनुसार सामाजिक विधान भी होते हैं।

यद्यपि आधुनिक युग में समाज के बन्धन शिथिल हो चले हैं। किन्तु फिर भी इनकी नैतिक (Moral) मान्यता तो है ही; इस रूप में ही सही, व्यक्ति इन विधानों का अनेक अवसरों पर आदर तो करता ही है।

३. **राजनैतिक विधानवाद** का अभिप्राय राष्ट्रीय अथवा राज्य के नियम उपनियमों से है। पहले राजा ही इन नियमों का नियामक होता था, अब प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली में प्रजा-प्रतिनिधि इन विधानों का निर्माण करते हैं।

विधानों का पालन नैतिकता माना जाता है और इन्हें भंग करना अनैतिकता। मनुष्य पर यह विधान बाध्यकारी होता है और इसको भंग करने पर दण्ड दिया जाता है।

जहां तक इन तीनों प्रकार के विधानों का सम्बन्ध है जैन-नीति इन्हें मान्य करती है। ठाणांग सूत्र[1] में दस प्रकार के धर्म बताये हैं, उनमें नगर धर्म, ग्राम धर्म, कुल धर्म, संघ धर्म आदि नैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। वहाँ भी इन धर्मों के पालन की प्रेरणा दी गई है।

लौकिक धर्म (कुलधर्म, गणधर्म, संघधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म) आदि के विषय में तो सोमदेव सूरि ने यह व्यवस्था दी है कि जहां तक सम्यक्त्व की हानि और व्रत दूषित न होते हों, जैनियों को सभी लौकिक विधियां मान्य करना चाहिए।[2]

४. ईश्वरीय विधानवाद तो सभी धर्मों/धर्मग्रन्थों में मिलता है। गीता का 'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज' इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है। बाइबिल, कुरान शरीफ, वेद, पुराण, स्मृति आदि जितने भी धर्म ग्रन्थ हैं, सभी अपने नियमों को ईश्वरीय विधान बताते हैं।

जैन धर्म में भी इसके बीज मिल जाते हैं। आचारांग सूत्र में भगवान महावीर कहते हैं—मेरी आज्ञा में धर्म आणाए धम्मो है।[3] आदि सूत्र ईश्वरीय विधानवाद के ही समर्थक हैं।

वैदिक एवं जैन दृष्टि में अन्तर यह है कि वैदिक ईश्वर जहाँ एक परम सत्ता है, वहाँ जैन दृष्टि से ईश्वर एक देहधारी वीतराग पुरुष है, जो प्राणी मात्र के अत्यन्त हित व सुख के लिए नियम बनाते हैं।

विधानवाद का दूसरा प्रमुख भेद आन्तरिक विधानवाद है। इसके अनुसार शुभ-अशुभ का निर्णय करने वाला अन्तरात्मा है।

हेनरी मोर, वुडवर्थ, क्लार्क आदि पश्चिमी चिन्तक इस विचार धारा के समर्थक रहे हैं। आधुनिक युग में वेस्टरमार्क आदि नीतिचिन्तक इसके समर्थक हैं।

---

१ स्थानांग, स्थान १०, सूत्र ७६०

२ सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥—यशस्तिलक चम्पू ८/३४

३ आचारांग १/६/२/१८१

भारत में भी अन्तरात्मवाद की परम्परा बहुत पुरानी है। महाभारत में कहा गया है कि सुख, दुःख, प्रिय-अप्रिय, दान और त्याग सभी में अन्तरात्मा को प्रमाण मानना चाहिए।[1]

जैन धर्म में भी इसको स्वीकार किया गया है। वहाँ शुभ-अशुभ, विहित-निषिद्ध कर्मों की सबसे बड़ी कसौटी मनुष्य का स्वयं का हृदय माना गया है।

अन्तरात्मावाद को Iutuitionism भी कहा गया है। Intuition का अभिप्राय है—अन्तर्दृष्टि।

अन्तर्दृष्टि के स्वरूप के विषय में मतभेद होने से इसके अनेक सम्प्रदाय हो गये हैं।

क्लार्क आदि नीतिचिन्तकों ने अन्तरात्मा को बौद्धिक माना है। इनके अनुसार अन्तर्दृष्टि प्रज्ञा है तथा इसके निर्णय प्रातिभ होते हैं। यह कार्य की अच्छाई-बुराई को साक्षात् जानती है। इसका ज्ञान सहज और अपरोक्ष है।

प्रज्ञावाद अथवा सहजज्ञान की अवधारणा उत्तराध्ययन सूत्र में भी प्राप्त होती हैं। कहा गया है— प्रज्ञा द्वारा धर्म की समीक्षा करके तत्व-अतत्व का निश्चय करना चाहिए।[2]

आन्तरिक विधानवाद का दूसरा भेद नैतिक इन्द्रियवाद है। इस वाद के विचारकों में शेफ्टसबरी, हचिसन और रस्किन प्रमुख माने जाते हैं। इनके अनुसार शुभ और अशुभ का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है जैसे—घ्राणेन्द्रिय द्वारा सुगन्ध-दुर्गन्ध में भेद किया जाता है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ में भी इन्द्रियों द्वारा विवेक किया जा सकता है।

अनुभूति के आधार पर शेफ्टसबरी ने तीन प्रकार की भावनाएँ स्वीकार की हैं—

१. राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि अस्वाभाविक अथवा असामाजिक भावनाएँ।

२. दया, परोपकार आदि स्वाभाविक अथवा सामाजिक भावनाएं।

३. आत्म प्रेम आदि आत्म भावनाएँ।

---

१. महाभारत, अनुशासन पर्व ११३/९-१०

२. उत्तराध्ययन सूत्र २३।२५

हचिसन ने भावनाओं को (१) शान्त और (२) अशान्त—इन दो वर्गों में वर्गीकृत किया है इनमें से शान्त भावनाएँ शुभ हैं और अशान्त भावनाएँ अशुभ।

रस्किन ने रुचि को महत्व दिया है। रुचि का अर्थ उसकी दृष्टि में पसन्दगी है और वह इसे नैतिक रसेन्द्रिय कहता है।

गीता में भी रुचि का महत्व दिखाई देता है। वहाँ कहा गया है कि मनुष्य की जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही बन जाता है।[1]

जैन नीति की दृष्टि से शेफ्ट्सबरी की तीनों भावनाओं की तुलना क्रमशः अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग से की जा सकती है, लेकिन जैनधर्म का शुद्धोपयोग विकार रहित है जबकि शेफ्ट्सबरी ने आत्म प्रेम भावना में स्वार्थ और संग्रह का भी समावेश कर लिया है।

हचिसन की शान्त और अशान्त भावनाओं को क्रमशः शुभ और अशुभोपयोग कहा जा सकता है।

रुचि की चर्चा तो सम्यक्त्व के सन्दर्भ में उत्तराध्ययन सूत्र में भी आई है। वहां दस प्रकार की रुचियां बताई गई हैं।[2]

लेकिन सिर्फ रुचि नैतिकता के सिद्धान्त की निर्णायिका नहीं हो सकती और न स्वयं ही नैतिक आचरण बन पाती है क्योंकि यह तो मात्र भावात्मक पक्ष ही हैं। इसी कारण जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र को पृथक-पृथक बताया गया है।

तथ्य यह है कि सम्यक्चारित्र अथवा नीति की दृष्टि से सदाचार ही नैतिकता की कोटि में परिगणित किया जाता है।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ के नैतिक विचार उसकी पुस्तक नैतिक स्थायीभावों के सिद्धान्त (Theory of Moral Sentiments) में मिलते हैं और उसके सिद्धान्तों को सहानुभूतिवाद कहा गया।

सहानुभूति वह है जिसके द्वारा सद्गुण और ज्ञान का मूल्यांकन किया जाता है तथा वह जो सद्गुण रूप से मूल्यांकन किया जाता है। सहानुभूति सद्गुण का साधन और स्रोत दोनों ही हैं।[3] एक तरह से यह प्रज्ञावाद ही है।

---

१. गीता १७।३ —श्रद्धा मयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव हि।

२. उत्तराध्ययन सूत्र २८

३. संगमलाल पाण्डेय : नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण पृ० ११५

सहानुभूति के आधार पर रसल आदि चिन्तकों ने नैतिकता की व्याख्या करने का प्रयास किया है।

सामान्य रूप से सहानुभूति (सह+अनुभूति) का अर्थ है दूसरों की अनुभति, अनुभवों, भावनाओं के साथ सहवर्ती होना, उनके दुःख, शोक, हर्ष आदि को स्वयं अपने हृदय में अनुभव करना, एकाकार होना।

सहानुभूति एक ऐसा अनुभव है जिससे नैतिकता का विकास होता है। दूसरों के कष्टों क्लेशों को मिटाने की भावना मन में स्फुरित होती है।

जैन दर्शन के अनुसार सम्यक्त्व का एक बाह्य लक्षण बताया गया है अनुकम्पा। अनुकम्पा का अर्थ भी यही है कि दूसरों के दुख, पीड़ा, अभाव आदि को देखकर अपना हृदय भी कंपायमान हो जाय। ऐसा व्यक्ति ही दूसरों का दुःख मिटाने के लिए तत्पर हो सकता है।

साथ ही वह ऐसा कार्य नहीं करेगा, जिससे दूसरे दुःखी हो जायँ। इस प्रकार वह नैतिक आचरण का पालन करेगा। उसमें नैतिकता का विकास होगा।

इस विकास की पाँच अवस्थाएँ हैं—

१. **सहृदयता की अवस्था**—इसमें व्यक्ति दूसरे की भावनाओं के प्रति सहानुभूति प्रगट करता है, कुण्ठाओं आदि के प्रति हार्दिक अनुभूति प्रगट करता है।

२. नैतिक मूल्यांकन की कलापूर्ण (aesthetic) अवस्था में पारस्परिक सहानुभूतिमय भावनाओं की प्रेषणीयता होती है। इस अवस्था में साध्य और फल के साथ भी सहानुभूति होती है तो वह कर्म शुभ है। यह शुभ औचित्य और उपयोगिता (propriety and utility) के बराबर है।

३. **नैतिक नियोग** (moral imperative) की अवस्था में एक ओर सहानुभूति और संवेदनशीलता के सद्गुण खिलते हैं तो दूसरी ओर आत्मबलिदान और आत्मोपदेश के सुमन विकसित होते हैं। इन्हें नैतिक आदेश भी कहा जाता है और इन आदेशों के प्रति श्रद्धा ही कर्तव्य होते हैं।

४. **ईश्वरीय आदेश की अवस्था**—वह है जिसमें नैतिक आदेश अनुल्लंघनीय हो जाते हैं और व्यक्ति उन्हें सर्वशक्तिमान ईश्वर के आदेश समझकर उनका पालन करता है।

५. **चरित्र-निर्माण की अवस्था**—में व्यक्ति सद्गुणों में साझीदार बन जाता है और इन गुणों के प्रति समर्पित हो जाता है।

इस प्रकार एडम स्मिथ ने सहानुभूति की व्याख्या नैतिक चरम की उच्च स्थिति तक पहुंचा दी है।

नैतिक अन्तरात्मवाद के प्रमुख प्रवर्तक जोजेफ बटलर हैं। इसने कहा है कि मानव प्रकृति के अनुरूप जो हैं, वे सद्गुण हैं और विपरीत दुर्गुण हैं। इसने मानव प्रकृति के चार तत्त्व बताये हैं— (१) वासना (passion) (२) स्वप्रेम (self-love) (३) परहित (benevolence) (४) अन्तरात्मा (conscience)।

वासना के अन्तर्गत बटलर भावना (affection) और क्षुधा (appetites) आदि प्रवृत्तियों को भी सम्मिलित कर लेता है। वासनाओं को वह अन्धी (rash) कहता है।

स्वप्रेम उसके अनुसार वह मानवीय प्रवृत्ति है जिसके कारण मानव जीवन भर सुख की अभिलाषा करता है। परहित का अभिप्राय दूसरों के लिए अधिकाधिक सुख का प्रयास करना है। यह सोच-समझकर की जाने वाली वृत्ति है।

अन्तरात्मा को बटलर ने बुद्धि का स्थायीभाव (sentiment of reason) या हृदय का प्रत्यक्ष अनुभाव (perception of heart) बताया है और इसको निन्दा प्रशंसा करने वाली क्षमता (faculty), नैतिक बुद्धि (moral reason) नैतिक इन्द्रिय (moral sense) और ईश्वरीय बुद्धि (divine reason) के रूप में वर्णित किया है।

बटलर ने अन्तरात्मा को औचित्य-अनौचित्य, शुभत्व-अशुभत्व का ज्ञान करने वाली और चिन्तन-मनन करने वाली शक्ति के रूप में स्वीकार किया है।

जैनदर्शन ने भी आठ प्रकार की आत्मा मानी हैं। उनमें से कषाय आत्मा, ज्ञानात्मा, उपयोग आत्मा, योगात्मा और चारित्रात्मा नीति की दृष्टि से मननीय है। बटलर ने जो मानव प्रकृति के चार प्रकार के तत्व माने हैं, उनमें से कषायात्मा में वासना तत्व और स्वप्रेम तत्व का समावेश हो जाता है तथा ज्ञानात्मा में शेष दो तत्वों का। उपयोग के शुभ, अशुभ, शुद्ध तीन भेद हैं। अतः उपयोग आत्मा में बटलर के नैतिक अन्तरात्मवाद का संपूर्ण सिद्धान्त समा जाता है।

मार्टिन्यू का सहजज्ञानवाद— बटलर के सिद्धान्त को मार्टिन्यू ने सूक्ष्मतम सीमा तक आगे बढ़ाया और उसमें मनोवैज्ञानिकता का समावेश किया। मार्टिन्यू (Martineau) ने अपने नैतिक सिद्धान्त को इडियो साइकोलोजिकल (Idio psychological) कहा। यह सिद्धान्त पर्याप्त सीमा तक नैतिक इन्द्रियवाद के समान है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि मार्टिन्यू सर्वप्रथम कर्म की प्रेरणाओं का मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत करता है

और फिर उन्हीं प्रेरणाओं का नैतिक वर्गीकरण करता है जिससे सत्-असत् का निर्णय किया जा सकता है।

मार्टिन्यू ने (१) प्राथमिक और (२) गौण—इस प्रकार से दो तरह के कर्म-प्रेरक स्वीकार किये हैं और फिर प्राथमिक कर्म प्रेरकों को चार प्रकारों में विभाजित किया है—

(१) प्राथमिक प्रवर्तक—क्षुधा, मैथुन आदि पाशविक प्रवृत्तियाँ और आराम की प्रवृत्ति।

(२) प्राथमिक विकर्षण—द्वेष, क्रोध, भय आदि की प्रवृत्तियाँ

(३) प्राथमिक आकर्षण—राग, वात्सल्य, समाज-प्रेम आदि

(४) प्राथमिक भावनाएँ—जिज्ञासा, विस्मय आदि

गौण कर्म प्रेरक के भी चार प्रकार उसने बताये हैं—

(१) गौण प्रवृत्तियाँ—स्वादप्रियता, लोभ, मद आदि

(२) गौण विकर्षण—मात्सर्य, प्रतीकार, शंका आदि

(३) गौण आकर्षण—स्नेह, करुणा आदि

(४) गौण भावनाएँ—आत्म सुधार, सौन्दर्य की उपासना, धर्मनिष्ठा आदि।

इनको तरतमभाव की अपेक्षा १३ वर्गों में उसने विभाजित किया है।

जैन दर्शन में जो संज्ञाओं की स्थिति बताई गई है, मार्टिन्यू का सिद्धान्त उसके काफी निकट है। संज्ञाओं को नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से कर्म के स्रोत कहा जा सकता है। ये अनुभव अथवा चेतना, संवेदना, संज्ञा, सोलह प्रकार की बताई गई हैं—

(१) आहार संज्ञा (२) भय संज्ञा (३) मैथुन संज्ञा (४) परिग्रह संज्ञा (५) सुख संज्ञा (६) दुख संज्ञा (७) मोह संज्ञा (८) विचिकित्सा संज्ञा (९) क्रोध संज्ञा, (१०) मान संज्ञा (११) माया—कपट वृत्ति संज्ञा (१२) लोभ संज्ञा (१३) शोक संज्ञा (१४) लोक संज्ञा (१५) धर्म संज्ञा और (१६) ओघसंज्ञा।

इनमें धर्म संज्ञा को छोड़कर सभी सांसारिक कर्मों के स्रोत हैं और धर्म संज्ञा सत्यनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, आदि सद्गुणों की प्रेरक है।

मार्टिन्यू ने भी अपने सिद्धान्त में जैन धर्म नीति सम्मत तथ्य को स्वीकार किया है। वह भी श्रद्धा, दया, मैत्री आदि को सद्गुण मानता है और क्रोध, इन्द्रिय-सुख आदि बहिर्मुखी-प्रवृत्तियों आदि को दुर्गुण।

---

१ आचारांग-शीलांकवृत्ति, पत्रांक ११। जैन ग्रन्थों में कहीं चार संज्ञा, कहीं दस संज्ञा व कहीं सोलह संज्ञाएँ बताई हैं।

मानवतावाद—पश्चिमी जगत में मानवतावाद के बीज प्लेटो, अरस्तु, आदि के दर्शनों में भी खोजे जा सकते हैं। किन्तु आधुनिक युग में सी. वी. वार्नेट आदि पश्चिमी चिन्तक इस विचारधारा के प्रतिनिधि हैं।

मानवतावादी मानवीय गुणों में ही नैतिकता के दर्शन करते हैं। वह वर्तमान जीवन को ही महत्व प्रदान करते हैं, लोकोत्तर जीवन की चर्चा का इनकी दृष्टि में विशेष महत्व नहीं है। इनका मत है कि मानव को अपना वर्तमान जीवन नैतिक बनाना चाहिए। सद्गुणों का आचरण ही इनका अभिप्रेत है।

जैन-नीति का भी इस मत से कोई विरोध नहीं है, वह भी वर्तमान के प्रत्येक क्षण को नैतिकतापूर्ण जीने की प्रेरणा देती है। उसका तो उद्घोष है—वर्तमान को सुधारो, भविष्य अपने आप सुधर जायेगा। जैनदर्शन सम्मत अप्रमत्तता की साधना वर्तमान में जागरूकता-सद्गुणपूर्ण नैतिक/धार्मिक/सदाचारी जीवन जीने की ही तो प्रेरणा है।

मानव जीवन को भगवान महावीर ने भी दुर्लभ बताया है और प्रेरणा दी है कि मानव-जन्म पाकर सद्कर्म ही करने चाहिए।[1]

इनके अतिरिक्त आत्मचेतनावाद, वैयक्तिक नीतिवाद आदि अनेक प्रकार के नैतिक वाद प्रचलित हैं, किन्तु उनमें थोड़े-थोड़े अन्तरों के होते हुए भी शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित आदि के प्रत्यय और उनके कारण तथा परिणाम लगभग समान ही हैं, अधिक भेद नहीं है।

लेकिन साम्यवाद एक ऐसा वाद है, जिस की आधारशिला अर्थ अथवा धनोत्पादन के साधनों पर रखी गई है। नैतिक जगत में उस का कोई विशेष मूल्य नहीं है। वह तो वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा देता है और असंतुष्टि की ऐसी अनबुझ प्यास जगाता है कि मानव का मन-मस्तिष्क उद्वेलित ही रहता है। साम्यवाद सभी व्यक्तियों की समानता का ऊपर से थोपा हुआ सिद्धान्त है जो धन की सीमाओं में घुटकर रह गया है।

यद्यपि जैन दर्शन में साम्यवाद है; किन्तु उसका स्वरूप भिन्न है, वह आत्मिक साम्यवाद है, जिसे समता कहा गया है। वह ऐसा समत्व है, जो मानव के हृदय को शांत बनाता है, अन्तर् आत्मा से प्रस्फुटित होता है, वह

---

१ (क) माणुस्सं सु दुल्लहं (ख) भवेषु मानुष्य भवं प्रधानं। —अमितगति
तुलना करिए—किच्छोमणुस्स पटिलाभो। —धम्मपद १८२
न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् —महाभारत शान्तिपर्व २६६/२०

प्राणी मात्र को अपने समान ही समझता है और सब को सुखी देखना चाहता है।

गांधीवादी नीतिदर्शन—इसके प्रवर्तक मोहनदास कर्मचन्द गाँधी (१८-६६-१६४८) हैं; जिनका सर्व प्रचलित नाम महात्मा गांधी है। यह एक राजनीतिक संत हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनकी नीति पर चलकर ही सदियों से परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा भारत देश स्वतन्त्र हुआ और वह भी अहिंसात्मक प्रतिरोध से। अहिंसा इनका जीवन दर्शन है, आचार है, विचार है और सब कुछ (all-in-all) है। सत्य इनका साध्य रहा।

इनकी विशेषता थी कि ये साध्य के साथ साधनों की पवित्रता पर विश्वास करते थे। अनुचित साधनों से उचित साध्य की प्राप्ति भी इनको इष्ट नहीं थी। इनकी नीति के आधार सत्य और अहिंसा थे तथा लक्ष्य था—सर्वोदय। सर्वोदय का अभिप्राय है—सबकी उन्नति, भौतिक भी, आध्यात्मिक भी और चारित्रिक भी।

इनकी भाषा में अहिंसा सभी सद्गुणों का पुंजीभूत रूप है।

इन्होंने ११ नीति-नियमों का निर्माण किया—(१) सत्य (२) अहिंसा (३) अस्तेय (४) शरीरश्रम (५) ब्रह्मचर्य (६) असंग्रह (अपरिग्रह) (७) अस्वाद (८) सर्वत्र भय वर्जन (अभय) (९) सर्व धर्म समानता (१०) स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना और (११) छुआछूत न मानना।

इनमें से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तो जैन नीतिसम्मत पाँच अणुव्रत ही हैं। शरीरश्रम, अस्वाद आदि जैन नीति के व्यावहारिक बिन्दु हैं। स्वदेशी व्रत देश की आर्थिक समृद्धि का हेतु है और छुआछूत न मानना मानव, मानव की भेद रेखा समाप्त करता है।

जहाँ तक छुआछूत अथवा जातिवाद का सम्बन्ध है, जैन दर्शन भी जातिवाद को नहीं मानता। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि जाति की कोई विशेषता नहीं है।[1]

यह स्पष्ट है कि गाँधीजी के जीवन पर जैन धर्म का गहरा प्रभाव रहा है। यद्यपि उन पर गीता का भी विशिष्ट प्रभाव था और वह उनकी प्रिय पुस्तक रही किन्तु साथ ही रस्किन के Unto this Last का भी उन पर प्रभाव था। यह जैन धर्म का ही प्रभाव था कि अहिंसा उनकी रग-रग में समा गई थी और यह उनका जीवन, आचार, धर्म सब कुछ बन गई।

गाँधी जी ने नीति के सर्वोच्च साधनों में सत्य और अहिंसा को ही

---

१ न दीसई जाइविसेस कोइ। —उत्तराध्ययन सूत्र १२/३७

माना है। वे अत्याचारी शासक का विरोध भी अहिंसात्मक ढंग से करना उचित मानते थे। लेकिन उनकी अहिंसा कायरों की अहिंसा नहीं थी।

उनके विचार से राजनीतिक और आर्थिक नियम नैतिक नियमों द्वारा नियमित,संचालित और यहाँ तक कि इनके अन्तर्गत ही होने चाहिए। यदि राजनीतिक और आर्थिक नियम नैतिक नियमों के विरोधी हों तो उनकी दृष्टि में उनका विरोध करना उचित है। अपने इसी नैतिक निर्णय के अनुसार उन्होंने दांडी यात्रा करके नमक कानून तोड़ा था तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध किया था।

मानवता गाँधी जी की नीति का अन्य प्रमुख प्रत्यय रहा। मानवता पद-दलित न हो, मानवीय वृत्तियों का सर्वतोमुखी विकास हो, इसीलिए वे अनैतिक शासन के विरोधी रहे ऐसी सरकार को वे कर देना भी अनुचित मानते थे। इसीलिए उन्होंने चौरी चौरा के किसानों को कर न देने की प्रेरणा दी। आर्थिक क्षेत्र में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि जहां तक मनुष्यों (मानव-श्रम) से काम चल सके वहाँ तक मशीनों का प्रयोग उचित नहीं है। इसके आधार में मानव को शोषण, भुखमरी, बेरोजगारी से मुक्त रखने की सदिच्छा थी। क्योंकि बेरोजगारी आदि के कारण अनैतिक प्रवृत्तियों की सम्भावना बढ़ जाती है।

न्याय के क्षेत्र में उन्होंने ग्राम पंचायतों का समर्थन किया तथा धन संरक्षण के क्षेत्र में ट्रस्टीशिप सिद्धान्त का। ग्राम पंचायतों से व्यवस्था सुचारु व न्याय सुलभ हो जाएगा और ट्रस्टीशिप सिद्धान्त से धन-स्वामियों का धन के प्रति ममत्व कम होगा, वे धन को समाज की धरोहर समझेंगे और इसलिए संचय भी कम होगा, परिणामस्वरूप वर्ग संघर्ष की स्थिति ही उत्पन्न नहीं होगी।

इन सभी नियमों और सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि गाँधीजी की सम्पूर्ण नीति का आधार अहिंसा है।

उपसंहार

इस सम्पूर्ण विवेचन और विभिन्न नैतिक वादों तथा जैन नीति के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि इन सभी वादों के बीज जैन नीति में निहित हैं। यह अवश्य है कि किसी वाद में ये बीज अधिक प्रत्यक्ष हैं तो किसी में कम।

सारांशतः कहा जा सकता है कि जैन नीति अपने आप में पूर्ण है, सक्षम है और अपनी विशुद्धता, विशालता और विराट स्वरूप के कारण अन्य सभी वादों में इसका प्रभाव झलकता है। □

२

अधिकार-कर्त्तव्य और अपराध एवं दण्ड

(RIGHTS, DUTIES AND CRIME PUNISHMENT)

नीतिशास्त्र की दृष्टि से 'कर्तव्य' एक उभयमुखी शब्द है। दैनिक जीवन में भी प्रसंगानुसार इसके अर्थ बदल जाते हैं। जैसे एक ओर यह अधिकार से सम्बन्धित है तो दूसरी ओर दण्ड से भी। कर्तव्य यदि सही ढंग से सम्पन्न किये जायँ तो व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के अधिकारों की प्राप्ति होती है और यदि कर्तव्यों का पालन न किया जाय अथवा सही ढंग से पालन न किया जाय तो व्यक्ति धिक्कार और तिरस्कार का पात्र बनता है और दण्ड का भी भागी हो जाता है।

इसीलिए नीतिशास्त्र में कर्तव्यों पर विशेष बल प्रदान किया गया है। अपने कर्तव्यों को उचित रीति से पालन करने वाले व्यक्ति को समाज में नैतिक माना जाता है।

अधिकार और कर्तव्य

नीतिशास्त्र के अनुसार अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की नैतिक मांगें (Moral needs) हैं। बोसांके (Bosanquet) कहता है—"कर्तव्य समाज द्वारा स्वीकृत व्यक्तियों के नैतिक ऋण हैं और अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत माँगें हैं।"

वास्तव में अधिकार, वे शक्तियाँ अथवा उपलब्धियाँ हैं जो सुचारु जीवन यापन के लिए, सभी प्रकार की भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं और कर्तव्य उन अधिकारों का सम्मान करने के लिए अन्य व्यक्तियों की नैतिक बाध्यता (Moral obligations) हैं।

कर्तव्य और अधिकार परस्पर सापेक्ष हैं। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य जुड़ा हुआ। एक व्यक्ति के अधिकार को सम्मान देने के लिए दूसरा व्यक्ति बाध्य होता है और यही उसका प्रथम व्यक्ति के प्रति कर्तव्य होता है। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य एक चक्र चक्रिक नियम (Circle according to cyclic order) के अनुसार चलने लगता है और स्थिति यह आ जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार भी होते हैं और कर्तव्य भी।

विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि कर्तव्य और अधिकार समाज सापेक्ष होते हैं; एक व्यक्ति का न कोई अधिकार होता है न कर्तव्य।

यदि मनुष्य एकाकी वन में निवास करे, अन्य व्यक्तियों से किसी प्रकार का संपर्क ही न रखे और न कोई अन्य व्यक्ति उसके संपर्क में आये ही तो ऐसे निपट अकेले (absolutely lonely) व्यक्ति के लिए अधिकार और कर्तव्यों का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता।

लेकिन ऐसी स्थिति मानव के जीवन में आती नहीं। मनुष्य सामाजिक प्राणी (Social animal) है, वह बिना साथी के रह ही नहीं सकता, अतः अधिकार और कर्तव्य—दोनों ही उसके लिए आवश्यक हैं।

समाज जो भी अधिकार व्यक्ति (individual) को प्रदान करता है, उससे यह अपेक्षा करता है कि वह औचित्यपूर्ण तरीके से, अपने और समाज के शुभ के लिए ही उन अधिकारों का प्रयोग करेगा; इसलिए वह शर्तहीन अधिकार नहीं देता अपितु कर्तव्यों की शर्त अधिकारों के साथ जोड़ देता है।

व्यक्ति के नैतिक अधिकार
(Moral Right of Man)

मनुष्य के प्रमुख नैतिक अधिकार निम्न रूप में विवेचित किये जा सकते हैं—

जीने का अधिकार (Right to Live)

जीवन का अधिकार मानव का मौलिक अधिकार (Fundamental right) है और जीवनेच्छा इसका आधार है। जब मनुष्य जीवित ही न रहेगा तो नैतिकता की कल्पना ही व्यर्थ है। नैतिकता, धार्मिकता, सदाचार आदि जितनी भी अवधारणाएँ है, सभी जीवन सापेक्ष है।

मानव का यह अधिकार संसार के सभी समाजों, नैतिक और धार्मिक संस्थाओं द्वारा स्वीकृत है। यह अधिकार सार्वभौम है।

ईसामसीह ने thou shalt not kill कहकर इसी अधिकार को स्वीकृति प्रदान की है। मुस्लिम मत में भी यह स्वीकृत है और भारतीय सभ्यता-संस्कृति तथा धर्मों का प्राण भी यही है। इसीलिए अहिंसा को सार्वभौम कहा गया है। दण्डशास्त्र में भी हत्या (murder) तथा आत्महत्या (suicide) को दण्डनीय अपराध माना गया है और सभ्य संसार के सभी न्यायालय वधकर्ता (murderer) को दण्ड देते हैं।

(२) जीविकोपार्जन का अधिकार (Right to Livelihood)

जीवन के अधिकार के साथ ही जीविकोपार्जन का अधिकार संलग्न है। जीवित रहने के लिए मानव को भोजन, वस्त्र, आवास आदि की अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी करनी पड़ती हैं, और इसके लिए वह किसी न किसी प्रकार का श्रम, व्यापार, धन्धा अथवा रोजगार करता है, जीविकोपार्जन का कोई न कोई उपाय करता ही है।

व्यक्ति का कर्तव्य है कि जीवकोपार्जन का नीतिसम्मत साधन अपनाए—ऐसा साधन जो अन्य लोगों के लिए बाधक न हो। अन्य लोगों का भी कर्तव्य है कि वे उसके जीविकोपार्जन में बाधक न बनें, जितना सम्भव हो सहयोगी ही बनें।

यह अधिकार भी सभी समाजों द्वारा स्वीकृत है। आचार्य हेमचन्द्र ने मार्गानुसारी के ३५ बोलों में स्पष्ट कहा है कि सदगृहस्थ न्याय नीति द्वारा जीविका उपार्जन करने वाला हो।[1] भारत के प्राचीन सद्गृहस्थ का परिचय देते हुए भगवान महावीर ने कहा है—धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाण विहरेंति—धर्म के अनुसार (नीति के अनुसार) जीवन वृत्ति चलाते थे।

(३) चिकित्सा का अधिकार (Right of Remedy)

जीवन का अभिप्राय स्वस्थ जीवन है, रोगी जीवन नहीं। नीरोग व्यक्ति ही नैतिकता का सुचारु रूप से पालन कर सकता है। अतः चिकित्सा का अधिकार भी जीवन के अधिकार से जुड़ा है।

यह अधिकार भी सार्वभौम है। इसकी इतनी मान्यता है कि धन-

---

१ हेमचन्द्र: योगशास्त्र, १/४७–५६

घोर युद्ध में भी चिकित्सालयों पर आक्रमण नहीं किया जाता। यदि निशाना चूकने से कोई बम अस्पताल पर पड़ भी जाय तो सारा संसार उसकी भर्त्सना करता है।

जैन दृष्टि से भी नीरोगता को प्रमुख माना गया है। वहाँ भक्त प्रभु की प्रार्थना करता हुआ आरोग्य-लाभ[1] प्रदान की इच्छा करता है।

(४) शिक्षा का अधिकार (Right of Education)

शिक्षा का अधिकार नैतिकता से सीधा संबन्धित है। शिक्षा प्राप्त व्यक्ति श्रेय-अश्रेय, शुभ-अशुभ और अपने हिताहित को जान सकता है। अज्ञानी अथवा अशिक्षित व्यक्ति इनमें विवेक नहीं कर सकता। शिक्षा ही मानव के सर्वांगीण विकास का एक मात्र साधन है। शिक्षा ही मानव को पशुत्व से ऊपर उठने में प्रथम और प्रमुख सहायक बनती है, और सामान्य मानव को नैतिक बनाने में सक्षम होती है। नैतिक धारणाओं को सर्वव्यापी बनाने के लिए शिक्षा एवं सद्शिक्षा की महती आवश्यकता है।

इसीलिए मनीषियों ने शिक्षा-प्राप्ति के अधिकार को व्यक्ति के नैतिक अधिकारों में स्थान दिया है। शिक्षा (ज्ञान) प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है।

(५) सम्पत्ति का अधिकार (Right of Property)

जीवन और जीविका उपार्जन के अधिकार के साथ सम्पत्ति रक्षण का अधिकार भी संलग्न है।

मानव दूरदर्शी प्राणी है, वह भविष्य के बारे में भी सोचता है। वह जानता है कि मानव-जीवन में दुःख, कष्ट, आपत्ति, विपत्ति आते ही रहते हैं। कभी बेरोजगारी तो कभी रोजगार में कमी, कभी बीमारी का आक्रमण भी हो जाता हैं और आज के युग में एक्सीडेंट की सम्भावना तो पग-पग पर बनी रहती है।

इन सब आकस्मिक घटनाओं से पार पाने के लिए धन अति आवश्यक है। धन के संबल से इन आपदाओं को सरलता से पार किया जा सकता है। इसीलिए वह अपने उपार्जन में से कुछ धन का संचय करता रहता है और यह संचित द्रव्य ही उसकी और उसके परिवार की सम्पत्ति बन जाता है। इसके रक्षण का अधिकार समाज उसे देता है।

---

१ आरोग्गबोहि लाभं..... —लोगस्स, आवश्यक सूत्र

यदि उस सम्पत्ति का कोई व्यक्ति अपहरण करता है, छीनता है, चुराता है तो समाज उसे धिक्कारता है और राज्य उसे दण्डित करता है।

लेकिन नीतिशास्त्र संपत्ति संरक्षण के अधिकार को असीमित नहीं मानता, क्योंकि एक जगह अथवा एक व्यक्ति के पास असीमित सम्पत्ति के संचय का परिणाम अन्य लोगों को अभाव और कष्ट के रूप में सामने आता है। अभावग्रस्त व्यक्तियों में असन्तोष भड़कता है, वर्ग-संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो समाज की नैतिकता में बाधक बनती है।

अधिक गरीबी और अधिक सम्पन्नता दोनों ही स्थितियाँ व्यक्ति को अनैतिक आचरण की ओर धकेलती हैं।

जैन नीति ने इस विषय में दो उपाय सुझाये हैं—प्रथम, स्वयं अपनी सम्पत्ति की इच्छा को वश में रखना, अधिक लोभ-लालच में न फँसना; क्योंकि ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ[1] बढ़ता है और इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त[2] हैं, जिनकी पूर्ति नहीं की जा सकती।

दूसरा उपाय है दान का; समाज सेवा और लोकोपकार के कार्यों में धन व्यय करने का। इससे अधिक सम्पत्ति का संचय नहीं हो पाता। सरोवर के जल की भाँति सम्पत्ति का संचय का आगमन-निगमन चलता रहता है।

मार्क्स ने आर्थिक बचत (Surplus Theory of Money) के सिद्धान्त को विवेचित करते हुए कहा है कि यह अधिक धन राज्य का है, राज्य ही उसका स्वामी है। इस प्रकार वह व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकार नहीं करता। जबकि पूंजीवादी अर्थशास्त्री व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को स्वीकृत करते हुए पूँजी को व्यापार में निवेशित करने की सिफारिश करते हैं; जिससे देश की और सम्पूर्ण देश-वासियों की आर्थिक उन्नति एवं प्रगति होती रहे।

लेकिन धर्मशास्त्र—सभी धर्म दान को उचित मानते हैं। इस्लाम द्वारा निर्धारित जकात, ईसामसीह द्वारा कथित Charity आदि ये सभी धन के संचय की समाजीकरण की विधियां हैं।

---

१ जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई। —उत्तरा. ८/१७

२ इच्छा हु आगास समा अणंतिया। —उत्तरा. ९/४८

नीति की दृष्टि से व्यक्ति को न्यायपूर्ण तरीकों से उपार्जित सम्पत्ति के रक्षण का अधिकार है, न कि अनैतिक तरीकों से प्राप्त सम्पत्ति को।

(६) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right of Freedom)

स्वतन्त्रता का अभिप्राय है—संकल्प की स्वतन्त्रता (freedom of will)। मानव को नैतिक आचरण के लिए संकल्प की स्वतन्त्रता अनिवार्य है। इसीलिए यह नीतिशास्त्र का मौलिक प्रत्यय माना गया है।

व्यक्ति किसी भी नैतिक आचरण का पहले मन में संकल्प करता है, यथा 'मैं सत्य बोलूंगा' और तदनुसार सत्य वचन बोलता है। यदि उसकी संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार न किया जाय तो नैतिक आचरण का प्रश्न ही नहीं है।

नीतिशास्त्र में स्वतन्त्रता के अधिकार का यही अभिप्राय है।

स्वतन्त्रता के साथ ही नीतिशास्त्र में दायित्व का प्रत्यय भी जुड़ा हुआ है। व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ-साथ अन्य लोगों की स्वतन्त्रता का भी सम्मान करे। अन्य किसी की स्वतन्त्रता में किसी भी प्रकार से बाधक न बने।

लेकिन इसका भी एक अपवाद है। व्यक्ति किसी को समाजविरोधी अथवा अनैतिक आचरण करते देखकर उसे रोक सकता है, उसकी स्वच्छन्दता में बाधक बन सकता है और सदाचरण आदि की प्रेरणा दे सकता है। यथा माता-पिता-शिक्षक बालक की गलत प्रवृत्तियों पर रोक लगाकर उसे शिक्षा प्राप्ति के लिए, सदाचरण के लिए प्रेरित कर सकते हैं।

इसी सिद्धान्त के अनुसार राज्य भी असामाजिक तत्वों की स्वतंत्रता का हनन कर लेता है।[1]

नैतिक कर्तव्य
(Moral Duties)

अधिकारों के साथ कर्तव्य भी जुड़े हुए हैं। जिस प्रकार मानव के कुछ नैतिक अधिकार हैं तो उसके कुछ कर्तव्य भी हैं। इन कर्तव्यों का पालन अनिवार्य है। प्रमुख कर्तव्य निम्न हैं—

(१) जीवन का सम्मान (Respect of Life)

जिस प्रकार मानव को जीने का अधिकार है उसी प्रकार उसका

---

१. भारतीय संविधान में जो नागरिकों के मौलिक अधिकार वर्णित किये गये हैं, उनमें से अधिकांश यही अधिकार हैं। —लेखक

कर्तव्य है कि अन्य प्राणियों के जीवन का सम्मान करे, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न दे, उनके जीवन का हनन न करे, उनके जीवन की रक्षा करे।

जैन नीति का तो यह आधारबिन्दु ही है। कहा गया है कि किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन न करे, उन पर अनुचित अनुशासन न करे, उनको अपने अधीन न बनाये, उन्हें परिताप न दे और किसी प्रकार का उपद्रव न करे।[1]

इस प्रकार जैन नीति के इन शब्दों में प्राणी मात्र के जीवन और जीवन से सम्बन्धित सभी बातों के प्रति स्पष्ट शब्दों में सम्मान बता दिया गया है।

(२) चरित्र का सम्मान (Respect of Character)

नीति का यह कर्तव्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। यहाँ चरित्र का अभिप्राय सच्चरित्र है। सच्चरित्र का सम्मान समाज में नैतिक वातावरण का प्रसार करता है।

हीगेल ने कहा है—व्यक्ति बनो, और दूसरे को भी व्यक्ति समझकर उसका सम्मान करो। व्यक्ति बनने से हीगेल का अभिप्राय अच्छे व्यक्ति से है। अतः मानव मात्र का कर्तव्य है कि स्वयं नैतिक आचरण करे और अन्य व्यक्तियों को नैतिक बनने में सहायक बने।

(३) सम्पत्ति का सम्मान (Respect of Property)

जिस प्रकार व्यक्ति को संपत्ति-सुरक्षा का अधिकार है, उसी प्रकार उसका कर्तव्य है कि अन्य व्यक्तियों की सम्पत्ति का सम्मान करे।

सम्पत्ति के सम्मान में सम्पत्ति का अपहरण और दुरुपयोग न करना —दोनों ही बातें सन्निहित हैं। अपहरण दूसरे की सम्पत्ति का किया जाता है। ऐसी सम्पत्ति किसी व्यक्ति की भी हो सकती है और जाति, समाज, राष्ट्र, धार्मिक और समाजसेवी संस्था की भी।

अपहरण के लिए नीति और धर्म में चोरी शब्द दिया गया है। और चोरी करना पाप है, अनैतिकता है।

दुरुपयोग अपनी सम्पत्ति का भी किया जा सकता है और दूसरों की सम्पत्ति का भी। दुर्व्यसन आदि में अपनी उपार्जित अथवा पैतृक सम्पत्ति

---

२. सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा

—आचारांग सूत्र १

सम्पत्ति को बरबाद करना अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग है तथा राष्ट्र, समाज आदि की संपत्ति को तोड़ना, फोड़ना, जिस हेतु सम्पत्ति दी गई है उसे अन्य कार्यों में खर्च देना दूसरों की संपत्ति का दुरुपयोग है।

नागरिक शास्त्र में ऐसे व्यक्ति को बुरा नागरिक कहा गया है, तो समाज विज्ञान (Sociology) और राजनीति विज्ञान (Political Science) में असामाजिक तत्व तथा नीतिशास्त्र में अनैतिक अथवा दुर्नैतिक व्यक्ति की उसे संज्ञा दी है।

जैन दृष्टि इस विषय में बिलकुल स्पष्ट है। मार्गानुसारी के बोलों में स्पष्ट कहा गया है कि व्यक्ति को निन्दनीय आचरण नहीं करना चाहिए[1] और संपत्ति का अपहरण तथा दुरुपयोग करना एवं उसका सम्मान न करना निंदनोय आचरण ही है। और चोरी करना तो सर्वथा ही अनैतिक है, पाप है।

(४) सामाजिक व्यवस्था का सम्मान (Respect of Social order)

समाज की सुव्यवस्था हेतु और उसके सुसंचालन के लिए समाज ने जिन संस्थाओं को मान्यता दी है, उनका सम्मान करना व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य है। उदाहरण के लिए धार्मिक संस्थाओं, समाजकल्याणकारी संस्थाओं और ऐसे रीति-रिवाज जिनसे समाज को गति मिलती है, व्यक्ति की उन्नति होती है, उनका सम्मान प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए। इन संस्थाओं में तोड़-फोड़ करना, उनका विरोध करना अथवा नष्ट करना अनैतिकता है।

इसका अभिप्राय यह भी है कि जो संस्थाएँ अथवा रूढ़ियाँ देश अथवा समाज के लिए हानिकारक हों, जिनसे परिवार में बिखराव होता हो, उनका विरोध करे और उन्मूलन का प्रयास करे। ऐसी कुप्रथाएँ आज के भारतीय समाज में दहेज आदि हैं।

इसको जैन नीति के व्यावहारिक बिन्दुओं में 'अदेशकालयोश्चर्या' शब्द से कहा गया है, जिसका अभिप्राय है व्यक्ति को देश और काल के विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए।

---

१. अप्रवृत्तश्च गर्हिते। —योगशास्त्र १/५०

(५) सामाजिक प्रगति का सम्मान (Respect for Social Progress)

यह कर्तव्य प्रगति से संबंधित है। मैकेन्जी ने इस कर्तव्य का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—"तुम अपने विशेष क्षेत्र में सम्पूर्ण हृदय, सम्पूर्ण आत्मा, सम्पूर्ण बल और सम्पूर्ण मन लगाकर परिश्रम करो।"[1]

इसका अभिप्राय है कि देश, समाज, राष्ट्र और विश्व की प्रगति तथा उन्नति में सहायक बनना प्रत्येक नैतिक व्यक्ति का कर्तव्य है।

(६) प्रामाणिकता का सम्मान (Respect for Reliability)

प्रामाणिकता व्यक्ति का सबसे महत्वपूर्ण गुण है। इसका अभिप्राय है—वचन-पालकता। जो भी वचन दिया जाय उसका उसी रूप में पालन किया जाना चाहिए। रामायण की वह सूक्ति कितनी प्रसिद्ध है—

प्राण जायँ पर वचन न जाहीं।

महान व्यक्तियों का यह विशिष्ट गुण होता है।

सामान्य नैतिक व्यक्ति का भी कर्तव्य है कि वह स्वयं प्रामाणिक बने और प्रामाणिक व्यक्तियों का सम्मान करे, साथ ही अपने पुत्र-पुत्री आदि परिवारीजनों तथा इष्टमित्रों एवं सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों को भी प्रामाणिक बनने की प्रेरणा दे।

प्रामाणिक व्यक्ति विश्वसनीय होता है और साथ ही नैतिक भी।

(७) स्वतन्त्रता का सम्मान (Respect for Freedom)

प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि दूसरों की स्वतन्त्रता का सम्मान करे। उसे दूसरों की प्रगति, उन्नति और विकास में सहायक बनन चाहिए।

नीतिशास्त्र में स्वतन्त्रता का अभिप्राय राजनीति की अपेक्षा विस्तृत आयाम लिए हुए है। राजनीतिक स्वतन्त्रता तो केवल अन्य देशों की दासता से मुक्ति तक ही सीमित है तथा इसमें व्यक्ति के नागरिका

---

१. उद्धृत जे० एन० सिन्हा : नीतिशास्त्र, पृ० २७४

अधिकारों की गणना की जा सकती है। किन्तु नैतिक स्वतन्त्रता में आर्थिक नागरिक, राजनैतिक सभी प्रकार की स्वतन्त्रताएँ समाहित हैं।

नैतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता के कर्तव्य में किसी व्यक्ति का आर्थिक, सामाजिक शोषण करना, अनुचित दबाव (pressure) डालना आदि सभी ऐसे कार्य निषिद्ध हैं, जिनसे व्यक्ति की किसी भी प्रकार की उन्नति और उसकी सदिच्छा में बाधा पड़े।

इस सन्दर्भ में काण्ट का नैतिक सूत्र है—"मनुष्यत्व को अपने तथा दूसरे के अन्दर सदैव साधन समझो, साध्य नहीं।"[1]

इस सूत्र का अभिप्राय है कि मनुष्य को हाथों का खिलौना बनाना, उस पर सीमा से अधिक दबाव डालना, उसकी सदिच्छाओं को पूरा न होने देना, अभिव्यक्ति में बाधक बनना आदि बातें अनैतिक हैं।

अतः व्यक्ति को न तो स्वयं ही किसी अन्य व्यक्ति का साधन (puppet of other's will) बनना चाहिए और न किसी अन्य व्यक्ति को ही अपने हितों का साधन बनाना चाहिए।

यह नीतिशास्त्र के अनुसार स्वतन्त्रता के सम्मान का कर्तव्य है।

जैन नीति के अनुसार भी किसी अन्य व्यक्ति की, यहां तक कि प्राणी मात्र की, किंचित् भी स्वतन्त्रता का हनन हिंसा में परिगणित किया गया है। आवश्यक सूत्र में दस प्रकार की हिंसाएँ बताई हैं—

प्राणी अथवा प्राणियों को—१. सामने से आते हुओं को रोकना, २. परस्पर मसलना, ३. इकट्ठा करना, ४. कठोरतापूर्वक पकड़ना—छूना, ५. परितापना देना, (६) थकाना (७) हैरान करना (८) संघट्टा करना ९. उनका स्थान बदलना और (१० प्राणरहित करना।[2]

यह सभी नीतिशास्त्र की शब्दावली में दूसरों की स्वतन्त्रता के हनन में परिगणित करने योग्य हैं।

इनके अतिरिक्त छविच्छेद, अतिभार और भक्तपानविच्छेद जो अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं, उनमें छविच्छेद के अन्तर्गत किसी की आजीविका का सम्पूर्ण छेद करना, उचित पारिश्रमिक से कम देना आदि भी सम्मिलित किये गये हैं। इसी प्रकार कर्मचारी की शक्ति से अधिक काम

---

१. उद्धृत, जे. एन. सिन्हा : नीतिशास्त्र, पृ० २७३

२. आवश्यक सूत्रान्तर्गत आलोचना सूत्र

करवाना अतिभार है और नौकर को समय पर वेतन न देना, भक्तपान विच्छेद[1] में परिगणित किये गये हैं।

स्पष्ट ही ये सब शोषण के विविध प्रकार हैं, और यह सभी विविध प्रकार की हिंसा हैं, जो अनैतिक है।

जैनधर्म/नीति की अहिंसा के विस्तृत आयाम में सभी प्राणियों की स्वतन्त्रता का सम्मान निहित है।

कर्तव्यों और अधिकारों में पारस्परिक सम्बन्ध
(Inter-relation between Duties and Rights)

कर्तव्य और अधिकार दोनों ही परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक के बिना दूसरे की अवस्थिति ही नहीं है। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य संलग्न है और प्रत्येक कर्तव्य अधिकार अर्जित करता है। अतः ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं।

गाँधीजी ने सत्य ही कहा है—हमें अपने कर्तव्य करते रहना चाहिए, अधिकार तो स्वयमेव प्राप्त हो ही जायेंगे।

वस्तुस्थिति यह है कि कर्तव्य और अधिकार दोनों ही सिक्के के दो पहलू हैं।

कर्तव्य और अधिकार दोनों ही नैतिक बाध्यताएँ (Moral obligations) हैं और समाज पर आधारित हैं। समाज व्यक्ति को अधिकार देता है तो उससे यह अपेक्षा करता है कि वह अपने अधिकारों का प्रयोग समाज हित में करेगा और कर्तव्यों का निर्धारण करते समय भी समाज जन-हित की अपेक्षा करता है।

कर्तव्याकर्तव्य विचार
(Casuistry)

कभी-कभी व्यक्ति को दो कर्तव्यों में विरोध अनुभव होता है, उस समय वह दुविधा में पड़ जाता है कि उन विरोधी कर्तव्यों में से किसका पालन करे और किसका न करे।

उदाहरणार्थ—कोई अवांछनीय तत्व (गुण्डा) किसी व्यक्ति के नोटों से भरे हैंडबेग को छीनना चाहता हो तो उस व्यक्ति पर पिस्तौल चलाये या

---

१. श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री : श्रावक धर्म, पृ० ११

नहीं ? यदि पिस्तौल चलाता है तो जीवन-रक्षा के कर्तव्य से च्युत होता है और नहीं चलाता है तो सम्पत्ति सुरक्षा के कर्तव्य से ।

इसी प्रकार एक डाक्टर मृत्यु के निकट रोगी को बता देता है कि 'तुम जीवित नहीं बचोगे' तो वह उसको घोर कष्ट पहुँचाता है और उसकी मृत्यु को तीव्रता प्रदान करता है, इस प्रकार जीवन के सम्मान के कर्तव्य से च्युत होता है और यदि उसे झूठा धैर्य देता है कि 'तुम स्वस्थ हो जाओगे' तो वह सत्य से च्युत होता है ।

व्यावहारिक जीवन में ऐसी अनेक परिस्थितियाँ सामने आती हैं; जबकि नैतिक व्यक्ति को अपना कर्तव्य निर्धारण करना कठिन हो जाता है ।

इन समस्याओं के समाधान के लिए पश्चिमी नीतिकारों ने कर्तव्या-कर्तव्य विचार (Casuistry) नाम का एक शास्त्र ही रच दिया है जिसमें विभिन्न व्यावहारिक समस्याओं के अवसर पर कर्तव्य निर्धारण करने की प्रणाली बताई गई है ।

किन्तु इस शास्त्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह नैतिकता के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल देता है । दूसरी बात यह है कि व्यक्ति अवसर विशेष पर किये गये अपने क्रिया-कलापों के लिए कोई न कोई तर्क (बहाना) खोज निकालेगा और उसकी नैतिक प्रतिबद्धता में शिथिलता आ जायेगी ।

इन्हीं सब बातों पर विचार करके ग्रीन ने कहा है—कर्तव्यों में संघर्ष जैसी कोई बात होती ही नहीं । प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति का एक ही कर्तव्य होता है, यद्यपि यह संभव है कि परिस्थितियां इतनी जटिल हों कि वास्तविक कर्तव्य का निश्चय करना कठिन हो जाय ।[1]

ग्रीन के इस कथन से ध्वनित होता है कि कर्तव्यों में विरोध हो ही नहीं सकता । जो कुछ भी विरोध दिखाई देता है, उसका कारण व्यक्ति की

---

1 There is no such thing really as a conflict of duties. A man's duty under any particular set of circumstances is always one, though the conditions of the case may be so complicated and obscure as to make it difficult to decide what the duty really is.

—Green T. H. : Prolegomena to Ethics, p. 355

स्वार्थभरी समझ एवं वासना, आवेग-संवेग आदि हैं। यदि नैतिक अन्तर्दृष्टि (Moral intuition) से विचार किया जाय तो व्यक्ति को प्रत्येक परिस्थिति में अपना कर्तव्य स्पष्ट प्रतिभासित होगा।

कर्तव्य-निर्धारण के लिए जैन नीति ने स्याद्वाद का सिद्धान्त दिया है। इसमें मुख्य और गौण की कल्पना है। जिस स्थिति में जो कर्तव्य प्रमुख हो उसी का पालन करना चाहिए। जैसे बच्चे को गलती पर समझाना-बुझाना और ताड़ना देना पिता का प्रमुख कर्तव्य है, उस समय उस पर लाड़-प्यार नहीं करना चाहिए।

इसी को मैथिलीशरण गुप्त ने इन शब्दों में कहा है—

"न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।"

अतः कर्तव्याकर्तव्य के निर्धारण के अवसर पर आत्म-स्वातंत्र्य के सर्वोच्च नैतिक नियम का आश्रय लेकर ऋतंभरा प्रज्ञा द्वारा निर्णय करना चाहिए।

कर्तव्यों का वर्गीकरण
(Classification of Duties)

काण्ट ने कर्तव्य का वर्गीकरण दो भेदों में किया—(१) पूर्णबाध्यतामूलक (Perfect obligation) और अपूर्णबाध्यतामूलक (Imperfect obligation).

पूर्णबाध्यता मूलक कर्तव्यों में वह चोरी न करना, किसी व्यक्ति की हत्या न करना आदि कार्यों की गणना करता है। और परोपकार, समाज, देश, व्यक्ति की सेवा आदि को वह अपूर्णबाध्यतामूलक कर्तव्य मानता है।

वस्तुतः पूर्ण बाध्यतामूलक कर्तव्य वे हैं, जिनको अवश्य ही करना पड़ता है, इनका उल्लंघन करने पर समाज अथवा राज्य दण्ड देता है और अपूर्णबाध्यतामूलक कर्तव्यों को व्यक्ति से स्वेच्छापूर्वक करता है।

काण्ट के इस वर्गीकरण से यह धारणा प्रतिफलित होती है कि पूर्णबाध्यतामूलक कर्तव्य कानूनी (legal) हैं और अपूर्णबाध्यतामूलक कर्तव्य नैतिक (moral) हैं।

जबकि नैतिकता इन दोनों को स्वीकार नहीं करती, क्योंकि नीति में दण्ड अथवा भय को कोई स्थान नहीं है। नैतिक व्यक्ति का सत्य बोलना, हिंसा न करना, परोपकार, सेवा आदि जितने भी कार्य अथवा कर्त्तव्य हैं, वे

सब स्वैच्छिक है, इन नैतिकताओं का पालन वह अपनी आन्तरिक इच्छा से करता है, किसी अन्य बाहरी दबाव से नहीं। और उसकी नैतिक प्रतिबद्धता को ही बाध्यता (obligation) कहा जा सकता है, यदि कहना ही चाहें।

कुछ विद्वानों ने कर्त्तव्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—

१. स्वयं अपने प्रति कर्त्तव्य—इसमें अपनी आत्मा और शरीर के प्रति सभी प्रकार के कर्त्तव्य निहित हैं। यथा—भौतिक, बौद्धिक, आर्थिक, नैतिक और कलात्मकता के कर्त्तव्य।

जैसे—हमें आत्महत्या का अधिकार नहीं, अपितु अपने जीवन का सम्मान करना हमारा कर्त्तव्य है। इसी प्रकार आर्थिक समृद्धि और बौद्धिक उन्नति भी हमारा कर्त्तव्य है। साथ ही नैतिक जीवन व्यतीत करना भी हमारा प्रमुख कर्त्तव्य है।

बौद्धिक विकास के लिए ज्ञानार्जन करना, वृद्ध और और अनुभवियों की शिक्षा मानना भी हमारे नैतिक कर्त्तव्य हैं।

कलात्मकता का अभिप्राय नीति के सन्दर्भ में सुरुचि संपन्नता है। यह सुरुचि वस्त्र धारण करने, बोल-चाल के ढंग, भाषा वाणी आदि के रूप में प्रदर्शित होती है। साथ ही नागरिक का कर्त्तव्य है कि पार्क उद्यान, आदि सार्वजनिक स्थल तथा ऐतिहासिक स्थानों की स्वच्छता तथा गरिमा नष्ट भ्रष्ट या विकृत न करे।

२. दूसरों के प्रति कर्त्तव्य—अपनी आत्मा और शरीर के अतिरिक्त अन्य सभी दूसरे हैं। इनसे सामंजस्य स्थापित करना हमारा कर्त्तव्य है।

इन दूसरों में परिवार, देश, समाज, मानव जाति और यहाँ तक कि पेड़ पौधे आदि भी सम्मिलित हैं।

परिवार में माता-पिता, दादा-दादी, भाई-बहन आदि बहुत से सदस्य होते हैं। उनके प्रति अपना कर्तव्य निभाना, जैसे—बड़ों के प्रति सम्मान और छोटों के प्रति प्रेम, सेवा, सहयोग आदि। इसी प्रकार समाज के अन्य व्यक्तियों के प्रति भी ईमानदारी, प्रामाणिकता, सहयोग आदि व्यक्ति का कर्तव्य है। राष्ट्र आदि के प्रति भी व्यक्ति के विभिन्न प्रकार के कर्तव्य हैं।

जहाँ तक पेड़-पौधों का प्रश्न है तो उनकी रक्षा करना, उन्हें व्यर्थ ही नष्ट न करना व्यक्ति का प्रमुख कर्तव्य है। इसका कारण यह है कि वृक्ष मानव के लिए बहुत उपयोगी हैं। ये मानव को फल-फूल देते हैं, वातावरण

को स्वच्छ बनाते हैं, कार्बन डाई-आक्साइड को सोखकर ओक्सीजन उत्सर्जित करते हैं, जो मानव को जीवित रहने के लिए अति आवश्यक है। साथ ही ये मेघों को आकर्षित करते हैं, इनके कारण बरसात होती है, भूमि में नमी रहती है और भूमि का कटाव रुकता है, अच्छी फसल उत्पन्न होती है।

इन सभी कारणों से नव्य नैतिकवादी ड्यूई आदि ने वृक्ष-संरक्षण को मानव के नैतिक कर्तव्यों में प्रमुख स्थान दिया है।

(३) आत्मा के प्रति कर्तव्य—कुछ विद्वानों ने इसे ईश्वर के प्रति कर्तव्य कहा है और इसमें नित्य देवार्चन आदि को सम्मिलित किया है।

किन्तु वास्तविक रूप में ये स्वयं अपनी आत्मा के प्रति कर्तव्य हैं, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा भक्ति, इष्ट मन्त्र के जाप आदि जितने भी अनुष्ठान हैं उनसे व्यक्ति की स्वयं की आत्मा की उन्नति होती है, उसमें नैतिक साहस और आत्म-बल बढ़ता है। व्यक्ति को सच्चाई, अहिंसा आदि पर दृढ़ रहने की शक्ति उपलब्ध होती है।

ये सभी आत्मिक लाभ हैं, इसीलिए इन सबको आत्मा के प्रति कर्तव्यों में यहां परिगणित किया है।

इन आत्मिक कर्तव्यों की प्रेरणा जैन श्रमण वर्ग भी मानव-मात्र को देते हैं।

कर्तव्यों के विषय में ब्रैडले (Bradley) ने एक नई बात कही है। उसका कथन है मेरा स्थान और उसके कर्तव्य (My station and its duties)। स्थान से उसका अभिप्राय व्यक्ति विशेष की विशष्ट स्थिति से है।

वह प्रत्येक मानव के तीन प्रकार के कर्तव्य मानता है—(१) व्यक्तिगत (२) सामाजिक और (३) स्थिति विशेष से सम्बन्धित।

व्यक्तिगत और सामाजिक कर्तव्य तो वही हैं; जिनका उपर्युक्त पंक्तियों में विवेचन हो चुका है; विशेष स्थिति से सम्बन्धित वे कर्तव्य हैं जो व्यक्ति को विशिष्ट स्थिति में करने पड़ते हैं।

उदाहरणार्थ—कोई जन-नेता यदि मंत्री बन जाता है तो उसके कर्तव्यों में परिवर्तन हो जाता है, उसे मंत्री-पद से सम्बन्धित कार्य करने पड़ते हैं। यही स्थिति एक क्लर्क के मैनेजर बन जाने पर उपस्थित होती है, उसके क्लर्क सम्बन्धी कर्तव्य समाप्त हो जाते हैं और मैनेजर सम्बन्धी कर्तव्य (Pertaining to management) प्रारम्भ हो जाते हैं।

यह स्थिति सभी क्षेत्रों में समुत्पन्न होती है। जैसे—परिवार में बालक के कर्तव्य, पिता बनते ही भिन्न हो जाते हैं।

ब्रेडले इन कर्तव्यों को स्थान द्वारा निश्चयात्मक रूप से निर्धारित कर्तव्य कहता है और प्रेरणा देता है कि व्यक्ति को इन कर्तव्यों का पालन व्यक्तिगत सर्वोच्च शुभ और सर्वोच्च सामान्य शुभ की सिद्धि/प्राप्ति के लिए करना चाहिए।

इस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति का उपाय कार्लाइल ने इन शब्दों में बताया है—"जो कर्तव्य तुम्हारे सबसे निकट है उसका पालन करो" और "जिस कार्य को तुम कर सकते हो उसको जानो और हरक्युलिस के तुल्य उस में जुट जाओ।"

इस सर्वोच्च कर्तव्य को मैकेंजी ने भी स्वीकार किया है। वह कहता है—"यह वह आदेश है जो हमें बुद्धिमय आत्मा और तत्सम्बन्धी मूल्यों के लाभ की आज्ञा देता है।"

मैकेंजी के इन शब्दों में बुद्धिमय आत्मा और उसमें गर्भित मूल्यों की प्राप्ति की प्रेरणा है।

ब्रैडले और मैकेंजी दोनों के विचारों को सामान्य और विशिष्ट सिद्धान्त (G. S. Theory) के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। सामान्य सर्वोच्च शुभ के अन्तर्गत व्यक्ति के सभी नैतिक कर्तव्य परिगणित किये जा सकते हैं जो समाज, राष्ट्र, परिवार, मानव जाति से सन्दर्भित हैं और व्यक्तिगत सर्वोच्च शुभ के अन्तर्गत आत्मिक उन्नति सम्बन्धी सभी नैतिक कर्तव्यों को सम्मिलित किया जा सकता है।

जैन नीति मैकेंजी के बुद्धिपरकतावाद बुद्धिमय आत्मा की सीमा से ऊपर उठकर सर्वोच्च नैतिक शुभ का लक्ष्य ज्ञानमय आत्मा और उसमें अन्तर्निहित मूल्यों की प्राप्ति स्वीकार करती है।

दण्ड
(Punishment)

दण्ड किसी भी व्यक्ति को कर्तव्यों के अपालन अथवा उल्लंघन के फलस्वरूप दिया जाता है।

यह प्रस्तुत अध्याय में पूर्व ही बताया जा चुका है कि कर्तव्य का प्रत्यय उभयमुखी है। जो व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन उचित ढंग से करता है उसे अधिकार, प्रशंसा आदि प्राप्त होते हैं और वह नैतिक प्रगति करता है, समाज में उसको सम्मान्य स्थान प्राप्त होता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति कर्तव्यों का उल्लंघन करता है, उसे दण्ड का भागी होना पड़ता है; धिक्कार-तिरस्कार ही उसे समाज देता है और राज्य तथा समाज उसे दण्ड देते हैं।

दण्ड क्या है ?
(What is Punishment)

दण्ड की विवेचना करने से पहले, यह समझ लेना आवश्यक है कि 'दण्ड है क्या ?' भारत में दण्ड को धर्म का ही एक अंग माना गया है। वैदिक परम्परा में यमराज (मृत्यु के देवता—God of Death) को भी धर्मराज कहा गया है और उन्हें यथातथ्य न्यायकर्ता बताया गया है। यह प्रसिद्ध है कि वे पापी को उचित दण्ड देते हैं, बिल्कुल भी रियायत नहीं करते और उनकी न्याय-व्यवस्था तथा उनका आदेश अटल है। उसमें कोई फेरबदल नहीं हो सकता।

राजनीति के चार भेदों—साम, दाम, दण्ड और भेद में भी दण्ड एक प्रत्यय है और इसे उचित माना गया है।

इसी प्रकार न्याय-व्यवस्था में दण्ड अनिवार्य माना गया है, न्यायाधीश विभिन्न अपराधों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के दण्ड देते हैं और उनके द्वारा दिया गया दण्ड न्यायोचित माना जाता है।

न्यायालयों द्वारा निर्धारित दण्ड राज्य और समाज—दोनों ही की सुव्यवस्था के लिए अनिवार्य है। आर्थिक सुरक्षा के लिए भी दण्ड का प्रावधान है।

नीतिशास्त्र भी इसी परिप्रेक्ष्य में दण्ड को स्वीकृति देता है।

समाज के सन्दर्भ श्री वाल्टर रैकलैस ने दण्ड की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"दण्ड वह प्रतिशोध है जो कामनवेल्थ अपराधी से लेता है।"[1]

इस परिभाषा में प्रतिशोध शब्द खटकने वाला है। यह तो एक प्रकार से बदला चुकाना हुआ जो कि नैतिक अथवा समझदार व्यक्ति के लिए उचित नहीं है। इससे तो न्याय अथवा न्यायाधीश की गरिमा भी नहीं रहती।

अतः यह परिभाषा नीतिशास्त्र को मान्य नहीं है।

---

1 It is redress that the commonwealth takes against an offending member. —Walter Reckless

इस परिभाषा से श्रेष्ठ परिभाषा सेठना की है। वह कहता है—"दण्ड एक प्रकार का सामाजिक नियन्त्रण है।"[1]

सामाजिक नियन्त्रण यदि नैतिकता के प्रसार के लिए है तो यह परिभाषा नीतिशास्त्र को मान्य हो सकती है।

जैन आचार्यों ने दण्ड शब्द पर कई दृष्टियों से चिन्तन किया है। दण्ड—छोटी लाठी को कहते हैं जो हाथ में रखी जाती है--यह अपराध आदि के नियन्त्रण, दुष्टों को भयभीत करने में प्रयुक्त होती है। इसी अर्थ में दण्ड शब्द का प्रयोग हुआ है। जिससे—दुष्टों का निग्रह, अनुशासन एवं अपराधी का उत्पीड़न किया जाय, वह है दण्ड। कहा है—

वधश्चैव परिक्लेशो धनस्य हरणं तथा।
इति दण्ड विधानज्ञैर्दण्डोऽपि त्रिविधः स्मृतः····।

मारना-पीटना, क्लेश पहुँचाना तथा धन आदि की अदायगी के रूप में अर्थभार डालना—यों तीन प्रकार दण्ड कहा है।

एक परिभाषा के अनुसार—"दण्डनं दण्डः अपराधीनामनुशासनम्" —अपराधियों पर अनुशासन या नियंत्रण रखना दण्ड है।[1]

सेठना की उक्त परिभाषा भी इसी का अनुसरण करती है।

सही स्थिति यह है कि नीतिशास्त्र की विभिन्न परिभाषाएँ दण्ड के विभिन्न सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। जो मनीषी दण्ड से जिस सिद्धान्त का समर्थक रहा, उसने दण्ड की वैसी ही परिभाषा निर्धारित कर दी। जहाँ पर जिस कार्य के लिए उसका उपयोग हुआ, वही उसका भावार्थ बन गया।

अतः दण्ड की परिभाषाओं अथवा स्वरूप को दण्ड के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में ही समझा जाना चाहिए।

दण्ड के सिद्धान्त
(Theories of Punishment)

मनीषियों ने दण्ड के सिद्धान्तों का वर्गीकरण तीन रूपों में किया है—(१) बदले का सिद्धान्त (२) निवर्तनात्मक सिद्धान्त और (३) सुधारात्मक सिद्धान्त।

---

१ Punishment is some sort of social censure.
—M. J. Sethna : Society and Criminals, p. 205

२ देखें अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ४, पृ. २४२१ पर प्रसंगानुसार दण्ड के ११ अर्थ हैं।

बदला लेने का सिद्धान्त (Retributive Theory)—इस प्रकार के दण्ड में प्रतिशोध की भावना प्रमुख होती है। Old Testament में इस सिद्धान्त को आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत (an eye for an eye and a teeth for a teeth) कहकर बतलाया गया है।[1]

अरस्तू इस प्रकार के दण्ड को ऋणात्मक पुरस्कार (Negative reward) कहता है। हीगेल, काण्ट, ब्रैडले आदि इसी सिद्धान्त के समर्थक हैं।

जेम्स स्टीफेन कहता है—"दण्ड और प्रतिकार का वही सिद्धान्त है जो प्रेम और विवाह का है।"[2]

ये सभी विचारक दण्ड को प्रतिकार मानते हैं।

बोसांके ने इस सिद्धान्त की दो विशेषताएँ बताई हैं, प्रथम—दण्ड अपराध के बराबर होना चाहिए और दूसरी व्यक्तिगत बदले (revenge) को दण्ड के साथ मिला दिया जाता है।

इस सिद्धान्त के दो रूप हैं—कठोर और मृदु। कठोर सिद्धान्त के समर्थक कठोर दण्ड देना उचित समझते हैं और मृदु सिद्धान्त के समर्थक मृदु अथवा हल्का दण्ड देने में विश्वास करते हैं।

यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है, क्योंकि बदले की भावना व्यक्ति में सुधार की भावना की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ती अपितु हिंसा तथा अराजकता का वातावरण निर्मित करती है।

जैन नीति के अनुसार तो यह हिंसा की परम्परा है, जो जन्म-जन्मान्तर तक चलती है, अतः सर्वथा त्याज्य है। हिंसा के प्रत्यय में यह संकल्पी हिंसा है, जान-बूझकर, योजनाबद्ध तरीके से किसी को कष्ट देना, अंग-भंग करना अथवा प्राण हनन करना है जो नैतिक सद्गृहस्थ कभी नहीं करता।

(२) **निवर्तनवादी सिद्धान्त** (Preventive Theory)—इस सिद्धांत के अनुसार दण्ड इसलिए दिया जाता है कि अपराधी भविष्य में अपराध न करे तथा अन्य व्यक्तियों को भी अपराध न करने की प्रेरणा मिले। इसका सीधा सा अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को रुपया चुराने के लिए दण्ड नहीं दिया जाता अपितु इसलिए दिया जाता है कि भविष्य में चोरियां न हों।

---

१ डा. रामनाथ शर्मा : नीतिशास्त्र के सिद्धान्त, पृ. ३१७

२ Criminal procedure is to resentment what marriage is to affection. —Sir James Stephen

व्यावहारिक दृष्टि से यह सिद्धांत गलत है। जो लोग नैतिक जीवन व्यतीत करने की स्वयं ही इच्छा रखते हैं, उनके लिए इस प्रकार के उदाहरण से कोई लाभ नहीं और अपराधी मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों के लिए ऐसे उदाहरण व्यर्थ हैं।

जैन नीति भी इस प्रकार के उदाहरणों का समर्थन नहीं करती; क्योंकि इसकी दृष्टि में व्यक्ति स्वयं ही साध्य है, किसी अन्य के लिए साधन रूप में उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

(३) सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का प्रयोजन व्यक्ति को सुधारना है। आधुनिक युग में यही सिद्धान्त अधिकांशतः मान्य है।

अपराध मानवशास्त्र (Criminal Anthropology) के अनुसार अपराध एक मानसिक उद्वेग है और उसकी चिकित्सा होनी चाहिए, न कि अपराधी को पीड़ित और दण्डित किया जाना चाहिए, इससे तो उसका मानसिक उद्वेग और तीव्र होगा तथा वह अधिक एवं और भी उग्र अपराध करेगा, साधारण जेबकतरे से डाकू/लुटेरा बन जायेगा।

अपराध समाजशास्त्र (Criminal Sociology) अपराध के लिए सामाजिक परिस्थितियों को दोषी मानता है। इसकी धारणा है—यदि सामाजिक परिस्थितियों में वांछित सुधार लाया जा सके तो अपराधों में स्वयं ही कमी हो जायेगी अथवा वे समाप्तप्राय हो जायेंगे।

मनोविश्लेषणवादी (Psycho-analyst) अपराधों के लिए मानव की दमित मनोग्रन्थियों (repressed complexes) को उत्तरदायी मानते हैं। इनका सबसे बड़ा समर्थक फ्रायड (Freud) है। अन्य मनोविश्लेषणवादी विचारक भी इसी मत का समर्थन करते हैं। इनके अनुसार दमित वृत्तियों के शोधन (sublimation) और मार्गान्तरीकरण से अपराधों को निःशेष किया जाना सम्भव है।

यद्यपि इन तीनों वादों के भी अपने गुण दोष हैं, फिर भी दण्ड निर्धारण के समय यह विचारणीय तो हैं ही।

जहां तक मानसिक उद्वेगों का प्रश्न है, ऐसे अपराधी नगण्य ही होते हैं। यद्यपि यह माना जा सकता है कि सामाजिक परिस्थितियां बहुत अंशों तक अपराधों के लिए उत्तरदायी हैं। एक अभावग्रस्त व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली चोरी के लिए ये उत्तरदायी हो सकती हैं किन्तु सफेदपोश

(while collar) अपराधियों के लिए क्या कहा जाय ? इनके पास तो सभी साधन हैं, धन है, सामाजिक परिस्थितयां अनुकूल हैं, कार-बंगला सभी कुछ हैं फिर भी वे कर-चोरी, स्मगलिंग, अनुचित कमीशन लेना आदि अपराध करते हैं।

दमित मनोग्रन्थियाँ भी अपराधों का एक कारण हो सकती हैं, किन्तु सभी अपराधी इसी वर्ग के नहीं होते।

इतना होने पर भी सुधारवादी सिद्धान्त शेष दोनों सिद्धान्तों से अधिक श्रेष्ठ है। इसी सिद्धान्त के प्रभाव से आधुनिक युग में प्राणदण्ड (Capital Punishment) को उपयुक्त नहीं माना जाता।

यद्यपि प्राणदण्ड के पक्ष में अनेक तर्क दिये जाते हैं—सिसली. एम. क्रेवन (Cicely M. Craven) के अनुसार प्राणदण्ड का प्रयोजन भय दिखाकर अपराधों को रोकना है। वह इसे प्रतिरोधक भी मानता है। कुछ विद्वानों ने इसे कम खर्चीला तथा कम कष्टदायक भी बताया है। विक्टर ह्यूगो (Victor Hugo) की धारणा है कि मृत्युदण्ड समाप्त होते ही समाज का नाश हो जायेगा और गैरोफैलो (Garofalo) तो प्राणदण्ड को समाज की भलाई के लिए नैतिक युद्ध के रूप में देखता है।

यह सब तर्क अपनी जगह हैं, लेकिन प्राणदण्ड का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें अपराधी के सुधार का कोई अवसर ही नहीं है।

यद्यपि जैन साहित्य में अनेक प्रकार के अपराधियों का वर्णन आता है किन्तु जैन दण्डनीति ने सदा ही सुधारात्मक सिद्धान्त को उचित माना है।

जैन नीति का प्रारम्भ ही हाकार, माकार और धिक्कार नीति से हुआ जिसमें व्यक्ति को किसी प्रकार का दण्ड न देकर सिर्फ उसके सुधार की भावना निहित है।

सुधार में ही जैन नीति का विश्वास है। इसका कारण यह है कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक भव्य आत्मा, चाहे वर्तमान में कितनी भी पतित दशा में क्यों न हो, वह उन्नति करेगी और अपने अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त करेगी। और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति आवेग-संवेग में सुधार आना, मोक्षलक्ष्यी होना अनिवार्य है।

जैन आचार ग्रन्थों में 'निशीथ सूत्र' एक दण्डशास्त्र है जिसे जैन शब्दावली में 'प्रायश्चित्त' कहा गया है। किस प्रकार की भूल या मर्यादा विरुद्ध आचरण होने पर किस प्रकार का दण्ड—प्रायश्चित्त देना—यही इस सूत्र का मुख्य विषय है। किन्तु इसमें जो सबसे महत्वपूर्ण बात है, वह यह

है कि—दण्ड दिया नहीं जाता। अपनी भूल व मर्यादाविरुद्ध; नियम-भंग के प्रति व्यक्ति के हृदय में स्वयं पश्चात्ताप होता है और भविष्य में भूल या अपराध न करने का संकल्प जाग्रत होता है तब वह आचार्य या अनुशास्ता के समक्ष दण्ड लेने के लिए स्वयं ही उपस्थित होता है।

इस प्रकार जैन नीति में कर्तव्य की अवधारणा पर विशेष बल दिया गया है और उसी के साथ अधिकार तथा दण्ड को भी संलग्न किया गया है।

आधुनिक विद्वानों ने अपराध के (१) प्राकृतिक अशुभ (Natural Evil) (२-३) बौद्धिक बुराई अथवा भ्रान्ति (Intellectual evil or error) (४) नैतिक अशुभ (moral evil), (५) अधर्म (vice) (६) पाप (sin) और (७) अपराध (crime)—यह सात भेद बताये हैं और इनमें से प्राकृतिक अशुभ तथा भ्रान्ति के लिए मानव को उत्तरदायी नहीं माना है।

लेकिन जैन नीति में इन सातों भेदों की गणना अपराध में की गई है। प्राकृतिक अशुभ जो कि भूकम्प, अकाल आदि के रूप में सामने आता है, इसका कारण व्यक्तियों की अनैतिक वृत्तियों को माना गया है। जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति में स्पष्ट कहा गया है कि वासुदेव, बलदेव, तीर्थंकर आदि विशिष्ट व्यक्तियों के पुण्य प्रभाव से सागर आदि प्राकृतियाँ शक्तियाँ अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करतो हैं।

इसका फलितार्थ यह है कि जिस काल में मानवों में अनैतिक प्रवृत्तियाँ सीमातीत हो जाती हैं तो प्रकृति भी अपनी मर्यादा को त्याग देती है। वह सुखदायी होने की अपेक्षा मानव के लिए दुःखप्रद और कष्टकर हो जाती है। ऐसा विश्वास भारतीय जनता में व्याप्त है।

इसी प्रकार जैन दर्शन में भ्रान्ति को मिथ्यात्व कहा गया है। वैदिक दर्शन में इसे अविद्या कहा गया है। और सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में मिथ्यात्व अथवा अविद्या को अनैतिक माना गया है। यहाँ तक कि भ्रान्त चित्त व्यक्ति को तो नैतिकता का स्पर्श भी स्वीकार नहीं किया है, उसे घोर अनैतिक माना गया है।

जैन नीति के अनुसार सभी प्रकार के अपराध, कर्तव्यों का उल्लंघन अथवा दुरुपयोग तथा अधिकारों का अनुचित प्रयोग, पर-पीड़न आदि अनैतिकता है और कर्तव्यों तथा अधिकारों का सदुपयोग, सेवा, सहयोग आदि नैतिकता है।

३

नीति की सापेक्षता और निरपेक्षता

(RELATIVITY AND NON-RELATIVITY OF MORALITY)

नीति अथवा नैतिकता की सापेक्षता और निरपेक्षता मनीषियों के चिन्तन का शाश्वत विषय रही है।

निरपेक्षता का अभिप्राय है नीति के वे नियम जो शाश्वत हों, सार्वभौम हों, स्थायी हो और जिनमें देश-काल की परिस्थितियों, व्यक्ति की स्थितियों आदि किसी भी कारण से कोई भी किसी भी प्रकार का किंचित् भी परिवर्तन न हो।

इसके विपरीत सापेक्षता का अर्थ ऐसे नीति नियमों से है जो व्यक्ति, परिस्थिति, युग और देश-काल के अनुसार परिवर्तित होते हैं।

भारतीय और संसार के अधिकांश नीति-मनीषी नैतिक नियमों को सापेक्ष मानते हैं। सिर्फ काण्ट ही ऐसा दार्शनिक है जो नीति और नैतिक नियमों को निरपेक्ष मानता है। वह नैतिक नियमों को निरपेक्ष आदेश (Categorical Imperatives) कहता है, जिनमें अपवादों को कोई स्थान ही नहीं है। वह कहता है—'तुम केवल उसी सिद्धान्त का आचरण करो जिसे तुम इसी समय सार्वभौम बन सको।'

इसी कारण काण्ट के सिद्धान्त को कठोरतावाद (Rigorism) कहा गया है।

उसके अतिरिक्त हॉब्स, मिल, ब्रैडले आदि विचारक नीति को सापेक्ष मानते हैं।

भारतीय चिन्तनधाराओं में वैदिक और बौद्ध विचारणा नैतिक नियमों को सापेक्ष स्वीकार करती है।

नैतिक नियमों (कर्मों) की अपवादात्मकता और निरपवादात्मकता की चर्चा के स्वर वेदों, स्मृति ग्रन्थों, पौराणिक साहित्य में स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं।[1]

पश्चिमी नीति-चिन्तक तो अकाल के समय, जब भीख माँगने पर दाना भी न मिले तो क्षुधा तृप्ति के लिए चोरी करना जैसे अनैतिक कर्म को क्षम्य[2] कहता है और मिल इसे कर्तव्य[3] मानता है। सिजविक सच बोलने को नैतिक कर्तव्य मानते हुए राजनीतिज्ञों द्वारा अपनी कार्यवाहियों को गुप्त रखना उचित[4] मानता है। अरविन्द घोष यद्यपि योगी थे, किन्तु उनकी भी मान्यता लगभग इसी प्रकार की थी, वे कहते हैं—किसी को क्या अधिकार है हमारे निजी जीवन के विषय में जानने का ? हम कौन-सी साधना करते हैं और किस प्रकार करते हैं, इस विषय में किसी को कुछ पूछना ही नहीं चाहिए और यदि वह अधिक आग्रह करता है तथा हम उसे योग्य पात्र नहीं समझते तो हमें मौन हो जाना चाहिए, अथवा टाल देना चाहिए।[5]

अमेरिक मनीषी टफ्ट के विचार तो और भी कठोर हैं। वह कहता है—जो नैतिक सिद्धान्त नैतिक प्रत्ययों का अर्थ यथार्थ परिस्थितियों से अलग हटकर करना चाहते हैं, वे वस्तुतः शून्य में विचरण करते हैं।[6]

नैतिकता की सापेक्षता-निरपेक्षता के विषय में डा० भोलानाथ तिवारी का कथन संतुलित है। वह लिखते हैं—

नीति की कुछ बातें सामयिक महत्व की होती हैं और कुछ शाश्वत महत्व की। सामयिक नीति अस्थायी होती है और युग या काल की परिस्थिति के अनुकूल इसका विकास या ह्रास होता है तथा इसमें परिवर्तन होते हैं। सार्वकालिक या शाश्वत नीति में प्रायः परिवर्तन नहीं होता।

---

१ लोकमान्य तिलक : गीता रहस्य, कर्म जिज्ञासा, अध्याय २

२. Leviathan

तुलना करिए—बुभुक्षितैः किं न करोति पापं।

३. यूटिलिटिरियेनिज्म, अध्याय ५, पृ० ६५

४. नैतिक जीवन के सिद्धान्त, पृ० ५६

५. Quoted by Shishir Kumar Gupta : Vision of India.

६. श्री सागरमल जैन : जैन, बौद्ध, गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृ० ५८

'सच बोलना चाहिए','जीवों पर दया करनी चाहिए','गर्व करना निन्द्य है,' —शाश्वत नीति हैं। ये बातें जाने कब से मान्य हैं और संभवतः सर्वदा रहेंगी। दूसरी ओर 'युद्ध में प्राण देना ही जीवन की सार्थकता है, या 'नारी नरक का द्वार है' जैसी नीतियाँ अशाश्वत या सामयिक हैं। मध्य युग में जब युद्धाधिक्य था, तथा भक्त या उनसे प्रभावित कवि अपनी दुर्बलता को नारी पर थोपकर पुरुष की उच्चता का निराधार डंका पीट रहे थे, इन दोनों का विकास हुआ और आज समय इतना परिवर्तित हो गया है कि इनकी मान्यता बिल्कुल समाप्त है।[1]

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। श्री जे० एन० सिन्हा ने ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं—पूर्वी समुदायों में बहुविवाह पद्धति प्रचलित थी। इसमें एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता था। इसे बहुपत्नी प्रथा (polygamy) कहा गया। दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में बहुपति प्रथा (polyandry) थी। इन दोनों प्रथाओं के उदाहरण भारत में भी मिल जाते हैं। द्रौपदी ने पाँच पति किए थे और यही परम्परा अल्मोड़ा के पास जौनसार बावर में अब भी प्रचलित है। बहुपत्नी प्रथा से तो तमाम पुराण भरे पड़े हैं और अब भी कहीं-कहीं मिल जाती है। मुसलमानों में तो यह अब भी प्रचलित है, किन्तु हिन्दुओं के लिए एक पत्नी का कानून स्वतन्त्र भारत की सरकार के बना दिया है। जबकि पश्चिमी देशों में सामान्यतः एक पत्नी-प्रथा की परम्परा रही है।

इसी प्रकार विवाह सम्बन्धी और भी विधि-निषेध विभिन्न समुदायों में रहे हैं।

भोजन संबंधी विविधता भी है। पश्चिमी देशों में रात्रि के भोजन के समय शराब का सेवन अनिवार्य अंग है; जबकि भारत में ऐसी परम्परा नहीं रही है।

आचार-विचार संबंधी ऐसे ही अनेक भेद एक ही समुदाय और परम्परा में रहे हैं।

यद्यपि सापेक्षता व्यवहार्य है इसके बिना काम नहीं चलता, जीवन-निर्वाह में उपयोगी है किन्तु इसमें कुछ दोष हैं—

(१) सापेक्षता साधनों पर अधिक बल देती है।

(२) यह कर्म के बाह्य रूप को ही सब कुछ मान लेती है।

१- डा० भोलानाथ तिवारी : हिन्दी नीतिकाव्य पृ० ५

(३) यह कर्म के आन्तरिक स्वरूप की उपेक्षा करती है।

(४) यह समाज की विभिन्नता और विविधता पर तो दृष्टि केन्द्रित करती है किन्तु उसमें अनुस्यूत एकता की उपेक्षा कर देती है।

(५) नैतिक सापेक्षता का अनुसरण करने से नैतिक मानव की एकरूपता और नैतिक नियमों की सार्वभौमता समाप्त हो जाती है, अतः नैतिक निर्णयों में बाधा उपस्थित होती है।

(६) यह बाह्य परिस्थिति पर ही दृष्टि रखती है, अतः संकल्प-स्वातन्त्र्य के लिए बाधक है, आत्म-स्वातंत्र्य भी समाप्त हो जाता है।

(७) इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि नैतिक नियमों में शिथिलता आ जाती है। व्यक्ति सुविधाप्रिय तो है ही, वह परिस्थिति के अनुसार अपने नैतिक नियमों को भी ढाल लेता है।

इस प्रकार नैतिक निरपेक्षता में प्रमुख दोष कठोरता का है तो नैतिक सापेक्षता में सबसे बड़ा दोष शिथिलता का है। इस प्रकार पृथक-पृथक रूप से दोनों ही दोषपूर्ण हैं, एकांगी हैं।

जैनदृष्टि—जैनदृष्टि इस एकांगी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करती, वह नैतिक निरपेक्षता और सापेक्षता को उचित महत्व देती है। इसके लिए जैन दर्शन में निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि—दो शब्द दिये गये हैं। नीति की अपेक्षा निश्चय दृष्टि का अभिप्राय है नैतिक निरपेक्षता और व्यवहार दृष्टि है नैतिक सापेक्षता।

निरपेक्षता स्वगत (Subjective) है और सापेक्षता विषयीगत अथवा वस्तुगत (Objective)। व्यक्ति स्वयं के विषय में, स्वयं अपने कार्यों, मनोभावों संकल्पों के विषय में बाह्य परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर निर्णय ले सकता है; किन्तु अन्य व्यक्तियों के कार्यों के विषय में निर्णय लेने के लिए उसे बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा आवश्यक है, क्योंकि दूसरे व्यक्ति के मनोभावों का जानना उसके लिए शक्य नहीं है।

यह कहा जा सकता है कि सत्य बोलना शाश्वत नीति है, अपरिवर्तनीय है, कहा भी यह जाता है कि सदा सत्य बोलना चाहिए। सत्य बोलना निरपेक्ष नीति है, इसका कठोरतापूर्वक पालन करना चाहिए।

लेकिन इसके साथ-साथ यह भी यथार्थ है कि नग्न सत्य बहुत ही कटु और भद्दा होता है। राजा हरिश्चन्द्र द्वारा पत्नी से आधा कफन माँगना, सत्यव्रत पालन का अभद्ररूप प्रदर्शित करना ही है। इसी प्रकार

काणे को काणा[1] कहना भी अभद्रता है। इसीलिए इस पराकाष्ठा तक सत्य का पालन अव्यवहार्य है।

नीति में भी कहा गया है—अति सर्वत्र वर्जयेत्। एक चिन्तक ने भी कहा है—सद्गुण सीमा का उल्लंघन करने के उपरान्त दुर्गुण बन जाते हैं।

इसीलिए भगवान महावीर ने सत्य के विषय में कहा है—

सच्चं च हियं च मियं च गाहणं।[2]

(सत्य हितकारी, मित—अल्प शब्दों वाला और श्रोता द्वारा ग्रहण करने योग्य होना चाहिए।)

यह भगवान महावीर की सापेक्ष (समाज सापेक्ष तथा व्यवहार सापेक्ष) दृष्टि थी। एक वैदिक नीतिकार ने भी सत्य का यही रूप बताया है—

सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियं

(सत्य बोलो, प्रिय बोलो, किन्तु अप्रिय सत्य मत बोलो।)

यद्यपि जैन नीति व्यवहार-पक्ष पर सापेक्षता को मान्यता देती है किन्तु यह सापेक्षता सर्वथा निरंकुश और सर्वतंत्र-स्वतंत्र नहीं है, इसमें निरपेक्षता का सूत्र अनुस्यूत है।

यह सत्य है कि सापेक्षता नैतिक नियमों में शिथिलता की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है इसीलिए जैन नीतिमान्य सापेक्षता निरपेक्षता के आश्रित है। निरपेक्ष आधारित सापेक्षता ही नैतिक बन पाती है।

अधिकांश स्थितियों में व्यक्ति अपने स्वयं के लिए नैतिक निरपेक्षता के आधार पर निर्णय कर सकता है। यथा—वह अनशन करना चाहता है तो वह बिना किसी अन्य बात का—व्यावहारिक परिस्थितियों का विचार किये अनशन कर सकता है। इसी प्रकार हिंसा आदि पापों से निवृत्ति कर सकता है।

लेकिन अन्य लोगों को किसी व्रत या नियम का पालन कराने में अथवा उन्हें ऐसी प्रेरणा देने में उसे सापेक्ष दृष्टि रखना आवश्यक है, सापेक्षता के बिना उसका सफल होना कम संभव है।

---

१. दशवैकालिक, अध्ययन ७।

२. प्रश्नव्याकरण सूत्र, संवरद्वार, अध्ययन २

यही कारण है कि मुनिजन श्रोताओं को सर्वविरति—महाव्रतों को ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं; किन्तु यदि व्यक्ति महाव्रतों को ग्रहण करने में सक्षम नहीं होता तो अणुव्रतों के पालन की—नैतिक सद्गृहस्थ बनने की प्रेरणा देते हैं।[1]

जैन-नीति की सापेक्षता अनेक कोटियों में संचरित होती है।

एक उपनय है—

एक राजा ने किसी अपराध के कारण एक श्रेष्ठी के ६ पुत्रों को प्राणदण्ड दे दिया। श्रेष्ठी ने राजा से पुकार की, बहुत अनुनय-विनय के बाद राजा ने एक पुत्र को क्षमादान दिया।

इसी प्रकार जैन-नीति भी निरपेक्षता को श्लाघ्य मानती है और अपेक्षा करती है कि नैतिक नियमों का कठोरतापूर्वक पालन किया जाना चाहिए, उनमें किसी प्रकार का दोष सेवन नहीं करना चाहिए, किंचित् भी शिथिलता नहीं आनी चाहिए।

किन्तु वह व्यवहार की भी—परिस्थितियों की भी अवहेलना नहीं करना चाहती, क्योंकि नैतिक व्यक्ति—चाहे वह नैतिक चरमोत्कर्ष की स्थिति पर पहुँच चुका हो, संसार-त्यागी श्रमण बन चुका हो फिर भी उस का संसारी जनों से थोड़ा या बहुत सम्पर्क रहता ही है। अणुव्रती साधक और नैतिक सद्गृहस्थ तो संसार में रहते ही हैं। फिर वे सांसारिक प्रवृत्तियों, देश-काल समाज की स्थिति-परिस्थितियों से निर्लिप्त कैसे रह सकते हैं? इन सबके नैतिक नियमों का पालन संसार-सापेक्षता में ही सम्भव है।

इसीलिए श्रमण साधना में अपवाद और अणुव्रतों की साधना में अतिचारों को स्थान दिया गया है।

ब्रह्मचर्य महाव्रतधारी श्रमण स्त्री का स्पर्श तो क्या मन से भी उसका चिन्तन नहीं करता; किन्तु वही श्रमण नदी में डूबती साध्वी को बचाकर तट पर ला सकता है। पर्वत से फिसली साध्वी का (महिला) हाथ पकड़ कर उबार सकता है।

इसी प्रकार अणुव्रती गृहस्थ एक कीड़ी की निरर्थक हिंसा नहीं करता; किन्तु शत्रु द्वारा देश पर आक्रमण किये जाने की संकट की घड़ी में शत्रु के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध कर सकता है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, चित्त संभूइज्जं, १३ वां अध्ययन

अतः यह कहा जा सकता है कि जैन नीति की सापेक्षता बड़ी बुराई में से छोटी बुराई को चुनने की अनुमति प्रदान करती है।

किन्तु उसके पीछे उद्देश्य पवित्र होना चाहिए, यह अनिवार्य है।

राम ने रावण के विरुद्ध युद्ध किया, उसमें लाखों मानवों का संहार हुआ। इस युद्ध का कारण सीता को रावण के फन्दे से मुक्त कराना तो था ही; लेकिन मुख्य उद्देश्य था—स्त्री अपहरणकर्ता को दण्ड देना।

पराई स्त्री का अपहरण बड़ी बुराई है, घोर अनैतिकता है, इस अनैतिकता को रोकने के लिए श्रीराम ने रावण से युद्ध किया। जिसे पुराणों में धर्मयुद्ध कहा गया है।

ऐसी ही स्थिति वैशाली गणतन्त्र के राजा चेटक के समक्ष आ गई थी। उन्हीं के नवासे कूणीक ने अपने सगे भाइयों—हल्ल विहल्ल से उनके पिता द्वारा प्रदत्त हार और हाथी को छीनना/अपहरण करना चाहा। हल्ल विहल्ल भागकर नाना चेटक की शरण में चले गये।

आखिर अपहरणकर्ता कूणीक के विरुद्ध राजा चेटक को युद्ध का निर्णय लेना पड़ा। उनका भी यह निर्णय नैतिक था।

इसी प्रकार दुर्योधन ने अपने अभिमान और हठ के कारण पांडवों पर युद्ध थोप दिया। आखिर पांडवों ने युद्ध किया। उनका पक्ष नैतिक होने के कारण उनकी विजय हुई।

नैतिक सापेक्षता ऐसा प्रत्यय है जो मानव जीवन में आवश्यक है। श्री अरविन्द घोष के विचार इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अपनी योग मिश्रित आध्यात्मिक भाषा में इसे नीति का मानक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता (Moral Standard and Spiritual Freedom) का नियम कहा है।

इस नियम का स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया जा सकता है।

नैतिक मानक (Standard) मानव मानस की सृष्टि है जो अज्ञान (Ignorance) के नियम से परिचालित होता है। मानव का मानस अहं (Ego) बुद्धि से परिचालित होता है। अतः मानव की नीति का मानक सर्वप्रथम समाज की रीति (Customs of folklore of society) होता है। तत्पश्चात् यह मनुष्य के अन्तःकरण का आत्मगत आदेश अथवा विधि होता है। इसके पश्चात् यह मनुष्य की व्यक्तिगत बुद्धि का निरपेक्ष आदेश Categorical imperative) होता है। परन्तु यह भी मनुष्य मन की सृष्टि

है। यह सार्वभौम, सामान्य, ईश्वरीय नियम नहीं है। जब कोई व्यक्ति साधना से व्यक्तिगत मानस का अतिक्रम करके अति-मानस (Super-mind) के स्तर की स्थिति को प्राप्त करता है, तब ईश्वरीय, सार्वभौम, निरपेक्ष नियम (absolute divine law) से स्वतः चालित होता है। वह यथार्थ ईश्वरीय निरपेक्ष स्वातन्त्र्य (absolute freedom) में भाग लेता है। इस तात्विक दृष्टि से मनुष्य की नीति सापेक्ष है।[1]

श्री अरविन्द घोष के उक्त विचारों से यह प्रतिफलित होता है कि मानव-मन द्वारा निर्धारित जो नीति और नैतिक नियम हैं वे सापेक्ष हैं। मन से उनका अभिप्राय संवेगात्मकता और बुद्धिपरक आत्मा है तथा जब आत्मा इस स्तर से ऊपर उठकर ज्ञानात्मा बन जाता है तब उसके द्वारा निर्धारित नीति निरपेक्ष होती है।

जैन नीति में भी इस विचारधारा को स्थान मिला है। वहाँ छठे[2] गुणस्थान तक जितनी भी कायिक वाचिक प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे अधिकांश सापेक्ष हैं और मानसिक क्रियाएँ—संकल्प, ध्यान-जप आदि निरपेक्ष है।

नीति, वास्तव में निरपेक्ष-सापेक्षात्मक है। जैन नीति की निरपेक्षता में सापेक्षता समाई हुई है तो सापेक्षता में निरपेक्षता अनुस्यूत है।

पुनश्च, निरपेक्षता की कोटियाँ अथवा श्रेणियां नहीं है, वह सदा एकरस है, absolute है; जबकि सापेक्षता की अनेक श्रेणियाँ हैं। सापेक्षता का हार्द है—बुराई को सर्वदा त्यागना और यदि परिस्थितियों की जटिलता के कारण ऐसा न हो सके तो बड़ी बुराई को छोड़ देना और छोटी बुराई को कुछ समय के लिए ग्रहण करके फिर उसे भी त्यागकर शुभ की ओर प्रवृत्त होना और नैतिक शुभ (moral good) से परम शुभ की प्राप्ति (utmost good) हेतु गतिशील रहना।

जैन नीति नैतिक सापेक्षता के प्रत्यय में उदार है। इसके अनुसार सैद्धान्तिक पक्ष, निरपेक्ष नैतिकता है और आचरण पक्ष सापेक्ष नैतिकता।

---

१. The Synthesis of Yoga, ch. VII, 1953

२. देखिये; इस पुस्तक का अध्याय—"आध्यात्मिक उत्कर्ष का नीति-मनोविज्ञान।

उदाहरणतः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि नियम सिद्धान्तः नैतिकता के निरपेक्ष रूप हैं, जब कि इनका व्यवहारतः पालन सापेक्ष नैतिकता की अपेक्षा रखता है।

इसी प्रकार कहा जा सकता है कि साध्य अथवा नैतिक आदर्श निरपेक्ष होता है, जबकि उस साध्य अथवा नैतिक आदर्श का प्राप्ति का साधना-मार्ग, पुरुषार्थ, आदि नैतिक सापेक्षता हैं।

संक्षेप में, जैन नीति के अनुसार निश्चय दृष्टि निरपेक्ष नैतिकता है और व्यवहार दृष्टि अथवा व्यावहारिक आचार-विचार, क्रिया-कलाप नीति-सापेक्ष पहलू है।

जैन-नीति के अनुसार निरपेक्षता और सापेक्षता दोनों का समन्वित रूप ही नैतिकता की संपूर्णता है।

४

समस्याओं के समाधान में— जैन नीति का योगदान

मानव जब तक प्रकृति की गोद में खेलता रहा, उसका जीवन बहुत अधिक सुखी और शान्त था, न कोई समस्या, न कोई संघर्ष, सब कुछ सुहावना। प्रकृतिदत्त फलों का उपभोग उसे तृप्त कर देता और प्राकृतिक सौन्दर्य सुषमा उसके हृदय में मोद भर देती थी।

लेकिन ज्यों ही प्राकृतिक साधन क्षीण व अपर्याप्त होने लगे, मानव का सम्पर्क उससे छूटता चला गया और उस रिक्त हुए स्थान को भरा संघर्षों ने, समस्याओं ने, अशांति ने। शान्त मानव-मन क्षुब्ध हो उठा।

उस शांति को पाने के लिए मानव ने स्त्री से सहयोग की कामना की, सहधर्मिणी के रूप में उसका वरण किया, परिवार का निर्माण किया, लेकिन शांति तब और दूर किनारा कर गई, उसके कन्धों पर बच्चों के पालन-पोषण का बोझ भी आ पड़ा।

बच्चों की शिक्षा के लिए गुरुकुलों का निर्माण किया, योग्य, चरित्रवान, गुणी व्यक्तियों को कुलपति बनाया; लेकिन गुणी और गुणवानों का आदर करने वाले विरले ही होते हैं। कुलपतियों में संघर्ष चलने लगा, उन की ईर्ष्या रंगीन हो उठी।[1] परिणामतः मानव का क्षोभ तथा उद्वेग और बढ़ गया, बढ़ता ही गया।

उसने पारस्परिक सहयोग के लिए समाज का निर्माण किया; लेकिन समाज ने उस पर रूढ़ियों के—परम्परा के बन्धन लगा दिये। शांति का इच्छुक मानव सामाजिक बन्धनों में जकड़ गया, और भी दुःखी संतप्त हो गया।

---

१ वैदिक ग्रन्थों में वशिष्ठ और विश्वामित्र का विरोध प्रसिद्ध है।

इससे त्राण पाने के लिए उसने राजा बनाया[1], राज संस्था का निर्माण किया और अपने सारे अधिकार राजा को सौंप दिये। लेकिन कुछ समय बाद ही राजा ने कर-भार से मानव को त्रस्त कर दिया। उसके श्रम का छठा भाग कर के रूप में वसूल करने लगा।

मानव ने एकतंत्र को कुलीन-तंत्र में परिवर्तित करके सोचा कुछ शान्त मिलेगी; किन्तु कुलीन-तंत्र ने सदाचारी और विद्वानों को जहर का प्याला ही पिला दिया[2]।

मानव और भी दुखी हो उठा। उसने प्रजातन्त्र की स्थापना की; किन्तु यह तो गुण्डों का खेल ही प्रमाणित होने लगा[3]। मानव के दुःख की सीमा न रही। जन-नेता ही परस्पर वाक्‌युद्ध और गाली-गलौज करने लगे। परछिद्रान्वेषण और परदोषारोपण सामान्य हो गया। चरित्र-पतित हो गया। आर्थिक दृष्टि से भी मानव का पतन हो गया।

अर्थ सम्बन्धी समस्या के समाधान के लिए मानव ने पूंजीवाद के विरुद्ध समाजवाद और साम्यवाद की स्थापना की। लेकिन साम्यवाद ने मानव अर्जित अधिक सम्पत्ति का स्वामी राज्य को ही बना दिया। Surplus का स्वामी राज्य बन गया और मानव की स्वतन्त्रता—सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, सभी प्रकार की स्वतन्त्रता छिन गयी। वह व्यवस्था का एक पुर्जा मात्र बनकर रह गया।

समस्या का चक्र घूमता हुआ हजारों वर्ष पहले के युग में पहुँच गया जिस राज्य के चंगुल से मानव छूटना चाहता था, घूम-फिर कर उसी फन्दे में जकड़ गया।

यही सब देखकर वाल्टेयर ने कहा—मानव-शिशु स्वतन्त्र जन्म लेता है किन्तु जीवन भर विभिन्न प्रकार के बंधनों में जकड़ा रहता है और उन्हीं बंधनों में उसका अन्त हो जाता है।

इन सब समस्याओं के समाधान के लिए मानव ने धर्म-संस्था की स्थापना की और उसकी शरण में शान्ति की, न्याय की, बलवती आशा की डोर बाँधी।

---

१. वैदिक पुराण महाभारत के अनुसार जनता ने मनु को राजा चुना था और अपने सारे अधिकार उन्हें सौंप दिये थे।

२. यूनान के प्रबुद्ध चिन्तक प्लेटो को कुलीन तन्त्र ने विष का प्याला पिलाया था।

३. Democracy is the game of scoundrels.

—Bertrand Russell

लेकिन वहाँ भी एक शाश्वत धर्म के अनेक सम्प्रदाय बन गये। मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना के अनुसार धर्म-संस्थापकों की जैसे बाढ़ ही आ गई। इनके भक्तों को धर्म का ऐसा जनून चढ़ा कि जिहाद[1] और Crusaders के युद्ध होने लगे, रक्त की नदियाँ बहाई जाने लगीं। मानवता संतप्त हो उठी।

जिस सुख-शांतिपूर्ण जीवन और न्याय-नीतिपूर्ण पारस्परिक व्यवहार की कामना मानव ने की; वह धूल में मिल गई और बदले में मिला उसे समस्याओं का अम्बार।

प्राचीन काल से ही मानव समस्याओं से घिरा हुआ है और आधुनिक युग में तो समस्याएँ इतनी जटिल हो गई हैं कि प्रत्येक मानव ही समस्या मानव (Problem man) बन गया है, पग-पग पर समस्याएँ हैं, लेकिन सुलझाव नहीं मिलता।

यह बात नहीं कि मनीषी चिन्तकों ने, धर्म-संस्थापकों ने मानव की समस्याओं के समाधान न खोजे हों। उन्होंने अपनी-अपनी बुद्धि और देश-काल की परिस्थिति से अनुसार समाधान खोजे और मानव के समक्ष प्रस्तुत किये। लेकिन समस्याओं की संख्या और उनकी पेचीदगियों में गुणात्मक वृद्धि होती चली गई। मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की।

यहाँ देखना यह है कि जैन-नीति मानव की समस्याओं का क्या समाधान सुझाती है।

मानव की समस्याओं को प्रमुख रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक (२) आर्थिक और (३) राजनीतिक।

---

१. जिहाद अरबी शब्द है और उसका अर्थ है धर्मयुद्ध और अंग्रेजी शब्द Crusade का अर्थ भी धर्मयुद्ध है। मध्यकालीन एशिया और यूरोप का इतिहास ईसाइयों के Crusade और मुसलमानों के जिहाद से भरा पड़ा है। धार्मिक जनून के कारण दोनों आपस में लड़ते रहे। भारत पर मुस्लिम आक्रमण भी जिहाद का ही एक अंग था।

भारत भी में कमोबेश यही स्थिति रही। मुगल सम्राटों ने तो यहाँ तक घोषित कर दिया—एक श्रमण का सिर लाने वाले को एक सौ स्वर्ण मुद्रा का पुरस्कार दिया जायेगा।

प्रो. मैत्र ने जैन संस्कृति पर एक आक्षेप किया है—कि जैन सूची मे दूसरों से संबन्धित गुणों यथा—परोपकार, सहानुभूतिक सहायता (आपत्ति में सहायता देना) और समाज सेवा को सम्मिलित नहीं किया गया है। इस से ज्ञात होता है कि जैनों का ध्येय समाज-सेवा की अपेक्षा स्वयं अपने सुधार की ओर अधिक है।[1]

लेकिन श्री मैत्र का जैनधर्म-नीति के प्रति यह दृष्टिकोण भ्रान्त है। जैन नीति का लक्ष्य जितना स्वयं व्यक्ति के कल्याण के प्रति है, उस से कहीं अधिक पर-कल्याण के प्रति है।

अब इस कथन के परिप्रेक्ष्य में जैन-नीति द्वारा दिये गये समस्याओं के समाधान के विषय में विचार प्रस्तुत करेंगे।

(१) **व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक समस्याओं के समाधान**—व्यक्ति की प्रमुख व्यावहारिक समस्या, स्वास्थ्य है। इसके विषय में जैन-नीति में व्यावहारिक दृष्टिकोण से में कहा गया है—

जैसे यात्रा का साधन रथ है, वैसे जीवन-यात्रा का साधन शरीर है कुशल सारथी सुखपूर्वक निर्विघ्न यात्रा के लिए रथ की देखभाल करता है, उसी प्रकार व्यक्ति जीवन-यात्रा की निर्विघ्न संपन्नता के लिए शरीर की देखभाल करे, आहार-पानी आदि लेवे।

जवणट्ठाए भुंजिज्जा[2]
जायमायाए भुंजिज्जा[3]

१. हमेशा ही भूख से कम खाए, ऊणोदरी करे, भूख से कम खाना महान तप है, इससे शरीर स्वस्थ रहता है, मन भी प्रसन्न रहता है।

२. अप्पपिण्डासि—पेट से कम खाना शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का सूत्र है।

३. अधिक गरिष्ठ, (घी-बसायुक्त) मीठा, चटपटा, रसीला भोजन न

---

1 "The Jaina list does not include the other regarding virtues of benevolence, succour and social service. This shows that the Jaina virtues aim more at self-culture than at social service."
Prof. Maitra : The Ethics of Hindus, p. 203.

२-३ प्रश्नव्याकरण सूत्र

करे। इससे चर्बी (कोलस्ट्रोल) बढ़ेगी, विकार भी बढ़ेंगे, इस प्रकार शरीर एवं मन दोनों ही बीमार हो जायेंगे।[1]

इनके अतिरिक्त पारिवारिक समस्याओं के समुचित समाधान के लिए भी जैननीति के व्यावहारिक सोपानों में व्यावहारिक सूत्र दिये गये हैं, यथा माता-पिता की सेवा करना, जिनके पालन-पोषण का दायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन पोषण करे। किसी की आजीविका बन्द न करे।[2]

इन गुणों में तो अतिथि, दीन असहाय जनों और साधुओं की सेवा करने की प्रेरणा भी दी गई है। दान, सेवा और सहायता जैन श्रावक के प्रमुख कर्तव्य है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक समस्याओं के समुचित समाधान जैन-नीति में दिये गये हैं।

(२) **राजनीतिक समस्याओं का समाधान**—मध्ययुग तक सामान्य जनता की कोई विशेष राजनीतिक समस्या नहीं थी। उस समय तक सामान्य जनता की यही अवधारणा थी—

कोउ नृप होय हमहिं का हानी ?

किन्तु प्रजातंत्र के प्रचार और राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप हुई जन-जागृति के कारण राजनीति ने अपना प्रसार जन साधारण तक विस्तृत कर दिया। गाँधीजी के शब्दों में—राजनीति ने जनता को नागपाश के समान जकड़ लिया है।[3] और इसका परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक समस्याएँ जनता के समक्ष खड़ी हो गईं।

जैन नीतिकारों ने संभवतः इन सब राजनीतिक परिवर्तनों का पूर्वानुमान लगा लिया था, इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र और हरिभद्र ने सामान्य जनता को नीति दी—कभी राजा की निन्दा न करे।[4]

जहाँ तक राज्य संचालन सम्बन्धी नीति का प्रश्न है तो जैन नीति-

---

१. उत्तराध्ययन १६.

२ विस्तार के लिए देखिए—इसी पुस्तक का 'जैन नीति के व्यावहारिक सोपान' नामक अध्याय।

३ Politics has become the snake girdle of people.—Gandhi

४ आचार्य हेमचन्द्र : योगशास्त्र, प्रथम प्रकाश, श्लोक ४८
अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः।

कार सोमदेव सूरि[1] और आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी पुस्तक अर्हन् नीति[2] में राजा के कर्तव्य और उत्तरदायित्व की विस्तृत विवेचना की है तथा सुराज्य सम्बन्धी नीति-सिद्धान्त निर्धारित किये हैं।

(३) आर्थिक समस्याओं का समाधान—आर्थिक समस्या मानव की चिर कालीन समस्या रही है। भारत ही नहीं, संसार में सर्वत्र और सर्वदा शोषक और शोषित दोनों वर्ग रहे हैं। अधिकार सम्पन्न व्यक्ति, धनी आदि शोषक-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते रहे तो सामान्य जनता शोषित बनी रही।

किन्तु आधुनिक युग में यह समस्या बहुत विकराल हो गई है। इस का प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक युग अर्थयुग है। भर्तृहरि का वाक्य 'सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ति' आज चरितार्थ हो रहा है। आज के युग में धन की ही प्रतिष्ठा है, धनवान ही सर्वगुण सम्पन्न है, उसी को सर्वत्र मान्यता प्राप्त है, उसी का सम्मान है।

जहां तक उपार्जन (धनोपार्जन) का संबंध है, जैन नीति उस पर अंकुश नहीं लगाती; व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र की भौतिक उन्नति में बाधक बनना जैन नीति को इष्ट नहीं है; उसका तो इतना ही मन्तव्य है कि व्यक्ति का वैभव न्याय-सम्पन्न हो, उसके उपार्जन के साधन नीतिपूर्ण हों, उनमें अन्याय-अनीति का सहारा न हो; पाप कर्मों से प्राप्त सम्पत्ति जैन-नीति को इष्ट नहीं है।

इसीलिए श्रावक के लिए कर्मादानों को निषिद्ध बताया गया है; क्योंकि वे अधिक हिंसा के कारण हैं और उनसे असामाजिक वृत्तियों के पनपने की आशंका रहती है, श्रमिक और नियोक्ता में संघर्ष की भूमिका बनती है।

यहाँ तक अर्थात् न्याय-नीतिपूर्ण उपार्जन की सीमा तक आर्थिक समस्या का वातावरण नहीं बनता; आर्थिक समस्या तो तब बनती है और तभी उसकी विभीषिका अनुभव होती है, जब कि धन कुछ हाथों में ही केन्द्रित हो जाय और धनी-निर्धन का भेद अत्यधिक विकट बन जाय, सामान्य जनता तो गरीबी की सीमा रेखा के नीचे ही रह जाय और धनिक जन भोग-विलास-ऐश्वर्य में डूब जायँ।

---

१ सोमदेव सूरि : नीतिवाक्यामृत में राजनीति, संपादक एम. एल. शर्मा

२ आचार्य हेमचन्द्र: अर्हन् नीति, प्रथम एवं द्वितीय अधिकार

ऐसी स्थिति न उत्पन्न हो सके इसके जैन-नीति ने दो उपाय बतायें हैं—दान एवं त्याग। दान एक ऐसी सरिता का रूप है, जिसमें धन कभी संचित नहीं हो पाता, समाज व राष्ट्र में बहता रहता है। जैन-नीतिज्ञों ने तो दान को धन का उज्ज्वल करने वाला कहा है।

दान के आगे की सीमा है त्याग ! इसमें इच्छाओं को सीमित करने तथा असीमित धन संपत्ति को विसर्जन करने का विधान है। जिसे 'इच्छा परिमाण व्रत' कहा है।

इस प्रकार जैन-नीति ने मानव की प्रत्येक समस्या का समुचित समाधान दिया है। इन नीतिवचनों का आचरण करने वाले मानव को कभी अभाव या कष्ट का अनुभव नहीं हो सकता, उसके जीवन में सुख-शांति की सरिता बहती रहेगी, उमंगों के सुमन खिलते रहेंगे, आनन्द की बहारों में वह झूमता रहेगा।

जैन-नीति की विश्व को अनुपम देन

(Unique Legacy of Jaina Ethics to World)

जैन-नीति ने कुछ ऐसे नैतिक प्रत्यय विश्व-मानव को दिये हैं, जो इसके अपने विशिष्ट तो हैं ही, साथ ही मानवता की उन्नति, प्रगति और सुख-शांति के लिए अनिवार्य हैं।

नैतिक निर्णय के आधार

नैतिक निर्णय व्यक्ति के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या रही है। उसका अमुक कार्य नैतिक है अथवा अनैतिक या नीतिविरोधी—इसका निर्णय करना सबके लिए कठिन रहा है। यह समस्या प्राचीन काल में भी थी, आज भी है और संभवतः आगे भी रहेगी।

इस समस्या के व्यावहारिक समाधान के लिए जैन नीतिकारों ने पाँच प्रकार के आधार बताए हैं। आगमों में इन पाँच आधारों को आचार-व्यवहार कहा है। वे हैं—

(१) आगम व्यवहार—धर्मशास्त्रों की दृष्टि से केवलज्ञानियों, मनः पर्यवज्ञानियों, अवधिज्ञानियों और नौ-दस-चौदह पूर्वधारियों का आचार, इनके द्वारा किया हुआ आचरण आगम व्यवहार कहलाता है।

जैन नीति की दृष्टि भी लगभग यही है। इसका कारण यह है कि उपरोक्त विशिष्ट व्यक्तियों का आचरण नीतिसम्मत ही होता है, क्योंकि

विशिष्ट ज्ञानी होने के कारण ये भूत, भविष्य और वर्तमान काल के ज्ञाता होते हैं, नैतिक आचरण उनकी सहज वृत्ति बन जाता है।[1]

(२) श्रुत व्यवहार—धर्मशास्त्रों के दृष्टिकोण से आठ और नौवें (अपूर्ण) पूर्व के ज्ञाता साधकों द्वारा आचरित या प्रतिपादित मर्यादाएँ, व्यवहार श्रुतव्यवहार कहलाता है। इनका संकलन आयार दशा, बृहत्कल्प, व्यवहारसूत्र में भी हुआ है, अतः इन ग्रन्थों में उल्लिखित व्यवहार भी श्रुतव्यवहार ही है।

जैन नीति का भी अभिप्राय ऐसा ही है। अपने किसी भी कार्य की नैतिकता अथवा अनैतिकता के निश्चय के लिए व्यक्ति इन ग्रन्थों में उल्लिखित सिद्धान्तों को प्रामाणिक मानकर अपने व्यवहार का निर्णय कर सकता है।

(३) आज्ञाव्यवहार—धर्म सम्बन्धी व्यवहारशास्त्रों में ऐसा उल्लेख है कि किसी विशिष्ट विषय अथवा व्यवहार/आचरण की धर्मानुमोदना के विषय में शास्त्रों के विशेषज्ञ (गीतार्थ) की आज्ञा प्रमाण रूप से स्वीकार कर लेनी चाहिए। गीतार्थ का अभिप्राय उस विषय के विशिष्ट अधिकारी विद्वान से है।

नैतिक आचरण की ओर गति/प्रगति करने वाले व्यक्ति के हृदय में भी जब अपने किसी आचरण की नैतिकता के बारे में सन्देह उत्पन्न हो जाय तो उसे भी किसी अधिकारी विद्वान (नीति सम्बन्धी जिसका ज्ञान और आचरण परिपक्व हो) से निर्णय करा लेना चाहिए और उसकी आज्ञानुसार आचरण करना चाहिए।

(४) धारणा व्यवहार—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का विचार करके विशेषज्ञ—गीतार्थ श्रमण ने जो निर्णय दिया हो, उसकी धारणा करके वैसा ही निर्णय उन स्थितियों में करना।

व्यक्ति के समक्ष ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय कि उसके द्वारा किये गये आचरण/व्यवहार की नैतिकता को पुष्ट करने वाले प्रमाण न उपलब्ध हो सकें तो उसे अपनी नीति सम्बन्धी धारणा के अनुसार निर्णय कर लेना चाहिए।

---

१ तुलना करिए—

महाजनाः येन गताः स पंथाः। —महाभारत

(५) जीत व्यवहार—जीत का अर्थ स्थिति, कल्प, मर्यादा और व्यवस्था है। सामान्य शब्दों में इसे परम्परा कह सकते हैं।

जब किसी कार्य के निर्णायक स्वरूप उपरोक्त चारों आधारों में से कोई भी उपलब्ध न हो सके तो व्यक्ति को अपने कार्य की नैतिकता, अनैतकता का निर्णय नैतिक परम्परा के अनुसार कर लेना चाहिए, किन्तु वह परम्परा नैतिक हो, उसमें अनैतिकता का घालमेल न हो।

इस प्रकार जैन-नीतिकारों ने नैतिक निर्णय के यह पाँच पुष्ट आधार मानव के समक्ष प्रस्तुत किये हैं। इनके आधार पर वह अपनी वृत्ति-प्रवृत्तियों और क्रिया-कलापों की नैतिकता का निर्णय कर सकता है।

कार्य-सफलता के उपाय

सफलता मानव-मात्र की हार्दिक अभिलाषा है। वह कभी भी और किसी भी कार्य में विफल नहीं होना चाहता। सामान्य धारणा, आज के युग में यह बन गई है कि धार्मिक और नैतिक व्यक्ति सफल नहीं हो सकता, क्योंकि यह युग चतुराई और चालाकी का है। इस युग में चतुर, चालाक व्यक्ति ही सफल हो पाते हैं।

लेकिन यह धारणा निर्मूल है। जैन नीतिकारों ने पांच समवाय बताये हैं। इनका सही उपयोग करने से प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त हो सकती है। वे समवाय हैं—

(१) काल (time)—काल दार्शनिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व है। संसार के सभी कार्य काल के अनुसार चलते हैं। किसी भी कार्य की सफलता में इसका बहुत बड़ा हाथ रहता है।

यदि पाँच मिनट भी लेट हो गये तो ट्रेन मिस हो गई, आपकी योजना धरी की धरी रह गई। काल अथवा समय का ध्यान न रहने से उम्मीदवार इन्टरव्यू न दे सका, परिणामस्वरूप उसका सलैक्शन न हो सका, कैरियर बनते-बनते बिगड़ गया। सुखी जीवन की योजना खटाई में पड़ गई, असफल हो गया।

(२) स्वभाव—इसका अभिप्राय है वस्तु का अपना स्वरूप। नीतिशास्त्र में इसका अभिप्राय व्यक्ति का अपना चरित्र होता है और जैसा कि मैकेंजी ने कहा है—चरित्र आदतों का समूह होता है।

अतः स्वभाव से नीतिशास्त्र में आदत (habit) का प्रत्यय ग्रहण किया जाता है। आदत अथवा चरित्र का सफलता-असफलता में बहुत बड़ा भाग होता है। बुरी आदतों (bad habits) वाला व्यक्ति सर्वत्र बदनाम होता है और असफल हो जाता है जबकि अच्छी (good) आदतों वाला व्यक्ति लोकप्रिय, सुसंस्कृत के रूप में सर्वत्र सम्मान पाता है, सफलता उसके चरण चूमती है।

(३) **नियति**—इसका अभिप्राय भवितव्यता अथवा होनी है। इसे भाग्य (fate) भी कहा जाता है। सामान्य मान्यता है कि जो घटना जिस रूप में घटित होनी है उसी रूप में घटित होगी।

लेकिन जैन नीति के अनुसार सदाचरण द्वारा भाग्य को अनुकूल भी बनाया जा सकता है। वैसे सामान्य रूप से भाग्य की अनुकूलता भी सफलता में महत्वपूर्ण कारण हैं।

(४) **पुरुषार्थ**—इसे सामान्य भाषा में उद्यम कहा जा सकता है। जैन नीति इस समवाय पर अधिक बल देती है। इसके अनुसार पुरुषार्थ के अभाव में सफलता नहीं मिलती। सफलता प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ अनिवार्य है।

(५) **कर्म क्षय**—धार्मिक दृष्टि से प्रत्येक अध्यात्मवादी व्यक्ति का लक्ष्य मोक्ष है और उसकी प्राप्ति के लिए पूर्वकृत सम्पूर्ण कर्मों का क्षय अनिवार्य है।

लेकिन नीतिशास्त्र इस समवाय को साधन (means) के रूप में स्वीकार करता है। साधनों का भी सफलता प्राप्ति में महत्व है।

यदि विद्यार्थी के पास पैन न हो तो वह उत्तर पुस्तिका में प्रश्नों के उत्तर कैसे लिख सकेगा और कैसे उत्तीर्ण हो सकेगा? इसी प्रकार प्रत्येक कार्य के लिए, कला और शिल्प के लिए आवश्यक साधन अनिवार्य हैं। साधन जितने सही होंगे सफलता भी उतनी ही शीघ्र प्राप्त होगी।

इस प्रकार किसी योजना, कार्य में सफलता के लिए इन पांचों समवायों का मिलना आवश्यक है।

आत्म-गौरव एवं स्वातंत्र्य

आत्मा का गौरव और उसकी स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठापना जैन-नीति की एक विशिष्ट देन है। पाश्चात्य और यूनानी सभ्यताओं की बात ही दूर, भारतीय संस्कृति में आत्मा का स्वरूप निश्चित नहीं था।

उपनिषदों में ही कहीं देह (शरीर) को ही आत्मा[1] कहा है तो कहीं प्राणों[2] को ही आत्मा स्वीकार किया और फिर मन को आत्मा[3] कहा गया, प्रज्ञानात्मा[4] की धारणा ने जोर पकड़ा तो आगे चलकर चिदात्मा[5] तक दृष्टि जा पहुँची। सार यह कि आत्मा का स्वरूप स्थिर न हो सका।

सर्वप्रथम जैन दर्शन ने जीव का वास्तविक और व्यावहारिक दोनों दृष्टि से स्वरूप निर्धारण किया। व्यावहारिक दृष्टि से जीव कर्मों का कर्ता है, और अपने कृत कर्मों के फल का भोक्ता है, परिणामी है, स्वदेह परिमाण है।

आत्मा का यह रूप नीतिशास्त्र में अति महत्व का है। कर्ता होने के कारण ही आत्म-स्वातन्त्र्य अथवा संकल्प स्वातन्त्र्य को मान्यता प्राप्त हो सकी जो नीतिशास्त्र का प्रमुख प्रत्यय तो है ही साथ ही आधार भी है। आत्म-स्वातन्त्र्य के अभाव में नीतिशास्त्र ठहर ही नहीं सकता।

आत्म-स्वातंत्र्य के साथ ही आत्म-गौरव की स्थापना हुई और आत्म-सम्मान के स्थायीभाव को नीतिशास्त्र में स्थान मिला।

आत्म-सम्मान के साथ-साथ जैन दर्शन ने सभी आत्माओं को समान बताया। इसका परिणाम यह हुआ कि सांसारिक पदार्थों में आत्मा की सर्वोच्चता स्थापित हुई। अब तक जो ईश्वर आदि उच्च दैविक शक्तियों के अधीन आत्मा को—मानव आत्मा को माना जाता था, उस दासता की धारणा की चूलें हिलीं और मानव ने अपना महत्व समझा।

आत्मा के साथ ही कर्म का प्रत्यय भी जुड़ा है। यद्यपि कर्म की मान्यता सभी अध्यात्मवादी दर्शनों ने दी किन्तु जितना सूक्ष्म विवेचन जैनदर्शन में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं।

कर्म के साथ पुनर्जन्म और पूर्वजन्म का प्रत्यय भी संलग्न है। नीति के क्षेत्र में आत्मा-आत्म स्वातन्त्र्य, कर्म, पुनर्जन्म के प्रत्ययों ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। नीतिशास्त्र जो व्यावहारिक आचरणों का ही मानक माना जाता है, वह अन्तर्मुखी भी हुआ और इस विस्तृत आयाम में वह

---

१ छान्दोग्योपनिषद ६/६

२ तैत्तिरीय २/२/३; कौषीतकि ३/२

३ तैत्तिरीय उपनिषद २/३; बृहदारण्यक ४/६; छान्दोग्य ७/३/१

४ कौषीतकि ३/८

५ तैत्तिरीय २/६

मनुष्य की मानसिक, वाचिक और व्यावहारिक सभी प्रकार की वृत्ति-प्रवृत्ति और क्रिया-कलापों का का अध्ययनकर्त्ता बन गया।

अहिंसा

अहिंसा जैनदर्शन, आचार और नीति की रीढ़ है। अहिंसा का प्रत्यय, जो नीति का सर्वमान्य प्रत्यय है, जैनधर्म में विस्तृत रूप से व्याख्यायित है। प्राणी मात्र की रक्षा करना, उनके प्रति मन में भी दुर्भाव न करना, वचन भी ऐसा कोई न बोलना जिससे किसी का मर्म घायल हो। यह आचारिक और नैतिक अहिंसा है।

अनेकान्त

यह वैचारिक अहिंसा है, विरोधी की बात का उचित सम्मान है और विभिन्न परस्पर विरोधी नीतियों के विरोध को उपशमित करने वाला है। लोक व्यवहार को उचित रूप से प्रवर्तित[1] करने वाला है।

दार्शनिक और नैतिक जगत को जैननीति द्वारा दिया गया अनेकान्त का सिद्धान्त सर्वोत्तम हैं। यहां तक कि वैज्ञानिक जगत में सापेक्षता सिद्धान्त (Theory of Relativity) के रूप में मान्य हुआ है।

जैन नीति द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त और स्याद्वाद नीति के ऐसे प्रत्यय हैं जो सार्वभौम नीति को प्रतिपादित करते हैं और नैतिक वातावरण को ठोस आधार प्रदान करते हैं।

कान्ट ने जो कहा—'तुम्हें ऐसे कर्तव्य का आचरण करना चाहिए, जिसे तुरन्त सार्वभौम बना सको।' इस शर्त को अनेकान्त पूरी करता है। अनेकान्त के आचरण को तुरन्त सार्वभौम बनाया जा सकता है और यह बनने योग्य भी है।

जैन नीति की इस अनुपम देन का समस्त विद्वद् जगत आभारी है।

अपरिग्रह

अहिंसा का ही प्रत्यय संचय के सम्बन्ध में अपरिग्रह के रूप में उभरता है। परिग्रह स्वयं अपने और दूसरों के लिए भी दुःखकारी है। संचय स्वयं मानव को चिन्तित कर देता है और अन्यों के लिए अभाव की स्थिति खड़ी कर देता है।

दूसरों को अभावजन्य कष्ट और स्वयं को चिन्ता द्वारा मानसिक

---

१. नीति विरोधध्वंसी, लोकव्यवहार वर्तक: सम्यक् :

पीड़ा दोनों ही हिंसा के रूप हैं इसीलिए अपरिग्रह अहिंसात्मक है, अहिंसा का ही एक रूप है।

अपरिग्रह अथवा असंचय को भारतीय नीति में एक प्रमुख नैतिक प्रत्यय माना गया है। श्रावक के लिए तो परिग्रह की मर्यादा करना आवश्यक बताया गया है।

जैन नीति परिग्रह के बाह्य रूप को तो दृष्टिगत करती है किन्तु उसके आन्तरिक रूप—गलत धारणा, मोह की विडम्बना ममत्व आदि पर भी दृष्टिपात करती है और आन्तरिक तथा बाह्य सभी प्रकार के परिग्रह को अनैतिक बताती है।

इस विस्तृत आयाम में अपरिग्रह की अवधारणा विश्व-नीति को जैन नीति की विशिष्टदेन है।

अनाग्रह

अहिंसा का ही व्यावहारिक रूप अनाग्रह है। अनाग्रह का अभिप्राय किसी बात का आग्रह न करना है। अनाग्रह का ही वैचारिक पक्ष अनेकांत है। अनेकांत नीति का पालन करने वाला अपने पक्ष का आग्रह नहीं करता, उसमें पक्षपात नहीं होता।

व्यावहारिक रूप से अनाग्रह का अर्थ है—अपनी इच्छा किसी अन्य पर न थोपना। आगमों में जब कोई व्यक्ति किसी व्रत या नियम को ग्रहण करने की इच्छा प्रगट करता है तो गुरुदेव की ओर से कहा गया 'अहासुहं' शब्द अनाग्रह का ही प्रतीक है। यानी गुरु उससे नियम ग्रहण करने का आग्रह नहीं करते, अपितु उसकी इच्छा पर ही छोड़ देते हैं।

नीति के क्षेत्र में अनाग्रह सर्वोत्तम नीति है। आग्रह से सामने वाला व्यक्ति दबाव मानता है। वह यह समझता है कि उसे अनुचित अनैतिक रूप से विवश किया जा रहा है और फिर उसके मन-मस्तिष्क में विरोध की—संघर्ष की चिन्गारियाँ भड़कती हैं, जो शोले बनकर समाज के वातावरण को दूषित करती हैं, विषाक्त वातावरण निर्मित होता है।

यह अनाग्रह नैतिक प्रत्यय भी जैन नीति की ही देन है।

समत्व

समत्व जैन नीति का हार्द है और विश्व में नैतिकता के प्रसार के लिए सर्वोत्तम प्रत्यय है। जैन-नीति का तो प्रारम्भ ही समत्व की साधना

से होता है और इसका चरमोत्कर्ष भी समत्व की उपलब्धि में समाया हुआ है।

शंकराचार्य की प्रश्नोत्तरी में कहा गया है—किं सुख मूलम् ? समता-भिधानम्। सुख का मूल क्या है ? समता।

वास्तव में समता में सभी सुख हैं और विषमता में सभी दुःख, कष्ट और संघर्ष हैं।

विषमता चाहे आर्थिक हो, सामाजिक हो, राजनीतिक हो अथवा अन्य किसी भी प्रकार की हो, दुःख, कष्ट और संघर्ष का ही कारण बनती है। वैचारिक वैमनस्य अथवा विषमता ने कई बार मानव जाति को युद्धों की विभीषिका में झोंका है।

एक आकलन के अनुसार पिछले २५०० वर्ष के इतिहास में मुश्किल से २८९ दिन शांति रही है, अन्यथा विश्व के किसी न किसी कोने में युद्ध होते ही रहे हैं। इनमें से अधिकांश युद्ध वैचारिक विषमता के कारण हुए हैं।

इसीलिए जैन-नीति ने सुख-शांति के राज मार्ग के लिए समता का प्रत्यय विश्व के समक्ष रखा।

समता द्वारा विषमता का निराकरण करके मानव-सुख की उपलब्धि कर सकता है।

सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि जैन नीति का आधार अहिंसा है और अहिंसा का हार्द है समत्व। यही अहिंसा की पराकाष्ठा है।

जैन-नीति का साधक अपने दृढ़ कदम समत्व की उपलब्धि की ओर बढ़ाता है, क्योंकि कहा है—

सम्मत्तदंसी न करेई पावं

(समत्वदर्शी कोई पाप नहीं करता)

और नीति की भाषा में समत्वदर्शी पूर्ण नैतिक होता है। इसीबिन्दु पर मानव को पहुँचाने का लक्ष्य नीतिशास्त्र का है। नीतिशास्त्र, विशेष रूप से जैन नीतिशास्त्र का यही केन्द्र बिन्दु (Central orbit) है जिसके चारों ओर नीति का संपूर्ण ताना-बाना बुना हुआ है।

□



नीति सूक्ति कोष

आभार-स्वीकार

इस सूक्ति संकलन में सूक्ति-त्रिवेणी प्राकृत सूक्ति कोश, नीति मुक्तावली, सदुपदेश-सुमन आदि अनेक ग्रन्थों का सादर उपयोग किया गया है, एतदर्थ उनके सम्पादक प्रकाशकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता।

प्राकृत जैन साहित्य की सूक्तियाँ

अचौर्य

लोभाविले आययई अदत्तं ।

—उत्तराध्ययन ३२/२९

मनुष्य लोभ से व्याकुल अथवा प्रेरित होकर चोरी करता है ।

अदत्तादाणं····अकित्तिकरणं····अणज्जं
····सया साहुगरहणिज्जं

—प्रश्नव्याकरण सूत्र १/३

चौरी अपयश करने वाला एक अनार्यकर्म है। यह सभी सज्जनों द्वारा सदा निन्दनीय है ।

परदव्व हरणमेदं आसवदारं खु वेंति पावस्स ।
सोगरिय-वाह-परदारयेहिं चोरो हु पापदरो ।।

—भगवती आराधना ८६५/९८४

परद्रव्य हरण करना पाप का आगमन द्वार है । सूअर की हत्या करने वाले, मृग आदि को पकड़ने वाले तथा परस्त्रीगमन करने वाले से भी चोर अधिक पातकी गिना जाता है ।

जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पयमुल्लेण णेव गिण्हेदि ।
वीसरियंपि ण गिण्हदि लाहे थोवे वि तूसेदि ।।
जो परदव्वं ण हणदि मायालोहेण कोहमाणेण ।
दिढचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ ।।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३३५-३३६

जो व्यक्ति किसी की बहुमूल्य वस्तु को अल्पमूल्य में नहीं लेता, दूसरे की गिरी हुई वस्तु को उठाकर लेता नहीं और थोड़े से लाभ से संतुष्ट रहता है, तथा क्रोध, लोभ, माया तथा मान से दूसरे के द्रव्य का हरण नहीं करता वह शुद्ध विचार वाला दृढ़ निश्चयी अचौर्य अणुव्रती है ।

वज्जिज्जा तेनाहड तक्कर जोगं विरुद्ध रज्जं च ।
कूडतुल-कूडमाणं तप्पडिरूवं च ववहारं ॥

—सावय पण्णत्ति २६८

चोरी का माल खरीदना, तस्करी करना, राजाज्ञा का उल्लंघन करना, नाप-तोल में गड़बड़ करना तथा मिलावट करना—यह सब चोरी के समान वर्जनीय हैं ।

अद्वेष

न विरुज्झेज्ज केणवि

—सूत्रकृतांग १/११/१२

किसी के भी साथ वैर-विरोध न करें ।

अनासक्ति

असंसत्तं पलोइज्जा

—दशवैकालिक ५/१/२३

ललचाई दृष्टि से किसी भी वस्तु को नहीं देखें ।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स स देवगस्स,
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सन्तगं गच्छति वीयरागो ।

—उत्तराध्ययन ३२/१९

संसार के समस्त जीवों के, यहाँ तक कि देवों के भी जो कुछ शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब कामासक्ति से ही उत्पन्न होते हैं । अनासक्त पुरुष ही उनका अन्त कर पाता है ।

तण कट्ठेहि व अग्गी, लवणजलो व नई सहस्सेहिं ।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं कामभोगेउं ॥

—आतुर प्रत्याख्यान ५०

जिस तरह तृण काष्ट (लकड़ी) से अग्नि और हजारों नदियों के जल से लवण समुद्र (विराट् सागर) तृप्त नहीं होता, उसी तरह आसक्ति वाला प्राणी काम-भोगों से तृप्त नहीं होता ।

अनुकम्पा

जो उ परं कंपंतं, दट्ठूण न कंपए कढिणभावो ।
एसो उ निरणुकंपो, अणुपच्छा भाव जोएणं ।।

—बृहत्कल्पभाष्य १३२०

जो कठोर भावों वाला व्यक्ति दूसरों को कष्ट से कांपते हुए देखकर भी मन में प्रकम्पित नहीं होता, वह अनुकंपारहित कहलाता है। क्योंकि अनुकम्पा का अर्थ ही है—कांपते हुए को देखकर कम्पित होना। (दुखी को देखकर दयार्द्र होना ।)

तिसिवं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकम्पा ।।

—पंचास्तिकाय गा. १३७

तृषातुर, क्षुधातुर अथवा दुःखी को देखकर जो मानव मन में खिन्नता अनुभव करता हुआ उसके प्रति करुणापूर्वक व्यवहार करता है, उसका वह आचरण अनुकम्पा है।

ववसायफलं विहवो विहवस्स य विहलजलसमुद्धरणं ।
विहलुद्धरणेण जसो जसेण भण किं न पज्जत्तं ।।

—वज्जालग्ग १०/१०

व्यवसाय—पुरुषार्थ का फल विभव (वैभव) है और विभव का फल है—विह्वल जनों—(अभावग्रस्त) का उद्धार। विह्वल जनों के उद्धार से यश की प्राप्ति होती है और यश से कहो संसार में क्या नहीं मिलता ? अर्थात् सब कुछ मिलता है।

बाला य वुड्ढा य अजंगमा य,
लोगेवि एते अणुकम्पणिज्जा ।

—बृहत्कल्पभाष्य ४३४२

बालक, वृद्ध और असमर्थ (चलने-फिरने के अयोग्य-अपंग) व्यक्ति, विशेष अनुकम्पा के योग्य होते हैं।

मा होह णिरणुकम्पा ण वंचया कुणह ताव संतोसं ।
माणत्थद्धा मा होह णिक्किपा होह दाणयरा ।।

—कुवलयमाला, अनुच्छेद ८५

अनुकम्पा से रहित मत होओ, कृपा से रहित मत बनो, किन्तु संतोष करो, घमंड में दृप्त मत होओ, अपितु दान में तत्पर बनो।

अनुशासन

अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ।

—सूत्रकृतांग १/१/२/१७

जो व्यक्ति अपनी आत्मा को (स्वयं अपने आपको) अनुशासन में नहीं रख सकता, वह दूसरों को अनुशासित रखने में कैसे समर्थ हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

अणुसासिओ न कुप्पेज्जा

—उत्तराध्ययन १/९

बड़ों द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करें ।

अपरिग्रह

अतिरेगं अहिगरणं

—ओघनिर्युक्ति ७४१

आवश्यकता से अधिक और अनुपयोगी वस्तु क्लेशप्रद एवं दोषरूप हो जाती है ।

अज्झत्थ विसोहीए, उवगरणं बाहिरं परिहरंतो ।
अप्परिग्गही त्ति भणिओ, जिणेहिं तिलोक्कदरिसीहिं ॥

—ओघनिर्युक्ति ७४५

जो साधक बाह्य उपकरणों को आत्म-विशुद्धि के लिए ग्रहण करता है, त्रिलोकदर्शी (सर्वज्ञ) जिनेश्वर देवों ने उसे अपरिग्रही कहा है ।

अत्थो मूलं अणत्थाणं

—मरण समाधि ६०३

अर्थ तो अनर्थ का मूल है ।

गंथोऽगंथो व मओ मुच्छा मुच्छाहि निच्छयओ ।

—विशेषावश्यक भाष्य २५७३

विश्व की प्रत्येक वस्तु परिग्रह भी है और अपरिग्रह भी । यदि मूर्च्छा है तो परिग्रह है और यदि मूर्च्छा नहीं है तो परिग्रह भी नहीं है । वास्तविक दृष्टि से मूर्च्छा (अपनत्व भाव या अधिकार भाव) ही परिग्रह है ।

गाहेण अप्पगाहा, समुद्दसलिले सचेल अत्थेण

—सूत्रपाहुड २७

जिस प्रकार सागर (नदी) के अथाह जल में से अपने वस्त्र धोने योग्य ही जल ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार ग्राह्य वस्तु में से भी अपनी आवश्यकतानुसार ही ग्रहण करना चाहिए ।

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो

—दशवैकालिक ६/२१

मूर्च्छा ही वास्तव में परिग्रह है।

जो संचिऊण लच्छि धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छि पाहाण सामाणियं कुणदि ॥

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा १४

जो मनुष्य लक्ष्मी का संचय करके भूमि में उसे गाड़ देता है, वह उस लक्ष्मी को पत्थर के समान कर देता है।

संगनिमित्तं मारइ, भणइ अलीअं करेइ चोरिक्कं।
सेवइ मेहुण मुच्छं, अप्परिमाणं कुणइ जीवो ॥

—भक्त परिज्ञा १३२

मनुष्य परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है।

परिग्गहनिविट्ठाणं वेरं तेसिं पवड्ढई ।

—सूत्रकृतांग १/६/३

जो संग्रहवृत्ति में व्यस्त हैं, वे संसार में अपने प्रति वैर-भाव बढ़ाते रहते हैं।

अप्रमाद

उट्ठिए नो पमायए

—आचारांग १/५/२

कर्तव्य पथ पर चलने को उद्यत हुए व्यक्ति को फिर प्रमाद (आलस्य) नहीं करना चाहिए।

जे छेए से विप्पमायं न कुज्जा।

—सूत्रकृतांग १/१४/१

जो प्रमाद (आलस्य) नहीं करता, वह वस्तुतः चतुर है।

सिग्घं आरुह कज्जं पारद्धं मा कहं वि सिढिलेसु।
पारद्ध सिढिलियाइं कज्जाइ पुणो न सिज्झंति ॥

—वज्जालग्ग ६/२

कार्य का प्रारम्भ शीघ्र करो, प्रारम्भ किये हुए कार्य में किसी भी प्रकार की शिथिलता मत करो। प्रारम्भ किये हुए कार्यों में एक बार शिथिलता आ जाने पर वे पुनः पूर्ण नहीं हो पाते हैं।

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्चं इमं अकिच्चं ।
तं एवमेव लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥

—उत्तराध्ययन १४/१५

यह मेरे पास है और यह नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है—इस प्रकार व्यर्थ बकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला (काल) उठाकर ले जाता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाय ?

सीतंति सुवंताणं अत्था पुरिसाण लोगसारत्था ।
तम्हा जागरमाणा, विधुणध पोराणयं कम्मं ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ३३८३

जो पुरुष सोते हैं (आलसी हैं) उनके जगत् में सारभूत अर्थ (लक्ष्य) नष्ट हो जाते हैं। इसलिए सतत जागते रहकर पूर्वार्जित कर्मों को नष्ट करो।

जागरिया धम्मीणं, अहम्मीणं च सुत्तया सेया ।

—बृहत्कल्पभाष्य ३३८६

धार्मिक जनों का जागना श्रेयस्कर है और अधार्मिकों का सोना श्रेयस्कर है।

जागरह नरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी ।
सो सुवति ण सो धन्नो, जो जग्गति सो सया धन्नो ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ३२८३

मानवो ! सदा जागृत (सावधान) रहो। जागृत व्यक्ति की बुद्धि बढ़ती है। जो सोता है वह धन्य नहीं है। सदैव जागने वाला ही धन्य है।

अभय

भीतो अबितिज्जओ मणूसो,
भीतो भूतेहिं घिप्पइ,
भीतो अन्नं पि भेसेज्जा ।

—प्रश्नव्याकरण २/२

भयभीत मनुष्य पर अनेकों भय आकर हमला कर देते हैं, क्योंकि डरपोक मनुष्य असहाय होता है।

भय से आकुल मानव ही भूतों द्वारा घेर लिया जाता है।

स्वयं भयग्रस्त व्यक्ति दूसरों को भी भयभीत कर देता है।

न भाइयव्वं, भयस्स वा वाहिस्स वा,
रोगस्स वा जराए वा मच्चुस्स वा ।

—प्रश्नव्याकरण २/२

आकस्मिक भय से, व्याधि से, रोग से, वृद्धावस्था से और यहाँ तक कि मृत्यु से भी भयभीत नहीं होना चाहिए ।

जे ण कुणइ अवराहे, सो णिस्संकोदु जणवए भमदि ।

—समयसार ३०२

जो किसी प्रकार का अपराध नहीं करता वह निःशंक होकर जनपद में घूमता है अर्थात् निरपराध व्यक्ति निर्भय होता है ।

दाणाणं चेव अभयदाणं

—प्रश्नव्याकरण २/२

अभयदान सब दानों में श्रेष्ठ है ।

निब्भएण गतिव्वं

—निशीथचूर्णिभाष्य २७३

तुम निर्भय होकर विचरण करो ।

अविनीत

पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं न किंचि आइक्खे ।
न वि दिज्जति आभरण, पसियत्तिकण्ण हत्थस्स ॥

—निशीथ भाष्य ६२२१

दुर्विनीत को विनय विधान (सदाचार) की शिक्षा नहीं देनी चाहिए जिसके कान और हाथ कटे हों उसे आभूषण (कर्णभूषण और कंकण) नहीं देने चाहिए ।

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो,
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥

—दशवैकालिक ९/१/१

अभिमान, क्रोध, कपट तथा प्रमाद के कारण जो शिक्षार्थी गुरू—अध्यापकों का आदर नहीं करता, शिक्षकों के समीप विनय की शिक्षा ग्रहण नहीं करता; उसका अविनयपूर्ण आचार उसी प्रकार उसको नष्ट करने वाला होता है, जिस प्रकार बाँस का फल बाँस को ही नष्ट करने वाला बनता है ।

बुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा ।

—दशवैकालिक ९/२/३

अविनीतात्मा संसार-स्रोत में उसी तरह प्रवाहित—बहता रहता है, जैसे नदी के स्रोत में गिरा हुआ काष्ठ ।

अहंकार

माणविजए णं मद्दवं जणयई ।

—उत्तराध्ययन २९/६८

अहंकार पर विजय प्राप्त कर लेने से नम्रता उत्पन्न होती है ।

अन्नं जणं खिसइ बालपन्ने ।

—सूत्रकृतांग १/१३/१४

जो अपनी प्रज्ञा के अभिमान में दूसरों की अवज्ञा करता है, वह बाल प्रज्ञ (मूर्ख) है ।

माणेण अहमा गई —उत्तरा. ९/५४

अहंकार करने वाले की अधोगति (पतन) होती है ।

जो अवमाणकरणं, दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।
सो णाम होदि माणी, ण दु गुणचत्तेण माणेण ।।

—भगवती आराधना १४२९

जो दूसरों को अपमानित करने के दोष का सदा सावधानीपूर्वक परिहार करता है, वही यथार्थ में मानी है । गुणशून्य अभिमान करने से कोई मानी नहीं होता ।

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलह भय वेर दुक्खाणि ।
पावदि माणी णियदं इह-परलोए य अवमाणं ।।

—अर्हत्प्रवचन ७/३६

अभिमानी व्यक्ति सबका शत्रु हो जाता है । उसे इस लोक और परलोक में कलह, भय, वैर, दुःख और अपमान अवश्य ही प्राप्त होते हैं ।

अहिंसा

धम्ममहिंसासमं नत्थि ।

—भक्त परिज्ञा ९१

अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है ।

जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ ।

भक्तपरिज्ञा ९३

किसी भी दूसरे जीव का वध वास्तव में अपना ही वध है और दूसरे जीव की दया, अपनी दया है ।

सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्ख पडिकूला,
अप्पियवहा, पियजीविओ, जीविउकामा,
सव्वेसिं जीवियं पियं
नाइवाएज्ज कंचणं ।

—आचारांग १/२/३/४

प्राणीमात्र को अपना जीवन प्रिय है। सुख, सबको अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल। वध (मरण) सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय। सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं। इसलिए किसी भी प्राणी की घात—हिंसा नहीं करनी चाहिए।

आयओ बहिया पास

—आचारांग १/३/३

अपने समान ही बाहर में दूसरों को भी देख।

सव्वओवि नईओ, कमेण जह सायरंमि निवडंति ।
तह भगवई अहिंसा, सव्वे धम्मा समिल्लं ति ।।

—सम्बोध सत्तरि ६

जिस प्रकार सभी नदियाँ सागर में मिलती हैं उसी प्रकार भगवती अहिंसा में सभी धर्मों का समावेश होता है।

अहिंसा तस थावर सव्वभूय खेमंकरी ।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र २/१

अहिंसा सभी प्राणियों (चलते-फिरते और स्थित प्राणी) का कुशल क्षेम करने वाली है।

रागादीणमणुप्पाओ अहिंसकत्तं ।

—जयधवला १/४२/९४

राग आदि की अनुत्पत्ति अहिंसा है और इनकी (रागादि की) उत्पत्ति हिंसा है।

असुभो जो परिणामो सा हिंसा ।

—विशेषावश्यकभाष्य १७६६

जीव (प्राणियों) का अशुभ परिणाम (भाव) हिंसा है।

आचरण

सारो परूवणाए चरणं, तस्स वि य होइ निव्वाणं ।

—आचारांगनिर्युक्ति १७

प्ररूपणा (उपदेश) का सार आचरण है, जिस से निर्वाण (मुक्ति) होती है।

भणन्ता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खो पइण्णिणो।
वायाविरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं ॥

—उत्तराध्ययन ६/६

जो केवल बोलते हैं, करते कुछ नहीं, वे बन्ध और मोक्ष की बातें करने वाले व्यक्ति केवल वाणी की वीरता से अपने आपको आश्वासन देने वाले हैं।

आत्मदर्शन

जो जाणइ अप्पाणं, अप्पाणं सो मुहाणं न हु कामी।
पत्तम्मि कप्परुक्खे, रुक्खे किं पत्थणा असणे ॥

—आत्मावबोध कुलक ४

जो अपनी आत्मा को जानता है, वह सांसारिक सुखों का इच्छुक नहीं होता। जिसे कल्पवृक्ष प्राप्त हो गया है, क्या वह अन्य वृक्षों की प्रार्थना करेगा? अर्थात् कभी नहीं करेगा।

आत्म-प्रशंसा

वायाए जं कहणं गुणाणं तं णासणं हवे तेसिं।
होदि हु चरिदेण गुणाण कहण मुब्भावणं तेसिं ॥

—अर्हत्प्रवचन ६/७

वचन से अपने गुणों को कहना, उन गुणों का नाश करना है और आचरण से उन गुणों को प्रगट करना, उनका विकास करना है।

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा मोह जसविणासयरा।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुदो होदि हु जाणम्मि ॥

—भगवती आराधना ३५६

मानव को अपनी प्रशंसा करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिए, क्योंकि अपने मुख से अपनी प्रशंसा करने से उसका यश नष्ट हो जायेगा। अतः जो मनुष्य अपनी प्रशंसा आप करता है, वह जगत में तृण के समान तुच्छ होता है।

मा अप्पयं पसंसइ जइवि जसं इच्छसे धवलं।

—कुवलयमाला

यदि निर्मल यश की इच्छा है तो अपनी प्रशंसा मत करो।

आत्म-विजय

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पाहु खलु दुद्दमो ।
अप्पादंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ।।

—उत्तराध्ययन १/१५

प्रत्येक व्यक्ति (प्राणी) को अपनी आत्मा (अशुभ विचार और कार्य करने वाली आत्मा) का नियन्त्रण करना चाहिए। (ऐसी अनीति प्रवृत्त) आत्मा पर नियन्त्रण करना यद्यपि कठिन है। किन्तु आत्म नियन्त्रण करने वाला आत्मविजेता मानव इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होता है।

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मन्तो, बन्धणेहिं वहेहि य ।।

—उत्तराध्ययन १/१६

अच्छा यही कि मैं स्वयं संयम (अनुशासन) और तप के द्वारा अपनी आत्मा (अशुभ इच्छा करने वाली आत्मा) का दमन (नियन्त्रण) कर लू अन्यथा दूसरे लोग बन्धन (दण्ड) और वध (ताड़ना, प्रतारणा, तिरस्कार) द्वारा मेरा दमन करेंगे। (यह मेरे लिए उचित नहीं होगा।)

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पणामेव अप्पाणं; जइत्ता सुहमेहए ।।

—उत्तराध्ययन ९/३५

बाहरी शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? अपनी आत्मा (अशुभ/अनैतिक आत्मा) के साथ ही युद्ध कर। आत्मा (अशुभ आत्मा) को आत्मा (शुभ/शुद्ध आत्मा) के द्वारा जीतने वाला ही वास्तविक सुखी होता है।

आत्म-साक्षी

किं पर जण बहुजाणा, वणाहि वरयप्प सक्खियं सुकयं।

—सार्थपोसहसज्झाय सूत्र १९

अन्य लोगों की दृष्टि में धार्मिक बनने के लिए धर्म (धर्मकार्य-क्रियाएँ तथा अनुष्ठान) किया जाता है, वह निरर्थक है। इसलिए आत्म-साक्षी से धर्म करना श्रेष्ठ है और शुभ फलदायक है।

अप्पा जाणइ अप्पा, जहट्ठियो अप्पसक्खिओ धम्मो।
अप्पा करेइ तं तह, जह अप्पसुहावहं होई॥

—सार्धपोसहसज्झाय सूत्र २२

आत्मा ही आत्मा (स्वयं अपने) के शुभ-अशुभ परिणामों (भावों—मानसिक विचारों) को जानता है। इसलिए हे आत्मन्! अपनी आत्मसाक्षी से जो धर्मकार्य किया जाता है, वही आत्मा के लिए सुखप्रद होता है।

आत्मा

पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि?

—आचारांग १/३/३

हे मानव! तू ही तेरा मित्र है। बाहर के किसी मित्र की इच्छा क्यों करता है?

अत्तकडे दुक्खे, नो परकडे।

—भगवती सूत्र १७/५

दुःख किसी अन्य का किया हुआ नहीं है, स्वयं आत्मा द्वारा ही किया हुआ है।

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावंति हवदि जीवस्स।

—पंचास्तिकाय १३२

आत्मा का शुभ परिणाम (विचार) पुण्य और अशुभ परिणाम (विचार) पाप है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय सुपट्ठिओ॥

—उत्तराध्ययन २०/३७

आत्मा ही सुख और दुख का कर्ता और भोक्ता है। सत्प्रवृत्ति में लीन आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है।

पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं।
जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

—उत्तराध्ययन ३२/४६

रागद्वेष से कलुषित होकर आत्मा कर्मों का संचय करता है जो उसके लिए दुःख रूप फल देने वाले होते हैं।

न लिप्पई भव मज्झे वि संतो ।
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।।

—उत्तराध्ययन ३२/४७

जो आत्मा विषयों के प्रति अनासक्त है, वह संसार में रहकर भी उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जैसे पुष्करिणी में रहता हुआ भी पलाश-कमल ।

किं भया पाणा ? दुक्खभया पाणा ।
दुक्खे केण कडे ? जीवेण कडे पमाएणं ।।

—स्थानांग ३/२

प्राणी किससे भयभीत रहते हैं ? दुःख से । दुःख किसने किया ? स्वयं आत्मा ने ही अपनी भूल से ।

एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ।

—सूत्रकृतांग १/२/५/२२

स्वकृत दुःखों को आत्मा अकेला ही भोगता है ।

अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ।।

—दशवैकालिक चूलिका २/१६

सभी इन्द्रियों को सुसमाहित (अपने वश में) करके आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए । अरक्षित आत्मा जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करता है और सुरक्षित आत्मा सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

आत्मौपम्य

सव्वायरमुवइत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं ।

—भक्तपरिज्ञा ९३

पूर्ण आदर और सावधानी पूर्वक आत्मौपम्य की भावना से सब जीवों पर दया करनी चाहिए ।

सव्वभूयप्प भूपयस्स,
सम्मं भूयाइं पासओ ।
पिहियासवस्स दन्तस्स
पावकम्मं न बंधई ।।

—दशवै ४/९

जो समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है, उसे पाप कर्म का बन्धन नहीं होता है ।

आपत्तिकाल

अत्थमणे न छंडिज्जइ नूनं सूरो वि निययकिरणेहिं ।
पुरिसस्स वसणकाले देहुप्पन्ना वि विहंडति ।।

—गाहारयणकोष ८१२

अस्त के समय सूर्य की किरणें भी सूर्य को छोड़ जाती हैं। (सच ही है) पुरुष को आपत्तिकाल में उसके आत्मज (पुत्र) भी उसे छोड़ देते हैं।

आलस्य

नालस्सेण समं सुक्खं

—बृहत्कल्पभाष्य ३३८५

आलस्यरहित होने के समान सुख नहीं है।

आहार-विचार

हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जातिगच्छन्ति, अप्पाणं ते तिगिच्छगा ।।

— ओघनिर्युक्ति ५७८

जो व्यक्ति हिताहारी, मिताहारी और अल्पाहारी है, उसे किसी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं ही अपना वैद्य है।

आहार-विवेक

मोक्खपसाहणहेतु, णाणादि तप्पसाहणो देहो।
देहट्ठण आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो ।।

—निशीथभाष्य ४१५६

ज्ञान आदि मोक्ष के साधन हैं और ज्ञानादि का साधन शरीर है तथा शरीर का साधन आहार है। इसलिए व्यक्ति को समय के अनुसार भोजन करना चाहिए।

इन्द्रिय-दमन

जस्स खलु दुप्पणिहिआणि इंदियाइं तवं चरंतस्स ।।
सो हीरइ असहीणेहिं सारही व तुरंगेहिं ।।

—दशवैकालिकनिर्युक्ति २६८

जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ कुमार्गगामिनी हो गई हैं, वह दुष्ट घोड़ों के वश में पड़े सारथि के समान उत्पथ (कुमार्ग) में भटक जाता है।

गुणकारिआइं धणियं, धिइरज्जुनियंतिआइं तुह जीव ।
नियया इंदियाइं, वल्लिनिअत्ता तुरंगुव्व ॥

—इन्द्रियपराजय शतक ६४

वश में किया हुआ बलिष्ठ घोड़ा जिस प्रकार बहुत लाभदायक होता है, उसी प्रकार धर्मरूपी लगाम द्वारा वश में की हुई स्वयं अपनी इन्द्रियाँ तुझे बहुत लाभदायक होंगी। अतः इन्द्रियों को वश में करके उनका निग्रह करना चाहिए।

उद्‌बोधन

जं कल्लं कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काइं ।
मच्चू अकलुणहिअओ, न दीसइ आवयंतो वि ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ४६७४

जो कर्तव्य कल करना है, उसे आज ही कर लेना श्रेयस्कर है। मृत्यु अत्यन्त निर्दय है, पता नहीं वह कब आ जाए।

मा पच्छ असाधुताभवे
अच्चे ही अणुसास अप्पगं ।

—सूत्रकृतांग १/२/३/७

भविष्य में तुम्हें कष्ट न भोगना पड़े, इसलिए अभी से अपने को अनुशासित करो।

सुवइ य अजगरभूतो, सुयंपि ये णासती अमयभूयं ।
होहिति गोणभूयो णट्ठंमि सुये अमयभूये ॥

—निशीथभाष्य ५३०५

जो मानव अजगर के समान सोया रहता है, उसका अमृतस्वरूप ज्ञान क्षीण हो जाता है और अमृतस्वरूप ज्ञान के क्षीण होने पर व्यक्ति एक प्रकार से निरा बैल बन जाता है।

अवसोहिय कण्टगापहं, ओइण्णो सि पहं महालयं ।
गच्छसि मग्गविसोहिया । समयं गोयम ! मा पमायए !

—उत्तराध्ययन १०/३२

काँटों से भरे संकीर्ण मार्ग को छोड़कर तू विशाल सत्पथ पर चला आया है। अब दृढ़ निश्चय के साथ इसी मार्ग पर चल। जीवन में क्षण मात्र भी प्रमाद मत कर!

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे,
बलाबलं जाणिय अप्पणो य।

—उत्तराध्ययन २१/१४

अपने बलाबल को जानकर, समय के अनुसार राष्ट्र (राज्य) में विहरण करो।

से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे॥

—दशवैकालिक ८/३१

जान या अजान में कोई अधर्म (अनैतिक) कार्य हो जाय तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा लेना चाहिए और फिर दूसरी बार वह कार्य नहीं करना चाहिए।

मा मा मारेसु जोए मा परिहव सज्जणें करेसु दयं।
मा होह कोवणा भो खलेसु मित्तिं च मा कुणह॥

—कुवलयमाला, अनुच्छेद ८५

जीवों को मारो मत, उन पर दया करो, सज्जनों को अपमानित मत करो, क्रोधी मत बनो, दुष्टों से मित्रता मत करो।

थेवं व थेवं धम्मं करेह जइ ता बहुँ न सक्केह।
पेच्छह महानईयो बिन्दुहिं समुद्दभूयाओ॥

—अर्हत्प्रवचन १९/१४

यदि अधिक न कर सको तो थोड़ा-थोड़ा ही धर्म करो। बूंद-बूंद से समुद्र बन जाने वाली महानदियों को देखो।

उन्मार्गी

उम्मग्गठियो इक्कोऽवि, नासए भव्वसत्त संघाए।
तं मग्गमणुसरंते, जह कुतारो नरो होइ।

—गच्छाचार प्रकीर्णक ३०

जिसको भली प्रकार तैरना नहीं आता, वह जैसे स्वयं डूबता है और अपने साथियों को भी ले डूबता है उसी प्रकार उल्टे मार्ग पर चलने वाला एक मनुष्य भी अपने साथ अन्य कइयों को भी संकट में डाल देता है।

करुणा

करुणाए जीवसहावस्स

—धवला १३/५

करुणा जीव का स्वभाव है।

कर्म

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

—उत्तराध्ययन ४/३

किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता ।

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।

—उत्तराध्ययन १३/२३

कर्म हमेशा कर्ता का पीछा करता है ।

जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहई, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ।।

—सूत्रकृतांग १/२/१/४

इस विश्व में जितने भी प्राणी हैं, सब अपने कृतकर्मों के कारण ही दुःखी होते हैं । उन्होंने जो कर्म किये हैं, जिन संस्कारों की छाप अपने (आत्मा) पर पड़ने दी है, उसका फल भोगे बिना या अनुभव किये बिना उनका छुटकारा नहीं है ।

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं
तमेव आगच्छति संपराए ।

—सूत्रकृतांग १/५/२/२३

भूतकाल में जैसा जो कुछ भी कर्म किया गया है, भविष्य में वह उसी रूप में सामने आता है ।

कम्मवसा खलु जीवा, जीववसाइं कहिंचि कम्माइं ।
कत्थई धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थई बलवं ।।

—बृहत्कल्पभाष्य २६६०

कहीं जीव कर्म के अधीन होते हैं तो कहीं कर्म जीव के अधीन होते हैं । जैसे कहीं ऋण देते समय धनी बलवान होता है तो कहीं ऋण को चुकाते समय कर्जदार बलवान होता है ।

कर्मण्यता

नियवसणे होह वज्जघडिय ।

—कुवलयमाला, अनुच्छेद ८५

अपने कार्य में वज्र के समान दृढ़ रहो ।

कषाय

तं नियमा मुत्तव्वं जत्तो उपज्जए कसायग्गी ।
तं वत्थु धारिज्जा, जेणोवसमो कसायाणं ।।

—गुणानुराग कुलक ११

जिससे कषाय (क्रोध, मान, कपट, लोभ आदि) रूप अग्नि प्रज्वलित (प्रदीप्त) होती है, उन (वृत्ति/प्रवृत्ति/क्रियाओं) को तुरन्त छोड़ देना चाहिए और जिससे कषायों का उपशमन होता है, उन्हें धारण करना चाहिए।

सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं गुणगहणं, मंदकसायाण दिट्ठंता॥

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ९१

सभी से प्रिय वचन बोलना, दुर्वचन बोलने वाले को भी क्षमा करना और सभी के गुणों को ग्रहण करना—यह लक्षण मंदकषायी व्यक्तियों में दिखाई देते हैं।

अप्प-पसंसण-करणं, पुज्जेसु वि दोस गहण सीलत्तं।
वेर-धरणं च सुदूरं, तिव्व कसायाण लिंगम्॥

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ९२

तीव्र कषायी प्राणियों के तीन लक्षण हैं—

१ अपनी प्रशंसा करना, २ पूज्य-पुरुषों में भी दोष निकालने का स्वभाव होना, और ३ दीर्घकाल तक वैर रखना।

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो॥

—दशवैकालिक ८/३६

आत्मा के हित (भलाई)की इच्छा करने वाले व्यक्ति को क्रोध, मान, माया (कपट) और लोभ—इन चारों का त्याग कर देना चाहिए; क्योंकि यह चारों पाप को बढ़ाने वाले हैं।

कोहो पीइं पणासेई, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व विणासणो॥

—दशवैकालिक ८/३७

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय को विनष्ट करने वाला है, माया (कपट) से मित्रता समाप्त हो जाती है और लोभ के कारण ये सभी नष्ट हो जाते हैं।

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥

—दशवैकालिक ८/३८

उपशम (प्रशांत भाव) से क्रोध पर, मृदुता से मान पर, ऋजुता (सरलता) से माया (कपट) पर और संतोष से लोभ पर विजय प्राप्त करे।

अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च।
णहु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु ते बहुं होई॥

—आवश्यकनियुक्ति १२०

ऋण (कर्ज), व्रण (घाव), अग्नि और कषाय—यह थोड़े भी हों तो इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यह थोड़े भी समय पाकर बहुत बड़े (अधिक) हो जाते हैं।

कामना

कामा दुरतिक्कम्मा।

—आचारांग १/२/५

कामनाओं (इच्छाओं) का पार पाना बहुत कठिन है।

कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं।

—दशवैकालिक २/५

कामनाओं का परित्याग करो, समझो—दुःख दूर हो गये।

काम-भोग

खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा,
पगामदुक्खा, अणिगामसुक्खा।
संसार—मोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

—उत्तराध्ययन १४/१३

कामभोग (इन्द्रिय-सुख) क्षण भर के लिए सुख देते हैं और चिरकाल तक दुःख देते हैं। ये अत्यधिक दुःख देते हैं और बहुत कम सुख देते हैं। यह संसार से मुक्त होने में बाधक हैं और अनर्थों की खानि हैं।

सव्वगहाणं पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्टी।
कामग्गहो दुरप्पा, जेणऽभिभूअं जगं सव्वं॥

—इन्द्रियपराजयशतक २५

सभी ग्रहों का मूल कारण और सभी दोषों को उत्पन्न करने वाला कामरूपी महाग्रह ऐसा अत्यन्त बलवान है, जिसने सम्पूर्ण जगत जगत के प्राणियों) को अभिभूत कर दिया है, अपने वश में कर रखा है।

कामासक्त

विसयासत्तो कज्जं अकज्जं वा ण याणति ।

—आचारांगचूर्णि १/२/४

विषयों में आसक्त मनुष्य को कर्तव्य-अकर्तव्य का परिज्ञान नहीं रहता है ।

कार्यसिद्धि

सुहसाहगंपि कज्जं, करणविहूणं णुवायसंजुत्तं ।
अन्नायऽदेसकाले, विवत्तिमुवजति सेहस्स ।।

—निशीथभाष्य ४८०३

देश, काल एवं कार्य को समझे बिना, समुचित प्रयत्न व उपाय से रहित किया जाने वाला कार्य, सुख साध्य (सरलता से पूर्ण होने वाला) होने पर भी सिद्ध (सफल) नहीं होता ।

कुसंग

दुज्जण संसग्गीए णियगं गुण खु सजणो वि ।
सीयलभावं उदयं जह पजहदि अग्गिजोएण ।।

—भगवती आराधना ३४४

जैसे अग्नि के सहवास से शीतल जल भी अपनी शीतलता छोड़कर गरम हो जाता है। उसी प्रकार सज्जन मनुष्य भी दुर्जन की संगति से अपना स्वाभाविक गुण छोड़ देता है ।

वरं अरण्णवासो अ, मा कुमित्ताण संगओ ।

—संबोध सत्तरि ५६

कुमित्र की संगति करने से तो वन में निवास करना अच्छा है ।

क्रोध

सुट्ठु वि पियो मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण ।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ।।

—आर्हत्प्रवचन ७/३५

क्रोध के कारण मनुष्य का अत्यन्त प्यारा व्यक्ति भी शत्रु बन जाता है । क्रोधी व्यक्ति के अनुचित आचरण से जगत प्रसिद्ध उसका यश भी नष्ट हो जाता है ।

गुण-दर्शन

या दोसेच्चिय गेण्हह विरले वि गुणे पयासह जणस्स ।
अक्ख-पउरो वि उयही, भण्णइ रयणावरो वि लोए ।।

—कुवलयमाला

लोगों के दोषों को ग्रहण मत करो, उनके विरले गुणों को भी प्रकाशित करो। क्योंकि घोंघों की प्रचुरता वाला समुद्र भी लोक में रत्नाकर कहलाता है।

गुणानुराग

जइ वि चरसि तवं विउलं, पढसि सुयं करिसि विविहकट्ठाइं ।
न धरसि गुणाणुरायं, परेसु ता निप्फलं सयलं ।।

—गुणानुरागकुलक ५

यद्यपि तुम विपुल तप करते हो, श्रुत का अध्ययन करते हो, भाँति-भाँति के कष्टों को सहन करते हो किन्तु यदि तुम दूसरों के गुणों के प्रति अनुराग नहीं करते हो तो ये सब निष्फल हैं।

गुरुकुलवासी

जस्स गुरुम्मि न भत्ती न य बहुमाणो गउरवं न भयं ।
न वि लज्जा न वि नेहो, गुरुकुलवासेण किं तस्स ।।

—उपदेशमाला ७५

जिसमें गुरु के प्रति न भक्ति है न बहुमान है, न गौरव है, न भय है, न अनुशासन है, न लज्जा है और न स्नेह ही है, उसका गुरुकुल में रहने से क्या प्रयोजन है ?

चारित्र

असुहादो विणिवत्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।

—द्रव्यसंग्रह ४५

अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति ही चारित्र है।

जीवन की सुगन्ध

विसुद्ध भावत्तणतो य सुगन्धं ।

—नन्दीसूत्रचूर्णि २/१३

पवित्र विचार ही जीवन की सुगन्ध है।

तितिक्षा

दुक्खेण पुट्ठ धुवमायएज्जा ।

—सूत्रकृतांग १/७/२९

दुःख आ जाने पर भी मन पर संयम रखना चाहिए।

दान

दाणं सोहग्गकरं दाणं अरुग्गकारणं परमं ।
दाणं भोगनिहाणं, दाणं ठाणं गुणगणाणं ।।

—दानकुलकम् ३

दान सुख-सौभाग्यकारी है, परम आरोग्यकारी है, पुण्य का निधान और गुण-समूह का स्थान है ।

दाणं मुक्खं सावयधम्मे

—रयणसार ११

दान देना सद्गृहस्थ का प्रमुख कर्तव्य है ।

दुःख

अणिट्ठत्थ समागमो इट्ठत्थ वियोगो च दुःखं णाम ।

—धवला १३/५,५, ६३/३३४/५

अनिष्ट अर्थ का संयोग और इष्ट अर्थ का वियोग, इस का नाम दुःख है ।

दुर्जन

दूरुड्डाणें पडिउ खलु अप्पणु जणु मारेइ ।
जिहगिरिसिगहुँ पडिअ सिल अन्नुवि चूरू करेइ ।

—हैम० प्राकृत व्याकरण, ३३७

जैसे पर्वत शिखर से गिरती हुई शिला स्वयं भी चूर्ण होती है और दूसरों को भी चूर-चूर कर देती है, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति स्वयं भी पतित होता हुआ दूर से ही दूसरों को भी नष्ट कर डालता है ।

बीहेदव्वं णिच्चं, दुज्जणवयणा पलोट्ट जिब्भस्स ।
वरणयरणिग्गमं मिव, वयणकयारं वहंतस्स ।।

—मूलाचार ९६२

जिसकी जिह्वा सदा पलटती रहती है, उस दुर्जन के वचनों से सदा ही डरते रहना चाहिए । दुर्जन की जिह्वा दुर्वचनों को वैसे ही निकालती रहती है, जैसे बड़े नगर का नाला कचरे को बहाता रहता है ।

दुर्लभ

दाणं मग्गण-दव्वं, भांडं, लंचा, सुभासियं वयणं ।
जं सहसा न य गणियं, तं पच्छहा दुल्लहं होइ ।।

—कामघट कथानक १०७

दान, माँगा हुआ द्रव्य, बर्तन, रिश्वत, सुभाषित वचन—यदि शीघ्र ग्रहण न किये जायें तो पीछे दुर्लभ हो जाते हैं।

दुष्कर

दाणं दरिद्दस्स पहुस्स खंती
इच्छानिरोहो य सुहोइयस्स।
तारुन्नए इन्दियनिग्गहो य
चत्तारि एयाणि सु दुक्कराणि॥

—गौतम कुलक १९

चार बातें बहुत दुष्कर हैं—

(१) निर्धन का दान देना, (२) प्रभु (अधिकार संपन्न) का क्षमा करना (३) सुखी व्यक्ति का अपनी इच्छाओं को रोकना और (४) युवावस्था में इन्द्रियों का निग्रह करना, उन्हें विषयों में न जाने देना।

दुष्ट आचार

जहा सुणी पूईकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ॥

—उत्तराध्ययन १/७

जिस प्रकार सड़े कानों वाली कुतिया जहाँ भी जाती है, सर्वत्र निकाल दी जाती है; उसी प्रकार दुःशील, उद्दण्ड और वाचाल व्यक्ति भी सर्वत्र धक्के देकर निकाल दिया जाता है।

देने का विवेक

जो जस्स उपाआग्गे, सो तस्स तहिं तु दायव्वो।

—निशीथभाष्य ५२९१

जो जिसके योग्य हो, उसे वही देना चाहिए।

धर्म

धम्मोमंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

—दशवैकालिक १/१

धर्म उत्कृष्ट मंगल है, और अहिंसा, संयम, तप उसका स्वरूप है। इस धर्म को जो हृदय में सदा धारण करता है, देवगण भी उसे नमस्कार करते हैं।

जत्थ य विसयविराओ, कसायचाओ गुणेसु अणुराओ।
किरिआसु अप्पमाओ, सो धम्मो सिवसुहो लोएवाओ ॥

—विकारनिरोधकुलक ६

वही धर्म मोक्ष सुख का देने वाला है—जिसमें, (१) विषयों से विराग, (२) कषायों का त्याग, (३) गुणों से अनुराग और (४) क्रियाओं में अप्रमाद है।

जीवाणं रक्खणं धम्मो।

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४६८

जीवों की रक्षा करना, धर्म है।

धम्मो दयाविसुद्धो।

—बोधपाहुड २५

जिसमें दया की विशुद्धता है, वही धर्म है।

धम्मविहीणो सोक्खं, तण्हाछेयं जलेण जह रहिदो।

—सन्मतिप्रकरण १/३

जिस प्रकार मनुष्य जल के बिना प्यास नहीं बुझा सकता, उसी प्रकार धर्मविहीन मानव सुख नहीं पा सकता।

धम्मसमो नत्थि निहि।

—वज्जालग्ग ३६/६०-१

धर्म के समान दूसरी कोई निधि नहीं है।

धैर्यवान

संघडिय घडिय विघडिय घडंत विघडंत संघडिज्जंतं।
अवहत्थिऊण दिव्वं करेइ धीरो समारद्धं ॥

—वज्जालग्ग ६/१६

जो पहले साथ था, बना था या बिगड़ गया था और अब जो बन रहा है या बिगड़ रहा है या साथ दे रहा है, उस भाग्य को छोड़कर धैर्यवान व्यक्ति आरम्भ किये कार्य को अवश्य पूरा करता है।

निन्दा

जइ इच्छह गुरुयत्तं, तिहुयण मज्झम्मि अप्पणो नियमा।
ता सव्वपयत्तेणं, परदोसविवज्जणं कुणह ॥

—गुणानुरागकुलकम् १२

यदि तुम सर्वत्र (तीनों लोकों में) अपनी प्रशंसा और बहुमान चाहते हो तो प्रयत्नपूर्वक परनिन्दा का पूर्णरूप से त्याग कर दो।

निरभिमान

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि॥

—आर्हत्प्रवचन ७/३७

निरभिमानी मानव संसार में स्वजन और सामान्यजन सभी को सदा प्रिय होता है और ज्ञान, यश, धन आदि का लाभ प्राप्त करता है तथा अपने कार्य को सिद्ध कर लेता है।

परोपजीवी

किं पढिएणं बुद्धीए किं, व किं तस्स गुणसमूहेणं।
जा पियरवि दत्तधणं, भुंजइ अज्जणसमत्थो वि॥

—पाइअकहासंगहो १६

उसके पढ़ने से क्या, बुद्धि से अथवा गुणसमूह से क्या (लाभ)? जो कमाने में समर्थ होता हुआ भी पिता के द्वारा अर्जित धन का ही भोग करता है।

पाप-पुण्य

कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाण व सुसीलं।

—समयसार १४५

अशुभकर्म को कुशील और शुभकर्म को सुशील (सदाचार) जानो।

सुह परिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणिय भण्णेसु।

—समयसार १८१

दूसरों के प्रति शुभ विचार पुण्य है और अशुभ विचार पाप है।

पुरुषार्थ

आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे।
थणक्खीरादियाणं वा पडरुसेण विणा ण हि॥

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड ८६०

जो व्यक्ति आलस्ययुक्त होकर उद्यम उत्साह से रहित हो जाता है, वह किसी भी फल को प्राप्त नहीं कर सकता। पुरुषार्थ से ही सफलता (सिद्धि) प्राप्त होती है, जैसे माता, बालक को स्तन का दूध भी रुदन करने पर ही पिलाती है।

प्रेम

जा न चलइ ता अमयं चलियं पेम्मं विसं विसेसेइ।

—वज्जालग्ग ३६/७

प्रेम जब तक स्थिर रहता है, तब तक अमृत है। जब वह स्थिर नहीं रहता, चलित हो जाता है, तब विष से भी अधिक भयानक बन जाता है।

ब्रह्मचर्य

जो देइ कणय कोडि अहवा कारेइ कणयजिणभवणं।
तस्स न तत्तिय पुन्नं, जत्तिय बंभव्वए धरिए॥

—संबोध सत्तरि ५६

यदि कोई व्यक्ति करोड़ों रुपयों के मूल्य का स्वर्ण याचकों को दान देता है अथवा स्वर्णमय जिनमंदिर का निर्माण कराता है, उसे उतना पुण्य नहीं होता, जितना ब्रह्मचर्य का पालन करने से होता है।

भाग्य

गुणहि न संपइ कित्ति पर फललिहिआ भुंजन्ति।
केसरि न लहइ बोड्डिअ विगय लक्खेहि घेप्पन्ति॥

—प्राकृत व्याकरण ४/३३५

गुणों से केवल कीर्ति मिलती है, सम्पत्ति नहीं। प्राणी भाग्य में लिखे फल को भोगते हैं। सिंह गुणसम्पन्न होने पर भी एक कौड़ी में भी नहीं बिकता जबकि हाथी लाखों (रुपयों) में खरीदा जाता है।

भाव

मणि मंत ओसहीणं, देवाणं तह य जंत तंताणं।
भावेण विणा सिद्धि, न हु दीसइ कस्स अवि लोए॥

—भावकुलक ३

जितनी भी सिद्धियां प्राप्त होती हैं, उनके मूल में भाव (भावना) होती है। जल के बिना पौधे सूख जाते हैं उसी तरह भाव के बिना सभी अनुष्ठान विफल हो जाते हैं। मणि (विविध प्रकार के रत्नों का प्रयोग), मन्त्र, औषध, देव, यन्त्र और तन्त्र का कोई भी अनुष्ठान सफल नहीं हो पाता।

मद्यपान

मज्जेव णरो अवसो, कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं।
इहलोए परलोए, अणुहवइ अणंतयं दुक्खं॥

—वसुनंदि श्रावकाचार ७०

मद्यपान से मानव मदहोश होकर निन्दनीय कार्य करता है, फल-स्वरूप उसे इस लोक और परलोक में अनन्त दुख भोगने पड़ते हैं।

मन

मणुस्सहिदयं पुणिणं गहणं दुव्वियाणकं ।

—इसिभासियाइं १/८

मनुष्य का मन बड़ा गहरा है । इसे समझ पाना कठिन है ।

मनुष्य

मण्णंति जदो णिच्चं पणेण मिउणा जदो दु ये जीवो ।
मण उक्कडा य जम्हा ते माणुसा भणिया ।।

—पंचसंग्रह १/६२

वे मनुष्य कहे जाते हैं जो मन के द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय (त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य), तत्त्व-अतत्त्व तथा धर्म-अधर्म का विचार करते हैं, कार्य करने में निपुण हैं और उत्कृष्ट मन के धारक हैं ।

मनोविजय

सुण्णीकयम्मि चित्ते, णूणं अप्पा पयासेइ ।

—आराधनासार ७४

मन को (विषय-कषाय, आवेग-संवेगों, इच्छा-अभिलाषाओं से) खाली कर देने पर उसमें आत्मा का आलोक झलकने लगता है ।

मानव स्वभाव

लुद्धा नरा अत्थपरा हवंति,
मूढा नरा कामपरा हवंति ।
बुद्धा नरा खन्तिपरा हवंति,
मिस्सा नरा तिन्निवि आयरंति ।।

—गौतम कुलक १

लोभी मनुष्य धन एकत्र करने में लगे रहते हैं, मूर्ख मनुष्य काम-भोगों में डूबे रहते हैं, बुद्धिमान पुरुष क्षमा प्रदान करने वाले होते हैं और चौथे प्रकार के मनुष्य इन तीनों का हो (धन-संग्रह, काम-भोग और क्षमा) विवेकपूर्वक आचरण करते हैं ।

माया

मायी विउव्वइ नो अमायी विउव्वइ

—भगवती सूत्र १३/९

कपटी व्यक्ति अनेक रूपों का प्रदर्शन करता है; जिसके हृदय में कपट नहीं होता वह नहीं करता । सरल सदा समरूप रहता है ।

सच्चाण सहस्साण वि माया एक्काव्वि णासेदि ।

—भगवती आराधना १/३/८/४

माया का एक आचरण ही हजारों सत्यों का नाश कर डालता है ।

मित्र

तं मित्तं कायव्वं जं किर वसणम्मि देसकालम्मि ।
आलिहियभित्तिवाउल्लयं व न परं मुहं ठाइ ।।

—वज्जालग्ग ६/४

मित्र उसे बनाना चाहिए जो भित्तिचित्र के समान किसी संकट और देश-काल में कभी भी विमुख न हो ।

मित्रता

मित्तेण तुल्लं च गणिज्ज खुद्दं,
जेणं भविज्जा तुह जीव ! भद्दं ।।

—उपदेश सप्ततिका ३

छोटे जीव (क्षुद्र प्राणियों को भी) को भी अपने मित्र समान समझो । इससे हे जीव ! तेरा कल्याण होगा ।

मेत्ति भूएसु कप्पए ।

—उत्तराध्ययन ६/२

सब जीवों के प्रति मित्रता का व्यवहार करना चाहिए ।

लोभ

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।
दो मास कयं कज्जं कोडीए वि निट्ठियं ।

—उत्तराध्ययन ८/१७

जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता है और लाभ से लोभ बढ़ता जाता है । दो माशा सोने से पूरा होने वाला काम करोड़ों से भी पूरा नहीं हो सका—(यह लोभ की विचित्रता है ।)

लोभी

लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं

—प्रश्नव्याकरण सूत्र २/२

लोभी मानव लोभवश झूठ बोलता है ।

वाणी-विवेक

मियं अदुट्ठं अणुवीए भासए,
सयाणमज्झे लहइ पसंसणं।

—दशवैकालिक ७/५५

परिमित, निर्दोष और विचारपूर्वक वचन बोलने वाला सत्पुरुषों में प्रशंसा प्राप्त करता है।

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगित्ति, तेणं चोरे त्ति नो वये॥

—दशवैकालिक ७/१२

काणे को काणा, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा कहना नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसे वचनों से उनका दिल दुःखता है।

विनय

विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छन्तो हियमप्पणो।

—उत्तराध्ययन १/६

यदि आत्मा का (अपना) हित चाहते हो तो स्वयं को विनय (सदाचार) में स्थापित करो।

हिय-मिय-अफरुसवाई, अणुवीइ भासि वाइओ विणओ।

—दशवैकालिकनिर्युक्ति ३२२

हित, मित, नम्र (अकर्कश) और विचारपूर्वक बोलना—यह वचन विनय है।

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं॥

—जीवण ववहारो १९/५५

विनयहीन व्यक्ति की समस्त शिक्षा निरर्थक हो जाती है। विनय शिक्षा का फल है और विनय का परिणाम सबका कल्याण है।

शिक्षाशील

अह अट्ठेहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ।
अहिस्सरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, स सिक्खासीले त्ति वुच्चई॥

—उत्तराध्ययन (११/४,५)

इन आठ स्थितियों या कारणों से मनुष्य शिक्षाशील कहा जाता

है : १. हँसी-मजाक नहीं करना, २. सदा इन्द्रिय और मन का दमन करना, ३. किसी का रहस्योद्घाटन न करना, ४. अशील (सर्वथा आचार-हीन न होना, ५. निशील (दोषों से कलंकित) न होना, ६. अति रसलोलुप न होना, ७. अक्रोधी रहना तथा ८. सत्यरत होना।

शील

पालिज्ज सीलं पुण सव्व कालं।

—उपदेशसप्ततिका २

शील का सदैव पालन करना चाहिए।

नियमित्तं नियभाया, नियजणओ निय पियामहो वावि।
नियपुत्तो वि कुसीलो, न वल्लहो होइ लोआणं ॥

—शीलकुलक १७

चाहे अपना मित्र हो, भाई हो, पितामह हो अथवा अपना पुत्र ही हो, यदि वह कुशील (कुत्सित शील वाला) है तो उसको कोई नहीं चाहता, वह किसी का प्रिय नहीं हो सकता।

सीलं उत्तमवित्तं, सीलं जीवाण मंगलं परम।
सीलं दोहग्गहरं, सीलं सुक्खाण कुलभवणं ॥

—शीलकुलक २

शील ही उत्तम धन है, शील ही समस्त दुख-दारिद्र्य को नाश करता है और शील ही समस्त सुखों का धाम है।

श्रमण-धर्म

खंतो अ मद्दवज्जव विमुत्तया तह अदीणय तितिक्खा।
आवस्सगपरिसुद्धी अ होंति भिक्खुस्स लिंगाइं ॥

—दशवैकालिक निर्युक्ति ३४९

क्षमा, मृदुता, सरलता, निर्लोभता, अदीनता, तितिक्षा और आवश्यक क्रियाओं की परिशुद्धि—ये भिक्षु (साधु-श्रमण) के चिन्ह हैं।

सज्जन

दीणं अब्भुद्धरिउं पत्तो सरणागए काउं।
अवरद्धेसु वि खमिउं सुयणो च्चिय नवरि जाणेइ ॥

—वज्जालग्ग ४/१३

दीनों का उद्धार करना, शरण में आये हुओं का प्रिय (कल्याण) करना; अपराधियों को भी क्षमा कर देना—सज्जन ही जानता है।

सन्तोष

असंतुट्ठाणं इह परत्थ य भयंति ।

—आचारांग चूर्णि १/१/२

असन्तोषी व्यक्ति को यहाँ-वहाँ सर्वत्र भय रहता है ।

सन्तोषी

संतोसिणो ण पकरेंति पावं ।

—सूतकृतांग १/१२/१५

सन्तोषी व्यक्ति पाप नहीं करते ।

सत्संग

कलुसी कदंपि उदयं अच्छं जह होइ कदय जोएण ।
कलुसो वि तहा मोहो उवसमदि हु बुड्ढ सेवाए ।।

—भगवती आराधना १०७३

जैसे मलिन जल भी कतक फल के संयोग से स्वच्छ होता है वैसे ही कलुष मोह शील भी वृद्धों की संगति से उपशान्त हो जाता है ।

सद्गुण

कंखे गुणे जाव सरीर-भेओ ।

—उत्तराध्ययन ४/१३

जब तक शरीर न छूट जाय अर्थात् जीवन के अन्तिम क्षणों तक सद्गुणों की आकांक्षा करनी चाहिए ।

सद्व्यवहार

खुड्डेहि सह संसग्गिं हासं कीडं च वज्जए ।

—उत्तराध्ययन १/६

क्षुद्र व्यक्तियों के साथ सम्पर्क, हँसी, मजाक, क्रीड़ा आदि नहीं करना चाहिए ।

सफलता

काले चरंतस्स उज्जमो सफलो भवति ।

—आचारांगनिर्युक्ति १/५/४

उचित समय पर काम करने वाले का श्रम सफल होता है ।

सम्यक्त्व

मा कासि तं पमादं, सम्मत्ते सव्वदुक्ख णासयरे ।

—भगवती आराधना ७३५

सम्यक्त्व सभी दुःखों का नाश करने वाला है, अतः इसके उपार्जन में प्रमादी मत बनो।

सम्यग्दर्शन

समत्तदंसी न करेइ पावं।

—आचारांग १/३/२

सम्यग्दर्शी कभी पाप किसी का अशुभ नहीं करता।

सम्यग्दृष्टि

हेयाहेयं च तहा, जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी।

—सूत्रपाहुड ५

जो हेय और उपादेय (त्यागने और ग्रहण करने योग्य) को जानता है, वही सम्यग्दृष्टि (सत्य दृष्टि) है।

सरलता

सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

—उत्तराध्ययन ३/१२

जो ऋजु होता है, वही शुद्ध हो सकता है और शुद्ध हृदय में ही धर्म टिक सकता है।

साधनहीन मानव

उवगरणेहि विहूणो, जहवा पुरिसो न साहए कज्जं।

—व्यवहारभाष्य पीठिका १०/५४०

साधनहीन पुरुष अपने अभीष्ट कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता है।

सुख-दुःख

विरत्त चित्तस्स सयाऽवि सुक्खं।
रागाणुरत्तस्स अईव दुक्खं॥
एवं मुणित्ता परमं हि तत्तं।
नीरागमग्गम्मि धरेह चित्तं॥

—संबोध सत्तरि ६

जिसका चित्त (सांसारिक सुख-भोगों से) विरक्त होता है, उसे सदा सुख ही सुख है और राग (सांसारिक राग) में रंगे हुए चित्त वाले प्राणी को अत्यधिक दुःख है। इस परम तत्व पर मनन करके वीतराग मार्ग में चित्त को स्थिर करना चाहिए।

सुभाषित वाणी

सुभासियाए भासाए सुकडेण य कम्मुणा ।
पज्जुण्णे कालवासी वा, जसं तु अभिगच्छति ।।

—इसिभासियाइं ३३/४

सुभाषित वाणी और सुकृत कर्मों के द्वारा मानव समय पर बरसने वाले मेघ के समान यश को प्राप्त करता है ।

हितकर-अहितकर

कोहो विसं किं अमयं अहिंसा,
माणो अरी किं हियमप्पमाओ ।
माया भयं किं सरणं तु सच्चं
लोहो दुहं किं सुहमाहु तुट्ठी ।

—गौतम कुलक ४

क्रोध जहर के समान घातक है किन्तु अहिंसा अमृत है । अभिमान शत्रु है और अप्रमाद हितकारी मित्र है । माया भय है और सत्य शरण है । लोभ दुःख है और सन्तोष सुख है ।

क्षमा

सीलं वरं कुलाओ, दालियं भव्वयं च रोगाओ ।
विज्जा रज्जाउ वरं खमा वरं सुट्ठु वि तवाओ ।।

—वज्जालग्ग ८/५

कुल से शील श्रेष्ठ है, रोग से दारिद्र्य श्रेष्ठ है, राज्य से विद्या श्रेष्ठ है और क्षमा बड़े से बड़े तप से भी श्रेष्ठ है ।

ज्ञान

नाणे नाणुवदेसे, अवट्माणो अन्नाणी ।

—निशीथभाष्य ४७९१

जो ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करता, वह ज्ञानी भी अज्ञानी है ।

न नाणमित्तेण कज्जनिप्फत्ती ।

—आवश्यकनिर्युक्ति ११५१

जान लेने मात्र से कार्य सिद्धि नहीं हो सकती ।

सव्वजगुज्जोयकरं नाणं ।

—व्यवहारभाष्य ७/२१६

ज्ञान संसार के समस्त रहस्यों को प्रकाशित करने वाला है ।

विविध चतुर्भंगी

दानी—

गज्जित्ता णामं एगे णो वासित्ता ।
वासित्ताणामं एगे णो गज्जित्ता ।
एगे गज्जित्ता वि वासित्ता वि ।
एगे णो गज्जित्ता, णो वासित्ता ।

—स्थानांग ४/४

मेघ के समान दानी भी चार प्रकार के होते हैं—
(१) कुछ बोलते हैं, देते नहीं ।
(२) कुछ देते हैं पर बोलते नहीं ।
(३) कुछ बोलते भी हैं और देते भी हैं ।
(४) कुछ न बोलते हैं और न देते ही हैं ।

चतुर्भंगी—दोष दर्शन

अप्पणो णाममेगे वज्जं पासइ, णो परस्स ।
परस्स णाममेगे वज्जं पासइ, णो अप्पणो ।
एगे अप्पणो वि वज्जं पासइ, परस्स वि ।
एगे णो अप्पणो वज्जं पासइ, णो परस्स ।

—स्थानांग ४/१

(१) कुछ मनुष्य अपना वर्ज्य (दोष) देखते हैं, दूसरों का नहीं ।
(२) कुछ मनुष्य दूसरों का वर्ज्य (दोष) देखते हैं, अपना नहीं ।
(३) कुछ मनुष्य अपना भी दोष देखते हैं और दूसरों का भी ।
(४) कुछ मनुष्य न अपना दोष देखते हैं, न दूसरों का ही ।

चतुर्भंगी—पुत्र

चत्तारि सुत्ता—
अतिजाते, अणुजाते, अवजाते, कुलिंगाले ।

—स्थानांग ४ १

चार प्रकार के पुत्र होते हैं—
(१) कुछ गुणों की दृष्टि से अपने पिता से बढ़कर होते हैं ।
(२) कुछ अपने पिता के समान होते हैं ।
(३) कुछ अपने पिता से हीन होते हैं ।
(४) कुछ वंश का नाश करने वाले कुलांगार होते हैं ।

चतुर्भंगी (मानव)

आवायभद्दए णामं एगे णो संवासभद्दए।
संवासभद्दए णामं एगे णो आवायभद्दए।
एगे आवायभद्दए वि, संवासभद्दए वि।
एगे णो आवायभद्दए, णो संवासभद्दए।

—स्थानांग ४/१

(१) कुछ पुरुष प्रथम मिलन में अच्छे होते हैं, किन्तु सहवास—साथ रहने में अच्छे नहीं होते।

(२) कुछ पुरुषों का सहवास अच्छा होता है, भेंट (प्रथम मिलन) नहीं।

(३) कुछ पुरुषों की भेंट भी अच्छी होती है और सहवास भी अच्छा होता है।

(४) कुछ पुरुषों की न भेंट अच्छी होती है और न सहवास अच्छा होता है।

विद्या के अयोग्य

चत्तारि अवायणिज्जा—
अविणीए, विगइ पडिबद्धे, अविओसितपाहुडे, माई।

—स्थानांग ४/४

चार पुरुष विद्याध्ययन के योग्य नहीं है—(१) अविनीत, (२) चटोरा, (३) झगड़ालू और (४) धूर्त

चतुर्भंगी (हितेच्छा)

अप्पणो णामं एगे पत्तियं करेइ, णो परस्स।
परस्स णामं एगे पत्तियं करेइ, णो अप्पणो।
एगे अप्पणो पत्तियं करेइ, परस्स वि।
एगे णो अप्पणो पत्तियं करेइ णो परस्स॥

—स्थानांग ४/३

(१) कुछ पुरुष केवल अपना ही भला चाहते हैं, दूसरों का नहीं।
(२) कुछ पुरुष अपना भला न चाहकर दूसरों का भला चाहते हैं।
(३) कुछ पुरुष अपना भी भला चाहते हैं और दूसरों का भी।
(४) कुछ पुरुष न अपना भला चाहते हैं, न दूसरों का ही।

बौद्ध साहित्य की सूक्तियां

अप्रमाद

अप्पमादो अमतंपदं, पमादो मच्चुनो पदं।

—धम्मपद २/१

अप्रमाद अमरता का मार्ग है, प्रमाद मृत्यु का।

आचरण

न च खुद्दं समाचरे किञ्चि,
येन विञ्ञू परे उपवदेय्युं।

—सुत्तनिपात १/८/३

ऐसा कोई क्षुद्र (ओछा) आचरण नहीं करना चाहिए, जिससे विद्वान लोग बुरा बताएँ।

आलस

नालसो विन्दते सुखं।

—सुत्तपिटक (जातक) १७/५२१/१२

आलसी को सुख नहीं मिलता।

कर्म

न हि नस्सति कस्सचि कम्मं,
एतिह नं लभतेव सुवामि॥

—सुत्तनिपात ३/३६/१०

किसी का कृत कर्म नष्ट नहीं होता, समय पर वह कर्ता को प्राप्त होता ही है।

काम-भोग

यो कामे कामयति, दुक्खं सो कामयति।

थेरगाथा १/९३

जो काम-भोगों की इच्छा करता है, वह दुःखों की कामना करता है।

क्रोध

कोधो वुच्चति धूमो।

—चुल्लनिद्देस पालि २/३/१७

क्रोध मन का धुंआ है।

चित्त

चित्तस्स दमथो साधु, चित्तं दन्तं सुखावहं।

—धम्मपद ३/१

चंचल चित्त का दमन करना अच्छा है, दमन किया हुआ चित्त सुखकारी होता है।

दुर्बुद्धि-सुबुद्धि

एकंगडदस्सी दुम्मेधो, सतदस्सी च पण्डितो।

—थेरगाथा १/१०६

मूर्ख (दुर्बुद्धि) सत्य का एक ही पहलू देखता है और पण्डित (सुबुद्धि) सत्य के सौ पहलुओं को देखता है।

प्रज्ञा

पञ्ञाचक्खु अनुत्तरं।

—इतिवुत्तक ३/१२

प्रज्ञा (बुद्धि) की आँख सर्वश्रेष्ठ है।

प्रामाणिकता

संवोहारेण खो, महाराज, सोचेइयं वेदितब्बं।

—उदान ६/२

हे महाराज ! व्यवहार करने पर ही मनुष्य की प्रामाणिकता का पता चलता है।

मन

खुद्दा वितक्का सुखुमा वितक्का,
अनुग्गता मनसो उप्पिलावा।

—उदान ४/१

अन्तर् (मन) में उठने वाले क्षुद्र और सूक्ष्म वितर्क (विकल्प) मन को उद्वेलित करते हैं।

यश तथा कीर्ति

निसम्मकारिनो राज, यसो कित्ति च वड्ढती।

—सुत्तपिटक (जातक) ४/३३२/१२८

हे राजन् ! सोच समझकर कार्य करने वालों के ही यश तथा कीर्ति बढ़ती है।

वाणी विवेक

मा वोच फरुसं किंचि, वुत्ता परिवदेय्युं तं।

—धम्मपद १०।५

ऐसा कठोर वचन मत बोलो, ताकि तुम्हें बोलकर फिर पछताना पड़े।

वैर

न हि वेरेण वेराणि, सम्मन्तीध कुदाचनं ।
अवेरेण च सम्मन्ती; एस धम्मो सनन्तनो ।।

—धम्मपद १।५

वैर से वैर कभी शांत नहीं होते; अवेर से ही वैर शांत होते हैं ।

शांति

उभिन्नमत्थं चरति, अत्तनो च परस्स च ।
परं संकुपितं ञत्वा, यो सतो उपसम्मति ।।

संयुत्तनिकाय १/४

दूसरे को कुपित जानकर भी जो स्मृतिमान शान्त रहता है, वह अपना और दूसरे का—दोनों का भला करता है ।

न हि रुण्णेन सोकेन, सन्ति पप्पोति चेतसो ।

—सुत्तनिपात ३/२४/११

रोने से या शोक करने से चित्त को शांति प्राप्त नहीं होती ।

शील

सीलगंधो अनुत्तरो ।

—धम्मपद ४/१२

शील (सदाचार) की सुगन्ध सर्वश्रेष्ठ है ।

सत्य-रस

सच्चं हवे सादुतरं रसानं ।

—सुत्तनिपात १/१०/२

सभी रसों में सत्य का रस ही अनुपम/सर्वश्रेष्ठ है ।

सुख-दुःख

सब्बं परवसं दुक्खं, सब्बं इस्सरियं सुखं ।

—उदान २/९

जो पराधीन है, वह सब दुःख है और जो स्वाधीन है, वह सब सुख है ।

संगति

यादिसं कुरुते मित्तं, यादिसं चूपसेवति ।
स वे तादिसको होति, सहवासो हि तादिसो ।।

—इतिवुत्तक ३/२७

जो जैसा मित्र बनाता है और जो जैसे संपर्क में रहता है, वह वैसा ही बन जाता है, क्योंकि उसका सहवास (संगति) ही वैसा है ।

वैदिक साहित्य की सूक्तियां

आज और कल

अद्धा हि तत यदद्य । अनद्धा हि यद् तच्छवः ।

—शतपथ ब्राह्मण २/३/१/२८

'आज' तो निश्चित है और 'कल' अनिश्चित है ।

उद्योगशीलता

उत्थानेनैधमेत्सर्वमिन्धनेनैव पावकम् ।
श्रियं हि सततोत्थायी दुर्बलोपि समश्नुते ।।

—कामन्दकीय नीतिसार १३/६

जैसे ईंधन डालने से अग्नि की वृद्धि होती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ करने से ही सबकी उन्नति होती है । निरन्तर उद्योगशील मनुष्य निर्बल होने पर भी लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है ।

कर्म

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि ।

—तैत्तिरीयोपनिषद् १/११

दोषरहित कर्मों का ही आचरण करना चाहिए, अन्यों का नहीं ।

कार्यनाश

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थं, न क्लीवा न च मानिनः ।
न च लोकापवादभीताः, न च शश्वत् प्रतीक्षिणः ।।

आलसी व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते, न क्लीव (साहसहीन) और न अभिमानी ही । लोकापवाद से भयभीत और दीर्घसूत्री (लम्बे समय तक सोचने और प्रतीक्षा करने वाले) भी लक्ष्य प्राप्ति में विफल हो जाते हैं ।

निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति, व्यसनं चाधिगच्छति ।।

—वा. रा. सु. कां. २/६

निरुत्साही, दीन और शोक से व्याकुल मनुष्य के सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं और वह आपत्ति में पड़ जाता है ।

दोष

सर्वमतिमात्रं दोषाय ।

—उत्तरामचरित ६

सभी वस्तुओं की अति दोष उत्पन्न करती है ।

नीति-पथ

चलति नयान्न जिगीषतां चेतः ।

—किरातार्जुनीय १०/२६

विजय की कामना करने वालों के चित्त नीति-पथ से विचलित नहीं होते ।

परिवार

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वासरमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।

—अथर्ववेद ३/३०/३

भाई भाई के साथ द्वेष न करे । बहन बहन से विद्वेष न करे । समान गति और समान नियम वाले होकर कल्याणमयी वाणी बोलें ।

परोपकारी

उपकारस्य धर्मत्वे विवादो नास्ति कस्यचित् ।
भूतेष्वभयदानेन नान्या चोपकृतिर्मम ।।

—कथा सरित्सागर ६/१/२४

उपकार करना धर्म है—इस विषय में किसी को कोई विवाद नहीं है और प्राणियों को अभयदान देने से बढ़कर दूसरा कोई उपकार नहीं है ।

आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ।

—मेघदूत, पूर्वमेघ, ५७

उत्तम मनुष्यों की सम्पत्ति का फल विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों के दुःख को शान्त करना है ।

पुरुषार्थ

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम् ।
तथा पुरुषकारेण बिना दैवं न सिद्धति ।।

—महा० अनुशासन पर्व ६/७

जिस प्रकार बीज बोए बिना क्षेत्रफल-रहित होता है उसी प्रकार पुरुषार्थ के बिना भाग्य भी सिद्ध नहीं होता ।

भाग्य

उद्यमः साहसं धैर्यं; बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।
षडेते यत्र वर्तन्ते, तत्र दैव सहायकृत् ।।

उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम—ये छह जहाँ (जिस पुरुष में) होते हैं, भाग्य उसी की सहायता करता है।

मन

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरङ्गमंज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
—यजुर्वेद ३४/१

जो दैवमन जाग्रत अवस्था में दूर चला जाता है और वैसे ही प्रसुप्त अवस्था में भी दूर चला जाता है, दूर होकर भी ज्योतियों का एक प्रकाशक यह मेरा मन शुभ संकल्प से युक्त हो।

मित्र

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम्।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्ति हि तैर्बुधाः॥
—शुक्रनीति ४/१३

(१) विद्या (२) शूरता (३) दक्षता (४) बल और (५) धैर्य—ये मनुष्य के सहज मित्र होते हैं, क्योंकि बुद्धिमान मनुष्य इन्हीं से जीवन-वृत्ति चलाते हैं।

मृदुता

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुना हन्त्यदारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीव्रतरं मृदुः॥
—महाभारत, वनपर्व २८/३१

मृदुता से मनुष्य कठोर को नष्ट कर देता है; मृदुता से ही अकठोर को भी विजित कर लेता है, मृदुता के प्रयोग से कुछ भी असाध्य नहीं है इसलिए मृदुता ही सर्वोत्तम नीति है।

वचन

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो ममचित्तमुपयासि॥
—अथर्ववेद १/३४/२

मेरी जिह्वा के अग्रभाग में माधुर्य हो। मेरी जिह्वा के मूल में मधुरता हो। मेरे कर्म में माधुर्य का निवास हो और हे माधुर्य! तुम मेरे हृदय तक पहुँचो।

वचन-विवेक

क्रुद्धयन्तं न प्रतिक्रुद्धयेदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ।।

—मनुस्मृति ६/४८

क्रोधित व्यक्ति के प्रति भी क्रोध न करे। किसी से निन्दित होने पर भी उससे मधुर वाणी बोले। सात द्वारों (पाँच इन्द्रियाँ, मन और अन्तःकरण) से निकली असत्य वाणी न बोले।

वाणी

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैवं कुर्वीत् केनचित् ।।

—मनुस्मृति ६/४७

किसी के द्वारा कही गई कटु-कठोर वाणी को सहन करें। किसी का अपमान न करे और इस शरीर से किसी के साथ शत्रुता न करे।

वाणी-विवेक

दीनान्धपंगुबधिरा नोपहास्या कदाचन ।

—शुक्रनीति ३/११५

दीन, अन्धे, पंगु और बहरे मनुष्यों का कभी उपहास नहीं करना चाहिए।

शील

शीलं प्रधानं पुरुषे तदस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः।।

—महाभारत, उद्योगपर्व ३४/४८

मनुष्य में शील (सदाचार) की ही प्रधानता होती है। जिसका शील ही इस संसार में नष्ट हो जाता है उसको न जीवन से, न धन से और न बन्धुओं से कोई प्रयोजन है।

शुद्धि

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विमोक्षः ।

—छान्दोग्य उपनिषद् ७/२६/२

आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है; अन्तःकरण की शुद्धि होने पर अटल स्मृति का लाभ होता है और स्मृति लाभ से सभी ग्रन्थियां खुल जाती हैं ।

सत्य

सत्यं ब्रूयात्प्रियंब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मं सनातनः ॥

—मनुस्मृति ४/१३८

सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए; किन्तु अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए और न प्रिय असत्य ही बोलना चाहिए यही शाश्वत (सनातन) धर्म है ।

समानता

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

—ऋग्वेद १०/१९१/४

तुम्हारा संकल्प समान हो, तुम्हारे हृदय समान हों, तुम्हारे मन एक समान हों, जिससे तुम्हारी शक्ति विकसित हो ।

संगति

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः ।
पंकच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः ॥

—मालविकाग्निमित्र २/७

मन्दबुद्धि वाला व्यक्ति भी बुद्धिमान व्यक्ति के सम्पर्क से चतुर हो जाता है, जैसे निर्मली-फल के सम्पर्क से दूषित जल भी शुद्ध हो जाता है ।

संग्रह

संग्रहो नास्ति कर्तव्यो दुःखभागन्यथा भवेत् ।
उद्वास्यन्ते द्विरेफा हि लुब्धकैर्मधु संग्रहात् ॥

—बुद्धचरित २६/४४

अति संचय नहीं करना चाहिए अन्यथा कष्ट भोगना पड़ता है । मधु का संग्रह करने के कारण मधुमक्खियां व्याधों के द्वारा उड़ा दी जाती हैं ।

हिन्दी साहित्य की सूक्तियां

अति

अति न करहु अतिता बुरी, चाहे होय ललाम ।
देखहु कीरा परत हैं, अति मीठे जो आम ।।

—नीति छन्द

अभिमान

रहिमन गली है सांकरी, दूजो ना ठहराइ ।
आपु अहै तो हरि नहीं, हरि तो आपुन नाहिं ।।

—रहीम, दोहावली १८२

अवगुण

आये औगुन एक के, गुन सब जात नसाय ।
जथा खार जल रासि को नहिं कोऊ जल खाय ।।

—दृष्टान्त तरंगिणी, १३४

अहिंसा

मानव नियम अहिंसा धर्म निधन ।

—गोरख वानी, २६

परमधर्म स्रुति विदित अहिंसा

—तुलसी : रामचरितमानस

हिंसा द्वारा न्याय होता है अन्याय युत ।

—महात्मा भगवानदीन—स्वदेश सतसई, पृ० ४

आशा

तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम ।
सेए सोक समर्पई, विमुख भए अभिराम ।

—तुलसी दो० २५८

ईश्वर भक्ति

कबीर हरि की भगति बिन धिग जीमण संसार ।।
धूवां केरा धौलहर जात न लागे बार ।।

—कबीर ग्रन्थ० पृ० २३

उद्योग

उद्योगी को ऊसरों में मिलता है रत्न।
किसी काल में हो नहीं जीवन रहित प्रयत्न॥

—विव्य दोहा० ६७१

ऋण

सब काहू को भूल के करज दीजिए नाहिं।
दीजै तो ना कीजिए झगरौ आपुन माहिं॥

—जान, पन्दनामा

स्वजन सखी सों जनि करहु कबहूँ ऋन व्यवहार।
ऋन सौं प्रीति, प्रतीति तिय रतन होति सब छार॥

—रत्नावली दोहा० १४०

एकता

सुबल सुमंत्र सुकर्म जहँ, जहाँ एका सु विचार।
तहँ सुख सम्पत्ति जय सदा, उन्नति होति अपार॥

—ब्रज सतसई पृ० ३७

कपट

फेर न ह्वै हे कपट सौं जो कीजे व्यापार।
जैसे हाँडी काठ की, चढै न दूजी बार॥

—वृन्द सतसई ३५

कर्म

बेकारी सबसे बुरी, निपट निराशा खान।
आशा बसती कर्म में, कर्म करें विद्वान॥

—नीति के दोहे

काम

रतनावलि उपभोग सौं होत विषय नहिं सांत।
ज्यों-ज्यों हवि होमें अनल, त्यों-त्यों बढ़त नितांत॥

—रत्नावलि दोहा ५६

कृपण

दाता नर अरु सूम में लखिए भेद इतेक।
देत एक जियतेहि हरषि, देत मरे पर एक।

—ब्रज सतसई पृ० ४०

क्रोध

कोप न करें महा सहिय, पाय खलन तै दूख।
लौन सींचिकर पीडिए, तऊ मधुर रस ऊख॥

—दीन दयालु, दृष्टान्त तरंगिणी ५१

रिस के बस ना हूजिए, कीजै बात विचार।
पुनि पछताए ह्वै कहा जो ह्वै जाइ विगार।

—ज्ञान ग्रन्थावली

गुण

गुण के गाहक सहस नर, बिनु गुण लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय॥

—गिरिधर कुण्ड० २७

गुरु

काहूँ सौ न रोष-तोष, काहूँ सों न राग-दोष,
काहू सों न बैरभाव काहू की न घात है।
काहू सों न बकवाद, काहू सों नहीं विषाद,
काहू सों न संग, न तौ कोउ पक्षपात है।
काहू सों न दुष्ट बैन काहू सों न लैन दैन,
ब्रह्म को विचार, कछु और न सुहात है।
'सुन्दर' कहत सोई ईशन को महाईश,
सोई गुरुदेव जाकै दूसरी न बात है॥

—सुन्दर ग्रन्थ० पृ० ३८७

तृष्णा

पल-पल छीजै देह यह घटत-घटत घट जाइ।
'सुन्दर' तृष्णा ना घटै दिन-दिन नौं तन खाइ॥

—सुन्दर ग्रन्थ० पृ० ७१२

दया

यदि मानव तन मध्य है, दयालुता का वास।
तो होगा किस धर्म में, उसका नहीं विकास॥

—हरिऔध; दिव्य दो० ५२२

दानदाता

जो सबही को देत है, दाता कहिए सोइ।
जलधर बरसत सम-विषम थल न विचारति कोइ।
—वृन्द सतसई, १००

दुष्ट

'रहिमन' ओछे नरन सों बैरभलो ना प्रीति।
काटे चाटे स्वान के दुहूँ रीति विपरीत॥
—रहीम दोहा० पृ० १७६

नीचन के व्यौहार बिसाहा हँसि कै मांगत दम्मा।
आलस नींद निगोड़ी घेरे 'घग्घा' तीनि निकम्मा॥
—घाघ, पृ० ३७

दोष

तरुनाई धन देह बल बहु दोषनु आगार।
बिनु विवेक रत्नावली पशुसम करत विचार॥
—रत्नावली दो० ८४

धन

रोय-रोय के पाइये रुपिया जिसका नाम।
जब जाये फिर रोइये इहमुख जिसको नाम॥
—गिरिधर कुण्ड० २०७

टका करै कुल हूल, टका मिरदंग बजावै।
टका चढ़ै सुखपाल, टका सिर छत्र धरावै॥
टका माय अरु बाप, टका भैयन को भैया।
टका सास अरु ससुर, टका सिर लाड़ लड़ैया॥
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाये रात दिन।
बैताल कहै विक्रम सुनो, धिक जीवन इक टके बिन॥
—कविता कौमुदी भाग १; पृ ३९९

मीत न नीत गलीत ह्वै, ना धन धरिये जोर।
खाए खरचे जो बचे, तो जोरिए करोरि॥
—बिहारी सतसई ६४६

खरचत खात न जात धन, औसर किये अनेक।
जात पुण्य पूरन भए, अरु उपजे अविवेक॥
—वृन्द सतसई, ६१५

धनी और निर्धन

भले बंस को पुरुष सो निहुरै बहुधन पाय।
नवै धनुष सदवंश को जिहिं ह्वै कोटि दिखाय॥

—वृन्द सतसई ६२१

निज सदनहुँ नहिं मान हीं, निरधन जन को कोय।
धनी जाय पर घर तऊ, सुर सम पूजा होय॥

—दृष्टान्त तरंगिणी ३९

धर्म

जाके अनुदिन अनुसरत जन मन विकसात जात।
वर विचार उर विमलता विलसि विलसि अधिकाय॥
पावत जाते मनुज हैं भूत प्रेत[1] को पंथ।
कहत धर्म ताको विबुध निरखि सकल सद्ग्रन्थ॥

—सदाचार सोपान ११९-१२०

रतनावलि धरमहिं रखत, धरमहि रखावत धर्म।
धरमहिं पालति सो पलति, जेहि धर्म को मर्म॥

—रत्नावली दोहावली ८०

नम्रता

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोय।
जेतो नीचो ह्वै चले तेतो ऊँचो होय॥

—बिहारी सतसई, पृ. ६४२

नारी

नारी निन्दा मत करो, नारि स्वर्ग की खानि।
नारी ही ते होत हैं, ध्रुव प्रहलाद समान॥

—अज्ञात कवि

नारी की निन्दा करो, नारि नरक की खान।
नारी ही से होत हैं, रावण कंस समान॥

—अज्ञात कवि

नारी है सद्रत्न ध्यान से देखिए।
वीरांगना है उसे शक्तिमय लेखिए॥

—रामचरित उपाध्याय, सरस्वती, भाग १८, संख्या ६

---

१ स्वर्ग आदि उच्च योनि में जन्म

नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति निज ग्यान में, पैसि न सकई कोय॥
—कबीर ग्रन्थ० पृ. ४०

निर्बल

कहैं इहै सब स्रुति स्मृति, इहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही, पातक राजा रोग॥
—बिहारी सतसई ६३४

निर्बल को न सताइये, जाकी मोटी आह।
मरी खाल की सांस सैं, लोह भस्म ह्वै जाय॥
—सूक्ति सुधा, पृ. ६

पड़ौसी

पड़ोसी सूं रूसणा, तिल-तिल सुख की हाणि।
—कबीर ग्रन्थ० पृ. ३७

विपत परै सुख पाइये, जो ढिग करिए भौन।
नैन सहाई बधिर के, अन्ध सहाई श्रौन॥
—वृन्द सतसई, २४७

परोपकार

परहित कर बरनत न बुध, गुपुति रखहिं दै दान।
पर उपकृति सुमिरत रतन, करत न निज गुन गान॥
—रत्नावली दो० १८२

परिवार

कुल मारग छोड़े न कोउ होहु कितै की हानि।
गज इक मारत दूसरो चढ़त महावत आनि॥
—वृन्द सतसई, पृ. ६६

पुत्र

रतन बाँझ रहिबो भलो, पै न होउ कपूत।
बाँझ रहै तिय एक दुख पाइ कपूत अकूत॥
—रत्नावली दोहा० १८५

जननी जनै तो एक सुत, कै जोगी कै सूर।
नहीं तर जननी बांझ रह, मती गंवाजे नूर॥

प्रेम

प्रीति सुखद है सुजन की, दिन-दिन होय विशेष।
कबहुँ मेटे ना मिटे ज्यों पाहन की रेख॥

—दृष्टान्त तरंगिणी १०९

बुद्धिहीन

विधि निषेध नहीं जानही, कुवचन गरब विरोध।
अपकारी क्रोधी निलज, लच्छन आठ अबोध॥

—व्रज सतसई ४७

बोलो

रतनावलि कांटो लग्यौ बैदनु दियो निकारि।
वचन लगौ निकस्यौ न कहुँ उन डारो हिय फारि॥

—रत्नावली दोहा०, ३६

जो लायक जिहि बात को तासौं तैसी होय।
सज्जन सौं न बुरी करै दुर्जन भली न कोय॥

—वृन्द सतसई १०९

बात कहन की रीति में, है अन्तर अधिकाय।
एक वचन तें रिस बढ़े, एक वचन ते जाय॥

—वृन्द सतसई ३२६

भाई

भाई सौ नहिं मीत, जो अपने अनुकूल हो।
भाई सौ नहिं तीत, जो प्रतिकूल चलन लगे॥

—नीति छन्द

भाग्य

लोहा चमकै घिसै से, लकड़ी रगड़े आग।
सोना चमकै ताप से, श्रम से चमकै भाग॥

—नीति के दोहे

रतन देव अमृत तिष, विष अमृत बन जात।
सूधी हू उलटी परै, उलटी सूधी बात॥

—रत्नावली दो० ११४

मदिरापान

मुंह जब लागै तब नहिं छूटै।
जाति मान धन सब कुछ लूटै॥

पागल करि मोहे करै खराब।
क्यों सखि साजन ? नहीं शराब।।
—भारतेन्दु सुधा, पृ. ३२

मन

मन सौं मित्त न कोइ, जो अपने बस होत है।
कहे माहिं ना होइ, तो ऐसौ अरि और ना।।
—जान सत्तवाना

मन के कंटक

तुष्टहिं निज रुचि काज करि रुष्टहिं काज बिगारि।
तिया तनय सेवक सखा, मन के कंटक चारि।।
—तुलसी सतसई ७/२६

मनुष्य

रन-रन सूर न होत हैं, जन-जन होत न भक्त हरि।
नंद सकल सुनो नरहरि कहत, सब नर होत न एक सरि।।
—कविता कौमुदी भा० १, पृ. २२६

माता-पिता

मातु-पिता मन पोषिहे, बहुत करै मनुहार।
तापर निहचे होत है दयावन्त करतार।।
—जान सतवाना

मानव दशा

पुरुष भवे प्रायीक बरस चालीसां मीठो।
कड़वो होय पचास साठ तिहां क्रोध पइठो।।
सतरां सगो न कोय, असीआं आस न कोई।
नांह नब्बे में होय, हंसे तिहाँ लोग-लुगाई।।
सौ हुओ-सौ हुओ सब को कहें, सब तन हो गयो जोजरो।
घर की पतिव्रता यूं कहे, ओ मरै तो सुधारै डोकरो।।
—भाषा श्लोक सागर

माया

माया भ्रम को मूल, भ्रम बिनु जाय न दुक्ख जग।
रे मन मायाबन्ध, तजहु भजहु मायापतिहि।।
—नीति छन्द०

मांस भक्षण

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात है, ताको कौन हवाल॥

—कबीर ग्रन्थ० पृ० ४२

मित्र

अवगुन गनहि निवारिबै, गुनहि गहायै जौन।
हितकारी उपकाररत मीत सरिस है कौन।

—सदाचार सोपान ८१

मृत्यु

रहिमन भेषज के किए काल जीति जो जात।
बड़े बड़े समरथ भए तौ न कोइ मरि जात॥

—रहीम दोहा० २२०

झूठे सुख को सुख कहै मानत है मन मोद।
जगत चबीणा काल का, कछु मुख में कछु गोद।

—कबीर ग्रन्थ० पृ० ७१

मोह

मोह अँधेरो कारने दीखे सत्य असत्य।
ईश दीप्ति से दूर हो, सत्य होइ तब सत्य॥

—नीति छन्द०

याचना

रहिमन याचकता गहै बड़े छोट है जात।
नारायण को हू भयो बावन आँगुर गात।

—रहीम दोहा० २२४

राग द्वेष

कह गिरिधर कविराय, सुखी सो कैसे होवै।
तृष्णा राग रु द्वेष इर्ष्या मत्सर बोवै॥

—गिरधर कुण्डलिया १६८

ना काहू सौं राग है, न काहू सौं द्वेष।
उसे और क्या चाहिए, वह तो है सर्वेश॥

—नीति छन्द०

लाज

नर भूषन सब दिन क्षमा, विक्रम अरि घनघेर।
त्यों तिय भूषन लाज है, निलज सुरत की बेर॥
—वृन्द सतसई, पृ० २१२

लोभ

लोभ सरिस अवगुण नहीं, तप नहीं सत्य समान।
—गिरिधर दास, कविता कौमुदी, भाग १, पृ० ४९३
लोभ लगै जग में सुप्रिय, धरम न तैसे होय।
महिषी पालत छीर हित, तथा न कपिला होय॥
—दीनदयाल, दृष्टान्त तरंगिणी, ४९

वक्र

टेढ़ देख संका सब काहू, वक्र चंद्रमहिं ग्रसै न राहू।
—तुलसी : रामचरित मानस
बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सन्मानु।
भले भले कह छाँड़िये, खोटे ग्रह जप-दानु॥
—बिहारी सतसई

विद्या

विद्या बिनु सोहे नहीं, छबि जोबन कुल मूल।
रहित सुगन्ध सजै न वन जैसे सेमल फूल॥
—दृष्टान्त तरंगिणी १२०

विश्वास

सिद्ध होत कारज सबै, जाके जिय विश्वास।
—वृन्द सतसई, पृ० ५२७
जग परतीत बढ़ाइये, रहिए साँचे होय।
झूठे नर की साँच हू, साख न मानै कोय॥
—वृन्द सतसई ५८०

वृद्धावस्था

श्वेत बाल बतला रहे कितनी उज्ज्वल बुद्धि।
रगड़ रगड़ हमने करी वर्षों इसकी शुद्धि॥
—नीति के दोहे

व्यापार

रोजगार वानिज्य को सुखप्रद अरु स्वच्छन्द ।
जामे निज लछिमी बसति देर करत मति मंद ।।

—सुधा सरोवर पृ० ४७

अलग-अलग व्यापार में, बहुव्यय स्रम लघु आय ।
या ते मिलिकर कम्पनी, कारज करहु बनाय ।।

—सुधा सरोवर, पृ० ४८

श्रम चातुरी एकाग्रता अरु सच्चा व्यवहार ।
समय ज्ञान और नम्रता मूल मन्त्र व्यापार ।।

—नीति छन्द

शरीर

'सुन्दर' देह मलीन अति, बुरी वस्तु को भौन ।
हाड़ मांस को कोथरा, भली वस्तु कहि कौन ।।

—सुन्दर ग्रन्थ पृ० ७२०

सबै सुखन को सोत, सतत निरोग शरीर है ।
जगत जलधि को पोत, परमारथ पथ रथ यहै ।।

—दुलारे दो० ३५

शत्रु

सांई वैर न कीजिए गुरु पंडित कवि यार ।
बेटा बनिता पंवरिया यज्ञ करावनहार ।।
यज्ञ करावनहार राजमंत्री जो होई ।
विप्र पड़ौसी वैद्य आपकी तपै रसोई ।।
कह गिरिधर कविराय जुगन तैं यह चलि आई ।
इन तेरह सौ तरह दिये बनि आवै भाई ।।

—गिरधर कुण्डलिया, पृ० १६

इसका अधुनिक रूप है—

सांई वैर न कीजिए गुरु नेता कवि यार ।
बेटा संपादक घरनि औ जो खिदमतगार ।।
औ जो खिदमतगार राज्य अधिकारी होई ।
भाई पड़ौसी वैद्य आपकी तपै रसोई ।।
कह गिरिधर कविराय, जुगन ते यह चलि आई ।
इन तेरह सौं तरह दिये बनि आवै भाई ।।

—नीति छन्द

शील

भूषन रतन अनेक जग, पै न सील सम कोय।
सील जासु नैनन बसत, सो जग भूषन होय॥
—रत्नावली दोहा० पृ. १४४

सत्य

वचन आपनो सत्य करि, रतन न अनिरत भाषि।
अनृत भाषिबौ पाप पुनि, उठति लोक सौं साषि॥
—रत्नावली दोहावली, १६६

समय

दुख सुख धन जीवन मरन पैये बार करोर।
बीत गयो जो फिर कबौ समय न मिलत बहोर॥
—ब्रज सतसई ८६

तृषित बारि बिनु जो तन त्यागा।
मुये करै का सुधा तड़ागा॥
का बरषा जब कृषी सुखाने।
समय चूक पुनि का पछताने॥
—रामचरितमानस १/२६१

सरल

अति ही सरल न हूजिए देखो जो वनराय।
सीधे सीधे छेदिये, बाँको तरु बच जाय॥
—वृन्द

साथी

तुलसी साथी विपत्ति के विद्या विनय विवेक।
साहस सुकृत सत्यव्रत रामभरोसो एक॥
तुलसी असमय के सखा साहस धर्म विचार।
सुकृत सील स्वभाव ऋजु रामसरन आधार॥
—तुलसी सतसई ७/४६,४७

साधु

साधु वही जो काया साधे।
सब कछु छांड़ि ईस आराधे॥
—नीति छन्द०

सुख-दुख

सुख बीते दुःख होत है, दुःख बीते सुख होत ।
दिवस गये ज्यों निस उदित, निस गत दिवस उदोत ।।

—वृन्द सतसई ११०

संगठन

निर्बल हू दल बाँधिके, सबलहिं देत हराय ।
ज्यों सींगन सो गाय गन, बनपति हेति भगाय ।।

—दुलारे दो० १७५

संतोष

नहिं धन धन है परम, धन तोषहिं कहैं प्रवीन ।
बिन संतोष कुबेरऊ दारिद दीन मलीन ।।

—दृष्टान्त तरंगिणी, पृ. ३२

संसार

यह ऐसा संसार है, जैसा सेंवल फूल ।
दिन दस के व्यवहार कौं, झूठे रागि न भूल ।।

—कबीर ग्रन्थ, पृ. २१

संस्कार

बारेपन सौं मातु-पितु जैसी डारति बान ।
सो न छुटाए पुनि छुटत रतन भयहु सयानि ।।

—रत्नावली दोहा० १३८

बालहिं लालहु अस रतन जो न औगुनी होइ ।
दिन-दिन गुन गरुता गहै साँची लालन सोइ ।।

—रत्नावली दोहा० १८७

स्वार्थ

सुर नर मुनि सब कर यह रीती ।
स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ।।

—मानस सूक्त पृ. ११७

सांई सब संसार में मतलब का व्यवहार ।

—गिरिधर कुण्ड० ३६

बिन स्वारथ कैसे सहै कोऊ करुवे बैन ।
लात खाय पुचकारिए, होय दुधारु धैन ।।

—वृन्द सतसई १४५

स्वभाव

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग ।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग ।।

—रहीम दो० ७९

नीच निचाई नहिं तजै जो पावहिं सत संग ।
तुलसी चंदन विटप बसि, बिन विस भय न भुजंग ।।

—तुलसी सतसई ६/२१

ज्ञान

हाय हाय तब लग रहै, जब लग बाह्यहु दृष्ट ।
अन्तर्मुख जब ही भई सब मिटि जाइ अनिष्ट ।।

—गिरिधर कुण्ड० १८८

अंग्रेजी साहित्य की सूक्तियाँ

Anger—**क्रोध**

Anger begins in folly and ends in repentance.

—Pythagoras

क्रोध का प्रारम्भ मूर्खता से होता है और अन्त पश्चात्ताप में ।

Appraisal—**प्रशंसा**

It is better that a man's own works, than that of another man's words should praise.

—L'Ectrange

किसी अन्य व्यक्ति के शब्दों द्वारा प्रशंसित होने से बेहतर है कि व्यक्ति अपने ही कार्यों द्वारा प्रशंसा अर्जित करे ।

Clevernness—**चतुराई**

Cleverness is serviceable for everything.

—Amiel

चतुराई सभी बातों में उपयोगी/सहकारी है ।

Conduct—**आचरण**

Conduct is three fourth of our life and its largest concern.

—Matthew Arnold

आचरण हमारे जीवन का तीन-चौथाई भाग है और जीवन व्यवहार को अधिकतम प्रभावित करता है ।

Contentment—**सन्तोष**

Enjoy your own life without comparing it with that of another.

—Condorcet

किसी दूसरे के जीवन से तुलना किये बगैर अपने जीवन का आनन्द लेना चाहिए ।

Sweet are the thougths that savour of content, the quiet mind is richer than a crown.

—R. Greene.

सन्तोष की रक्षा करने वाले विचार अति मधुर होते हैं, शान्त मस्तिष्क राजा (सम्राट) से भी अधिक धनी होता है।

Conversation—**वार्ता**

Conversation in sits better part, may be esteemed as a gift.

—Cowper

वार्ता (वार्तालाप) का गुण, मानव के लिए बहुत बड़ी देन है।

Courage—**साहस**

A man of courage, is also full of faith.

—Cicero

साहसी व्यक्ति अधिकांशतः श्रद्धालु और विश्वासी होता है।

Courtesy—**विनम्रता**

The small courtesies sweeten life; the greater ennoble it.

—Bovee

छोटी-छोटी विनम्रताएँ जीवन को मधुर बनाती हैं और उच्चकोटि की विनम्रता जीवन को महान बना देती है।

Culture—**संस्कृति**

The foundation of culture is at last the moral sentiment.

नैतिक भावना ही संस्कृति की आधारशिला है।

Deed—**कार्य**

Noble deeds that are concealed are most esteemed.

—Pascal

उच्चकोटि के कार्यों का, यदि प्रचार न किया जाय तो वे अधिक प्रशंसित होते हैं।

Desire—**इच्छा**

There are two tragedies in life. One is not to get your hearts desire. The other is to get it.

—Bernard Shaw

जीवन में दो बड़े दुःख हैं—प्रथम हृदय की इच्छाओं का पूरा न होना और दूसरा इच्छाओं का पूरा हो जाना।

(अर्थात् इच्छा मात्र ही दुःखदायी है।)

Discipline—अनुशासन

Silence is a part of spiritual discipline of a votary of truth.

—M. Gandhi

मौन सत्य के प्रति दृढ़तापूर्ण भक्ति और आत्मिक अनुशासन है।

Discretion—विवेक

Science without conscience is the ruin of people.

—W. Makepeace

विवेकरहित विज्ञान मानवता के लिए विनाशकारी है।

Duty—कर्तव्य

Duty determines destiny.

—William Mckinley

कर्तव्य भाग्य को निश्चित करता है।

Enthusiasm—उत्साह

Nothing great was ever achieved without enthusiam.

—Emerson

कोई भी महान उपलब्धि उत्साह के अभाव में नहीं प्राप्त की जा सकती।

Equality—समानता

Let's go hand in hand, not one before another.

—Shakespeare

हमें समान रूप से साथ-साथ चलना चाहिए, न कि एक-दूसरे से आगे-पीछे।

Evil—बुराई

Never throw mud, you may miss your mark; but you must have dirty hands.

—Joseph Parker

कभी दूसरे पर कीचड़ मत उछालो, संभव है तुम्हारा निशाना चूक जाय; किन्तु तुम्हारे हाथ तो गन्दे हो ही जायेंगे।

Faith—श्रद्धा

Faith is the continuation of reason.

We walk by faith, not by sight.

—William Adams

बुद्धि की क्रमबद्धता श्रद्धा है।

हम श्रद्धा के सहारे जीवन व्यतीत करते हैं, दृष्टि के आश्रित होकर नहीं।

Forgiveness—**क्षमा**

Forgiveness adorns a soldier.

—M. Gandhi

क्षमा सैनिक (व्यक्ति) का भूषण है।

Gratitude—**कृतज्ञता**

Gratitude is the memory of heart.

—J. B. Massieu

कृतज्ञता, हृदय में स्मृति बनाए रखना है।

Honesty—**ईमानदारी**

No legacy is so rich as honesty.

—Shakespeare

ईमानदारी से श्रेष्ठ और कोई देन नहीं है।

Morality—**नैतिकता**

Morality is the best of all the devices of leading mankind by the nose.

—Nietzsche

मानव जाति को सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए नैतिकता सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

Opportunity—**अवसर**

There is a tide in the affairs of man,
Which, taken at the flood, leads on to fortune.

—Shakespeare

अवसर, मानव के जीवन में एक प्रकार का ज्वार है, जिस के द्वारा बाढ़ में पड़े व्यक्ति के समान, उसे सौभाग्य तक ले जाया जाता है।

Passion—**कषाय**

It is with our passions, as it is with fire and water, they are good servants and bad masters.

—Sir Roger L'Estrange

अग्नि और जल के समान ही हमारी कषायें हैं। यदि ये नियन्त्रित रहें, सेवक के रूप में रहें तो ठीक हैं और यदि स्वामी बन जायें, नियन्त्रण से बाहर निकल जायें तो बुरी हैं। □

परिशिष्ट २

पुस्तक में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रंथ सूची

अथर्ववेद
अनुयोगद्वारसूत्र—उपक्रमाधिकार
अन्तगडदशा सूत्र
अभिधान राजेन्द्र कोष
अभिज्ञान शाकुन्तलम्—महाकवि कालिदास
अमर कोष
अमर भारती, अगस्त ७२
अमितगति द्वात्रिंशिका
अर्हन् नीति—आचार्य हेमचन्द्र
अष्टपाहुड–मोक्ष पाहुड —आचार्य कुन्दकुन्द
आचारांग
आचारांगनिर्युक्ति
आनन्द प्रवचन
आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आर्हतदर्शनदीपिका
आवश्यकसूत्र
आवश्यकचूर्णि
आवश्यकनिर्युक्ति
आवश्यक मलयगिरिवृत्ति
इन्द्रभूति गौतम—गणेशमुनि शास्त्री
ईशोपनिषद्
उत्तराध्ययनसूत्र
उत्तराध्ययनसूत्र—चार्ल्स सरपेन्टियर
उत्तराध्ययनचूर्णि
उत्तराध्यय (बृहद्वृत्ति)
उपदेश सहस्री—शंकराचार्य
उपासकदशांगसूत्र
उपासकाध्ययन—सोमदेव सूरि
ऋग्वेद
ऋषभदेव : एक परिशीलन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
ऐतरेय ब्राह्मण
ओघनिर्युक्ति
अंगुत्तरनिकाय
कठोपनिषद्
कथाकोष प्रकरण
कल्पद्रुमकलिका
कल्पसूत्र—सं० पुण्यविजय जी
कामंदकीय नीतिसार
कुरान शरीफ
केनोपनिषद्
कौषीतकि उपनिषद्
गांधी वाणी
गीता रहस्य, कर्मजिज्ञासा—लोकमान्य तिलक
गुणस्थान क्रमारोह
गोम्मटसार—आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
गौतम कुलक

गौतम धर्मसूत्र
चउप्पन्न महापुरिसचरियं
चरक संहिता
चरणानुयोग—मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
चाणक्यनीति
चाणक्यनीतिदर्पण
छान्दोग्योपनिषद्
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति कालाधिकार
जातक १, २, ३,
जीवन सुधार
जैन कथाएँ, भाग ४६, १०१ —उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी
जैन कथामाला, भाग १७ —युवाचार्य श्री मधुकर मुनि
जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
जैन तत्व कलिका —आ० श्री आत्मारामजी महाराज
जैनधर्म की हजार शिक्षाएँ—युवाचार्य श्री मधुकर मुनि
जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन —डा० सागरमल जैन
जैन महाभारत
जैनाचार : सिद्धान्त और स्वरूप—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
ठाणांग सूत्र
तत्वार्थभाष्य—उमास्वाति
तत्वार्थ सूत्र—उमास्वाति
तत्वार्थ सूत्र—पंडित सुखलाल जी
Eng. translation—K.K.Dixit
तत्वार्थसूत्र श्रुतसागरीया वृत्ति
ताओ उपनिषद्
तीर्थंकर (मासिक) जीव विज्ञान विशेषांक
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीय संहिता
थेरीगाथा
थ्री लेक्चर्स ऑन वेदान्त फिलासफी —मैक्समूलर
दशवैकालिक सूत्र
दशवैकालिकचूर्णि
दर्शन और चिन्तन, भाग १—पं० सुखलाल जी
दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र
द्याद्विवेद (नीति मंजरी)
धम्मपद
धर्मपरीक्षा—उपाध्याय यशोविजय
धर्मबिन्दुप्रकरण—आ० हरिभद्र
धर्मोपदेश विवरण
ध्यान शतक
नियमसार—आ० कुन्दकुन्द
निशीथचूर्णि
निशीथभाष्य
नीतिशास्त्र—चटर्जी, शर्मा, दास
नीतिशास्त्र—जे० एन० सिन्हा
नीतिशास्त्र—डा० वात्स्यायन
नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण—डा० संगम लाल पांडेय
नीतिशास्त्र की रूपरेखा—डा० राम नाथ शर्मा
नीतिशास्त्र के सिद्धान्त—डा० राम नाथ शर्मा

नीतिवाक्यामृत—आ० सोमदेवसूरि
नीतिवाक्यामृत में राजनीति—सं० एम० एल० शर्मा
नीतिशतक—भर्तृहरि
नेमिनाथ चरियं
नैतिक जीवन के सिद्धान्त
न्यायकोष
परमात्ममार्गदर्शक—पूज्य अमोलक ऋषि जी म०
पातंजल योगशास्त्र
पारसी धर्म क्या कहता है ?—श्रीकृष्ण दत्त भट्ट
पाश्चात्य नीतिशास्त्र—डा० रामनाथ शर्मा
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—आ० अमृतचन्द्र
पंचतन्त्र
पंचाशक (उत्तरार्ध)
प्रतिक्रमणत्रयी
प्रतिक्रमण सूत्र
प्रवचनसारोद्धार
प्रश्नव्याकरण सूत्र
प्रश्नोत्तर श्रावकाचार
प्रश्नोपनिषद्
प्रज्ञापना सूत्र
प्राकृत विमर्श—सरयू प्रसाद अग्रवाल
प्राकृत सुभाषित संग्रह—शाह
प्राकृत सूक्ति कोष
बनारसी विलास
बिहारी सतसई
बृहत्कल्पभाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
भगवती सूत्र
भगवान बुद्ध
भगवान महावीर : एक अनुशीलन—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
भारतीय नीतिशास्त्र—डा० दिवाकर पाठक
भारतीय नीतिशास्त्र—डा० रामनाथ शर्मा
भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास—भीखनलाल आत्रेय
भोज प्रबन्ध
मनुस्मृति—आ० मनु
महाभारत—महर्षि वेदव्यास
महावीर चरियं
महापुराण—जिनसेन
मुण्डकोपनिषद्
मूल प्रवृत्तियों का सामाजिक जीवन में स्थान
मूलाचार
यजुर्वेद
यशस्तिलकचम्पू—आ० सोमदेवसूरि
यूटिलिटेरियनिज्म
योगबिन्दु—आ० हरिभद्र
योगशास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र
रत्नकरंड — श्रावकाचार—आचार्य समन्तभद्र
रहीम ग्रन्थावली
राजवार्तिक—आ. अकलंक
रामचरितमानस—तुलसीदास
रायपसेणिय सुत्त
लैंग्वेज, ट्रूथ एण्ड लाजिक—ए. जी. एयर
वसुनन्दि श्रावकाचार — आचार्य वसुनन्दि

वाल्मीकि रामायण
विदुर नीति
विवेक चूडामणि
विंशतिका
विंशिका—आ० हरिभद्रसूरि
विशेषावश्यकभाष्य
व्यवहारसूत्र
षट्खंडागम धवलावृत्ति, प्रथम खण्ड
शतपथ ब्राह्मण
शुक्रनीति
श्रमण सूत्र—उपाध्याय अमर मुनि
श्रावक धर्म—देवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्रावक धर्म दर्शन—उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी
श्रीमद्भगवद् गीता
श्रीमद्भगवद् गीता—डा० राधाकृष्णन्
श्रीमद्भागवत पुराण
श्रेणिक चरित्र
समणसुत्त
समयसार—आ० कुन्दकुन्द
समवायांग सूत्र
सम्यग्दर्शन : एक अनुशीलन—श्री अशोक मुनि
सर्वार्थसिद्धि—आ. पूज्यपाद
सर्वोदय दर्शन
सागार धर्मामृत—पं० आशाधर
साधना का सोना, विज्ञान की कसौटी—मुनि सुखलाल
साधना के सूत्र—युवाचार्य मधुकर मुनि
सामायिकसूत्र—उपाध्याय अमरमुनि
सावयधम्म
सुत्तनिपात
सूक्ति त्रिवेणी
सूत्रकृतांगसूत्र
सूत्रकृतांगचूर्णि
संस्कृत-हिन्दी कोष—आप्टे
स्थानांगसूत्र
स्थानांगसूत्रवृत्ति
हितोपदेश
हिन्दी नीति काव्य—डा० भोलानाथ तिवारी
हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर—विंटरनित्स
हिस्ट्री आफ फिलासफी—थिली
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—कीथ
त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र
ज्ञाताधर्मकथांग
ज्ञानार्णव—आ० शुभचन्द्र
Akbar, The Great Mughal —A. L. Srivastava
A History of Indian Literature, Vol. I
A History of Philosophy —Erdmann
A Manual of Ethics —Mackenzie
A Study of Ethical Principles —James Seth
Bunches of Sayings —Sri Keval Muni
Chamber's Twentieth Century Dictionary

Economics as Philosophy, International Journal of Ethics
—E. W. Goodhue
Elements of Social Justice
—Hobhouse, L. T.
Ethical Doctrines in Jainism
—K. C. Sogani
Ethics of India
—Hopkins E. W.
Ethics of Morals
Experimental Morality
Fundamentals of Ethics
—W. M. Urban
Groundwork of Ethics
—Welton
Jaina Ethics
—Dayanand Bhargava
Jaina Psychology
—Mohanlal Mehta
Kant's Selections, Scribner's series
Prolegomena to Ethics
—Green T. H.
Psychology
—Mc Dougall
Puranic Words of Wisdom
Dr. Karmakar
Society and Criminals
—M. J. Sethna
Some Problems of Jaina Psychology —Dr. Kalghatgi
Standard Illustrated Dictionary
Story of Philosophy
—Will Durant
Study of Ethical Principles
The Elements of Ethics
—John, H. Muirhead
The Ethics of Hindus
—Prof. Maitra
The Synthesis of Yoga, Ch. VII
Vision of India
—Shishir Kumar Mitra
Yashastilaka and Indian Culture —K. K. Handiqui